प्रश्न और उत्तर

(१९५६)

श्रीमातृवाणी

प्रश्न और उत्तर

(१९५६)

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी

प्रथम संस्करण १९७६
मूल फ्रेंच भाषामें 'आंत्रतियें : १९५६' के नामसे १९६८ में प्रकाशित
स्वत्वाधिकार श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट १९६८
हिन्दी अनुवाद © श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट १९७६
सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : रु० ३०.००

खंड ८

श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्टकी ओरसे
श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी द्वारा प्रकाशित
श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी द्वारा भारतमें मुद्रित
वितरक :
शब्द : श्रीअरविंद बुक्स डिस्ट्रिब्यूशन एजेंसी, पांडिचेरी-६०५००२

प्रकाशकका वक्तव्य

इस ग्रंथमें उन प्रश्नोंके उत्तर संकलित किये गये हैं जिन्हें सन् १९५६ में खेलके मैदानमें हर हफ़ते लगनेवाली "श्रीमाताजीकी क्लासों" में आश्रमके बालकों और शिष्योंने श्रीमाताजीसे पूछा था।

इन वार्त्तालापोंके कुछ अंश सबसे पहले श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केंद्रकी त्रैमासिक पत्रिकाके विभिन्न अंकोंमें सन् १९५९ तथा १९६३ के बीच फ्रेंच, अंगरेजी और हिन्दी भाषामें प्रकाशित हुए थे।

इन वार्त्तालापोंका पूरा विषय मूल फ्रेंच भाषामें ध्वन्यंकित किया गया था। और वह १९६८ में 'आंत्रतियें: १९५६' के नामसे प्रकाशित हुआ तथा इसके प्रकाशनके समय श्रीमाताजीने जहां-तहां कुछ चीजें बदल दीं और कुछ चीजें जोड़ भी दीं। उसीका अनुवाद फिर अंगरेजी भाषामें 'क्वेश्चन एन्ड एन्सेर्स: १९५६' के नामसे १९७३ में प्रकाशित हुआ। श्रीमातृवाणीका यह आठवां खंड 'प्रश्न और उत्तर: १९५६' उसी अंगरेजी पुस्तकका अनुवाद है। अवश्य ही अनुवाद करते समय आवश्यक अनुभव होनेपर मूल फ्रेंच पुस्तकका भी कहीं-कहीं अनुसरण किया गया है।

श्रीमाताजीकी रचनाओंका अनुवाद करना एकदम असंभव है, फिर भी जो लोग मूल फ्रेंच समझनेमें असमर्थ हैं उनके लिये यह हिन्दी अनुवाद तैयार किया गया है। यहां यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि ये सब वार्त्तालाप मौखिक हुए थे और इसलिये हिन्दी अनुवादमें भी मौखिक बातचीतकी झलक रखी गयी है।

अनुवाद और पुनरीक्षण श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्रके हिन्दी-विभागद्वारा किया गया है।

श्रीमाताजी

जन्म

२१ फरवरी, १८७८

भारतमें आगमन

२९ मार्च, १९१४

महासमाधि

१७ नवम्बर, १९७३

शताब्दी

२१ फरवरी, १९७८

४ जनवरी, १९५६

> **"यदि हमें पूर्णयोगकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करना है तो यह अच्छा होगा कि भगवान्के एक ऐसे विचारको लेकर चलें जो स्वयं पूर्ण हो। हृदयमें एक ऐसी अभीप्सा होनी चाहिये जो किन्हीं संकुचित सीमाओंसे रहित साक्षात्कारको प्राप्त करनेके लिये खूब विशाल हो। हमें केवल एक सांप्रदायिक एवं धार्मिक बहिर्दृष्टिको ही नहीं, अपितु उन सभी एकपक्षीय दार्शनिक विचारोंको भी त्यागना होगा जो 'अनिर्वचनीय भगवान्'को एक सीमित करनेवाले मानसिक सूत्रमें आबद्ध कर देनेका यत्न करते हैं।"**
>
> (श्रीअरविंद: 'योग-समन्वय'[1] (पूर्वार्द्ध), पृ० ९६)

प्यारी मां! "भगवान्-संबंधी पूर्ण विचार" से श्रीअरविंदका क्या तात्पर्य है?

प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत रुचि, अपनी समझनेकी संभावनाओं, अपनी मानसिक प्रसंदों और यहांतक कि अपनी कामनाओंके भी अनुसार अपने लिये भगवान्-संबंधी एक भावना बना लेता है। लोग जिस भगवान्को चाहते हैं, जिस भगवान्से मिलना चाहते हैं उसकी एक धारणा तैयार कर लेते हैं, और इसलिये स्वभावतः अपनी उपलब्धिको बहुत अधिक सीमित कर देते हैं।

परंतु हम यदि यह बात समझ सकें कि भगवान्के विषयमें हम जो कुछ धारणा बना सकते हैं भगवान् वह सब हैं और उससे अनंतगुना अधिक हैं तो हम उनकी संपूर्णताकी ओर प्रगति करना आरंभ करते हैं। मानवचेतना स्वयं अपनेको सीमित करके ही सचेतन होना आरंभ करती है, उसके लिये संपूर्णताकी भावनाको ग्रहण करना एक अत्यंत कठिन कार्य है। पर फिर भी, उन लोगोंके लिये, थोड़ा-सा प्रयास करनेपर, किसी पूर्ण भावनाको पकड़ पानेके लिये अपने-आपको पर्याप्त मात्रामें विस्तारित करना संभव हो जाता है जो यह जानते हैं कि मानसिक क्रियाओंके साथ कैसे व्यवहार किया जाता है।

---

[1] इस पुस्तकमें सभी उद्धरण 'योग-समन्वय'के शताब्दि-संस्करणसे लिये गये हैं।

★

तुम भगवान्‌के विषयमें एक ऐसी धारणा बना लेते हो जो तुम्हारे स्वभाव तथा तुम्हारी अपनी धारणाके अनुकूल होती है, ठीक है न ? अतएव यदि तुम अपने-आपसे थोड़ा बाहर निकलना चाहो और एक पूर्णयोगके अभ्यासका प्रयत्न करो तो तुम्हें ठीक-ठीक यह समझनेका प्रयत्न करना होगा कि भगवान् केवल वही नहीं हैं जैसा कि तुम उन्हें सोचते-समझते अथवा अनुभव करते हो, बल्कि वह भी हैं जो दूसरे उन्हें समझते और अनुभव करते हैं— और उसके साथ-ही-साथ कुछ और भी हैं जिसे कोई भी मनुष्य न तो समझ सकता है और न अनुभव कर सकता है।

तब, यदि तुमने इतना समझ लिया है तो भगवान्-संबंधी संपूर्णताके पथपर तुमने पहला कदम रख दिया है।

सहजभावसे, और इस विषयमें सचेतन हुए बिना ही, लोग आग्रह-पूर्वक यह चाहते हैं कि भगवान् हमारी धारणाओंके अनुरूप हों। क्योंकि, बिलकुल स्वाभाविक तौरपर, यदि वे जरा भी विचार नहीं करते तो, तुमसे कहते हैं: "ओह ! यह चीज दिव्य है, यह चीज दिव्य नहीं है !" भला इस विषयमें वे क्या जानते हैं ? और फिर ऐसे लोग भी हैं जिन्होंने भगवत्पथपर अभीतक पांव भी नहीं रखा है, जो यहां आते हैं और वस्तुओं या लोगोंको देखते हैं और तुमसे कहते हैं: "इस आश्रमका भगवान्‌के साथ कोई नाता नहीं है, यह बिलकुल ही दिव्य नहीं है।" परंतु उनसे यदि यह पूछा जाय कि: "आखिर दिव्य है क्या ?" तो इसका उत्तर देना उनके लिये कठिन हो जायगा; वे इस बारेमें कुछ नहीं जानते। और लोग जितना कम जानते हैं उतना ही अधिक फतवा देते हैं; यह एकदम पक्की बात है। जितना अधिक मनुष्य जानता है वस्तुओंके विषयमें अपने निर्णयकी उतनी ही कम घोषणा करता है।

और एक ऐसा मुहूर्त्त आता है जब हम बस इतना ही कर सकते हैं कि बयान कर दें ; परंतु उस समय निर्णय देना असंभव हो जाता है। उस समय हम वस्तुओंको देख सकते हैं, और उसी तरह देख सकते हैं जैसी कि वे हैं—अपने पारस्परिक संबंधों और अपने स्थानमें जैसी हैं, और इस ज्ञानके साथ देखते हैं कि वे अभी जिस स्थानमें हैं उस स्थान और उन्हें जिस स्थानमें होना चाहिये उस स्थानके बीच क्या अंतर है (क्योंकि बस यही संसारमें सबसे बड़ी अव्यवस्था है), पर हम राय नहीं बनाते, केवल देखते हैं।

और एक मुहूर्त्त ऐसा आता है जब हम यह कहनेमें असमर्थ हो जाते हैं: "यह वस्तु दिव्य है और यह दिव्य नहीं है", क्योंकि एक ऐसा मुहूर्त्त आता है जब हम समूचे विश्वको इतने पूर्ण और व्यापक रूपमें देखते

हैं कि, सच पूछा जाय तो, उसकी प्रत्येक वस्तुको अस्तव्यस्त किये बिना उसमेंसे किसी वस्तुको निकाल लेना असंभव होता है।

एक या दो पग और भी आगे बढ़ानेपर, पूरी निश्चयताके साथ, हम यह जान जाते हैं कि जो चीजें भगवान्के विपरीत होनेके कारण हमें धक्का पहुंचाती हैं, वे एकदम शुद्ध रूपमें वे ही चीजें हैं जो अपने स्थानपर नहीं हैं। प्रत्येक वस्तु ठीक-ठीक अपने ही स्थानपर होनी चाहिये और, साथ-ही-साथ, वह पर्याप्त नमनीय, पर्याप्त लचकदार होनी चाहिये ताकि सुसमंजस क्रमवर्द्धमान संगठनके अंदर वह उन सब नवीन तत्त्वोंको प्रवेश करने दे जो अभिव्यक्त विश्वके साथ निरंतर युक्त किये जा रहे हैं। यह विश्व अपने आंतर पुनस्संगठनके लिये सतत गतिशील है, और उसके साथ-ही-साथ यह मानों अधिकाधिक बड़ा होता जा रहा है, अथवा अधिकाधिक जटिल होता जा रहा है, अधिकाधिक पूर्ण, अधिकाधिक सर्वांगपूर्ण बनता जा रहा है—और यह असीम रूपसे होता जा रहा है। और चूंकि धीरे-धीरे नवीन तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं, समूचे पुनस्संगठनको एक नये आधारपर फिरसे तैयार करना होता है ताकि एक भी क्षण ऐसा न हो जब कि **प्रत्येक वस्तु** सतत-गतिशील न हो। परंतु यदि यह गति दिव्य व्यवस्थाके अनुकूल होती है तो सुसमंजस होती है, इतने पूर्ण रूपमें सुस-मंजस होती है कि यह मुश्किलसे बोधगम्य होती है, उसे देखना कठिन होता है।

अब, यदि कोई फिर इस चेतनासे नीचे, एक अधिक बाह्य चेतनामें चला जाता है तो स्वभावतः वह उन चीजोंको ठीक-ठीक अनुभव करना शुरू कर देता है जो सत्य चेतनातक पहुंचनेमें सहायता करती हैं और उन चीजोंको भी अनुभव करता है जो रास्ता रोकती हैं या पीछे खींचती हैं, यहांतक कि प्रगतिके विरुद्ध संघर्ष करती हैं। और इस कारण दृष्टिकोण बदल जाता है और मनुष्य यह कहनेके लिये बाध्य हो जाता है: "यह दिव्य है, या यह भगवान्की ओर जानेमें सहायक होता है; और वह भगवान्के विरुद्ध है, भगवान्का शत्रु है।"

परंतु यह कर्मके लिये, स्थूल जीवनमें क्रिया करनेके लिये एक व्याव-हारिक दृष्टिकोण है—कारण, अभीतक मनुष्य उस चेतनातक नहीं पहुंचा है जो उस सबको अतिक्रमण करती है; कारण, मनुष्यने उस आंतरिक परिपूर्णताको नहीं प्राप्त किया है जिसे पा लेनेपर मनुष्यको फिर संघर्ष नहीं करना पड़ता, क्योंकि वह संघर्षके क्षेत्रसे या संघर्षके कालसे या संघर्ष-की उपयोगितासे परे चला जाता है। परंतु उससे पूर्व, अपनी चेतना या कर्ममें उस स्थितिको प्राप्त करनेसे पहले, संघर्ष अवश्य रहता है; और

यदि संघर्ष रहता है तो वहां चुनाव भी रहता है और चुनाव करनेके लिये विवेचन आवश्यक होता है।

और विवेचनका सबसे अचूक साधन है भागवत 'संकल्प' और 'पथप्रदर्शन'-के प्रति सचेतन, स्वेच्छाकृत, यथासंभव, पूर्ण आत्म-समर्पण। उस स्थिति-में कोई भूल करने और झूठी ज्योतियोंको सच्ची ज्योतियां माननेका कोई खतरा नहीं होता।

> **प्यारी माताजी ! श्रीअरविंद यहां कहते हैं: "उसका (भगवान्)-का 'प्रेम' और 'आनंद' उस अनंत दिव्य 'प्रेमी'का 'प्रेम' और 'आनंद' है जो सभी वस्तुओंको उनके पथसे अपनी सुखमय एकताकी ओर खींच रहा है।"**
>
> (वही, पृ० ९७)

> **सभी वस्तुएं भगवान्के द्वारा आकर्षित होती हैं। क्या विरोधी शक्तियां भी भगवान्के द्वारा आकर्षित होती हैं?**

यह निर्भर करता है दृष्टिकोणके ऊपर, हम ऐसा नहीं कह सकते। कारण एक संभाव्य आकर्षण तो है, पर वह इतना प्रच्छन्न और इतना गुह्य है कि उसके अस्तित्वको पहचाना भी नहीं जा सकता।

'जड़-तत्त्व'में, जिसका बाह्य रूप तमस् है (यह केवल बाह्य रूप है, पर फिर भी) भगवान्के लिये आकर्षणका होना एक तथ्यकी अपेक्षा कहीं अधिक एक संभावना है; अर्थात् वह एक ऐसी चीज है जो विकसित होगी, पर जो अभीतक इस ढंगसे विद्यमान नहीं है कि वह बोधगम्य हो।

यह कहा जा सकता है कि समस्त चेतना, चाहे वह इसे जाने या न जाने — यदि वह इसे नहीं जानती तो भी — भगवान्की ओर आकर्षित होती है। परंतु इस बातको प्रस्थापित करनेके लिये वहां कोई चेतना पहलेसे ही अवश्य होनी चाहिये।

और मानव-प्राणियोंके बीच भी, जो वर्तमान समयमें पृथ्वीपर सबसे अधिक सचेतन प्राणी हैं, बहुत बड़ी संख्यामें ऐसे लोग हैं जो गुप्त रूपसे भगवान्की ओर आकर्षित होते हैं, पर जो इस विषयमें कुछ भी नहीं जानते और फिर कुछ लोग ऐसे भी हैं जो जान-बूझकर इस आकर्षणको अस्वीकार कर देते हैं। संभवतः, उनकी अस्वीकृतिके अंदर, उसके पीछे, कोई ऐसी चीज होती है जो तैयारी करती रहती है; परंतु यह न तो स्वेच्छापूर्वक की जाती है और न ज्ञानपूर्वक।

हां, तो (**बालकको संबोधित करते हुए**) तुम्हारे प्रश्नका अंतिम भाग क्या था? ... सबसे पहले तुम कोई बात मान लेते हो जो सही नहीं है, और उसके आधारपर एक प्रश्न उठाते हो जो स्वभावत: स्पष्ट नहीं होता क्योंकि स्वीकृत पक्ष सही नहीं होता।

मैं यह कहना चाहता था ...।

हां, हां, मैं बहुत अच्छी तरह जानती हूं कि तुम क्या कहना चाहते थे।

सच पूछो तो, अतंतः, प्रत्येक वस्तु भगवान्‌के द्वारा आकर्षित होगी। केवल, कुछ तो सीधे मार्ग हैं और कुछ चक्करदार रास्ते जिनमें समीप आनेसे पहले मनुष्यको बहुत दीर्घकालतक ऐसा लगता है कि वह भगवान्‌से बहुत दूर जा रहा है। और कुछ ऐसी सत्ताएं हैं जिन्होंने चक्करदार रास्तोंको ही चुना है और जो यथासंभव अधिक-से-अधिक देरतक वहां बनी रहना चाहती हैं। तो स्पष्ट ही, ये ही वे सत्ताएं हैं जो भगवान्‌के विरुद्ध युद्ध करती हैं।

यद्यपि, जो सत्ताएं उच्चतर प्रकारकी होती हैं, वे बिलकुल अच्छी तरह यह जानती हैं कि यह एक पूर्णतः व्यर्थ और निरर्थक संघर्ष है, इसका कोई फल नहीं, फिर भी वे इसमें सुख पाती हैं। यदि यह चीज उन्हें सर्वनाशकी ओर भी ले जाय तो भी उन्होंने इसे करनेका निर्णय कर लिया है।

ऐसे मानव-प्राणी भी होते हैं जो पाप-कर्ममें लिप्त होते हैं — किसी एक या दूसरे पापमें जैसे मद्यपान या स्वापक ओषधियोंके इन्जेक्शन — और वे अच्छी तरह जानते हैं कि यह चीज उन्हें सर्वनाश और मृत्युकी ओर ले जा रही है; परंतु वे जान-बूझकर उसे करना पसंद करते हैं।

उनमें अपने ऊपर संयम नहीं होता।

एक क्षण हमेशा ऐसा होता है जब प्रत्येक व्यक्तिमें संयम होता है। और यदि व्यक्तिने एक बार "हां" न कहा होता, यदि व्यक्तिने निर्णय न कर लिया होता तो वह उसे न करता।

एक भी मनुष्य ऐसा नहीं है जिसमें अपने ऊपर लादी गयी चीजका प्रतिरोध करनेकी शक्ति और क्षमता न हो — यदि उसे प्रतिरोध करने दिया जाय। लोग तुमसे कहते हैं: "मैं अन्यथा कर ही नहीं सकता" — इसका कारण यह है कि अपने हृदयकी गहराईमें वे अन्यथा करना चाहते

ही नहीं; उन्होंने अपने पापाचारका दास बनना स्वीकार कर लिया है। एक क्षण ऐसा होता है जब मनुष्य इसे स्वीकार करता है।

और मैं थोड़ा और भी आगे बढ़ रही हूं; मैं कह रही हूं, एक ऐसा क्षण होता है जब व्यक्ति बीमार पड़ना स्वीकार कर लेता है। यदि व्यक्ति बीमार पड़ना स्वीकार न कर ले तो वह बीमार नहीं पड़ेगा। बस, लोग अपने विषयमें और अपनी आंतरिक क्रियाओंके विषयमें इतने अचेतन होते हैं कि वे यह जानते भी नहीं कि वे क्या कर रहे हैं।

परंतु सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि तुम किस तरीकेसे वस्तुओंकी ओर देखते हो। एक विशेष दृष्टिकोणसे देखा जाय तो इस जगत्‌में कोई चीज पूर्ण रूपसे निरर्थक नहीं है। केवल, जो चीजें एक विशेष मुहूर्त्तमें संतोषप्रद और स्वीकार्य थीं वे दूसरे क्षण वैसी नहीं रहतीं। और जब वे स्वीकार्य नहीं रह जातीं तो लोग यह कहना आरंभ कर देते हैं कि वे बुरी हैं, क्योंकि तब उनसे छुटकारा पानेकी इच्छा जाग्रत् हो जाती है। परंतु विश्वके इतिहासमें (समस्याको अपने छोटे-से ग्रहतक सीमित करनेके लिये हम यहांतक कह सकते हैं कि संसारके इतिहासमें), मैं समझती हूं कि एक विशेष मुहूर्त्तमें सभी विद्यमान वस्तुओंकी अपनी आवश्यकता और अपना महत्त्व था। और जैसे ही मनुष्य आगे बढ़ता है वैसे ही ये चीजें पीछे ढकेल दी जाती हैं अथवा उनके स्थानपर दूसरी चीजें आ जाती हैं जो अतीतसे संबंध रखनेके बदले भविष्यसे संबंध रखती हैं। अतएव, जिन वस्तुओंका अब कोई प्रयोजन नहीं रह जाता उनके विषयमें लोग कहते हैं: "ये बुरी हैं", क्योंकि मनुष्य उन्हें बाहर ढकेल देनेके लिये अपने अंदर एक उत्तोलक पानेकी, आदतसे छुटकारा पानेकी कोशिश करता है। परंतु एक विशेष मुहूर्त्तमें शायद वे बुरी नहीं थीं, और दूसरी ही चीजें बुरी थीं।

जीवनके कुछ तरीके, अनुभव करनेके कुछ तरीके, काम करनेके कुछ तरीके होते हैं जिन्हें मनुष्य अपने अंदर बहुत दीर्घकालतक सहन करता है, और जो तुम्हें परेशान नहीं करते, तुम्हें बिलकुल निरुपयोगी या बुरे या अपने अंदरसे निकाल देने लायक नहीं मालूम होते। और फिर एकाएक एक दिन, हम नहीं जानते क्यों, और न हम यह जानते हैं कि क्या हो गया है, पर दृष्टिकोण बदल जाता है, मनुष्य वस्तुओंकी ओर ताकता और कहता है: "परंतु यह कैसी बात है? यह चीज मुझमें है, मैं अपने अंदर इस चीजको लिये हुए हूं? परंतु यह तो असह्य है, मैं अब इसे बिलकुल नहीं चाहता।" और वह चीज तुम्हें एकाएक बुरी प्रतीत होती है क्योंकि अब ऐसी चीजोंके त्यागनेका समय हो गया है,

क्योंकि तुमने जो मनोभाव ग्रहण किया है या संसारमें अपनी प्रगतिके पथपर तुमने जो कदम उठाये हैं उनके साथ ये चीजें मेल नहीं खातीं। ये चीजें अन्यत्र होनी चाहिये, वे अब अपने स्थानमें नहीं हैं, इस कारण तुम उन्हें बुरी समझते हो। परंतु वही चीजें जो तुम्हें बुरी प्रतीत होती हैं शायद दूसरे एक निम्नतर स्तरके लोगोंके लिये अत्युत्तम होंगी।

संसारमें सर्वदा कुछ लोग ऐसे होते हैं जो हमारी अपेक्षा अधिक मंद, अधिक अचेतन, अधिक बुरे, अधिक अज्ञानपूर्ण होते हैं। अतएव जो स्थिति तुम्हारे लिये असहनीय है जिसे तुम और नहीं रख सकते, जिसे अदृश्य होना ही चाहिये वह संभवतः उन लोगोंके लिये बहुत ज्योतिर्मय हो सकती है जो निम्नतर भूमिकापर रहते हैं। भला किस अधिकारसे तुम यह कहने जा रहे हो : "यह बुरा है?" बस, तुम इतना ही कह सकते हो : "मैं अब इसे नहीं चाहता, मैं इसे नहीं चाहता, यह मेरी वर्तमान जीवन-पद्धतिके साथ मेल नहीं खाती, मैं वहां चला जाना चाहता हूं जहां इन चीजोंके लिये अब कोई स्थान नहीं है; वे अब अपने स्थानमें नहीं हैं, अब इन्हें कहीं अन्यत्र जाकर अपना स्थान ग्रहण करने दो!" परंतु हम उनके विषयमें कोई फैसला नहीं कर सकते। यह कहना असंभव है : "यह चीज बुरी है।" हम अधिक-से-अधिक यही कह सकते हैं : "यह चीज मेरे लिये बुरी है, यह अब मेरे लिये ठीक अपने स्थानपर नहीं है, इसे अवश्य दूर होना चाहिये।" बस, इतना ही। और फिर मनुष्य इसे अपने पीछे पथपर छोड़ देता है।

और इस प्रकार सोचने और अनुभव करनेपर उस व्यक्तिके मुकाबले प्रगति करना कहीं अधिक, बहुत अधिक आसान हो जाता है जो निराश होकर बैठ जाता है और मन-ही-मन सब प्रकारकी शोचनीय बातें कहता है और यह कहता है कि मैं कैसा हूं, कैसी विपत्ति भोग रहा हूं, कौन-कौनसे दोष मुझमें हैं और कितनी असंभव बातें मुझे घेरे हुए हैं आदि-आदि। उस समय मनुष्य कहता है : "नहीं, नहीं, वे चीजें अब यहां अपने स्थानपर नहीं हैं, उन्हें कहीं और जाना होगा जहां वे अपने ठीक स्थानपर होंगी और जहां उनका स्वागत किया जायगा। जहांतक मेरा प्रश्न है, मैं आगे बढ़ रहा हूं, मैं एक सीढ़ीके ऊपर चढ़ने जा रहा हूं, मैं एक अधिक विशुद्ध, अधिक अच्छी और अधिक पूर्ण ज्योतिकी ओर बढ़ूंगा; और इसलिये ये सब चीजें जो अंधकारको पसंद करती हैं समाप्त हो जानी चाहिये।" परंतु इतना ही।

प्रत्येक बार जब मनुष्य अपने अंदर कोई ऐसी वस्तु देखता है जो वास्तवमें घिनौनी होती है तो निश्चय ही उससे यह सिद्ध होता है कि

उसने प्रगति की है। अतएव, विलाप करने और निराशामें डूब जानेके बदले उसे प्रसन्न होना चाहिये; उसे कहना चाहिये : "आह! यह अच्छा है, मैं आगे बढ़ रहा हूं।"

मां, "शक्तिशाली योग" का क्या मतलब है?

शक्तिशाली योगका? क्या तुम नहीं जानते कि "शक्तिशाली" शब्दका क्या मतलब होता है?

परंतु श्रीअरविंद यहां कहते हैं कि "यह बौद्धिक तैयारी किसी भी शक्तिशाली योगमें प्रथम अवस्था हो सकती है, किंतु यह अनिवार्य नहीं है।"

('योग-समन्वय', पृ० ९५)

हां, शक्तिशाली योगका अर्थ है बहुत पूर्ण योग, जिसमें बहुत-सी चीजें होती हैं, जो अपने अंदर बहुत-से तत्त्वोंका समावेश करता है। अतएव बौद्धिक ज्ञानका यह तत्त्व योगको अधिक शक्तिशाली बना देता है।

क्या यह वही चीज है जो पूर्णयोग है?

ठीक वही नहीं। पूर्णयोग वह योग है जो सत्ताके सभी अंगोंको और सत्ताकी सभी क्रियाओंको अपने अंदर समाविष्ट कर लेता है। परंतु एक सत्ताकी क्रियाएं उतनी शक्तिशाली नहीं होतीं जितनी कि दूसरीकी क्रियाएं; और एक सत्ताकी समग्रता उतनी संपूर्ण नहीं होती जितनी दूसरीकी समग्रता। तुम नहीं समझे?

यदि तुम्हारी समस्त सत्ता, जैसा कि वह है, योगमें भाग लेती है तो वह तुम्हारे लिये पूर्णयोग बन जाता है। परंतु तुम्हारा भाग लेना किसी अन्य व्यक्तिके भाग लेनेके मुकाबले बहुत कमजोर और अतिसामान्य हो सकता है, और तुम्हारे अंदर विद्यमान चेतनाके तत्त्वोंकी संख्या दूसरे व्यक्तिके अंदर विद्यमान चेतनाके तत्त्वोंके सामने बहुत कम हो सकती है। और फिर भी तुम्हारा योग तुम्हारे लिये पूर्ण होता है, अर्थात्, वह तुम्हारी सत्ताके सभी भागों और सभी क्रियाओंके अंदर किया जाता है।

समझे, मेरी एक बिल्ली थी जो योग करती थी। हां, बिल्लीका योग

उतना शक्तिशाली नहीं हो सकता था जितना कि मनुष्यका योग, और फिर भी वह उतना ही पूर्ण था, एकदम पूर्ण; उसका शरीर भी उसके योगमें भाग लेता था। परंतु योग करनेका उसका तरीका, स्वभावतः मानवीय नहीं था।

मां, "प्रेरित करनेवाला विचार-बल" का क्या तात्पर्य है?

वह एक ऐसा विचार होता है जो तुम्हें संकल्प-बल, उत्साह और सिद्धि प्राप्त करनेकी शक्ति प्रदान करता है। "प्रेरित करनेवाली" चीज ऐसी होती है जो सिद्धिकी ओर झुकी होती है और तुम्हें सिद्धिकी ओर जानेके लिये धक्का देती है।

यहां श्रीअरविंद लिखते हैं, "तो भी, आत्म-निवेदनको प्रेरित करनेवाला विचार-बल जितना महान् और विशाल होगा, साधकके लिये यह उतना ही उत्तम होगा।"

(वही, पृ० ९६)

क्या तुमने कभी एक तुच्छ भावना और एक महान् भावना, एक संकीर्ण भावना और एक विशाल भावनाके बीचके अंतरको अनुभव नहीं किया है?

परंतु इससे पूर्व, श्रीअरविंदने कहा है कि यदि इसके साथ-साथ आत्मदान भी विद्यमान हो तो वह पर्याप्त होता है। पीछे वह कहते हैं कि यदि यह विशाल हो तो अधिक अच्छा है।

सुनो, मैं तुम्हें एक बिलकुल ठोस और स्थूल दृष्टांत दे रही हूं। तुम अपना बटुआ दान कर देते हो; उसमें तीन रुपये हैं। तुम्हारा पड़ोसी अपना बटुआ दान कर देता है जिसमें पंद्रह रुपये हैं। अब, पंद्रह रुपयेका दान तीन रुपयेके दानसे बड़ा है। बस।

परंतु, नैतिक दृष्टिकोणसे, तुम्हारे पास जो कुछ है वह सब यदि तुमने दे दिया है, तुम जितना अधिक कर सकते थे उतना तुमने कर दिया है तो तुमसे उससे अधिक कुछ नहीं मांगा जा सकता; समझे, नैतिक दृष्टिकोणसे, शुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे, न कि सिद्धिके दृष्टिकोणसे। विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे तुम्हारे तीन रुपयेके दानका ठीक-ठीक वही मूल्य

हैं जो पंद्रह रुपयेके दानका है। यहांतक कि जिस व्यक्तिने पंद्रह रुपये दिये, उसने यदि एक रुपया रख लिया होता, तो उसका दान तुम्हारे दानकी अपेक्षा (जिसमें तुमने केवल तीन रुपये दिये) कम पूर्ण और कम शुद्ध होता। फलतः, इस बातको उस स्तरपर नहीं देखना चाहिये। परंतु स्थूल प्राप्तिके दृष्टिकोणसे यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि पंद्रह तीनसे ज्यादा हैं, उन सब लोगोंके लिये जो गणित जानते हैं।

(मौन)

मां! इस साल जो आपने संदेश दिया है, क्या कृपया उसकी कुछ व्याख्या करेंगी?[1]

इस वर्ष जो संदेश मैंने दिया है उसके बारेमें तुम्हें क्या आपत्ति है?

क्या उसका मतलब यह है कि इस वर्ष महान् जीतें होंगी?

इसका मतलब शायद एक बहुत सरल-सी बात है, वस्तुओंके विषयमें कुछ बोले बिना उन्हें होने देना कहीं अधिक अच्छा है। यदि तुम मुझसे पूछो, मैं समझती हूं कि यही इसका मतलब है। किसी बातके होनेसे पहले उसके विषयमें कुछ न कहना बहुत अधिक अच्छा है। अन्यथा, वह वही हो जाता है जिसे मैं ढोल बजाना कहती हूं, जिसे नगाड़ा बजाना कहा जा सकता है।

यह बात उन लोगोंकी तरह है जो पूछते हैं: "यह कैसे होगा?" हम देखेंगे कि कैसे होगा! ठहरो, कम-से-कम कोई आश्चर्यजनक बात तो होनी ही चाहिये! ... और मैं उत्तर देती हूं: "मैं इस विषयमें कुछ नहीं जानती।" क्योंकि मैं तुरत, जैसा कि यह जगत् है उसकी चेतनामें चली जाती हूं, जिसके सामने यह घोषित किया गया है कि असाधारण चीजें होने जा रही हैं और जो उनके विषयमें कल्पना करनेमें एकदम असमर्थ है—क्योंकि, जैसा कि एक बार मैंने तुम्हें बताया था, यदि मनुष्य उनके विषयमें कल्पना करना आरंभ कर दे तो इसका मतलब है कि वे चीजें पहलेसे

---

[1]सन् १९५६ का नववर्ष-संदेश: "सबसे महान् जीतोंमें सबसे कम शोर होता है। किसी नवीन जगत्की अभिव्यक्तिकी घोषणा ढोल बजाकर नहीं की जाती।"

ही हैं। किसी चीजकी कल्पना करनेमें समर्थ होनेके लिये यह आवश्यक है कि वह चीज विद्यमान हो, अन्यथा तुम उसके विषयमें कल्पना नहीं कर सकते।

हां, अपनी उच्चतर सत्तामें हम इस बातका बहुत स्पष्ट, बहुत यथार्थ, बहुत उज्ज्वल ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं कि वह चीज क्या है। परंतु हम यदि जड़-भौतिक चेतनामें नीचे आ जायं तो हमें यह कहनेके लिये बाध्य होना पड़ता है कि "हम उस विषयमें कुछ नहीं जानते।" जब वह चीज यहां होगी तो मैं तुम्हें बताऊंगी कि वह कैसे होगी — और संभवतः तुम्हें यह बतानेकी कोई आवश्यकता भी नहीं होगी, तुम उसे देख सकोगे। मुझे आशा है कि तुम उन लोगोंमें होगे जो उसे देखनेमें सक्षम होंगे। और फिर ऐसे लोग भी होंगे जो वैसा करनेमें (देखनेमें) समर्थ नहीं होंगे।

अतः, ऐसा करनेसे क्या लाभ? चारों ओर घूमकर लोगोंसे यह कहनेसे क्या लाभ : "यह रही वह चीज, समझे, यह इस तरहकी है?" वे उत्तर देंगे, जैसा कि उस नाटकमें दिया गया था जिसका यहां अभिनय हुआ था: "परंतु मैं, मैं तो कुछ नहीं देखता!" तुम्हें याद है, वह नाटक था 'ल साज्' (ज्ञानी व्यक्ति)? क्या तुम्हें याद नहीं है कि 'ल साज्'-में संदेशवाहक कहता है कि भगवान् तुम्हारी बात सुन रहे हैं, वह विद्यमान हैं और तब कोई व्यक्ति उत्तर देता है: "परंतु मैं तो उन्हें नहीं देखता!" यह वैसी ही बात है।

यह उन लोगोंके जैसा है जो आश्रम देखनेके लिये आते हैं और कहते हैं: "परंतु यहां कोई आध्यात्मिकता नहीं है!"... भला वे इसे कैसे देख सकते हैं? किन इंद्रियोंके द्वारा?

पर फिर भी, मैं यह अवश्य आशा करती हूं कि जब कोई चीज अभिव्यक्त होगी, तुम उसे देखनेमें समर्थ होगे।

स्वभावतः, यदि एकाएक ज्योतिर्मय आविर्भाव हो जाय, अथवा बाहरी भौतिक आकार पूर्णतः बदल जायं, हां तब, मैं समझती हूं कि कुत्ते-बिल्ली तक, हर चीज, चाहे कुछ क्यों न हो उसे देख सकेगी। परंतु ऐसा होनेमें समय लगेगा, वह चीज वर्तमान क्षणके लिये नहीं है। यह इस मुहूर्त्तके लिये नहीं है, यह बहुत दूरकी बात है, बहुत बादके समयके लिये है। उससे पहले बहुत-सी महान् चीजें होंगी, और ये चीजें उसकी अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण होंगी, इस बातपर ध्यान दो।

क्योंकि वह चीज, वह तो केवल पुष्प है जो खिलता है। पर उसके खिलनेसे पहले, उसके जीवनका सार-तत्त्व पौधेकी जड़में अवश्य होना चाहिये।

यदि कोई अभिव्यक्ति हो तो क्या वह शुद्ध रूपमें आध्यात्मिक होगी, अर्थात्, क्या केवल वे ही लोग उसे देखने-समझनेमें समर्थ होंगे जो योग करते हैं, या तथ्योंके जगत्में भी उसके परिणाम उत्पन्न होंगे ?

मेरे बच्चे! तुम इसे भविष्यकालमें क्यों रख रहे हो?

वर्षोंसे संसारमें असामान्य, विलक्षण परिणाम उत्पन्न होते रहे हैं। परंतु इसे देखनेके लिये, मनुष्यमें थोड़ा ज्ञान होना चाहिये; नहीं तो वह उन्हें बिलकुल मामूली और साधारण बातें समझ लेता है — क्योंकि मनुष्य यह जानता भी नहीं कि वे होती कैसे हैं।

अतएव यह चीज भी शायद ठीक वैसी ही होगी; ऐसी संभावना है कि बहुत प्रबल परिवर्तन होंगे, अद्‌भुत कर्म संपन्न होंगे और, हे भगवान्! मनुष्य कहेंगे : "परंतु यह, स्वभावतः ही, यह वैसा है," क्योंकि मनुष्य यह नहीं जानता कि यह कैसे हो जाता है।

संसारमें क्रिया? — वह निरंतर हो रही है। वह ऐसी चीज है जो फैलती है और सर्वत्र कार्य करती है, सब जगह नवीन प्रोत्साहन, नवीन जागृति, नवीन भावनाएं, संकल्प-शक्तिके नवीन कर्म प्रदान करती है — सर्वत्र। पर फिर भी, मनुष्य चूंकि यह नहीं देखता कि यह कैसे हो रहा है, वह समझता है कि यह वही चीज है जिसे "एकदम स्वाभाविक" कहा जाता है।

यह बिलकुल स्वाभाविक है, परंतु सामान्य भौतिक प्रकृतिकी स्वाभाविकतासे भिन्न दूसरी प्रकारकी स्वाभाविकता इसमें है।

निस्संदेह, यह कहना काफी युक्तिसंगत है कि परमात्माके कार्यको देखनेके योग्य बननेके लिये मनुष्यको परमात्माका ज्ञान अवश्य होना चाहिये। यदि तुम्हें परमात्माका ज्ञान प्राप्त नहीं है तो तुम भला उन्हें कार्य करते हुए देखनेमें कैसे समर्थ होगे? क्योंकि परमात्मा जो कुछ करते हैं उसका परिणाम भौतिक जगत्में आवश्यक रूपसे भौतिक होता है; और इसके भौतिक होनेके कारण तुम इसे बिलकुल स्वाभाविक समझते हो। प्रकृति जो कुछ करती है उसके बारेमें तुम क्या जानते हो, और जो कुछ परमात्मा करते हैं उसके बारेमें तुम क्या जानते हो? वह सब कुछ जो प्रकृति करती है — मैं यहां भौतिक प्रकृतिकी बात कह रही हूं — उसके संबंधमें हम बहुत थोड़ा जानते हैं, प्रायः कुछ नहीं जानते, क्योंकि उसे जाननेके लिये हमें अनवरत उन चीजोंके बारेमें जानना होगा जो उन सब बातोंको उलट देती हैं, जिन्हें, हम पहले विश्वास करते थे कि हम जानते

हैं। और, इसलिये जो कुछ शुद्ध रूपमें प्रकृतिका कार्य है और जो कुछ प्रकृतिके माध्यमसे संपन्न होनेवाला परमात्माका कार्य है उन दोनोंके बीच कैसे विभेद किया जा सकता है? हमें अवश्य जानना होगा कि एकसे दूसरेको कैसे अलग पहचाना जाता है? और उन्हें कैसे पहचाना जाय जब कि हमारी चेतना इस विषयमें बिलकुल सुस्पष्ट और सुनिश्चित नहीं है कि परमात्मा क्या हैं? उन्हें कैसे पहचाना जाय, और उनके 'कार्य'-को कैसे देखा जाय? यह मुझे बहुत सरल तर्क प्रतीत होता है।

संसार तो चलता रहेगा। चीजें होती रहेंगी। और संभवतः केवल मुट्ठीभर लोग ही ऐसे होंगे जो यह समझेंगे कि वे कैसे हुई हैं। बस।

और वर्तमान समयका यदि कोई व्यक्ति संसारकी उस स्थितिमें, जैसी कि यह दो या तीन हजार वर्ष पूर्व थी — ओह, शायद इससे भी कम, एक या दो हजार वर्ष पूर्व थी — अचानक, बिना किसी अवस्थांतरके जा गिरे तो वह इसके मुकाबले ऐसी दम घोंटनेवाली स्थिति होगी कि शायद बहुत कम लोग उसे बर्दाश्त करनेमें समर्थ हों। परंतु यह चीज चूंकि "इस भांति", प्रकृतिकी रोचक धीमी गतिके साथ, उसकी सब प्रकारकी मौजोंके साथ हुई, मनुष्य इसे एकदम स्वाभाविक समझता है और इस ओर ध्यान भी नहीं देता।

जब यह कहा जाता है कि यदि कोई सत्य-चैतन्यमें प्रवेश कर जाता है, यदि कोई अपनी चेतनाको बदल देता है तो उसके लिये स्वयं जगत् भी बदल जाता है, यह कोई बिम्ब नहीं होता, यह कोई पुष्पिता वाणी नहीं होती। और यह कोई बाहरी रूप या प्रभाव भी नहीं होता: मनुष्य साधारण चेतनामें रहते हुए जैसा देखता है उससे भिन्न रूपमें देखने लगता है; संबंध भिन्न हो जाते हैं; कारण भिन्न हो जाते हैं, कार्य भिन्न हो जाते हैं। और किसी ऐसी वस्तुको देखनेके बदले जो पारदर्शक नहीं होती (मनुष्य यह नहीं देख सकता कि पीछे क्या है, वह जो देखता है वह ऊपरी सतह, पपड़ी होती है; केवल वही चीज है जो दिखायी देती है और मनुष्य यह भी नहीं देख सकता कि कौन-सी चीज उसे चलाती है, उसे अस्तित्ववान् बनाती है), प्रत्येक वस्तु भीतरसे बाहरकी ओर उलट जाती है, और इसीलिये, यह कृत्रिम और असत्य, और लगभग अस्तित्वहीन प्रतीत होती है। और इसलिये, जब मनुष्य वस्तुओंको इस प्रकार, सामान्य ढंगसे, समझे, अपने-आपको बिना थकाये, ध्यान और एकाग्रताका अभ्यास करनेके लिये तथा इस भांति वस्तुओंको देखनेके लिये प्रबल प्रयत्न करनेके लिये विवश हुए बिना देखता है, जब यह उसका सामान्य,

स्वाभाविक दर्शन होता है, तब वह एक पूर्णतः भिन्न ढंगसे वस्तुओंको समझता है—स्वभावतः ही संसार भिन्न प्रकारका होता है!

एक प्रारंभिक यात्रा अनिवार्य है और जो इस छोटी-सी प्रारंभिक यात्राको कर चुके हैं, वे नाना प्रकारकी वस्तुओं, नाना प्रकारके अनुमानों और प्रश्नोंको फिरसे अपने आगे नहीं रख सकते।

परंतु सचमुच, अपने विषयपर वापस आयें, जो कुछ मैं सरल ढंगसे कहना चाहती हूं वह बहुत सीधा-सा यह है कि जब मुझसे एक संदेश देनेको कहा जाता है (चूंकि मुझसे मांगा जाता है इसलिये देती हूं), मुझसे मांगा जाता और कहा जाता है: "ओह! हम उसे छपाना चाहते हैं, क्या आप उसे हमारे पास भेज सकेंगी?" तब, मैं क्या करती हूं? मैं उस वर्षकी ओर ताकती हूं जो आनेवाला है (उसके विषयमें कुछ कहनेके लिये उसकी ओर ताकना आवश्यक होता है), मैं उस वर्षकी ओर आंख दौड़ाती हूं जो आनेवाला है और फिर, उसकी ओर देखते हुए मैं उसी समय लोगोंकी सभी कल्पनाओंको, उनके सभी अनुमानोंको और उस तथाकथित आश्चर्यपूर्ण वर्षमें होनेवाली वस्तुओंके विषयमें उनके सभी आविष्कारोंको देखती हूं। मैं उन सब चीजोंकी ओर ताकती हूं और उसके साथ-ही-साथ यह देखती हूं कि वह क्या है—वह एकदम पहलेसे ही क्या है, वह कहींपर पहलेसे ही वैसा होता है—और तुरत मैं बहुत स्पष्ट रूपमें यह जान लेती हूं कि सबसे अच्छी बात यह है कि यह न कहा जाय कि वह क्या होगा। और चूंकि लोग बहुत अधिक बाजे-गाजे और घोषणाओंकी आशा करते हैं, इसलिये मुझे जो कहना था वह कह दिया, बस इतना ही। उससे अधिक कुछ नहीं। जो कुछ मेरे कहनेका मतलब था वह बस, इतना ही था: "आओ, उस विषयमें हम कोई चर्चा न करें, यदि तुम सहमत होओ, यही अधिक अच्छा है, यही श्रेयस्कर है।" मैंने इसके सिवा और कुछ नहीं कहा है: "उसके विषयमें कुछ न कहना अधिक अच्छा है, उसके विषयमें बहुत अधिक शोर-गुल मत मचाओ, क्योंकि उससे कोई लाभ नहीं। वस्तुओंके गभीरतर विधानके अनुसार, उस व्यक्तिकी तरह आश्चर्यचकित हुए बिना होने दो जो समझता नहीं और मुंह बाये देखता रहता है।"

और सबसे बढ़कर, मेरे पास आकर यह न कहो: "आप जानती हैं, वह ऐसा होगा।" क्योंकि, बस यही चीज है जो उसे अत्यंत कठिन बना देती है। मैं यह नहीं कहती कि जो कुछ होना है वह नहीं होगा, पर यदि हम उसके विषयमें चर्चा करेंगे तो वह शायद बहुत अधिक कठिनाइयोंके साथ आयेगा। अतएव यह कहीं अधिक अच्छा है कि चीजोंको होने दिया जाय।

और अंततः, यदि मनुष्य बहुत संयत — बहुत प्रशांतचित्त होना चाहे तो उसे अपने-आपसे केवल यह पूछना चाहिये : "अच्छा, दस हजार वर्षमें, यह सिद्धि जिसे हम प्राप्त कर रहे हैं, उसका क्या रूप होगा? कालकी गतिके बीच एक अगोचर बिंदु, एक प्रकारकी तैयारी, भावी सिद्धिकी ओर जानेका एक प्रयत्न।" ओह! यह कहीं अधिक अच्छा है कि हम इतने उत्तेजित न हों। आओ, हम जो कुछ कर सकते हैं करें और शांत बने रहें। बस।

हां, अब, कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें जरा चाबुक लगानेकी आवश्यकता होती है जैसे मनुष्य मलाईको फेंटता है। परंतु उन्हें कवियोंके पास जाना चाहिये, मेरे पास नहीं। मैं कवि नहीं हूं, मैं बस काम करके ही संतुष्ट रहती हूं। मैं कथनीकी अपेक्षा करनीको ही अधिक पसंद करती हूं।

११ जनवरी, १९५६

माताजी, "इस कामनाशील प्राण-शक्ति या कामनामय पुरुषको हमें शुरूमें स्वीकार करना होता है, पर केवल इसलिये कि इसका रूपांतर किया जा सके।"

('योग-समन्वय', पृ० ९८)

परंतु जब हम यह समझते हैं कि यह एक कामना है और इसका त्याग होना चाहिये तो भी यह विवेक करनेमें कठिनाइयां आती ही हैं कि यह कोई ऐसी कामना है जो हमें भगवान्‌की ओर ले जाती है या शुद्ध रूपमें कामना ही है।

मनुष्य केवल तभी भूल करता है जब वह अपने-आपको धोखा देना चाहता है। यह तो बहुत, बहुत भिन्न है।

परंतु अंतरमें मनुष्य समझता है।

अच्छी बात है। हां, तब वह पर्याप्त है, यदि वह कहींपर समझता है तो वह काफी है। बस, इतना ही? कोई प्रश्न नहीं है?

मां, ६ जनवरी को आपने कहा था: "जो कुछ तुम हो, जो कुछ तुम्हारे पास है वह सब दे दो, उससे अधिक कुछ भी तुमसे नहीं मांगा जाता पर उससे कुछ कम भी नहीं।"

हां।

"जो कुछ तुम्हारे पास है" और "जो कुछ तुम हो" इसका तात्पर्य क्या है?

मैं तुम्हें बताती हूं कि मैंने यह किस परिस्थितिमें लिखा था; उससे तुम समझ जाओगे।

किसी व्यक्तिने अपने पत्रमें मुझे यह लिखा था कि वह बहुत दुःखी है क्योंकि उसने यह स्वप्न देखा है कि उसने अद्‌भुत क्षमताओंको सिद्धि प्राप्त करनेके लिये, कार्य पूरा करनेके लिये भगवान्‌के हाथोंमें सौंप दिया है; और उसने यह भी स्वप्न देखा है कि दिव्य कार्यकी पूर्तिके लिये दान देनेके लिये, भगवान्‌के चरणोंपर अर्पित कर देनेके लिये उसके पास प्रचुर धन है। अतएव मैंने उसे उत्तर दिया है कि तुम्हें दुःखी नहीं होना चाहिये, प्रत्येक मनुष्यसे वही देनेको कहा जाता है जो उसके पास है, अर्थात्, उसकी समस्त संपत्ति, वह चाहे जो कुछ भी हो, और जो कुछ वह स्वयं है, अर्थात्, उसकी समस्त संभावनाएं — जिसका तात्पर्य होता है अपना सारा जीवन अर्पित कर देना तथा अपना समस्त धन-वैभव अर्पण कर देना — और जो कुछ मांगा गया है वह उससे जरा भी अधिक नहीं। जो कुछ तुम हो उसे दे दो; जो कुछ तुम्हारे पास है उसे दे दो, और तुम्हारा दान पूर्ण हो जायगा; आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे वह पूर्ण होगा। यह इस बातपर निर्भर नहीं करता कि तुम्हारे पास कितना धन है या तुम्हारी प्रकृतिमें कितनी संख्यामें संभावनाएं विद्यमान हैं; यह निर्भर करता है तुम्हारे दानकी पूर्णतापर, कहनेका तात्पर्य तुम्हारे अर्पणकी समग्रतापर।

मुझे याद है, भारतके आख्यानोंका वर्णन करनेवाली एक पुस्तकमें, मैंने इस प्रकारकी एक कहानी पढ़ी थी। एक बहुत गरीब, बहुत, बूढ़ी औरत थी जिसके पास कुछ नहीं था, जो बहुत दुखिया थी और एक छोटी-सी टूटी-फूटी झोंपड़ीमें रहती थी। उसे एक दिन एक फल मिल गया; वह आमका फल था। उसने आधा फल खा लिया था और बाकी आधा दूसरे दिनके लिये रख दिया, क्योंकि वह एक इतना अनोखा फल था जिसे

प्राप्त करनेका अवसर उसे बार-बार नहीं मिलता था — वह आम था। और तब, रात हो जानेपर, किसी व्यक्तिने उसके जर्जरित दरवाजेको खटखटाया और आतिथ्यकी याचना की। वह व्यक्ति अंदर आया और बुढ़ियासे कहा कि उसे रातभरके लिये आश्रय चाहिये और वह भूखा है। इसपर बुढ़ियाने उससे कहा: "बहुत अच्छा। मेरे घरमें तुम्हारे तापनेके लिये आग नहीं है, तुम्हारे ओढ़नेके लिये कंबल नहीं है, यह आधा आम मेरे पास बचा हुआ है, बस, इतना-सा ही मेरे पास है यदि तुम इसे पसंद करो; इसका आधा मैंने खा लिया है।" और पीछे यह पता चला कि यह व्यक्ति और कोई नहीं, स्वयं शिव थे और वह बुढ़िया एक आंतरिक ज्योतिसे भर गयी, क्योंकि उसने अपने-आपको और उसके पास जो कुछ था उसको पूर्ण रूपसे अर्पित कर दिया था।

मैंने इसे पढ़ा था और यह कहानी मुझे बड़ी अपूर्व लगी थी। हां, यह बहुत सारगर्भित है, यही वह चीज है। बस, यह ठीक वही चीज है।

धनाढ्य लोग, यहांतक कि वे लोग भी जो बहुत अच्छी अवस्थामें हैं और जिन्हें जीवनमें सब प्रकारकी वस्तुएं प्राप्त हैं, भगवान्‌को उतना ही देते हैं जो उनके पास अपनी आवश्यकतासे अधिक होता है — क्योंकि साधारणतया यही होता है लोगोंका मनोभाव: मनुष्यके पास होता है अपनी आवश्यकतासे थोड़ा अधिक धन, मनुष्यके पास होती हैं अपनी आवश्यकतासे थोड़ी अधिक वस्तुएं, और इसलिये, उदारताके साथ, वह उन्हें भगवान्‌को दे देता है। यह कुछ न देनेसे बेहतर है। परंतु मनुष्यकी आवश्यकतासे यह "थोड़ा अधिक" यदि लाखों रुपयोंके भी समान हो तो भी यह दान आधे आमके दानसे कम पूर्ण होता है। क्योंकि सच पूछा जाय तो इसका माप परिमाण या प्रकारसे नहीं किया जाता: इसका माप होता है दानकी सद्‌हृदयतासे और उसकी परिपूर्णतासे।

परंतु धनी लोग यदि साधारण जीवनमें अपना धन भगवान्‌को देना चाहें, और भगवान् उनके सामने न हों तो फिर वे किसको दें? वे नहीं जानते कि अपना धन कहां लगाया जाय!

हां, परंतु तब यह प्रश्न ही नहीं उठता। यदि उन्हें भीतर या बाहर कहीं भी भगवान्‌का साक्षात्कार न प्राप्त हुआ हो तो फिर इस बातका प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। उनसे उस व्यक्तिको कुछ देनेके लिये नहीं कहा जाता जिसे वे जानते ही नहीं।

यदि उन्होंने अपने अंदर भगवान्‌को देखा है, तो फिर उनके पास जो

कुछ है उसका उपयोग उन्हें भगवान्‌द्वारा प्राप्त संकेतके अनुसार ही करना चाहिये; और जो संकेत उन्हें प्राप्त होते हैं उनका यदि वे बिलकुल सच्चाई-के साथ और ठीक-ठीक अनुसरण करें तो बस उनसे इतनी ही मांग की जा सकती है। परंतु जबतक वह मुहूर्त्त नहीं आता तबतक किसीसे कुछ भी नहीं मांगा जा सकता।

मांगना तभी शुरू होता है जब कोई आकर कहता है: "यह रहा मैं, मैं अपने-आपको भगवान्‌के चरणोंमें निवेदित करना चाहता हूं।" तब स्थिति बिलकुल ठीक होती है, उसी क्षणसे मांगा जाता है; परंतु उससे पहले नहीं। उससे पूर्व, यदि चलते-चलते तुम अपनी जेबसे एक पैसा निकाल लो और वहां रख दो तो यह बहुत अच्छा है; तुमने वह कर दिया जिसे तुमने करना उचित समझा और बात समाप्त हो गयी; किसीने तुमसे कुछ देनेको बिलकुल नहीं कहा। अपने-आपको स्वीकार करनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करने और फिर, अपना सद्‌भाव तो प्रदर्शित करना पर अपनी जीवन-धारामें किसी भी प्रकारके परिवर्तनकी तनिक भी इच्छा न रखना, इनके बीच बहुत अधिक अंतर है।

जो लोग साधारण जीवन यापन करते हैं, हां, वे यदि सदिच्छाका भाव दिखाते हैं तो यह उनके लिये बहुत अच्छा है, यह उनके लिये भावी जीवनोंकी पूर्वावस्थाका निर्माण करता है। परंतु जिस क्षण मनुष्य कहता है: "हां, अब मैं जानता हूं कि केवल एक ही वस्तु है जो मेरे लिये महत्त्व रखती है, वह है दिव्य जीवन, और मैं दिव्य जीवन यापन करना चाहता हूं", — बस, उसी क्षणसे उससे मांगा जाता है, उससे पहले नहीं।

मां, कुछ लोग हैं जो यहां आते हैं, जिनके पास पैसा है और जो बहुत भक्त हैं, जो अपनी भक्ति प्रदर्शित करते हैं, पर जब पैसेका प्रश्न उपस्थित होता है, वे मोलतोल...। तब भला हम उनके साथ मैत्रीपूर्ण संपर्क कैसे रख सकते हैं?

क्या?

वे भक्त हैं, भगवान्‌के प्रति अपनी भक्ति दिखाते हैं...।

किस ढंगसे? जो कुछ संभव हो वह सब भगवान्‌से लेकर?

...परंतु जब पैसेका प्रश्न सामने आता है, वे मोलतोल करते हैं, वे हिसाब करते हैं।

मैं कहती हूं, मैंने उत्तर दे दिया है, बात ऐसी ही है। वे भगवान्‌से जो कुछ लिया जा सके, सभी प्रकारके गुण, सभी क्षमताएं, साथ ही सभी सुविधाएं, सभी प्रकारके आराम, प्रत्येक चीज, और कभी-कभी तो शक्तियां आदि-आदि भी, लेनेकी भावनाके साथ आते हैं। वे लेनेके लिये आते हैं, देनेके लिये नहीं आते। और उनका भक्तिका बाहरी दिखावा एक चोगा मात्र होता है जिसे वे लेनेकी, ग्रहण करनेकी अपनी इच्छाके ऊपर डाले रखते हैं। वह एक विशाल क्षेत्रको ढकता है: अपनी आत्माका उद्धार करने, आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करने, शक्तियां प्राप्त करनेसे यह आरंभ होता है; और समाप्त होता है एक छोटे-से शांत जीवनके साथ, जो सुखपूर्ण (कम या अधिक सुखपूर्ण हो, कम-से-कम अत्यल्प सुखसे युक्त हो) और चिंताओंसे रहित, झंझटोंसे बरी हो, जीवनकी उथल-पुथलसे बहुत दूर हो। परंतु वे यदि देते हैं तो यह एक प्रकारका सौदा होता है; वे जानते हैं कि वह सब लेनेके लिये अच्छा होगा कि थोड़ी-सी कोई चीज दे भी दी जाय, अन्यथा वे उसे नहीं पायेंगे। अतएव वे बहुत भक्तिपरायण होनेका दिखावा करते हैं। परंतु यह केवल एक बाहरी रूप होता है, क्योंकि इसमें सच्चाई नहीं होती।

उनके लिये दुर्भाग्यकी बात यह होती है कि उससे कोई धोखा नहीं खाता। उसे बर्दाश्त किया जा सकता है; परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि उससे कोई धोखेमें पड़ता है।

मोलतोल सर्वत्र है, सत्ताके सभी भागोंमें है। सर्वदा ही लेन-देनका व्यापार चलता है, उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूतियोंसे लेकर क्षुद्रतम सामान्य भौतिक आवश्यकताओंतक। लाखों-करोड़ोंमें एक भी व्यक्ति नहीं जो मोलतोलके बिना देता हो।

और जो कहानी मैंने तुम लोगोंसे कही (उसके अतिरिक्त उस तरहकी यहां बहुतेरी दूसरी कहानियां हैं) उसकी खूबी बस यही है कि जब बुढ़ियाने दिया, वह यह नहीं जानती थी कि वह व्यक्ति स्वयं शिव हैं। उसने तो रास्तेके एक भिखारीको दिया, भलाई करनेके लिये, दान करनेके आनंदके लिये दिया, इसलिये नहीं दिया कि यह एक देवता है और उसने यह आशा भी नहीं की कि बदलेमें उसे मुक्ति या कोई ज्ञान प्राप्त होगा।

(शिष्यकी ओर देखते हुए) अभीतक इसके मनमें कुछ शरारत है। तो फिर, वह क्या है?

मैं यह कहना चाहता था कि ये कामनाएं कर्म करनेकी कामनाके साथ आरंभ होती हैं, और इसका निर्देशन भगवान्‌के द्वारा

भी होता है। परंतु जब मनुष्य यह समझ चुकता है कि हमारे अंदर अब कोई कामना नहीं रहनी चाहिये बल्कि पूर्ण आत्मवान होना चाहिये, फिर भी वह वान नहीं बन पाता; और यह चीज अनिश्चित कालतक चलती रहती है। क्यों ?

मैं उसका क्या मतलब है, नहीं समझी! (दूसरे शिष्यसे) इसका मतलब समझाओ!

मनुष्य कामनाको अपनी अभीप्साके साथ मिला-जुलाकर आरंभ करता है . . .।

हां, यही बात है जो श्रीअरविंदने लिखी है।

तब मनुष्य देखता है कि एक कामना यहां मिल गयी है, पर वह इस कामनाका त्याग करनेमें समर्थ नहीं हो पाता।

क्या यही बात है? (पहले शिष्यसे)

नहीं! (हंसी)

यह वही है पर यह वह नहीं है!

मां! आपने कहा कि उसे बर्दाश्त किया जा सकता है, परंतु सहनशीलताकी भी एक अवधि होती है। परंतु जब यह सहन-शीलताके कालके परे चला जाता है और बंद होना नहीं चाहता — यही है प्रश्न।

और इसलिये क्या, क्या होता है?

वह यह पूछना चाहता है कि हमें क्या करना चाहिये, क्या करना उचित है?

आह! आखिरकार।

क्या करना चाहिये ? . . . सच्चे बनो।

बस, यही है वह चीज; सदा, सर्वदा, फलके अंदरका नन्हा-सा कीड़ा। मनुष्य अपने-आपसे कहता है: "ओह! मैं यह नहीं कर सकता।" यह बात सच नहीं है, यदि मनुष्य चाहे तो वह कर सकता है।

और ऐसे लोग हैं जो मुझसे कहते हैं: "मुझमें संकल्प-शक्ति नहीं है।" इसका मतलब है कि तुम सच्चे नहीं हो। क्योंकि सच्चाई संसारकी सभी इच्छाओंसे अनंतगुना अधिक बलशाली शक्ति है। वह चाहे किसी भी चीजको पलभरमें बदल सकती है: यह ले लेती, पकड़ लेती, बाहर खींच लेती है—और तब सब कुछ समाप्त हो जाता है।

परंतु मनुष्य अपनी आंखें बंद कर लेता है, बहाने बनाता है।

समस्या सर्वदा ही बार-बार आती रहती है।

वह वापस इसलिये आती है कि तुम उसे पूरी तरह निकाल नहीं फेंकते। वास्तवमें तुम बस डालको काट देते हो और इसलिये वह फिरसे उग आती है।

वह विभिन्न आकार ग्रहण करती है।

हां, सुनो, जब-जब वह आती है तब-तब तुम्हें उसे बाहर निकाल फेंकना होगा। बस—तबतक जबतक कि वह आना बंद न कर दे।

हमने इस विषयमें चर्चा की है, कहां की है ? . . . . ओह! मेरी समझमें, यह 'योग-प्रदीप' में है। तुम इसे चेतनाके एक भागमेंसे दूसरेमें धकेल देते हो; और जब तुम उसे फिरसे धकेलते हो तब वह अवचेतनामें चली जाती है, और उसके बाद, यदि तुम सजग नहीं हो तो तुम समझते हो कि वह समाप्त हो गयी, वह फिर वहांसे अपना मुखड़ा दिखाती है। और उसके बाद, जब तुम उसे अवचेतनासे भी निकाल बाहर कर देते हो, तो वह नीचे निश्चेतनामें चली जाती है; और वहांसे भी, फिर, उसे ढूंढ़ निकालनेके लिये तुम्हें उसका पीछा करना होगा।

परंतु एक समय आता है जब वह समाप्त हो जाती है।

केवल, मनुष्य सब समय अत्यधिक जल्दबाजी मचाता है, वह चाहता है कि वह शीघ्र समाप्त हो जाय। जब कोई व्यक्ति प्रयास कर चुकता है तो कहता है: "ओह! मैंने प्रयास कर लिया, अब मुझे अपने प्रयासका पुरस्कार अवश्य मिलना चाहिये।"

मूलतः, यह इसलिये होता है कि मनुष्यमें प्रगति करनेका हर्ष नहीं होता।

प्रगतिका हर्ष यह कल्पना करता है कि यदि हमने अपने सामने रखे हुए लक्ष्यको प्राप्त कर लिया है (उस लक्ष्यको ले लो जो हमारी दृष्टिके सामने है: यदि हम अतिमानसिक जीवन, अतिमानसिक चेतना प्राप्त कर लें) तो हां, प्रगतिका यह हर्ष कहता है: "ओह! परंतु यह लक्ष्य तो शाश्वत कालके अंदर केवल एक अवस्था होगा। इसके बाद कोई अन्य चीज होगी, और फिर उसके बाद और भी कोई दूसरी चीज होगी, और अनवरत हमें आगे-की ओर, और आगेकी ओर बढ़ते रहना होगा।" और बस यही चीज है जो तुम्हें हर्षसे भर देती है। जब कि यह भावना: "आह! अब मैं बैठ सकता हूं, यह समाप्त हो गया, मैंने प्राप्त कर लिया, मैंने जो कुछ किया है उसका आनंद भोग करूंगा", ओह! कितनी नीरस है यह बात! मनुष्य तुरत बूढ़ा हो जाता है, उसका विकास रुक जाता है।

यौवनकी परिभाषा: हम कह सकते हैं कि यह है सतत विकास और अविच्छिन्न प्रगति। और है क्षमताओंका, संभावनाओंका विकास, कर्मक्षेत्रका विकास और चेतनाका प्रसार, और समस्त ब्योरोंकी उपलब्धिकी ओर प्रगति।

स्पष्ट ही, किसीने मुझसे कहा: "हां, तो मनुष्य जब बढ़ना बंद कर देता है तो वह जवान नहीं रह जाता?" मैंने कहा: "स्पष्ट ही, मैं नहीं समझती कि मनुष्य सर्वदा ही बढ़ता रहता है! परंतु मनुष्य विशुद्ध भौतिकसे भिन्न दूसरे प्रकारसे वर्द्धित हो सकता है।"

कहनेका तात्पर्य यह है कि मानव जीवनमें एक-के-बाद-एक कई काल आते हैं। जैसे-जैसे तुम आगे बढ़ते हो, कोई चीज एक रूपमें समाप्त हो जाती है, और अपना रूप बदल लेती है...। स्वभावतः ही, वर्तमान समयमें, तुम सीढ़ीके ऊपर पहुंच जाते हो और फिर नीचे आ जाते हो; परंतु यह वास्तवमें खेदकी बात है, इसे ऐसे नहीं होना चाहिये, यह बुरी आदत है। परंतु तुम जब बढ़ना बंद कर देते हो, जब तुम विकासकी उस मात्रातक पहुंच जाते हो जो हमें सर्वोत्तम रूपसे अभिव्यक्त करती है, तब तुम विकासकी इस शक्तिको एक ऐसी शक्तिमें रूपांतरित कर सकते हो जो तुम्हारे शरीरको पूर्ण बनायेगी, उसे प्रबलसे प्रबलतर बनायेगी, अधिकाधिक ठोस, उसकी प्रतिरोधकी शक्तिको निरंतर बढ़ायेगी, और फिर तुम शारी-रिक शिक्षणका अभ्यास करोगे ताकि तुम शारीरिक सौंदर्यका एक नमूना बन जाओ। और फिर, उसके साथ-ही-साथ तुम अपने चरित्रकी, अपनी चेतनाकी, ज्ञानकी और शक्तियोंकी पूर्णताको धीरे-धीरे प्राप्त करना और उनका अनुसरण करना जारी रख सकते हो, और अंतमें अद्भुत रूपमें सत्यं-शिवंकी परिपूर्णताके साथ भागवत 'उपलब्धि' को और भगवान्‌के पूर्ण 'प्रेम' को प्राप्त कर सकते हो।

बस, यही बात है। और यह चीज अविच्छिन्न होनी चाहिये। और जब मनुष्य चेतनाके एक विशेष स्तरपर पहुंच जाय, जब यह चेतना भौतिक जगत्‌में संसिद्ध हो जाय और जब मनुष्य भौतिक जगत्‌को इस चेतनाकी प्रतिमूर्त्तिमें रूपांतरित कर ले, तब, हां, वह फिर एक पग ऊपर चढ़ सकता है और दूसरी चेतनामें जा सकता है—और वह फिर आरंभ कर सकता है। हां, यही बात है।

परंतु यह चीज आलसी लोगोंके लिये नहीं है। यह उन लोगोंके लिये है जो प्रगति करना पसंद करते हैं। उन लोगोंके लिये नहीं है जो आकर कहते हैं: "ओह! मैंने अपने जीवनमें बहुत अधिक काम किया है, अब मैं विश्राम करना चाहता हूं, क्या आप मुझे आश्रममें स्थान देंगी?" मैं उनसे कहती हूं: "यहां नहीं। यह विश्राम करनेका स्थान नहीं है क्योंकि तुमने बहुत अधिक काम किया है, यह तो पहलेकी अपेक्षा बहुत अधिक कठिन काम करनेका स्थान है।" सो, पहले, मैं उन्हें रमण महर्षि[1]के यहां भेज दिया करती थी और कहती थी: "वहां जाओ, तुम वहां ध्यानमें लीन हो जाओगे और विश्रांति पाओगे।" अब ऐसा करना असंभव है, इसलिये अब मैं उन्हें हिमालयपर भेज देती हूं; मैं उनसे कहती हूं: "वहां जाकर सनातन हिमराशिके सम्मुख बैठ जाओ! उससे तुम्हें लाभ पहुंचेगा।"

बस, इतनी ही बात है न?

१८ जनवरी, १९५६

> **प्यारी माताजी, यहां श्रीअरविंद लिखते हैं। "इस सारे प्रारंभिक कालमें उसे (व्यक्तिको) निम्नतर प्रकृतिके करणोंके द्वारा काम करना होता है।"**
>
> ('योग-समन्वय', पृ० १००)

यह कौन-सा कार्य है, और इसे कैसे संपन्न किया जाता है?

---

[1]दक्षिण भारतके एक संत जिन्होंने अप्रैल, १९५० में अपना शरीर त्याग दिया और जिनका परंपरागत ढंगसे ध्यान और एकाग्रताका अभ्यास करनेका एक आश्रम है।

इस कार्यका एक भावात्मक पक्ष है और एक अभावात्मक पक्ष।

भावात्मक पक्ष है अपनी अभीप्साको बढ़ाना, अपनी चेतनाको विकसित करना, अपनी सत्ताको एकीकृत करना, अपने अंदर पैठकर अपने चैत्य पुरुषके साथ अधिकाधिक संपर्क स्थापित करना; अपनी सत्ताके सभी अंगोंको, सभी गतिविधियोंको, सभी क्रियाओंको अपने हाथमें लेना और उन्हें चैत्य चेतनाके सम्मुख रख देना ताकि वे इस केंद्रके आमने-सामने अपने सच्चे स्थानपर आ जायं; अंतमें समस्त अभीप्साको भगवान्‌की ओर तथा समस्त प्रगतिको भगवान्‌की ओर व्यवस्थित करना। यही है भावात्मक पक्ष।

इसके साथ-ही-साथ अभावात्मक पक्षमें आता है विधिपूर्वक और विवेकके साथ उन सभी प्रभावोंको अस्वीकार करना जो बाहरसे या अवचेतना या निश्चेतनासे या परिपार्श्वसे आते हैं तथा आध्यात्मिक प्रगतिके मार्गमें बाधक होते हैं। हमें इन प्रभावोंको, इन सुझावोंको, इन आवेगोंको पहचानना चाहिये और इनके बार-बार आनेके कारण कभी हतोत्साह न होना चाहिये तथा कभी उनकी इच्छाके अधीन हुए बिना विधिपूर्वक उनको अस्वीकार करना चाहिये। उसके साथ-ही-साथ हमें अपनी सत्ताके अंदर उसके सभी विभिन्न तत्त्वोंका निरीक्षण करना चाहिये जो अंधकारपूर्ण, अहंभावपूर्ण, अचेतन, यहांतक कि असदिच्छापूर्ण भी होते हैं, जो इन बुरे प्रभावोंको, ज्ञानपूर्वक या अज्ञानपूर्वक, प्रत्युत्तर देते हैं, और जो केवल उन्हें चेतनामें प्रवेश ही नहीं करने देते बल्कि कभी-कभी उन्हें वहां जमकर स्थापित भी होने देते हैं। यही है अभावात्मक पक्ष।

दोनोंका ही अभ्यास साथ-साथ करना चाहिये। समयके अनुसार, मौकेके अनुसार, आंतरिक तैयारीके अनुसार, कभी तो भावात्मकपर जोर देना चाहिये और कभी अभावात्मकपर, परंतु उन्हें भूलना कभी नहीं चाहिये, न तो एकको और न ही दूसरेको।

साधारणतया, एक ओर होनेवाली सभी प्रगतियोंकी प्रतिक्रिया दूसरी ओर विरोधी शक्तियोंके आक्रमणके रूपमें होती है। अतएव, मनुष्य जितनी ही अधिक प्रगति करे उतना ही अधिक उसे सावधान होना चाहिये। और सबसे बढ़कर आवश्यक गुण है लगन, सहिष्णुता, और . . . उसे क्या नाम दें? एक प्रकारका आंतरिक प्रसन्न भाव जो तुम्हें निरुत्साहित न होनेमें, उदास न होनेमें और मुस्कराहटके साथ सभी कठिनाइयोंका सामना करनेमें सहायक होता है। अंगरेजीमें एक शब्द है जो इस भावको अच्छी तरह व्यक्त करता है और वह है 'चियरफुलनेस' (cheerfulness) — प्रसन्नचित्तता)। यदि तुम इसे अपने अंदर बनाये रखो तो तुम उन सब

बुरे प्रभावोंके साथ जो तुम्हें प्रगति करनेसे रोकनेका प्रयास करते हैं, प्रकाशके अंदर, बहुत अच्छे ढंगसे लड़ सकते, उनका अधिक अच्छे रूपमें विरोध कर सकते हो।

बस, यही है मुख्य काम। यह बहुत विशाल और जटिल है। और हमें कभी कोई चीज भूल नहीं जानी चाहिये।

प्यारी माताजी, "...'परम देव' ने अपनी चमत्कारमयी 'ज्योति', 'शक्ति' और 'आनंद'के चुने हुए मानवीय पात्रके सिरपर अपना ज्योतिर्मय हाथ रख दिया है।"

(वही, पृ० १०३)

क्या स्वयं 'परात्पर प्रभु' उस व्यक्तिको चुनते हैं जो उनका यंत्र बनता है, या स्वयं व्यक्ति ही यंत्र बननेका चुनाव करता है?

तुम इसे जैसा चाहो वैसा मान सकते हो।

हम यह नहीं कह सकते कि यह कहां प्रारंभ होता है! परंतु दोनों ही बातें सामान्यतया एक साथ होती हैं।

यदि तुम प्राथमिकताका कोई क्रम चाहते हो तो यह स्पष्ट है कि भगवान्का अस्तित्व व्यक्तिके पहलेसे है, अतः वे भगवान् ही होंगे जिन्होंने सबसे पहले चुनाव किया! परंतु वह ऐसा चुनाव है जो पार्थिव जीवनके पहलेका है। साधारण मानवीय चेतनाके क्रममें या तो यह चुनाव या वह या दोनों साथ-साथ हो सकते हैं। सच पूछो तो, यह अधिक संभव है कि भगवान्ने ही सबसे पहले यह देखा हो कि यह या वह व्यक्ति तैयार हो गया है! परंतु जो व्यक्ति तैयार होता है वह सामान्यतया इसे बिना जाने प्रारंभ करता है, इसलिये उसे यह धारणा होती है कि वास्तवमें स्वयं उसीने निर्णय किया है और चुनाव किया है। परंतु यह सत्यकी अपेक्षा कहीं अधिक एक धारणा है।

और एक बार जब मनुष्य चुनाव कर लेता है तो वह अपरिहार्य हो जाता है, यदि वह चाहे तो भी भाग नहीं सकता।

प्यारी माताजी, यहां मुझे इस बातकी व्याख्याकी जरूरत है: "अंतिम अवस्थामें किसी प्रकारका प्रयत्न नहीं होता, न कोई नियत विधि और न कोई बंधी साधना ही होती है। प्रयत्न और तपस्याका स्थान एक सहज-स्वाभाविक विकास ले लेता है।

विशुद्ध और पूर्णताप्राप्त पार्थिव कलीमेंसे भगवान्-रूपी पुष्प शक्तिशाली और सुखकर ढंगसे स्वयमेव विकसित होने लगता है।"

(वही, पृ० १०२)

यहां कवित्वपूर्ण ढंगसे बात कही गयी है।

परंतु कौन-सी बात तुम नहीं समझते? वह कली और पुष्पकी बात क्यों कहते हैं?

मैं यह प्रश्न इसलिये पूछ रहा हूं कि कली बिना किसी प्रयासके फूलके रूपमें प्रस्फुटित हो जाती है, परंतु हमें तो एक प्रयत्न करना होगा, करना होगा न?

वह कहते हैं कि यह बात उस समय होती है जब मनुष्य तैयार हो जाता है; यह बात यथार्थमें तुमसे यह चिंतन करानेके लिये कही गयी है: "परंतु कली बिना प्रयास प्रस्फुटित होती है"; अतएव जब प्रकृति तैयार हो जाती है तो वही बात होती है जो कलीके साथ होती है।

"प्रयत्न", मैं नहीं जानती कि किस चीजको प्रयत्न कहा जाता है, यह निश्चित बात नहीं है कि पौधा कोई प्रयास करता है या नहीं। और, चाहे जो हो, पौधेमें एक अभीप्सा होती है; जब पौधे बढ़ते हैं तो यह ज्योतिके लिये, धूपके लिये, मुक्त वायुके लिये एक अभीप्साका परिणाम होता है।

और पौधोंमें एक प्रकारकी प्रतियोगिता होती है। यदि कोई किसी जंगलमें, उदाहरणार्थ, किसी उपवनमें चला जाय जहां बहुत-से भिन्न-भिन्न प्रकारके पौधे होते हैं तो वह बहुत स्पष्ट रूपमें देख सकता है कि वहां पौधोंमें एक-दूसरेसे आगे निकल जानेकी और ऊपर प्रकाश तथा मुक्त वायु पानेकी प्रतियोगिता होती है। सचमुच यह चीज देखनेमें बहुत अद्भुत होती है।

श्रीअरविन्दके कहनेका मतलब है कि जब मनुष्य अच्छी तरह तैयार हो जाता है और प्रकृति भी तैयार हो जाती है तो अंतिम गति सहज-स्वाभाविक रूपसे कुसुमित होनेके जैसी होती है—तब वहां कोई प्रयास नहीं रहता, वह एक उत्तर होता है। यह सचमुच सत्ताके अंदर भगवान्का कार्य होता है: मनुष्य तैयार हो गया है और मुहूर्त्त उपस्थित हो गया है, तो कली खिल जाती है।

क्या बालकोंमें भी बढ़नेकी अभीप्सा होती है, जैसे कि पौधोंमें होती है ?

हां। यहांतक कि, बहुधा वह सचेतन होती है : वे बढ़ना चाहते हैं।

तब क्या यह उनकी अभीप्सापर निर्भर करता है कि वे लंबे हों या ठिगने ?

एक विशेष मुहूर्त्तमें, हां। मैं वास्तवमें ऐसे बच्चोंको जानती हूं जो बढ़कर लंबे इसलिये हो गये थे कि उनमें लंबे होनेकी बड़ी प्रबल इच्छा थी।

हां, इसकी क्रिया उस समय भी होती है जब कोई बिलकुल बच्चा नहीं रहता। मैंने ऐसे लोगोंके दृष्टांत देखे हैं जो बीस वर्षकी उम्रमें भी लंबे हो गये थे, लंबे होनेके लिये वे इतने अधिक आतुर थे। और मैं उन लोगोंकी बात नहीं कहती जिन्होंने शारीरिक शिक्षण प्राप्त किया था, क्योंकि वह तो भिन्न बात है; शारीरिक शिक्षणके द्वारा तो मनुष्य अपने शरीरमें बहुत अधिक परिवर्तन ला सकता है; मैं यहां केवल अभीप्साकी, आंतरिक संकल्पकी बात कह रही हूं। पच्चीस वर्षतक शरीर पर्याप्त रूपमें नमनीय रहता है। बादमें मनुष्यको अधिक वैज्ञानिक पद्धतियोंका, जैसे शारीरिक शिक्षाका प्रयोग करना होता है; और यदि ऐसा दक्षतापूर्ण और युक्तिसंगत ढंगसे किया जाता है तो मनुष्य उससे अद्‌भुत परिणाम प्राप्त कर सकता है। परंतु सर्वदा ही, इसके पीछे, एक संकल्पकी आवश्यकता होती है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है; एक प्रकारकी अटूट अभीप्सा, एक ज्ञान, यहांतक कि यह विश्वास ही होना चाहिये कि मनुष्य पुरखोंसे आये हुए क्रमसे आवश्यक रूपसे बंधा हुआ नहीं है।

क्योंकि स्पष्ट ही, पौधोंकी तरह, मनुष्य भी मूल बीजसे, जिस वर्गका वह होता है उससे सीमित होता है। परंतु फिर भी वहां काफी गुंजायश होती है। मैंने बहुत अधिक बार ऐसे बालकोंको देखा है जो, उदाहरणार्थ, अपने माता-पितासे बहुत अधिक लंबे थे और जिन्होंने वास्तवमें वैसा होना चाहा था। निस्संदेह, ऐसा एक विशेष बाधाके बावजूद और एक विशिष्ट सीमा-के भीतर हुआ था, पर मनुष्य सीमाको प्रचुर मात्रामें पीछे धकेल सकता है।

और मुख्यतः, आनुवंशिकता और कुलागत क्रमके सिद्धांतोंके अनुसार लोग कहते हैं कि आनुवंशिकता पीढ़ियोंको लांघ सकती है, और कुछ परिवार ऐसे हैं जहां कम-से-कम एक व्यक्ति लंबा नहीं था और इसलिये वह अपने पौत्र-पौत्रियों या प्रपौत्र-प्रपौत्रियोंकी ऊंचाईको उचित सिद्ध कर सकता था।

प्यारी माताजी, क्या कोई पौधा शारीरिक रूपमें बढ़नेके अलावा अन्य ढंगसे भी वर्द्धित हो सकता है?

पौधोंमें एक महान् प्राणिक शक्ति होती है। और यह प्राणिक शक्ति बहुत हदतक कार्य करती है। और फिर जातिकी एक सहज-प्रतिभा भी होती है जो एक प्रकारकी चेतना होती है। वहां पहलेसे ही एक सक्रिय चेतना मौजूद होती है जो पौधोंमें कार्य करती है।

और जातीय प्रकृतिमें चैत्य प्रभावोंके प्रति प्रत्युत्तर देनेकी प्रारंभिक अवस्था होती है — बिलकुल प्रारंभिक, अविकसित भले हो, पर होती है, और कुछ फूल अपने पौधोंमें विद्यमान चैत्य भाव और अभीप्साकी सुस्पष्ट अभिव्यक्ति होते हैं; और वह भाव और अभीप्सा अपने-आपमें तो खूब सचेतन नहीं होती, पर एक स्वाभाविक वेगके रूपमें विद्यमान होती है।

यह बिलकुल निश्चित है कि यदि तुम्हारे अंदर, उदाहरणार्थ, किसी पौधेके लिये विशेष प्रेम हो, यदि, भौतिक रूपमें उसकी देख-रेख करनेके अतिरिक्त, तुम उसे प्यार करते हो, यदि तुम उसके साथ घनिष्ठता अनुभव करते हो तो, वह भी उसे अनुभव करता है: उसका प्रस्फुटन बहुत अधिक सुसमंजस, सुखकर होता है, उसकी वृद्धि यथासंभव सर्वोत्तम होती है, और उसका जीवन दीर्घ होता है। इस सबका तात्पर्य है स्वयं पौधेमें प्रत्युत्तर देनेकी शक्ति। परिणामतः, पौधेके अंदर एक विशेष प्रकारकी चेतना विद्यमान है; और अवश्यमेव उसके अंदर एक प्राण-सत्ता है।

श्रीमां, क्या पौधेका अपना निजी व्यक्तित्व होता है और क्या वह मरनेके बाद फिरसे जन्म भी लेता है?

ऐसा हो सकता है; पर यह आकस्मिक होता है।

कुछ ऐसे पौधे — विशेष रूपसे वृक्ष — होते हैं जो दीर्घ कालतक जीते हैं और वे एक सचेतन सत्ता, एक प्राणिक सत्ताके आवास हो सकते हैं। साधारण तौरपर ये प्राणिक व्यक्तित्व होते हैं जो पेड़ोंपर आश्रय ग्रहण करते हैं, अथवा बहुधा प्राण-जगत्‌की कुछ सत्ताएं होती हैं जो जंगलोंमें रहती हैं — जैसे कि प्राण-जगत्‌की कुछ सत्ताएं पानीमें निवास करती हैं। इस प्रकारके प्राचीन उपाख्यान प्रसिद्ध थे, पर वे वास्तविक तथ्योंपर आधारित थे।

पौधे आवास और आश्रय-स्थलके रूपमें काम देते हैं, परंतु उनपर रहनेवाली सत्ताको वे स्वयं नहीं उत्पन्न करते!

(मौन)

जो व्यक्ति भगवान्‌के द्वारा चुना गया है वह क्या इस बातको एकदम जन्मसे ही जान सकता है?

अपने जन्मसे भी पहलेसे।

संभवतः उसका जन्म इस चुनावका परिणाम होता है;" सामान्यतया यह ऐसा ही होता है। परंतु एकदम किसी भी समय उसके जीवनमें यह हो सकता है। फिर भी जो लोग पूर्वनिर्दिष्ट होते हैं उनके लिये जन्मसे पहले ऐसा होता है; साधारणतया वे एक इरादा और एक सुनिर्दिष्ट अभिप्राय लेकर पृथ्वीपर आते हैं।

तुम यह बहुत अधिक जानना चाहते हो कि यह बात तुम्हारे साथ हुई है या नहीं, ठीक है न? (हंसी) अच्छा तो कोशिश करो — पता लगानेकी कोशिश करो; इस आंतरिक अभीप्साको रखो, एकाग्र होओ, और तब कोशिश करो। यदि तुम्हें इसका परिणाम प्राप्त हो जाय तो मुझे बताओ; मैं तुम्हें बताऊंगी कि वह सही है या नहीं।

(एक दूसरे शिष्यकी ओर ताकते हुए) इसके मस्तकमें अभीतक कोई चीज घूम रही है!

माताजी, अंतिम वाक्यके प्रश्नको ज़ारी रखते हुए: "परम देवने अपनी चमत्कारमयी 'ज्योति' के चुने हुए मानवीय पात्रके सिरपर अपना ज्योतिर्मय हाथ रख दिया है....।"

हां।

क्या यह सामान्य रूपमें लागू हो सकता है या यह लाखोंमें केवल एक व्यक्तिके लिये है?

"सामान्य रूपमें" इससे तुम्हारा क्या तात्पर्य है? पृथ्वीके सभी मनुष्य? क्या यही तुम्हारा मतलब है?

वे सब लोग जो अभीप्सा करते और योग करते हैं; अथवा यह मात्र एक व्यक्ति है?

ओह! अब यह सारी चीज रूप लेना आरंभ कर रही है! (हंसी) क्या केवल एक व्यक्तिको ही भगवान् अपनी अभिव्यक्तिके लिये चुनते हैं अथवा

कई मनुष्योंको चुन सकते हैं? — वह कई व्यक्तियोंको चुनते हैं।

परंतु यहां भी एक प्रकारकी श्रेणी-परंपरा है। मनुष्य यदि सच्ची श्रेणी-परंपराको न समझे तो वह आध्यात्मिक जीवनका कुछ भी नहीं समझ सकता।

आजकल इस बातका फैशन नहीं है। मानव-चिंतनमें, यह एक ऐसी चीज है जिसे जरा भी अनुकूल दृष्टिसे नहीं देखा जाता। परंतु आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे यह स्वयंकृत, स्वाभाविक और सर्वमान्य है। और इसलिये, यदि श्रेणी-परंपरा सत्य है तो, प्रत्येक व्यक्तिके लिये एक स्थान है; और प्रत्येक व्यक्तिके लिये, उस स्थानमें जहां वह है, उसका व्यक्तिगत सत्य निरपेक्ष है। कहनेका तात्पर्य यह कि प्रत्येक तत्त्वका, जो वास्तवमें अपने स्थानमें है, भगवान्‌के साथ सर्वांगीण और पूर्ण संबंध है — उसके अपने स्थानमें। और फिर भी, समग्रके रूपमें, एक श्रेणी-परंपरा है और वह भी पूर्णतः निरपेक्ष है। परंतु आध्यात्मिक जीवनको समझनेके लिये हमें सबसे पहले उसे समझना होगा; और यह बहुत आसान नहीं है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने-आपमें भगवान्‌की पूर्ण अभिव्यक्ति हो सकता है, बशर्ते कि वह अपना स्थान जानता हो और उसीपर बना रहे।

और यदि लोग श्रेणी-परंपराको न जानते हों तो क्या वे इसे नहीं जान सकते?

परंतु उनको यह जाननेकी आवश्यकता ही नहीं होती कि वे किसी श्रेणी-परंपराके अंग हैं, यह जानना उनके लिये जरूरी नहीं है। यह केवल तभी जरूरी है जब कोई भौतिक रूपमें किसी आध्यात्मिक समाजका संगठन करना चाहता हो, — बस, उसी अवस्थामें मनुष्य श्रेणी-परंपराको भौतिक आकार देनेके लिये बाध्य होता है। परंतु साधारण रूपमें, संसारमें, जैसा कि यह है, इस श्रेणी-परंपरामें इतने सारे अंतराल हैं कि यह एक गड़बड़-घोटाला प्रतीत होता है।

पूर्ण श्रेणी-परंपरा सर्वांगीण श्रेणी-परंपरा होती है, और इसका देश और कालके साथ कोई सरोकार नहीं होता। परंतु जब तुम इसे भौतिक रूपमें संसिद्ध करना चाहते हो तब यह बहुत कठिन हो जाता है। यह ठीक वैसा काम होता है जैसा कि सर्वत्र बहुत-से छिद्रोंसे भरे हुए एक कपड़ेके टुकड़ेको बुनना; और छिद्रोंके कारण कपड़ेकी सामान्य समरसता भंग हो जाती है। सर्वदा ही शतरंजकी बिसातपरसे मनुष्य गायब रहते हैं, चालें गायब होती हैं, मोहरे गायब होते हैं — यह सब गायब होता है। तो, यह सब गड़बड़-घोटालेकी तरह दिखायी देता है। परंतु प्रत्येक वस्तु यदि प्रकट हो और

प्रत्येक वस्तु अपने स्थानमें हो तो एक पूर्ण सामंजस्य और एक पूर्ण श्रेणी-परंपरा होगी।

कहींपर (स्थूल विश्वमें नहीं, पर अभिव्यक्त विश्वमें) यह पूर्ण श्रेणी-परंपरा है; यह विद्यमान है। परंतु यह अभी पृथ्वीपर अभिव्यक्त नहीं हुई है।

शायद यह अभिव्यक्ति अतिमानसिक रूपांतरके परिणामोंमेंसे एक होगी; संसार एक पूर्ण, स्वाभाविक, यथार्थतः सच्ची श्रेणी-परंपराकी अभिव्यक्तिके लिये तैयार हो जायगा जहां बिना किसी प्रकारके दबावके प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी पूर्णताके विषयमें सचेतन हो जायगा।

माताजी, आध्यात्मिक श्रेणी-परंपराका ठीक-ठीक अर्थ क्या है? कारण, जब हम श्रेणी-परंपराकी चर्चा करते हैं तो उससे एक ऐसी चीजका बोध होता है जो उच्च और निम्न स्तरोंमें व्यवस्थित हो, ठीक है न?

हां, और वह एकदम मिथ्या है। अर्थात्, स्थूल रूपमें यह वैसी ही होती है। परंतु यह वह चीज नहीं है जिसे मैं श्रेणी-परंपरा कहती हूं।

तब श्रेणी-परंपरा क्या चीज है?

यह प्रत्येक व्यक्तिके शक्ति-सामर्थ्यका संगठन और कर्ममें उसके विशिष्ट स्वभावकी अभिव्यक्ति है।

हमने बराबर ही उपमाएं खोजनेकी कोशिश की है, पर वे किसी कामकी नहीं होतीं। कारण, जिन चीजोंको हम भौतिक रूपमें जानते हैं उनमेंसे कोई भी चीज उस स्थितिके अनुरूप नहीं होती। श्रेष्ठता और निकृष्टताका बोध हमेशा लगा रहता है जैसा कि तुम कहते हो...। कुछ लोगोंने श्रेणी-परंपराकी तुलना, उदाहरणार्थ, शरीरकी विभिन्न क्रियाओंके साथ की है। परंतु उसमें सदा यह धारणा होती है कि सिर तो सबसे ऊपर है और पैर नीचे, अतएव यह असुविधाजनक है!

प्रत्येक तत्त्व एक ही साथ समग्र भगवान् भी है, तब भला हम श्रेणी-परंपराकी बात कैसे कह सकते हैं?

प्रत्येक तत्त्वका भगवान्के साथ एक सीधा और पूर्ण संबंध है।

परंतु क्या वे समग्र भगवान् नहीं बन सकते?

हां, सब भगवान् बन जाते हैं; परंतु समग्र भगवान् नहीं, क्योंकि भगवान् सब कुछ हैं। तुम भगवान्का एक अंश लेकर यह नहीं कह सकते: "यही हैं भगवान्।" और फिर भी, अपनी आध्यात्मिक चेतनामें, प्रत्येक व्यक्तिका भगवान्के साथ पूर्ण संबंध है, अर्थात्, प्रत्येक व्यक्ति उतने ही पूर्ण रूपमें भगवान् है जितना कि वह हो सकता है। परंतु भगवान्का पुनर्निर्माण करनेके लिये समग्र भगवान्की आवश्यकता है। और ठीक यही चीज है जो श्रेणी-परंपराके एकदम सार-तत्त्वका निर्माण करती है। परंतु, चूंकि हरएक अपने-आपमें पूर्ण है, वहां निकृष्टता या श्रेष्ठताकी कोई भावना नहीं हो सकती।

मैं नहीं समझती कि मानवीय मन इसे समझ सकता है। मेरी समझमें इसे जीवनमें उतारना होगा; एक बार जब मनुष्य इसे जीवनमें चरितार्थ कर लेता है तब यह बात बहुत सरल हो जाती है, यह स्पष्ट रूपमें सुगम प्रतीत होती है। परंतु इसे मनसे समझना, यह संभव नहीं है, यह असंभव प्रतीत होता है। मुख्यतया इस कारण कि मन; किसी चीजको जरा भी समझनेके लिये, प्रत्येक वस्तुको विभक्त करने और प्रत्येक वस्तुका विभेद दिखलानेके लिये बाध्य होता है, अन्यथा वह नहीं समझता, वह गड़बड़झालेमें पड़ जाता है। वह अपने कार्य करनेके ढंगके कारण ही अपने-आपको समझनेके अयोग्य बना देता है।

(मौन)

प्यारी माताजी, कोई यह कैसे कह सकता है कि कोई बात "पहले ही संसिद्ध" हो चुकी है जब कि वह अभीतक अभिव्यक्त नहीं हुई है — दृष्टांतस्वरूप, यह कहना कि भगवान्ने एक यंत्रका चुनाव किया है, जब कि कोई बात अभीतक प्रत्यक्ष नहीं है?

हां, भीतर, उस जगत्में जो अभीतक प्रकट नहीं हुआ है, निर्णय हो चुका है, निर्णय किया जा चुका है; परंतु उसके बाद उसे ऊपरी तलपर अवश्य आना होगा।

यह बात ठीक-ठीक उस वर्णनसे मिलती-जुलती है जिसे मैं कितनी ही बार भारतकी स्वतंत्रताके विषयमें तुम्हें पहले सुना चुकी हूं। किसी

विशेष स्तरपर चले जानेके बाद मैंने श्रीअरविंदसे कहा: "भारत स्वतंत्र है।" मैंने उनसे यह नहीं कहा: "वह स्वतंत्र होगा", मैंने कहा: "वह स्वतंत्र है।" अच्छा, जिस क्षण वह एक संसिद्ध तथ्य था और जिस क्षण वह पृथ्वीपर भौतिक जगत्में रूपांतरित हुआ, दोनोंके बीच कितने वर्षोंकी आवश्यकता हुई? वह सन् १९१५ की बात थी, और स्वतंत्रता आयी सन् १९४७ में, अर्थात्, बत्तीस वर्ष बाद। बस, यही बात है, यही है बाधा-विरोधका यथार्थ प्रतीक।

अतएव, व्यक्तिके लिये भी यही बात है; कभी-कभी तो उतना ही लंबा समय लग जाता है और कभी-कभी यह अधिक तेजीसे आगे बढ़ता है।

आप कहती हैं कि आपने भारतको स्वतंत्र देखा...।

नहीं, मैंने देखा नहीं, मैंने जाना।

आपने श्रीअरविंदसे कहा: "भारत स्वतंत्र है": क्या भारत एक अखंड रूपमें स्वतंत्र था या दो भागोंमें विभक्त था जैसा कि वह वर्तमान समयमें है?

मेरा मतलब विशेष रूपसे वही था जो १९४७ में हुआ, अर्थात्, विदेशी शासनका हट जाना, बस इतना ही। इसके अलावा अन्य कुछ नहीं। उसकी नैतिक या आध्यात्मिक स्वाधीनता नहीं, मैंने बिलकुल ही उसकी बात नहीं कही। मैंने केवल यह कहा कि वह विदेशी शासनसे मुक्त है, यहांतक कि श्रीअरविंदने जब मुझसे एक प्रश्न पूछा तो उत्तरमें मैंने यही कहा था (उसी स्तरसे): "किसी प्रकारका हिंसात्मक कार्य नहीं होगा, वह बिना किसी क्रांतिके आयेगी, वास्तवमें स्वयं अंग्रेज ही चले जानेका निर्णय करेंगे, क्योंकि किन्हीं जागतिक परिस्थितियोंके कारण उनके लिये यह स्थान बनाये रखना कठिन हो जायगा।" अतः वह केवल इसी बातका प्रश्न था, कोई आध्यात्मिक प्रश्न यहां नहीं था।

और बातें इसी प्रकार हुईं। और मैंने सन् १९१५ में ठीक यही बात श्रीअरविंदसे कही थी। यही सब कहा था। मैंने न तो किसी चीजकी कल्पना की थी न भविष्यवाणी: यह एक तथ्य था।

और इस तरह, यह चीज स्थापित तथ्य और आंतरिक अनुभूतिके बीचके आवश्यक समयकी लंबाई ठीक-ठीक चित्रित करती है। और व्यक्तिके लिये भी वही बात है: वह चुना गया है; उसने चुना है; और उसने

भगवान्‌को चुना है और चुना गया है; और यह एक निर्धारित चीज है; और यह अनिवार्य रूपसे संसिद्ध होगी, कोई प्रयत्न भी करे तो भी इससे बच नहीं सकता। केवल, यह बहुत दीर्घ काल ले सकती है।

माताजी, (हंसी) मैं पूछ रहा था...। आपने कहा कि भारत १९१५ में स्वतंत्र था, पर क्या वह वैसे ही स्वतंत्र था जैसे आजकल स्वतंत्र है? क्योंकि भारत एक अखंड देशके रूपमें स्वतंत्र नहीं है। यह विभक्त है।

ओह! ओह! तुम यह बात जानना चाहते थे!

वह — ब्योरेकी बातें वहां नहीं थीं। नहीं, उसके अन्य रूपमें होनेकी संभावना वहां अवश्य होगी, क्योंकि, जब श्रीअरविन्दने उनसे एक विशेष बात करनेको कहा था, उनके पास अपना संदेश[1] भेजा था तो उन्हें यह बहुत अच्छी तरह मालूम था कि जो कुछ बादमें हुआ उससे बचना संभव था। -यदि उन्होंने उस समय श्रीअरविन्दकी बात सुनी होती तो कोई विभाजन न होता। अतएव, विभाजन भगवन्निर्णीत नहीं था, यह एक मानवीय विकृति था। निस्संदेह, यह एक मानवीय विकृति है।

परंतु तब, यह कैसे कहा जा सकता है कि परमात्माका निर्णय अपरिहार्य है?

कैसे?

यदि भगवान्‌ने निर्णय किया कि भारत स्वाधीन होगा...

नहीं, नहीं, यह बात ऐसी नहीं है, मेरे बच्चे! (हंसी)

---

[1]सन् १९४२ में, जब सर स्ट्रैफोर्ड क्रिप्स "प्रस्ताव" लेकर आये थे (जो उसी समय भारतको स्वतंत्रता देनेके लिये नहीं पर उसकी ओर ले आनेके लिये था), उस समय श्रीअरविन्दने अपना एक विशेष दूत दिल्ली भेजनेका कष्ट उठाया था ताकि कुछ उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्तियोंको समझाया जाय कि इन प्रस्तावोंको अवश्य स्वीकार किया जाय। उन्होंने उसे नहीं समझा। यदि प्रस्तावोंको स्वीकार किया जाता तो बहुत संभव था कि भारत विभाजन तथा उसके साथ आनेवाली बीभत्सताओंसे बच जाता। — (संपादक)

यह एक तथ्य है, बस इतना ही। सच पूछो तो स्वयं भगवान् ही भारत हैं, स्वयं भगवान् ही स्वतंत्रता हैं, स्वयं भगवान् ही परतंत्रता हैं, स्वयं भगवान् ही प्रत्येक वस्तु हैं — तब भला उन्होंने कैसे निर्णय किया है ?

(मौन)

मैं तुम्हें सलाह देती हूं कि ऊपर जाकर देखो, तब तुम समझ जाओगे। जबतक तुम सीधे सीढ़ीके ऊपरी भागतक नहीं चढ़ जाते, इसे समझना कठिन होगा।

२५ जनवरी, १९५६

" 'जीवन' — कोई दूरस्थ, निश्चल-नीरव अथवा अक्षुब्ध आनंदपूर्ण पारलौकिक जीवन नहीं — एकमात्र 'जीवन' ही हमारे योगका क्षेत्र है। सोचने, देखने, अनुभव करने और रहनेकी हमारी स्थूल, संकीर्ण और खंडात्मक मानवीय शैलीका गंभीर एवं विशाल अध्यात्म-चेतनामें तथा एक सर्वांगपूर्ण आंतरिक एवं बाह्य अस्तित्वमें रूपांतर और हमारे सामान्य मानवजीवनका दिव्य जीवन-प्रणालीमें रूपांतर इसका प्रधान लक्ष्य होना चाहिये।"

('योग-समन्वय,' पूर्वार्द्ध, पृ. १०४)

प्यारी माताजी, क्या "दिव्य जीवन-प्रणाली" केवल तभी स्थापित होगी जब 'अतिमानस' अवतरित होगा ?

मैं ऐसा ही समझती हूं। इसके अन्य रूपमें होनेकी कोई संभावना नहीं दिखायी देती। परंतु यह एक बहुत ही सापेक्षिक प्रश्न है। संभवतः पूर्णतः दिव्य हुए बिना भी जीवन-प्रणाली कुछ अधिक दिव्य बन सकती है।

"दिव्य जीवन-प्रणाली" से आपका क्या तात्पर्य है ?

हम सर्वदा उस सबको "दिव्य" कहते हैं जो हम हैं तो नहीं, पर होना चाहते हैं। जो कुछ हमें अनंत रूपमें श्रेष्ठ प्रतीत होता है, हमने जो कुछ किया है केवल उसके ही मुकाबले नहीं, बल्कि उस सबके मुकाबले भी जो हम अनुभव करते हैं कि हम कर सकते हैं, जो कुछ हमारी परिकल्पना तथा हमारी वर्तमान संभावनाओंको, दोनोंको अतिक्रम करता है, उस सबको हम "दिव्य" कहते हैं।

मैं यह बात मजाकके रूपमें नहीं कह रही, बल्कि इस कारण कह रही हूं कि मुझे पूरा विश्वास है कि यदि हम कुछ हजार वर्ष पीछे चले जायं, जब लोग भगवान्‌की बात करते थे (यदि कभी वे भगवान्‌की बात करते थे जैसा कि मैं विश्वास करती हूं), वे शायद उस अवस्थाकी चर्चा करते थे जो 'अधिमानस'के देवताओंकी अवस्थासे मिलती-जुलती थी: और अब 'अधिमानस'के उन देवताओंकी जीवन-विधि जिन्होंने, स्पष्ट ही, पृथ्वीपर बहुत दीर्घ कालतक राज्य किया है और यहां बहुत-सी चीजें निर्मित की हैं, आज हम जिसकी कल्पना 'अतिमानस'के रूपमें करते हैं उसके सामने हमें बहुत अधिक निकृष्ट प्रतीत होती है। और यह 'अतिमानस', जिसे हम, निश्चित रूपसे, भगवान् कहते हैं और पृथ्वीपर उतार लानेकी चेष्टा करते हैं, संभवतः आजसे कुछ हजार या लाखों वर्ष बाद हमें ऐसा ही लगेगा जैसा कि आज 'अधिमानस' लग रहा है।

और मुझे पूरा विश्वास है कि अभिव्यक्तिके अंदर, अर्थात् अपनी आत्म-अभिव्यक्तिके अंदर भगवान् क्रमवर्द्धमान हैं। अभिव्यक्तिसे बाहर वह कुछ ऐसी चीज हैं जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते; परंतु जैसे ही वह इस प्रकारकी शाश्वत संभूतिके अंदर अभिव्यक्त होते हैं, वह क्रमशः अधिकाधिक अपने-आपको प्रकट करते हैं, मानों वह अंतिम समयके लिये अपनी 'सत्ता'के अधिक सुन्दर अंशोंको बचाकर रखते हों।

चूंकि धीरे-धीरे जगत् प्रगति करता जाता है, जो कुछ वह जगत्‌में प्रकट करते हैं वह ऐसी चीजें बनता जाता है जिन्हें हम अधिकाधिक दिव्य कह सकते हैं।

अतएव श्रीअरविन्दने उन लोगोंको समझानेके लिये 'अतिमानस' शब्दका प्रयोग किया है जो बाहरी और विकसनशील चेतनामें हैं और जिन्हें उस तरीकेका कुछ बोध है जिससे पार्थिव जगत् विकसित हुआ है — उनको यह समझानेके लिये कि यह वस्तु, जो बहुत अधिक महान् होगी, और मानव-सृष्टिसे, मनुष्यसे, जिसे वह सर्वदा मनोमय प्राणी कहते हैं अधिक श्रेष्ठ होगी — यह वस्तु जो आनेवाली है मनुष्यसे बहुत बढ़-चढ़कर और ज्यादा अच्छी होगी; और इसलिये वह इसे अतिमानसिक कहते हैं ताकि लोग उन्हें समझ

सकें। परंतु हम साथ ही यह भी कह सकते हैं कि यह वस्तु उस सबसे अधिक दिव्य है जो पहले अभिव्यक्त हो चुका है।

मैंने आज जो पढ़ा है उसमें वह स्वयं कहते हैं कि वह अनंत है, उसकी कोई सीमा[1] नहीं है। कहनेका मतलब, सर्वदा ही एक वर्द्धनशील पूर्णता यहां रहेगी; और जो चीज अब हमें अपूर्ण प्रतीत होती है वह अवश्य ही वह पूर्णता रही है जिसके लिये पार्थिव इतिहासमें कुछ युगोंने अभीप्सा की थी।

कोई कारण नहीं कि यह बंद हो जाय। यदि यह बंद हो जाय तो वह समाप्त हो जायगा। यह एक नया प्रलय होगा।

> **माताजी, मैं इसे नहीं समझा: "चेतनाके इस सार्थक विकासके लिये ही मनुष्यने, मनोमय प्राणीने इस स्थूल शरीरमें प्रवेश किया है। यह विकास विचार, इच्छा-शक्ति, भाव, कामना, कर्म और अनुभवकी सहायतासे होता है और अंतमें परम दिव्य आत्मान्वेषणतक ले जाता है।"**
>
> (वही, पृ. १०४-१०५)

मनोमय प्राणीने इस स्थूल शरीरमें क्यों प्रवेश किया है? क्या तुम यही जानना चाहते हो?

> **श्रीअरविंद कहते हैं: "...अंतमें परम दिव्य आत्मान्वेषणतक ले जाता है।"**

दिव्य अन्वेषण अपने अंदर भगवान्‌का अन्वेषण है। अतएव मनुष्य, अर्थात् मनोमय प्राणी (क्योंकि जिसे हम मनुष्य कहते हैं वह एक भौतिक शरीर है जिसके अंदर एक मनोमय पुरुष है, एक मनोमय पुरुष जो एक शरीरमें, एक भौतिक शरीरमें अभिव्यक्त हुआ है), अतएव मनोमय पुरुष अवतरित हुआ है और मनुष्य बना है ताकि वह अपने अंदर दिव्य 'पुरुष'को, दिव्य 'उपस्थिति'को खोज निकाले।

क्यों? तुम यह पूछते हो कि क्यों? तो यह अजीब-सा तरीका है! (हंसी)

---

[1] "एक ऐसे विकासमें जो संभवतः असीम हो सकता है कहीं किसी लक्ष्यकी चर्चा करना, एक विशेष अर्थमें गलत है।" ('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध; पृ. १०५)

मैं नहीं जानती कि वे यहां इस बातकी व्याख्या करनेवाले हैं या नहीं। मुझे अब याद नहीं है, पर एक चीज निश्चित है कि यह अद्भुत वस्तु, 'जड़-तत्त्व'में भागवत 'उपस्थिति', जो कि चैत्य पुरुषके निर्माणके मूलमें है, स्वयं अपने अधिकारसे, पार्थिव जीवनसे संबंध रखती है।

अतएव (मैं समझती हूं हम पहले बहुत बार यह बात कह चुके हैं), यह पार्थिव जगत्, जो ज्योतिष-विद्याके दृष्टिकोणसे, सभी नक्षत्रों और सभी जगतोंके बीच, केवल एक तुच्छ महत्त्वहीन ग्रह प्रतीत होता है, यह पार्थिव जगत् विश्वका प्रतीक और रूपांतरके कार्य तथा दिव्य परिवर्तनके कार्यके लिये संकेंद्रण बिंदु बननेके लिये निर्मित हुआ है।

और उसी कारण, इस 'जड़-तत्त्व'के अंदर, जो संभवतः समस्त विश्वोंके समस्त 'उपादान-तत्त्व'की अपेक्षा अत्यंत अंधकारपूर्ण और अत्यंत निश्चेतन था, सीधी कूद पड़ी और अवतरित हुई 'भागवत चेतना', परात्पर मूलस्रोतसे सीधी अत्यंत तमावृत जड़-तत्त्वमें, किसी मध्यवर्त्ती स्थितिसे गुजरे बिना, एकदम सीधी। फलस्वरूप, दो चरम छोर मिल जाते हैं, 'परात्पर' और अत्यंत निश्चेतन, और विश्व-वृत्त बंद हो जाता है। और इस कारण पार्थिव जीवन भगवान्‌के विषयमें सचेतन होनेका सबसे आसान (यदि हम ऐसा कह सकें), सबसे तेज साधन है।

और यह तथ्य उतना सत्य है कि महान् वैश्व व्यक्ति-सत्ताएं भी, जब वे परिवर्त्तित होना या 'मूलस्रोत'से युक्त होना चाहती हैं तो उसके लिये भौतिक शरीर ग्रहण करती हैं, क्योंकि तब यह कार्य उनके लिये अधिक आसान बन जाता है, क्योंकि, यदि उन्हें सत्ताकी सभी स्थितियोंमेंसे गुजरते हुए, विश्वके अंतर्गत सत्ताकी किसी भी एक स्थितिसे 'परात्पर मूलस्रोत'तक प्रगति करनी पड़े तो उस समयकी अपेक्षा इस तरह वह कार्य अधिक तेजीके साथ और अधिक अच्छे रूपमें संपन्न हो सकता है।

मनुष्य-शरीरमें नीचे उतर आना और दिव्य 'उपस्थिति'को यहां खोज निकालना अधिक आसान है, काम अधिक तेज गतिसे चलता है। उस सर्पकी कल्पना करो जो अपनी पूंछको काट रहा है, इससे एक वृत्त बन जाता है, बन जाता है न? अतएव, कोई वस्तु यदि भगवान्‌के साथ युक्त होना चाहती है, तो शरीरका पूरा चक्कर लगानेकी अपेक्षा पूंछमें प्रवेश करना अधिक आसान है! कारण, चूंकि सिर पूंछको काटता है, यदि तुम पूंछमें घुस जाओ तो तुम तुरत सिरके संपर्कमें आ जाओगे, जब कि दूसरे तरीकेसे तुम्हें सिरतक पहुंचनेके लिये इस भांति (**हाथके इशारेसे दिखाते हुए**) पूरा चक्कर लगाना होगा।

(**बच्चेसे**) ध्यान दो कि मैं बिलकुल निस्संदिग्ध नहीं हूं कि क्या यही

बात है जो वह कहना चाहते हैं, पर, जो हो, यह एक व्याख्या है।

(मौन)

श्रीमाताजी अपने हाथमें सफेद चम्पा पुष्प लिये हैं और उसे दिखा रही हैं। उस फूल-का नाम "आंतरिक परिपूर्णता" रखा गया है।

किसको याद है?

(उसके दलोंको गिनते हुए) एक, दो, तीन, चार, पांच आंतरिक परि-पूर्णताएं हैं। ये पांच आंतरिक परिपूर्णताएं कौन-कौन-सी हैं?

क्योंकि उनको बदलना संभव है। और वास्तवमें देखा जाय, यदि मैं अपना गुप्त रहस्य तुम्हें बताऊं, तो जब-जब मैं यह फूल किसीको देती हूं, तो सर्वदा एक ही आंतरिक परिपूर्णताएं नहीं होतीं। वह निर्भर करता है लोगोंकी आवश्यकतापर। यहांतक कि एक ही व्यक्तिको मैं अलग-अलग समयोंमें अलग-अलग आंतरिक परिपूर्णताएं दे सकती हूं; अतएव ये निश्चित नहीं हैं। परंतु सर्वप्रथम जब इस पुष्पको "आंतरिक परिपूर्णता" नाम दिया गया था (मुझे अच्छी तरह याद है, हम सब वहां एकत्र हुए थे जहां आज-कल 'प्रॉस्पेरिटी' है, जहां मैं महीनेकी पहली तारीखको जाती हूं[1]; उसी बैठकमें पांचों आंतरिक परिपूर्णताएं निश्चित की गयी थीं), उस समय उन्हें लिख लिया गया था, पर जहांतक मेरा प्रश्न है, ये बहुत तरल चीजें हैं (मैं तुम्हें बता चुकी हूं कि ये परिस्थितियों और आवश्यकताओंपर निर्भर हैं), मुझे याद नहीं कि प्रथम बार किन-किन चीजोंको चुना गया था।

सो, यदि कोई उन्हें जानता हो तो वह हमें बता सकता है, हम मिलाकर देखेंगे।

मुझे पूरा विश्वास नहीं है।

---

[1] 'प्रॉस्पेरिटी' वह स्थान है जहां, प्रत्येक महीनेकी पहली तारीखको श्रीमाताजी शिष्योंको वे चीजें दिया करती थीं जो उस महीनेमें उनके लिये जरूरी होती थीं।

तुम्हें पूरा विश्वास नहीं है। क्या कोई व्यक्ति है जिसे पूरा विश्वास हो?

अभीप्सा, भक्ति, सच्चाई और श्रद्धा।

ये तो केवल चार ही हुए, अभीतक।

और समर्पण।

समर्पण? किसीने मुझे कोई अन्य चीज बतायी थी।

(एक शिष्यसे) तुम, तुम जानते हो? अच्छा, फिर, आओ और बताओ हमें।

अंगरेजीमें, माताजी?

आह! नहीं, मेरे बच्चे, यह फ्रेंच क्लास है, अंगरेजीमें नहीं!

श्रद्धा, सच्चाई, अभीप्सा, भक्ति, समर्पण।

परंतु यह तो ठीक वही है जो उसने अभी-अभी बताया है। (एक दूसरे शिष्यकी ओर मुड़कर) तुमने, ठीक एक क्षण पहले तुमने मुझसे "एक-निष्ठता" कहा था।

मैंने वह कहा तो था, पर वह एकनिष्ठता नहीं है। एक-निष्ठताकी जगह वहां श्रद्धा है।

परंतु उसमें एकनिष्ठता क्यों नहीं रहनी चाहिये? मैंने उसे नहीं रखा क्योंकि मैंने कोई चीज स्मरण करनेकी चेष्टा नहीं की, मैंने केवल वही चीजें लिखीं जो मुझे अत्यंत आवश्यक और अत्यंत सार्वजनिक प्रतीत हुईं। परंतु ये कई ढंगसे रखी जा सकती हैं।

जो हो, जो चीज उसमें सर्वदा रहती है, जो सभी समवायोंमें होती और चाहे जिस किसीको मैं यह फूल देती हूं उसके लिये होती है, सभी पूर्ण-ताओंमें जो सर्वप्रथम है, वह है सच्चाई। कारण, यदि सच्चाई न हो, तो मनुष्य आधा पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। अतएव यह है पहली चीज और यह बराबर यहां रहती है।

परन्तु इसे एक दूसरे शब्दके द्वारा अनूदित करना संभव है, यदि कोई पसंद करे, और वह होगा "पारदर्शिता"। मैं इस शब्दकी व्याख्या कर दूं:

कोई व्यक्ति मेरे सामने उपस्थित है और मैं उसकी ओर देखती हूं; मैं उसकी आंखोंमें देखती हूं। और यह व्यक्ति यदि सद्‌हृदय अथवा "पारदर्शक" होता है तो उसकी आंखोंके द्वारा मैं उसके अंदर पैठ जाती हूं और उसकी अंतरात्माको देखती हूं — स्पष्ट रूपमें। परंतु (ठीक यही अनुभव होता है) जब मैं किसी व्यक्तिकी ओर निहारती हूं और कभी-कभी थोड़ा-सा मेघ देखती हूं, तब मैं आगे बढ़ती हूं, मैं एक पर्दा देखती हूं, और फिर, कभी-कभी वहां एक दीवाल होती है और उसके बाद वहां कोई बिलकुल काली चीज होती है; और इन सबको पार करना होता है और छिद्र बनाने होते हैं जिनमेंसे होकर और आगे बढ़ा जाय; और उसके बाद भी मैं निस्संदिग्ध नहीं होती कि अंतिम क्षणमें मेरे सम्मुख कोई कांसेका दरवाजा नहीं उपस्थित हो जायगा जो इतना मोटा होगा कि मैं उसके पार कभी नहीं जा सकूंगी और न उसकी अंतरात्माको देख सकूंगी, तब, ऐसे व्यक्तिके विषयमें मैं तुरत कह सकती हूं कि वह सच्चा नहीं है। परंतु मैं शब्दशः यह भी कह सकती हूं कि वह पारदर्शक नहीं है। यही है पहली चीज।

उसके बाद एक दूसरी चीज है जो स्पष्ट ही उतनी ही अनिवार्य है यदि कोई प्रगति करना चाहे: वह है श्रद्धाका होना। अथवा दूसरा शब्द लें, जो प्रतीत तो होता है अधिक सीमित पर मेरे लिये अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि (यह अनुभवका प्रश्न है) यदि तुम्हारी श्रद्धा भगवान्‌के प्रति पूर्ण विश्वाससे निर्मित नहीं है तो तुम्हें यह धारणा हो सकती है कि तुममें श्रद्धा है और फिर भी तुम भागवती 'शक्ति' या 'भगवत्कृपा'पर अपना पूरा विश्वास खो देने, अथवा भगवान्‌का जो 'विश्वास' तुमपर है उसे खो देनेके पथपर हो सकते हो। ये तीन रास्तेकी बाधाएं हैं:

जिन लोगोंमें भगवान्‌पर श्रद्धा होती है — जिसे वे अटूट श्रद्धा कहते हैं — और जो यह कहते हैं: "स्वयं भगवान् ही सब कुछ कर रहे हैं, वे सब कुछ कर सकते हैं; जो कुछ मुझमें, दूसरोंमें, सर्वत्र हो रहा है वह सब भगवान्‌का ही काम है और भगवान्‌के सिवा और किसी चीजका नहीं", वे यदि इस प्रकारके तर्कके साथ इसका अनुसरण करते हैं तो कुछ समय बाद वे भगवान्‌पर अत्यंत दहलानेवाले कुकर्मोंका दोषारोपण करते हैं, उन बुराइयोंके लिये 'उनपर' दोष लगाते हैं जो जगत्‌में होती हैं और 'उन्हें' एक वास्तविक, क्रूर और भयावह दानव बना देते हैं — यदि उनमें विश्वास नहीं होता।

अथवा यदि उनमें श्रद्धा होती है, तो वे अपने-आपसे कहते हैं: "सचमुच मुझे भगवान्‌पर श्रद्धा तो है, पर यह जगत्, मैं भली-भांति देख सकता हूं कि यह कैसा है! सबसे पहले तो मैं इतना अधिक दुःख भोग रहा हूं, ठीक है न? मैं बहुत दुःखी हूं, अपने सभी पड़ोसियोंसे बहुत अधिक दुःखी हूं" (कारण, मनुष्य सर्वदा अपने सभी पड़ोसियोंसे कहीं अधिक दुःखी होता है), "मैं बहुत दुःखी हूं, और सचमुच, जीवन मेरे प्रति कठोर है। परंतु फिर भगवान् तो देवता हैं; वह 'सर्व-कृपालु', 'सर्व-उदार', 'सर्व-सामंजस्यमय' हैं, तो यह कैसी बात है कि मैं इतना दीन-दुःखी हूं? वह अवश्य ही शक्तिहीन होंगे; अन्यथा इतना कृपालु होनेपर वह मुझे इतना अधिक कैसे दुःख-कष्ट भोगने देते?"

यही है दूसरी बाधा।

और तीसरी है: ये ऐसे लोग होते हैं जिनमें, हम कह सकते हैं, एक प्रकारकी विकुंचित और अतिरंजित विनयशीलता या विनम्रता होती है और जो अपने-आपसे कहते हैं: "निश्चय ही भगवान्‌ने मुझे बाहर फेंक दिया है, मैं किसी कामके लायक नहीं हूं, वह मेरे साथ कुछ नहीं कर सकते, मेरे लिये बस एकमात्र कार्य है इस खेलको ही बंद कर देना, क्योंकि वह मुझे अपने योग्य नहीं समझते!"

अतएव, जबतक मनुष्य अपनी श्रद्धाके साथ भगवत्कृपाके प्रति समग्र और पूर्ण विश्वासको नहीं जोड़ देता, तबतक कठिनाइयां अवश्य रहेंगी। इस कारण दोनों ही चीजें आवश्यक हैं; एक या दूसरी या दोनों ही।

अब, हमने इस तालिकामें "भक्ति" को रखा है। हां, भक्ति बहुत ठीक है, पर जबतक इसके साथ अन्य कई वस्तुएं नहीं होतीं यह भी कई भूलें कर सकती है। इसके सामने भी महान् कठिनाइयां उपस्थित हो सकती हैं।

एक व्यक्तिमें भक्ति है और वह अपना अहं बनाये रखता है। और तब उसका अहं भक्तिके वश उससे सभी प्रकारके कार्य कराता है और ऐसी चीजें कराता है जो भयंकर रूपसे अहंकारपूर्ण हैं। कहनेका तात्पर्य, वह एकमात्र अपने विषयमें ही सोचता है और न तो दूसरोंके विषयमें, न जगत्‌के विषयमें, न इस विषयमें सोचता है कि क्या किया जाना चाहिये —वह बस अपनी भक्तिकी बात सोचता है। और वह बड़ा भारी अहं-कारी बन जाता है। और इसलिये, जब उसे पता लगता है कि भगवान्, किसी विशेष कारणवश, उसकी भक्तिका उतने ही उत्साहपूर्वक उत्तर नहीं देते जितने उत्साहकी वह उनसे आशा करता था तो वह निराश हो जाता है और उन्हीं तीन कठिनाइयोंमें फिर जा गिरता है जिनकी मैं अभी चर्चा

कर रही थी : या तो भगवान् निर्दय हैं (हमने इसे पढ़ा है; ऐसी अनेक कहानियां हैं, उन उत्साहपूर्ण भक्तोंकी जो भगवान्‌को गालियां देते हैं क्योंकि वह अब उतने उदार और उनके समीप नहीं होते जितने पहले थे, वह पीछे हट गये हैं ; "क्यों तूने मुझे त्याग दिया है ? तूने मेरा पतन करा दिया है, ऐ राक्षस ! . . ." वे ऐसा कहनेका साहस नहीं करते, पर ऐसा सोचते हैं), या फिर वे कहते हैं : "ओह ! मैंने अवश्य ही कोई इतनी भारी भूल कर दी होगी जिसके कारण मुझे दूर फेंक दिया गया है", और वे निराशाके गर्त्तमें जा गिरते हैं।

परंतु एक दूसरी क्रिया है जो निरंतर भक्तिके साथ बनी रहनी चाहिये . . .। इस प्रकारकी कृतज्ञताका बोध कि भगवान्‌का अस्तित्व है; चमत्कारपूर्ण कृतज्ञताकी यह भावना जो इस तथ्यके कारण ही तुम्हें वास्तवमें महान् हर्षसे भर देती है कि भगवान् हैं, विश्वमें कोई वस्तु है जो भगवान् है, ठीक वह भयंकरता ही नहीं है जिसे हम देखते हैं, भगवान् हैं, भगवान् विद्यमान हैं। और जब-जब अत्यंत मामूली बात भी तुम्हें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें, दिव्य सत्ताके इस उच्च 'सत्य' के संपर्कमें ला देती है, तुम्हारा हृदय इतने तीव्र, इतने अलौकिक हर्षसे, एक ऐसी कृतज्ञतासे भर जाता है जिसमें मानों समस्त चीजोंकी अपेक्षा सबसे अधिक आनंदपूर्ण रस होता है।

ऐसी कोई चीज नहीं जो तुम्हें कृतज्ञतासे प्राप्त हर्षके समान हर्ष प्रदान करे। हम एक पक्षीको गाते हुए सुनते हैं, एक सुन्दर-सा पुष्प देखते हैं, एक नन्हे-से बच्चेको निहारते हैं, उदारताके एक कार्यकी ओर दृष्टि-पात करते हैं, एक आकर्षक वाक्य पढ़ते हैं, अस्तोन्मुख रविको देखते हैं; कोई बात नहीं कि वह क्या चीज होती है, एकाएक यह चीज तुम्हें अभिभूत कर देती है, इस प्रकारका भावातिरेक — अवश्य ही इतना गभीर, इतना तीव्र — कि संसार भगवान्‌को अभिव्यक्त कर रहा है, जगत्‌के पीछे कोई वस्तु है जो कि भगवान् है।

अतएव मैं समझती हूं कि कृतज्ञताके बिना भक्ति एकदम अपूर्ण होती है; भक्तिके साथ-साथ कृतज्ञता अवश्य होनी चाहिये।

मुझे याद है कि एक बार हमने एक परिपूर्णताके रूपमें साहसकी चर्चा की थी; मुझे याद है कि इसे एक तालिकाके अंदर लिखा भी गया था। परंतु वह एक ऐसा साहस है जिसमें एक सर्वोच्च साहसिक कार्यका शौक होता है। और सर्वोच्च साहसिकताका यह शौक है अभीप्सा — वह अभीप्सा जो तुम्हें पूर्णतः अपने अधिकारमें कर लेती है और बिना कोई हिसाब लगाये, बिना कुछ बचाये और पीछे हट आनेकी किसी संभावनाके बिना,

तुम्हें भागवत खोजके महान् 'साहसिक कार्य'में, दिव्य मिलनके महान् 'साहसिक कर्म'में, और 'भागवत उपलब्धि'के और भी महत्तर साहसिक कार्यमें फेंक देती है; मनुष्य स्वयं अपने-आपको बिना पीछे ताके और एक क्षण भी यह पूछे बिना कि क्या होनेवाला है 'साहसिक कार्य'में, झोंक देता है। क्योंकि कोई यदि पूछता है कि क्या होनेवाला है तो वह कभी प्रारंभ नहीं करता, वह सदा धरतीसे चिपका रहता है, वहां, गड़ा रहता है, कोई वस्तु खो देने, अपनी समतोलता खो देनेके भयसे त्रस्त बना रहता है।

यही कारण है कि मैं साहसकी बात कहती हूं — परंतु वास्तवमें वह अभीप्साकी बात है। ये दोनों साथ-साथ रहते हैं। सच्ची अभीप्सा ऐसी चीज है जो साहससे भरी रहती है।

और अब आता है समर्पण, अंग्रेजीमें शब्द है "सरेण्डर" (surrender), फ्रेंच भाषामें कोई शब्द नहीं, जो ठीक-ठीक वही अर्थ प्रदान करता हो। परंतु श्रीअरविंदने कहा है (मैं समझती हूं कि हमने इसे पढ़ा है) कि योग करनेके लिये समर्पण सबसे पहली और चरम शर्त है। अतएव, उन्होंने जो कुछ कहा है उसका यदि हम अनुसरण करें तो यह ठीक कोई एक आवश्यक गुण नहीं है: यह तो योग आरंभ करनेकी सबसे पहली अनिवार्य स्थिति है। यदि किसीने संपूर्ण रूपसे समर्पण करनेका निश्चय नहीं किया है तो प्रारंभ नहीं कर सकता।

परंतु इस समर्पणको सर्वांगपूर्ण बनानेके लिये ये सभी गुण आवश्यक हैं। और मैं एक और जोड़ रही हूं (क्योंकि अभीतक हमने केवल उनमेंसे चारकी ही चर्चा की है), मैं सहिष्णुताको जोड़ रही हूं। कारण, यदि तुम हतोत्साह हुए बिना और प्रयास छोड़े बिना, क्योंकि वह अत्यंत कठिन है, कठिनाइयोंका सामना करनेमें समर्थ नहीं हो; और यदि तुम असमर्थ ... हां, आघातोंको ग्रहण करने और फिर भी प्रयास जारी रखनेमें, उन्हें (आघातोंको) जैसा कहा जाता है "पी जाने" में — अपने दोषोंके फलस्वरूप जब आघात पाते हो, उन्हें पी जाने और निरुत्साह हुए बिना आगे बढ़ना जारी रखनेमें — असमर्थ होते हो, तो तुम बहुत दूरतक आगे नहीं जाते; प्रथम मोड़पर ही जहां तुच्छ अभ्यस्त जीवन आंखसे ओझल हो जाता है, तुम निराशामें जा गिरते हो और प्रयास छोड़ देते हो।

इसका रूप ... कैसे इसे कहा जाय? इसका अत्यंत स्थूल रूप है अध्यवसाय। जबतक तुम एक ही चीजको हजारों बार फिरसे आरंभ करनेका संकल्प न करो ...। हां, सुनो, लोग निराश होकर मेरे पास

आते और कहते हैं: "मैंने तो समझा था कि यह हो चुका पर मुझे फिरसे आरंभ करना होगा!" और यदि उनसे कहा जाता है: "परंतु यह तो कुछ नहीं, तुम्हें शायद फिरसे सौ बार, दो सौ बार, हजार बार प्रारंभ करना होगा; तुम एक पग आगे बढ़ते हो और समझते हो कि सुरक्षित हो गये, परंतु सर्वदा कोई चीज बनी रहेगी जो उसी कठिनाईको थोड़े दिन बाद वापस ले आयेगी। तुम समझते हो कि तुमने समस्या हल कर ली, तुम्हें उसे फिर एक बार हल करना होगा; तुम्हारे सामने ऐसे उपस्थित होगी जो देखनेमें तो भिन्न होगी, पर होगी वही समस्या", और यदि तुमने निश्चय नहीं किया है कि: "यदि वह लाखों बार वापस आये तो मैं उसे लाखों बार हल करूंगा, पर इसे समाप्त करके ही छोड़ूंगा", तो हां, तुम योग नहीं कर सकोगे। यह एकदम अनिवार्य है।

लोगोंको बहुत सुन्दर अनुभव होता है और वे कहते हैं: "आह! अब मुझे यह मिल गया!" ... और तब वह बैठ जाता है, कम हो जाता है, आवृत हो जाता है और अकस्मात् कोई अप्रत्याशित, एकदम सामान्य और देखनेमें बिलकुल अरुचिकर वस्तु तुम्हारे सामने आ उपस्थित होती है और तुम्हारा रास्ता बंद कर देती है। और तब तुम कहते हो: "आह! प्रगति करनेसे भला क्या लाभ यदि यह चीज पूरी-की-पूरी फिरसे प्रारंभ हो रही है? मैं इसे क्यों करूं? मैंने एक प्रयास किया, सफलता पायी, एक विशेष बिंदुपर पहुंच गया, और अब ऐसा लग रहा है मानों मैंने कुछ नहीं किया था! यह सब सचमुच बेकार बात है।" क्योंकि तुममें सहिष्णुता नहीं है।

यदि किसीमें सहिष्णुता है तो वह कहता है: "यह ठीक है। बहुत अच्छा, जितनी बार आवश्यक होगा उतनी बार मैं इसे फिरसे आरंभ करूंगा; हजार बार, दस हजार बार, लाख बार यदि जरूरी हो तो मैं इसे फिरसे आरंभ करूंगा — परंतु मैं अंततक जाऊंगा और किसी चीजमें वह शक्ति नहीं होगी जो मुझे रास्तेमें रोक दे।"

यह बहुत जरूरी चीज है। बहुत जरूरी।

अतएव, यहां मेरा प्रस्ताव है: हम समर्पणको रखते हैं सबसे पहले, सबसे ऊपर, अर्थात्, हम श्रीअरविंदकी कही हुई बात स्वीकार करते हैं कि, पूर्णयोगकी साधना करनेके लिये व्यक्तिको सबसे पहले भगवान्‌के प्रति पूर्ण रूपसे समर्पण करनेका संकल्प करना चाहिये, दूसरा कोई पथ नहीं है, यही है 'एकमात्र पथ'। परंतु उसके बाद मनुष्यके अंदर ये पांच आंतरिक गुण, पांच आंतरिक परिपूर्णताएं अवश्य होनी चाहिये और हम कहते हैं कि ये परिपूर्णताएं हैं:

सच्चाई या पारदर्शकता
श्रद्धा या विश्वास (स्वभावतः भगवान्‌में विश्वास)
भक्ति या कृतज्ञता
साहस या अभीप्सा
सहिष्णुता या अध्यवसाय

सहिष्णुताका एक रूप है 'एकनिष्ठता'। अपने संकल्पके प्रति वफादारी, विश्वासपात्र बनना। तुमने एक संकल्प किया है, तुम अपने संकल्पके प्रति वफादार बने रहते हो। यही है सहिष्णुता।

बस, इतना ही।

यदि तुम डटे रहते हो तो फिर एक क्षण ऐसा आता है जब तुम विजय प्राप्त कर लेते हो।

विजय उसीकी होती है जो सतत प्रयत्नशील होता है।

१ फरवरी, १९५६

श्रीअरविंद यहां लिखते हैं: "निस्संदेह, यह संभव है कि केवल ज्ञान या ईश्वराभिमुख भावावेगको लेकर या इन दोनोंको एक साथ लेकर योग प्रारंभ किया जाय और कर्मोंको योगकी अंतिम गतिके लिये रख छोड़ा जाय।"

('योग-समन्वय' पूर्वार्द्ध; पृ. १०८)

यह ज्ञान क्या चीज है?

योगके तीन प्रमुख पथ हैं: ज्ञानका पथ, प्रेमका पथ और कर्मका पथ। इसलिये श्रीअरविन्द कहते हैं कि यह विभिन्न प्रसंगों और मनुष्योंपर निर्भर करता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अधिक आसानीसे ज्ञानके मार्गका अनुसरण करते हैं, दूसरे वे होते हैं जो प्रेमके, भक्तिके मार्गका अधिक सरलतासे अनुसरण करते हैं और अन्य वे लोग होते हैं जो कर्मके मार्गका अनुसरण करते हैं। वह कहते हैं कि पूर्णयोगके लिये इन तीनोंको अवश्य सम्मिलित कर देना चाहिये और कोई अन्य वस्तु भी जोड़ देनी चाहिये, परंतु सभी व्यक्ति एक ही साथ सब चीजें नहीं कर सकते और ऐसे लोग

भी होते हैं जो ऐकान्तिक होते हैं तथा जिन्हें पहले तीनोंमेंसे किसी एक-को चुननेकी आवश्यकता होती है ताकि बादमें उनको संयुक्त करनेमें समर्थ हों।

ज्ञान-मार्ग राजयोगका सुपरिचित मार्ग है जिसमें मनुष्य यह कहकर अपनी भौतिक सत्तासे अनासक्त होनेका अभ्यास करता है कि: "मैं यह शरीर नहीं हूं", फिर यह कहकर अपने संवेदनोंसे अनासक्त होनेका अभ्यास करता है कि: "मैं अपने संवेदन नहीं हूं", फिर यह कहकर कि: "मैं अपने अनुभव नहीं हूं", अपने अनुभवोंसे अनासक्त होता है, आदि-आदि। मनुष्य विचारों-से अपनेको पृथक् कर लेता है और अधिकाधिक भीतर पैठता जाता है जबतक कि उस वस्तुको नहीं पा लेता जो 'शाश्वत' तथा 'अनंत' होती है।

यह ध्यानका पथ है जो यथार्थमें दिव्य सद्‌वस्तुके दृष्टिकोणसे देखा हुआ आत्म-ज्ञानका पथ है। यह ध्यानका, एकाग्रताका, जीवन और कर्मसे पलायन-का पथ है। यही वह एक चीज थी जिसका प्राचीन योगोंमें सबसे अधिक अभ्यास किया गया था।

अथवा फिर, भक्ति और प्रेमका मार्ग है जैसा कि चैतन्य या रामकृष्णने किया था।

यह पुस्तक (**'योग-समन्वय' का प्रथम भाग**) पूरी-की-पूरी कर्मयोगके विषयमें है, अर्थात्, कार्य-कर्मके द्वारा तथा भगवान्‌के प्रति अपने कर्मके उत्सर्गके द्वारा भगवान्‌के साथ एकत्व प्राप्त करनेके बारेमें है। बस।

प्रिय माताजी, "...कर्मोंका अर्पण इस रूपांतरके लिये एक आवश्यक अंग है। अन्यथा, पारलौकिक जीवनमें वे ईश्वर-को भले ही पा लें पर इह-जीवनमें वे भगवान्‌को अभिव्यक्त नहीं कर सकेंगे।"

(वही, पृ. १०८)

ये दो शब्द क्यों प्रयुक्त हुए हैं: "ईश्वर" और "भगवान्"?

मैं नहीं समझती कि श्रीअरविन्दने उनमें भेद किया है। ये बोलनेके तरीके हैं। उन्होंने एकको दूसरेके विरुद्ध नहीं रखा है।

इसका मतलब क्या है?

इसका मतलब यह है कि वे भगवान्‌को, ईश्वरको; एक ऐसे ईश्वरको पाने-

के लिये जीवनसे अलग चले जाते हैं जो जीवनके बाहर हैं, वे स्वयं 'उन्हें' पानेके लिये जीवनसे बाहर चले जाते हैं। जब कि पूर्णयोगमें इस जीवन-के अंदर ही भगवान्‌को पाना होगा, जीवनसे बाहर नहीं।

ऐसे लोग हैं, उदाहरणार्थ, जो जीवन और जगत्‌को एक भ्रम मानते हैं और इससे बाहर चले जानेको उन भगवान्‌की प्राप्तिके लिये आवश्यक समझते हैं, जिनका स्वरूप, वे कहते हैं, जीवन और जगत्‌के स्वरूपसे एकदम विपरीत है; इसलिये श्रीअरविन्द कहते हैं कि संभवतः जीवनके बाहर तो वे ईश्वरको पा लेंगे, पर जीवनमें भगवान्‌को नहीं पायेंगे। वह इन दो चीजोंका विरोध दर्शाते हैं। एक प्रसंगमें तो वह एक अति-पार्थिव और अनभिव्यक्त भगवान् हैं और दूसरेमें वह वह भगवान् हैं जो जीवनमें अभिव्यक्त हुए हैं और जिनको फिरसे जीवनके द्वारा मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

समझ गये?

श्रीमाताजी, जब कोई अपनी सत्ताके निम्नतर भागोंकी उपेक्षा करके — जीवनकी उपेक्षा करके — किसी उच्चतर भागमें भगवान्‌के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है तो क्या भगवान्, उस भागमें, जहां मनुष्य उनके साथ एक हुआ है, उसे निम्नतर भागों-की ओर ध्यान देनेकी सलाह नहीं देते?

और यदि आरंभ करनेसे पहले ही किसीने यह निश्चय कर लिया है कि ऐसा नहीं होना चाहिये तो शायद वह भगवान्‌की सलाह ग्रहण करना अपने लिये असंभव बना देता है!

क्योंकि, सच पूछा जाय तो, प्रत्येक व्यक्ति भगवान्‌का केवल उतना ही अंश प्राप्त करता है जितना वह पाना चाहता है। श्रीअरविन्दने यह बात घुमाकर दूसरी तरहसे कही है; उन्होंने कहा है (मैं उनके ठीक-ठीक शब्दोंको नहीं, केवल उनके भावको उद्‌धृत कर रही हूं): जो कुछ तुम भगवान्‌से आशा करते हो वही तुम भगवान्‌में देखते हो; जो कुछ तुम भगवान्‌से चाहते हो उसे ही तुम भगवान्‌से पाते हो। वह तुम्हारे लिये वही रूप ग्रहण कर लेते हैं जिसकी तुम आशा या कामना करते हो।

और उनका अभिव्यक्त रूप सर्वदा प्रत्येक व्यक्तिकी ग्रहणशीलता और क्षमताके अनुकूल होता है। वे सच्चा, वास्तविक संपर्क प्राप्त कर सकते हैं, पर यह संपर्क उनकी ग्रहण करने और नजदीक आनेकी क्षमतासे सीमित होता है... यदि तुम समस्त सीमाओंसे बाहर निकलनेमें समर्थ होओ, केवल तभी तुम समग्र भगवान्‌का, जैसे कि वह समग्र रूपमें हैं, साक्षात्कार कर सकते हो।

और संपर्क करनेकी यह क्षमता ही संभवतः वह वस्तु है जो सत्ताओंकी सच्ची स्तर-परंपराका निर्माण करती है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने अंदर भगवान्‌को वहन करता है और फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्तिमें भगवान्‌के साथ युक्त होनेकी संभावना होती है—वह संभावना सबके अंदर एक-सी ही होती है। परंतु प्रत्येक व्यक्तिकी क्षमताके अनुसार (मूलतः, दिव्य स्तर-परंपराके अंदर उसके स्थानके अनुसार), उसका मिलन कम या अधिक आंशिक या पूर्ण होता है।

ऐसा कहा जा सकता है—यद्यपि ये शब्द चीजोंको बहुत अधिक विकृत कर देते हैं—कि मिलनका स्वरूप प्रत्येक व्यक्तिमें एक ही होता है, परंतु मात्रा, समग्रता बहुत भिन्न होती है...। शब्दोंमें इसे समझना बहुत कठिन है, परंतु, यदि ऐसा कहा जा सके, जिस बिंदुपर तुम भगवान्-से तादात्म्य प्राप्त करते हो वह अपने-आपमें पूर्ण होता है, कहनेका मतलब, तुम्हारा तादात्म्य अपने-आपमें एक पूर्ण तादात्म्य होता है, इस बिंदुपर, परंतु उन बिंदुओंकी संख्या बहुत अधिक भिन्न होती है जिसपर तुम सब एकात्म होते हो।

और यह बात भगवान्‌के पास पहुंचनेके लिये जिन पथोंका अनुसरण किया जाता है उनके विभेदके अंदर बहुत सुस्पष्ट होती है। साधारण तौरपर लोग सीमाएं बांध देते हैं; वे उन सब पथोंका जो ठीक उनका चुना हुआ मार्ग नहीं होता, बहिष्कार करके अपने-आपको सीमित कर देते हैं क्योंकि ऐसा करना अपेक्षया बहुत अधिक आसान होता है और मनुष्य बहुत अधिक वेगसे आगे बढ़ता है। परंतु एक पथका अनुसरण करनेके बदले जब तुम एक ऐसी गतिसे आगे बढ़ते हो जिसे वर्तुलाकार कहा जा सकता है, जिसमें सभी चीजें सम्मिलित होती हैं, जो भगवान्‌के पास पहुंचनेकी सभी प्रकारकी संभावनाओंको अपने अंदर समाविष्ट करती है, स्वभावतः उसका परिणाम बहुत अधिक पूर्ण होता है—और बस यही चीज है जिसे श्रीअरविंद पूर्णयोग कहते हैं—परंतु प्रगति बहुत अधिक कठिन और बहुत अधिक धीमी होती है।

जो व्यक्ति ज्ञान-मार्गको (और ज्ञान-मार्गमें भी किसी विशेष पद्धतिको, क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिकी अपनी निजी पद्धति होती है) चुनता है और उसका अभ्यास करता है, अपनी चेतना और जीवनसे उस सबको निकाल देता है जो उससे मेल नहीं खाता, वह बहुत अधिक तेजीसे आगे बढ़ता है, क्योंकि उसकी खोज केवल एक पक्षका अनुसरण करती है और वह बहुत अधिक सीधी, प्रत्यक्ष होती है। और इस कारण वह उस सबको त्यागता, त्यागता जाता और त्यागता ही जाता है जो उसके पथके साथ मेल नहीं खाता और

अपनी सत्ताको ठीक उसी पथके अनुपातमें छोटा कर देता है जिसपर वह चलता है। और जितना ही अधिक तुम अपने पथको पूर्ण बनाना चाहोगे वह स्वभावतः उतना ही अधिक कठिन, जटिल, दीर्घ और श्रमसाध्य हो जायगा।

परंतु जो व्यक्ति केवल एक पथका अनुगमन करता है वह जब अपने लक्ष्यपर पहुंचता है, अर्थात्, जब वह भगवान्‌के साथ एकात्म होता है, उसका तादात्म्य अपने-आपमें पूर्ण होता है; कहनेका तात्पर्य, वह यथार्थमें भगवान्‌के साथ एक तादात्म्य होता है — पर वह आंशिक होता है। वह पूर्ण होता है; वह पूर्ण और उसके साथ-ही-साथ आंशिक होता है।

इसकी व्याख्या करना बड़ा कठिन है, पर है यह एक सत्य। वह वास्तवमें भगवान्‌के साथ एकात्म हो चुका है और उसने भगवान्‌को पा लिया है; वह भगवान्‌के साथ एकात्म हो चुका है — पर एक ही बिंदुपर। और इसलिये जो व्यक्ति भगवान्‌के समग्र रूपोंमें उनके साथ तादात्म्य प्राप्त करनेमें सक्षम होता है वह अवश्य ही, व्यापक उपलब्धिकी दृष्टिसे, उस व्यक्तिकी अपेक्षा क्रम-परंपराके अंदर कहीं अधिक ऊंचे स्तरपर होता है जो केवल एक ही बिंदुपर उनको उपलब्ध करता है।

और यही है आध्यात्मिक क्रम-परंपराका सच्चा अर्थ और इसी कारण-वश एक पूरी आध्यात्मिक क्रम-परंपराका संगठन मौजूद है, अन्यथा इसके लिये कोई आधार-भूमि ही नहीं होती, क्योंकि जिस क्षण तुम भगवान्‌को स्पर्श करते हो उस क्षण तुम उन्हें पूर्ण रूपमें स्पर्श करते हो: जिस बिंदुपर तुम उन्हें छूते हो वह बिंदु अपने-आपमें पूर्ण होता है। और, इस दृष्टि-कोणसे, जो लोग भगवान्‌के साथ युक्त हुए हैं वे अपने मिलनमें उतने ही पूर्ण हैं — पर उतने सर्वांगपूर्ण नहीं हैं, यदि मैं ऐसा कह सकूं।

क्या तुमने मेरे कहनेका कुछ भी मतलब समझा?

> **मैं जो पूछना चाहता था, माताजी, वह यह है कि अपनी सत्ताके उस भागमें जहां वे एकात्म हो जाते हैं, वहां, अपना तादात्म्य प्राप्त करनेके बाद, क्या उन्हें यह पता नहीं चलता कि उनका यह तादात्म्य सर्वांगपूर्ण नहीं है, अर्थात् उन्होंने अपनी सत्ताके अन्य भागोंको पीछे छोड़ दिया है, और उन्हें एक बार फिरसे आरंभ करना चाहिये?**

ऐसा हो सकता है।

ऐसा हो सकता है, पर साधारण तौरपर उस सबको, जो उनका पथ नहीं था, इतनी अच्छी तरह उनसे निकाल बाहर कर दिया गया है कि कोई चीज उनके लिये यह पता लगानेके लिये नहीं रह जाती कि तादात्म्य पूर्ण नहीं है। उन्हें तादात्म्यका अनुभव होता है, वे भगवान्में विलीन हो जाते हैं। अपनी निजी दृष्टिसे, वैयक्तिक दृष्टिकोणसे वही अधिकतम वस्तु है जिसकी वे आशा कर सकते हैं।

ऐसी बात नहीं कि जो तुम कहते हो वह असंभव है, मैं समझती हूं कि वह अवश्य संभव है—पर यह विरल है। ऐसा अधिकतर नहीं होता। उसका अर्थ यह होगा कि निष्कासनके अपने कार्यके बावजूद उन्होंने अपनी चेतनामें कोई ऐसी वस्तु सुरक्षित रख छोड़ी है जो यह अनुभव कर सके कि वे पूर्ण रूपसे संतुष्ट नहीं हैं।

तादात्म्यके बाद, उदाहरणार्थ, गुरु और शिष्यकी, भगवान् और अभीप्सु-की स्थिति नहीं रह जाती। तादात्म्य प्राप्त करनेके मुहूर्त्तमें ही वह संबंध विलीन हो जाता है; अब वहां कोई गुरु या शिष्य, कोई ईश्वर या अभीप्सु नहीं रह जाता; सब भगवान् ही होते हैं। परिणामस्वरूप, कौन सबक सीखेगा? वह केवल तभी संभव होगा यदि चेतनामें कोई ऐसा तत्त्व हो जिसने तादात्म्यमें भाग न लिया हो, क्योंकि जिस पथसे मनुष्य गया उससे भिन्न पथकी उसे आवश्यकता थी। और सब कुछ उस पूर्णत्व-पर निर्भर करता है जिसके साथ साधक अपनी सत्तासे उस सबको दूर कर देता है जो उसका अनुसृत एकमात्र मार्ग नहीं होता। यदि किसीने, दृष्टांतस्वरूप, अपनी चेतनामें भक्ति या प्रेमके तत्त्वोंको गुप्त रखा हो और फिर उसने यदि ज्ञानके पथका अनुसरण किया हो तो, हां, तादात्म्य-प्राप्तिके समय वह किसी चीजका अभाव अनुभव करेगा और तब वह मनुष्य यह समझनेकी स्थितिमें होगा कि उसका अनुभव पूर्ण नहीं है। परंतु वे सब चीजें यदि इतनी अच्छी तरह विलग कर दी गयी हों कि अब उनका कोई अस्तित्व ही न हो तो फिर यह कौन देखेगा कि एकत्व पूर्ण नहीं है? एकत्व अपने-आपमें उस विशिष्ट बिंदुपर पूर्ण है। यह विशुद्धतः चेतनाका व्यापार है।

(उस बच्चेकी ओर मुड़कर) तुम्हारी चेतनामें अभी भी यह भाव विद्य-मान है कि तुम "किसी ऐसी चीज"के साथ युक्त होते हो जो उस विषयमें तुमसे अधिक जानती है और तुम जो भूल कर रहे हो उसे वह तुम्हें दिखा देगी। परंतु तादात्म्य प्राप्त कर लेनेके बाद 'वह चीज' नहीं रहती! वह तो पहला संपर्क ही होता है, तादात्म्य नहीं।

तादात्म्य प्राप्त हो जानेपर जो चीज तादात्म्य प्राप्त करती है और जिस चीजके साथ तादात्म्य होता है उन दोनोंके बीच कोई भेद नहीं रह जाता:

वे दोनों एक ही चीज हो जाती हैं। जबतक वहां कोई भेद है तबतक वहां तादात्म्य नहीं है।

मैं फिर कहती हूं कि चाहे जिस किसी मार्गसे और जो कुछ वह मार्ग नहीं है उस सबको अलग करके प्रत्येक व्यक्ति भगवान्‌के साथ संपूर्ण रूपसे तदात्म हो सकता है, दूसरे शब्दोंमें, भगवान् बन सकता है — पर एक ही बिंदुपर, उस बिंदुपर जिसे प्रत्येकने चुना है। परंतु यह बिंदु अपने-आपमें पूर्ण होता है। मैं यह नहीं कहती कि उस बिंदुमें सब कुछ होता है, मैं बस यह कहती हूं कि वह अपने-आपमें पूर्ण होता है, अर्थात् तादात्म्य पूर्ण होता है — पर वह सर्वांगपूर्ण नहीं होता।

उन्हें पूर्ण आनंद प्राप्त होता है ?

पूर्ण आनंद — पूर्ण आनंद, शाश्वतता, अनंतता और सभी चीजें।

तब भला अंतर क्या होता है ?

अंतर केवल अभिव्यक्तिमें होता है। इस तादात्म्यके कारण, चाहे वह जिस किसी प्रकारका क्यों न हो, मनुष्य सहज भावसे ही अभिव्यक्तिसे बाहर चला जाता है, सिवा उस बिंदुके जहां वह एकात्म होता है। और यदि, जिस पथका अनुसरण साधकने किया है उसका लक्ष्य यदि अभिव्यक्तिसे बाहर जाना हो, जैसे कि, उदाहरणार्थ, निर्वाणकी प्राप्ति करनेकी चेष्टा करनेवालोंका होता है, यदि लक्ष्य अभिव्यक्तिसे बाहर जाना हो तो हां, वह अभिव्यक्तिसे बाहर चला जाता है, बस, बात समाप्त हो जाती है। और जब एक बार मनुष्य अभिव्यक्तिसे बाहर चला जाता है तो फिर न तो कोई अंतर रह जाता है और न कोई क्रम-परंपरा, बस, बात समाप्त। मनुष्य अभिव्यक्तिसे बाहर चला जाता है। बस, यही बात है, समझे, प्रत्येक बात उस लक्ष्यपर निर्भर करती है जिसका अनुसरण मनुष्य करता है। यदि कोई अभिव्यक्तिसे बाहर चला जाता है तो वह अभिव्यक्तिसे बाहर चला जाता है, उसके बाद किसी भी प्रकारकी किसी क्रम-परंपराकी अब कोई संभावना नहीं रह जाती। परंतु जैसे ही मनुष्य अभिव्यक्तिके अंदर प्रवेश करता है, वहां एक क्रम-परंपरा अवश्य होती है। कहनेका मतलब — यदि हम अतिमानसिक जगत्‌की उपलब्धिकी बात लें — प्रत्येक व्यक्ति एक ही स्तरपर नहीं होगा और एक ही ढांचेमें ढला हुआ नहीं होगा, सबमें एक ही क्षमता नहीं होगी और सबके अंदर

एक ही संभावना नहीं होगी। लोगोंमें सर्वदा यह भ्रम रहता है, रहता है न, कि एक ही वस्तुका एक प्रकारका अनंत पुनरावर्तन होता रहता है जो सर्वदा अपने-आपसे मिलती-जुलती है — परंतु बात ऐसी नहीं है। संसिद्धिके अंदर, अभिव्यक्तिके अंदर क्षमता और क्रियाकी और फिर प्राकटयकी एक क्रम-परंपरा होती है। परंतु लक्ष्य यदि अभिव्यक्तिसे बाहर जाना हो तो फिर एकदम स्वभावतः ही, चाहे जिस किसी बिंदुसे होकर जाओ, तुम बाहर चले जाते हो।

सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि तुम कौन-सा आदर्श अपने सम्मुख रखते हो। और जब तुम बाहर चले जाते हो क्योंकि तुमने बाहर जानेका और प्रलयके अंदर प्रवेश करनेका चुनाव किया है तब भी विश्वका बाकी समूचा भाग बना रहता है और चलता रहता है...। परंतु वह संपूर्ण रूपसे तुम्हारे लिये निस्सार होता है। चूंकि तुम्हारा लक्ष्य उससे बाहर चले जाना था, तुम उससे बाहर चले जाते हो। परंतु उसका मतलब यह नहीं है कि बाकी लोग भी बाहर चले जाते हैं! तुम एकमात्र, अकेले ही बाहर जाते हो, अथवा वे लोग जाते हैं जिन्होंने तुम्हारे ही लक्ष्य और तुम्हारे ही पथका अनुसरण किया है।

(लंबा मौन)

ठीक यही समस्या है जो यहां श्रीअरविंदके सामने तथा फ्रांसमें मेरे सामने, हम दोनोंके सामने उपस्थित हुई थी : क्या अपने मार्गको सीमित करना और पहले लक्ष्यपर पहुंच जाना जरूरी है, और बादमें ही बाकी सब चीजोंको हाथमें लिया जाय और सर्वांगीण रूपांतरका कार्य प्रारंभ किया जाय; अथवा यह आवश्यक है कि एक-एक पग आगे बढ़ा जाय, किसी चीजको छोड़ा न जाय, पथपर किसी चीजका विलोपन न किया जाय, एक ही साथ सभी संभावनाओंको ग्रहण किया जाय और एक ही साथ सभी बिंदुओंपर प्रगति की जाय? कहनेका तात्पर्य, क्या हमें जीवन और कर्मसे मुंह मोड़ लेना चाहिये जबतक कि हम अपने लक्ष्यतक नहीं पहुंच जाते, अतिमानससे अवगत नहीं हो जाते और उसे अपने जीवनमें संसिद्ध नहीं कर लेते; अथवा हमें सारी सृष्टिको ही परिवेष्टित कर लेना चाहिये और इस समग्र सृष्टिके साथ धीरे-धीरे 'अतिमानस'की ओर आगे बढ़ना चाहिये?

(मौन)

हम समझ सकते हैं कि चीजें मंजिल-दर-मंजिल ही संपन्न होती हैं: मनुष्य आगे बढ़ता है, कुछ दूरतक यात्रा करता है, और इस तरह, परिणामके रूपमें, बाकी सभी चीजोंको आगे ले जाता है; और फिर उसके साथ-ही-साथ एक युगपद् क्रियाके द्वारा, वह दूसरी मंजिलतक यात्रा करता है और फिर दूसरोंको आगे ले जाता है — और इसी तरह चलता रहता है।

इससे ऐसा लगता है कि मनुष्य आगे नहीं बढ़ रहा है। परंतु इस प्रकार प्रत्येक चीज आगे बढ़ती रहती है।

प्रिय माताजी . . .।

मैं नहीं चाहती कि कोई फिर आकस्मिक विषयोंमें वापस लौट जाये। मैंने जो कुछ कहा है उसे यदि तुमने समझ लिया है और वास्तवमें तुम इसी विषयपर कोई प्रश्न पूछना चाहते हो तो पूछो।

नहीं ? अच्छा, तो फिर ध्यान करना कहीं अधिक अच्छा है।

८ फरवरी, १९५६

प्रिय माताजी, मैं यह नहीं समझ पाया: "सबसे अच्छी अवस्थामें भी हमारी स्वतंत्रता अत्यंत तुच्छ और सापेक्ष ही होती है और उसीको हम अज्ञानपूर्वक अपनी स्वतंत्र इच्छा कहते हैं। पर मूलतः वह मिथ्या होती है, क्योंकि प्रकृतिके गुण ही हमारी व्यक्तिगत इच्छाद्वारा अपने-आपको व्यक्त करते हैं; प्रकृतिकी शक्ति ही हमें ज्ञानपूर्वक वशमें रखती हुई, पर हमारी समझ और पकड़से बाहर रहकर यह निर्धारित करती है कि हम क्या इच्छा करेंगे और वह इच्छा किस प्रकार करेंगे। हमारा स्वतंत्र अहं नहीं, बल्कि प्रकृति यह चुनाव करती है कि अपने जीवनकी किसी घड़ीमें हम एक युक्तियुक्त संकल्प या विचाररहित आवेगके द्वारा किस पदार्थकी अभिलाषा करेंगे।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ. १११)

नहीं समझे? "नहीं समझने" से तुम्हारा क्या मतलब है? यह तो एक तथ्य है, इसमें समझनेका कुछ नहीं है, यह बस ऐसा ही है।

न मालूम कितनी बार मैंने तुम्हें यह बात समझायी है। तुम समझते हो कि तुम्हीं निर्णय करते हो: जब कि ऐसी प्रेरणाएं होती हैं जो बाहरसे आती हैं। तुम समझते हो तुम अपनी इच्छाके विषयमें सचेतन हो: वहां एक ऐसी चेतना होती है जो तुम्हारी नहीं है। और प्रत्येक बातमें, तुम संपूर्ण रूपमें ऐसी चीजोंसे बने होते हो जो प्रकृतिकी शक्तियां होती हैं और किसी उच्चतर 'संकल्प'को व्यक्त करती हैं जिसके विषयमें तुम अचेतन होते हो।

बस, मनुष्य इसे नहीं समझ पाता, निस्संदेह, उस समयको छोड़कर जब वह अपने अहंसे बाहर निकल जानेमें समर्थ होता है, भले ही यह एक क्षणके लिये ही हो; क्योंकि अहंको (और यही चीज है जो इसे बल देती है) यह विश्वास होता है कि एकमात्र वही निर्णय करता है। परंतु कोई यदि ध्यानपूर्वक देखे तो उसे पता लगता है कि वह (अहं) सभी प्रकारकी ऐसी चीजोंके द्वारा परिचालित होता है जो वह स्वयं नहीं होता।

परंतु, तब, मानसिक और प्राणिक इच्छा क्या चीज है?

वह किसी ऐसी वस्तुकी अभिव्यंजना है जो व्यक्तिगत नहीं है।

यदि तुम सावधानीके साथ विश्लेषण करो तो देखोगे कि, उदाहरणार्थ, जो कुछ मनुष्य सोचता है वह सब दूसरोंके द्वारा सोचा जा चुका है, ये वे चीजें हैं जो चक्कर काटती रहती हैं और तुम्हारे भीतरसे गुजरती हैं, परंतु तुमने उस विचारको उत्पन्न नहीं किया है, तुम उस विचारके जनक नहीं हो। तुम्हारी सभी प्रतिक्रियाएं पुरखोंसे आती हैं, उन लोगोंसे आती हैं जिन्होंने तुम्हें जन्म दिया था और उन परिस्थितियोंसे आती हैं जिनमें तुम रह चुके हो, उन सभी संस्कारोंसे आती हैं जो तुम्हारे अंदर इकट्ठे हुए हैं और उन्होंने किसी ऐसी चीजको निर्मित कर दिया है जो तुम्हें अपना आपा लगती है, फिर भी जो तुम्हारे द्वारा निर्मित नहीं हुई है, बल्कि महज महसूस, अनुभूत हुई है; तुम उसके गुजरते समय उसके विषयमें सज्ञान होते हो, परंतु तुम वह व्यक्ति नहीं हो जिसने उसे उत्पन्न किया है, तुम वह व्यक्ति नहीं हो जिसने उसे जन्म दिया है।

यह कहा जा सकता है कि ये चीजें उन ध्वनियोंकी तरह हैं (किसी प्रकारकी ध्वनियां: शब्द, संगीत, कोई चीज) जो किसी यंत्रद्वारा ध्वन्यांकित कर ली गयी हैं, फिर किसी दूसरे यंत्रद्वारा पुनः उत्पन्न की गयी

है जो उन्हें बार-बार, उदाहरणार्थ, ग्रामोफोनकी तरह, दुहराता रहता है। तुम यह नहीं कहोगे कि जो ध्वनि तुम सुनते हो उसे ग्रामोफोनने उत्पन्न किया है, कहोगे ? यह बात कभी तुम्हारे ध्यानमें नहीं आयेगी। परंतु तुम चूंकि अपने पृथक् व्यक्तित्वके भ्रममें निवास करते हो, जो विचार तुम्हारे मनके भीतरसे गुजरते हैं और अभिव्यक्त होते हैं, जो भावनाएं तुम्हारे प्राणके भीतरसे गुजरती हैं और अभिव्यक्त होती हैं, तुम समझते हो, वे तुमसे आयी हुई चीजें हैं; परंतु उनमेंसे कोई चीज ऐसी नहीं है जो तुमसे आती है। कहां है वह "तुम" जो उस सबको उत्पन्न कर सकता है?

तुम्हें अपने अंदर विद्यमान सृष्टिक्षम सद्वस्तुको जाननेके लिये गहराईमें पैठना होगा और अपनी सत्ताके शाश्वत मूलतत्त्वको ढूंढ़ निकालना होगा। और एक बार जब तुम उसे प्राप्त कर लोगे तो तुम समझ जाओगे कि अन्य सब लोगोंमें भी बस एकमात्र वही वस्तु विद्यमान है और तब कहां है तुम्हारा पृथक् व्यक्तित्व? अब वहां कोई वस्तु नहीं रह गयी है।

हां, ये सब ध्वन्यांकित करनेवाले और फिरसे बजनेवाले यंत्र हैं और वहां बराबर वे चीजें होती हैं जिन्हें हम विकृतियां कहते हैं — वे विकृतियां भलेके लिये हो सकती हैं, वे विकृतियां बुरेके लिये हो सकती हैं, वे बहुत अधिक परिवर्तित हो सकती हैं; आंतरिक समवाय ऐसा होता है कि चीजें जब एकसे दूसरेमें जाती हैं तो वे ठीक-ठीक उसी रूपमें नहीं दोह-रायी जातीं क्योंकि यंत्र बहुत जटिल होता है। परंतु वह मात्र वही एक चीज होती है जो एक सचेतन इच्छाद्वारा चालित होती है। और यह इच्छा सभी व्यक्तिगत इच्छाओंसे एकदम स्वतंत्र होती है।

जब बुद्धने अपने शिष्योंको ये बातें समझानी चाहीं तो उन्होंने उनसे कहा : जब-जब तुम कोई प्रकंपन, उदाहरणार्थ, कोई कामना, किसी विशेष वस्तुकी कामना प्रकट करते हो तो तुम्हारी कामना एक व्यक्तिसे दूसरे-में, विश्वभरमें एकसे दूसरेमें चक्कर लगाना आरंभ कर देती है, और पूरा चक्कर लगाकर तुम्हारे पास वापस आ जाती है। और, चूंकि वह एकमात्र अकेली चीज नहीं होती बल्कि वस्तुओंका एक जगत् ही होता है और चूंकि तुम एकमात्र प्रेषण-केंद्र नहीं हो — सभी व्यक्ति प्रेषण-केंद्र होते हैं — वहां एक ऐसी जटिलता उत्पन्न हो जाती है कि फिर तुम अपने-आपको नहीं पहचान पाते। परंतु ये प्रकंपन एक ही घेरेमें चक्कर लगाते रहते हैं; केवल जटिलता और प्रकंपनोंको एक-दूसरेसे काट देनेसे ही तुम्हारी धारणा बनती है कि वह (प्रकंपन) कोई स्वतंत्र या पृथक् वस्तु है।

परंतु कोई चीज पृथक् या स्वतंत्र नहीं है; एक अकेला 'पदार्थ' है, एक अकेली 'शक्ति' है, एक अकेली 'चेतना' है, एक अकेली 'इच्छा' है जो सत्ताके अनगिनत पर्योंपर घूमती रहती है।

और यह सब इतना जटिल है कि मनुष्य इसे स्पष्ट रूपमें नहीं देख पाता, पर कोई यदि एक पग पीछे हट आये और गतिविधियोंका ध्यान-पूर्वक निरीक्षण करे तो, चाहे वह गतिविधिकी जिस किसी धाराका अनु-सरण क्यों न करे, वह बहुत साफ-साफ देखेगा कि प्रकंपन धीरे-धीरे, बहुत धीरे-धीरे स्थापित हो रहे हैं, और वहां वास्तवमें केवल एक ही एकत्व है — 'पदार्थ'का एकत्व, 'चेतना'का एकत्व, 'इच्छा'का एकत्व। और बस, एकमात्र वही है सत्य। बाहरी रूपमें तो वह एक प्रकारका भ्रम है: पृथक्ताका भ्रम तथा विभेदका भ्रम है।

कामनाएं और ये सब चीजें भी?

यह व्यक्तिगत नहीं है। बिलकुल ही व्यक्तिगत नहीं है। और इसका पता लगाना **बहुत** आसान है; इसे समझ लेना सबसे अधिक आसान है, क्योंकि सौमें निन्यानवे बार यह तुम्हारे पास किसी अन्य व्यक्तिसे या किसी विशिष्ट परिस्थिति या परिस्थिति-समूहसे, अथवा किसी दूसरे व्यक्ति या कई दूसरे व्यक्तियोंसे आनेवाले प्रकंपनसे आती है। इसको ताड़ लेना बहुत सहज है, यह सबसे पहली चीज है जिससे मनुष्य अवगत हो सकता है; यह एक प्रकंपन है जो अकस्मात् उसी प्रकारकी कोई चीज तुम्हारे अंदर जगा देता है। तुम्हें पता चलता है कि कोई चीज तुम्हारे ऊपर एक प्रकारका दबाव डालती है और यह दबाव एक प्रकारका प्रत्युत्तर उत्पन्न करता है, जैसे कि स्वरका एक तार छूनेपर होता है। हां, कामनाका यह प्रकंपन आता है और एक विशेष ढंगसे तुम्हें छूता है और तुम प्रत्युत्तर देते हो।

इसे समझ लेना बहुत कठिन नहीं है; जब मनुष्य बहुत छोटा होता है, जब वह बालक होता है तब भी, यदि वह ध्यान दे तो उसके विषयमें सज्ञान हो सकता है। मनुष्य निरंतर सामुदायिक सुझावोंके बीच निवास करता है, निरंतर, दृष्टांतस्वरूप, मैं नहीं जानती कि तुम शव संस्कारोंके समय उपस्थित रहे हो या नहीं, अथवा किसी ऐसे मकानमें रहे हो या नहीं जहां किसीकी मृत्यु हुई हो (स्वभावतः तुम्हें अपने-आपको थोड़ा ध्यान-पूर्वक देखना होगा, अन्यथा तुम कुछ नहीं पकड़ पाओगे), तुम यदि अपने-आपको थोड़ा ध्यान देकर देखो तो देखोगे कि उस व्यक्तिकी मृत्युके लिये

किसी प्रकारका कोई दुःख या शोक अनुभव करनेका तुम्हारे लिये कोई विशेष कारण नहीं है; वह तुम्हारे लिये ठीक दूसरे बहुत-से लोगोंकी तरह ही है; वह घटना घटी और किन्हीं सामाजिक परिस्थितियोंके वश तुम उस मकानपर लाये गये हो। और वहां, एकाएक, बिना जाने कि क्यों या कैसे, तुम एक प्रबल भावावेग, महान् शोक, गहरा दर्द अनुभव करते हो और अपने-आपसे पूछते हो: "मैं इतना संतप्त क्यों हूं?" इसका कारण महज वे प्रकंपन हैं जो तुम्हारे अंदर घुस गये हैं, अन्य कोई चीज नहीं है।

और मैं कहती हूं कि इसका निरीक्षण करना आसान है, क्योंकि यह एक अनुभव है जो मुझे उस समय हुआ था जब मैं एक छोटी-सी बच्ची थी (और उस समय मैं अभी ज्ञानपूर्वक योग नहीं करती थी; शायद मैं योग करती थी, पर सचेतन रूपमें नहीं) और मैंने इसे बहुत, बहुत स्पष्ट रूपमें देखा; मैंने अपने-आपसे कहा: "निस्संदेह, यह उनका दुःख-शोक है जिसे मैं अनुभव कर रही हूं, क्योंकि इस व्यक्तिकी मृत्युसे विशेष रूपसे मेरे ऊपर प्रभाव पड़नेका कोई कारण नहीं है"; और एकाएक मेरी आंखों-में आंसू भर गये — मैंने ऐसा ही अनुभव किया, गला रुंध गया, मैं रोना चाहती थी, मानों, मैं बहुत दुःखी थी, मैं बिलकुल बच्ची थी — और तुरत मैं समझ गयी: "ओह! निश्चय ही यह उनका दुःख-शोक है जो मेरे अंदर आ गया है।"

बस, यही बात क्रोधके विषयमें भी है। यह बहुत स्पष्ट है, मनुष्य इसे एकाएक ग्रहण करता है, यहांतक कि आवश्यक रूपसे किसी व्यक्तिसे भी नहीं: वातावरणसे ही — वह वहां होता है — और फिर अचानक घुस आता है, और यह साधारणतया तुम्हें नीचेसे पकड़ता है और फिर ऊपर आता है, और फिर तुम्हें धक्का देता है और इसलिये तुम भड़क उठते हो। एक क्षण पहले तुम क्रोधित नहीं थे, तुम एकदम आत्मसमाहित थे, क्रोधित हो उठनेकी तुम्हारी कोई मंशा नहीं थी। और यह चीज तुम्हें इतने जोरसे पकड़ लेती है कि तुम उसे रोक नहीं सकते — क्योंकि तुम पर्याप्त रूपमें सचेतन नहीं हो, तुम उसे अपने अंदर घुस आने देते हो, और वह तुम्हारा उपयोग करता है। तुम... जिसे तुम "अपना स्व" कहते हो, अर्थात् तुम्हारा शरीर; क्योंकि बाह्य रूपमें (मैं बाह्य रूपमें कह रही हूं) यह एक ऐसी चीज है जो, तुम्हारे पड़ोसीके शरीरसे पृथक् है। परंतु यह केवल आंखोंका भ्रम है, कारण, वास्तवमें देखा जाय तो, वहां निरंतर ऐसी चीजें होती हैं जिन्हें एक कण कह सकते हैं, यहांतक कि भौतिक कण कह सकते हैं, एक प्रकारका प्रभावि-किरण कह सकते हैं, जो शरीरसे बाहर निकलते हैं और दूसरोंके साथ

मिलजुल जाते हैं; और इसी कारण, जब कोई बहुत संवेदनशील होता है, वह वस्तुओंको दूरसे अनुभव कर सकता है।

उदाहरणके तौरपर, ऐसा कहा जाता है कि अंधे मनुष्योंमें एक ऐसी संवेदनशीलता, एक इतना सूक्ष्म इंद्रिय-बोध विकसित हो जाता है कि जब वे किसी वस्तुके समीप पहुंचने लगते हैं, तो दूरसे ही एक प्रकारका धक्का अनुभव करते हैं। परंतु मनुष्य बिलकुल सरलतासे इसका अनुभव प्राप्त कर सकता है। उदाहरणार्थ, बिना कोई शब्द किये किसीके समीप जानेपर, फिर अपना हाथ बिलकुल नजदीक रख देनेपर, — संवेदनशील लोग इसे तुरत अनुभव कर लेते हैं। तुमने अपनी इच्छा नहीं प्रयुक्त की है कि वे इसे अनुभव करें, तुम कोई मनोवैज्ञानिक तत्त्व वहां नहीं ले आये हो, तुमने बस विशुद्ध रूपमें यह भौतिक परीक्षण किया है कि चुपचाप उनके समीप पहुंच जाओ और उन्हें कोई आहट न हो — जो व्यक्ति संवेदनशील है वह तुरत उसे ताड़ जायेगा।

इसका अर्थ है कि शरीर यहींपर समाप्त होता हुआ केवल प्रतीत होता है, पर यह केवल इसलिये कि हमारी आंखें ऐसी बनी हैं। यदि हमारे अंदर थोड़ी और सूक्ष्म दर्शनकी शक्ति होती, यदि हमारी आंखोंका दायरा थोड़ा-सा और विस्तारित होता, तो, हां, हम देखते कि कोई ऐसी चीज है जो हममेंसे बाहर निकलती है, जैसे कोई ऐसी चीज है जो दूसरे शरीरोंमेंसे बाहर निकलती है, — और ये सब घुलमिल जाती हैं और एक-दूसरेपर क्रिया करती हैं।

"सक्रिय शक्तिकी एकता" से श्रीअरविंदका क्या मतलब है?

यही बात है जो मैं कह रही थी। एक सक्रिय शक्ति है जो सभी वस्तुओंको चलाती है, और जब तुम उसके विषयमें सचेतन हो जाते हो, तो देखते हो कि वही एकमात्र 'शक्ति' है जो सभी वस्तुओंको चलाती है; और जैसे ही तुम सचेतन हो जाते हो, तुम उसकी क्रियाको भी समझ सकते हो और यह देख सकते हो कि वह किस प्रकार मनुष्यों और वस्तुओंके द्वारा कार्य करती है।

जिस क्षण तुम एकत्वके विषयमें — 'शक्ति'के एकत्व, 'चैतन्य'के एकत्व और 'संकल्प'के एकत्वके विषयमें — सचेतन हो जाते हो, उस क्षणसे तुम्हें वह बोध नहीं प्राप्त होता जो दूसरोंसे एकदम पृथक् होनेकी प्रतीति देता है जिसके कारण तुम यह नहीं जान पाते कि उनमें क्या चल रहा है, वे तुम्हारे लिये अपरिचित होते हैं, तुम मानों अपनी चमड़ीके भीतर

बंद होते हो, और सिवा बाहरी और ऊपरी तलके दूसरोंके साथ तुम्हारा कोई संपर्क नहीं होता। परंतु यह ठीक-ठीक इस कारण होता है कि तुमने अपने अंदर 'चेतना', 'शक्ति' और 'संकल्प'के इस एकत्वका, स्थूल प्रकंपनके एकत्वतकका ज्ञान नहीं प्राप्त किया है।

इसकी जो जटिलता है वही इस ज्ञानप्राप्तिको कठिन बनाती है, — क्योंकि ज्ञानप्राप्तिकी हमारी क्षमताएं बिलकुल सीधी रेखावत् होती हैं और बहुत एकपक्षीय होती हैं; अतएव जब हम समझना चाहते हैं, तुरंत असंख्य चीजें हमें आक्रांत करती हैं जो एक-दूसरेसे लगभग बेमेल होती हैं और एक ऐसे जटिल ढंगसे एक-दूसरेमें मिली-जुली होती हैं कि मनुष्य उनकी धाराओंका पता नहीं लगा पाता और वस्तुओंको नहीं समझ पाता — वह सहसा एक बवंडरमें प्रवेश कर जाता है।

परंतु ऐसा इस कारण होता है...। उदाहरणार्थ, अधिकांश मनुष्य एकके बाद दूसरे विचारका चिंतन करते हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह, जैसे एक शब्दके बाद दूसरा शब्द कहनेके लिये बाध्य होते हैं — वे एक ही साथ बहुतसे शब्द नहीं कह सकते, जानते हो न, अन्यथा, वे जल्दी-जल्दी बड़बड़ाते हैं। हां तो, बहुसंख्यक लोग इसी तरह सोचते हैं, वे एक विचारके बाद दूसरे विचारका चिंतन करते हैं, और इसलिये उनकी समूची चेतना एक सीधी रेखामें क्रिया करती है। परंतु मनुष्य वस्तुओंको देखना केवल तभी आरंभ करता है जब वह वृत्ताकार रूपमें, गोलाकार रूपमें देख पाता है, वृत्ताकार रूपमें सोच पाता है, अर्थात्, उनके अंदर युगपत असंख्य विचार और बोध विद्यमान होते हैं।

स्वभावतः, आजतक, यदि किसी वस्तुका किसीने वर्णन करना चाहा है तो उसे एकके बाद एक वर्णन करनेको विवश होना पड़ा है, क्योंकि कोई भी एक ही समयमें दस शब्द नहीं कह सकता, वह एक शब्दके बाद दूसरा शब्द कहता है; और यही कारण है कि जो कुछ मनुष्य कहता है वह यथार्थतः सत्यको प्रकट करनेमें एकदम असमर्थ होता है, एकदम असमर्थ। कारण, हम एक बातके बाद दूसरी बात कहनेके लिये बाध्य होते हैं — जिस क्षण हम उन्हें एकके बाद एक कहते हैं, उसी क्षणसे वे सत्य नहीं रह जातीं। एक ही कालमें उन सबको कहना चाहिये, जैसे कि एक ही कालमें वे सब देखी जा सकती हैं, और उनमेंसे प्रत्येक अपने स्थानपर देखी जा सकती है।

अतः, जब मनुष्य इस प्रकार देखना — इस प्रकार देखना, समझना, अनुभव करना, सोचना, इच्छा करना — प्रारंभ करता है, वह 'सत्य'के नजदीक

पहुंच जाता है। परंतु जबतक मनुष्य वैसे ही देखता है जैसे कि वह बोलता है, ओह! वह तो शोचनीय दरिद्रता है।

> **श्रीअरविंद लिखते हैं: "जबतक हम अज्ञानमयी प्रतीतिमें रहते हैं तबतक हम अहं होते हैं और प्रकृतिके गुणोंके अधीन रहते हैं। बाह्य प्रतीतियोंके दास बने हुए, द्वन्द्वोंसे बंधे हुए और शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, हर्ष-शोक, सुख-दुःख, सौभाग्य-दुर्भाग्य एवं जय-पराजयके बीच ठोकरें खाते हुए हम लाचार मायाके पहियेके लोहमय या स्वर्ण-लोहमय घेरेपर चक्कर काटते रहते हैं।"**
>
> (वही, पृ० १११)

हां। ऐसे लोग हैं जिनका जीवन सुख-सुविधासे पूर्ण है, और ऐसे लोग भी हैं जिनका जीवन दुःखपूर्ण है। यह निर्भर करता है... कैसे कहूं? — व्यक्तिगत प्रारब्धपर और वह निर्भर करता है उस कार्य-पर जिसे उन्हें पृथ्वीपर करना है, निर्भर करता है उस स्तरपर जिसपर वे हैं, बहुत-सी चीजोंपर। यह बिलकुल स्पष्ट है कि वास्तवमें स्वयं वे लोग चुनाव नहीं करते। कारण, बहुसंख्यक लोग सर्वदा एक ही वस्तुका चुनाव करेंगे। यदि उनसे पूछा जाय कि वे क्या चाहते हैं, तो हां, उनमें अंतर तो होगा, परंतु बहुत बड़ा अंतर नहीं। वह उत्तर बिलकुल एकरस, एकरूप होगा।

अधिकतर लोग वैसा होना चाहते हैं जिसे वे "निर्विघ्न" कहते हैं, जिसे वे "शांतिपूर्ण" कहते हैं। वे अपने निजी पैमानेके भीतर एक छोटा-सा संगठन चाहते हैं — जो साधारणतया अति-सूक्ष्म होता है। उसका रूप सर्वदा लगभग एक ही प्रकारकी क्रियाओंकी एक नियमित दिनचर्याका होता है, लगभग उन्हीं सीमाओंके भीतर, प्रायः एक ही प्रकारकी परिस्थितियोंमें, जीना और उन सबको बिना अधिक अंतरके दुहराते रहना; पर्याप्त विविधताके साथ दुहराते रहना ताकि वह सब एकदम उकतानेवाला न बन जाय। परंतु कोई ऐसी चीज न हो जो इस नियमित चक्करको भंग करे जिसके कारण यह जीवन शांतिपूर्ण कहलाता है। मनुष्योंके विशाल समुदायके लिये यही है आदर्श।

और फिर इस आदर्शकी प्राप्तिमें ब्योरेकी बातें निर्भर करती हैं एकांतिक भावसे उस देशपर जहां वे पैदा हुए हैं, उस समाजपर जिसमें वे पैदा हुए हैं और उनके आस-पासके रीति-रिवाजपर। उनके आदर्शका निर्णय होता है उस देश और समाजके आचार-विचारके द्वारा जिसमें वे रहते हैं।

निस्संदेह, अपवाद भी होते हैं, पर वे महज नियमको परिपुष्ट करते हैं। सामान्य रूपमें कहा जाय तो अत्यंत सामान्य आदर्श है एक ऐसे वातावरण-में जन्म ग्रहण करना जो पर्याप्त रूपमें सुखकर हो ताकि जीवनकी अत्यधिक कठिनाइयोंसे बचा जा सके, ऐसे व्यक्तिसे विवाह करना जो तुम्हें अत्यधिक कष्ट न दे, स्वस्थ संतान प्राप्त करना जो सामान्य रूपसे बढ़े (यह भी परेशानीसे बचनेके लिये) और उसके बाद शांत और सुखपूर्ण वृद्धावस्था प्राप्त करना और फिर परेशानीसे बचनेके लिये, बहुत अधिक बीमार न पड़ना। और जब मनुष्य जीवनसे थक जाय तो मृत्यु-को प्राप्त हो जाना, फिर इसी कारण कि मनुष्य कोई परेशानी उठाना नहीं चाहता।

निस्संदेह यही सबसे अधिक व्यापक आदर्श है। स्वभावतः ही इसके अपवाद भी हैं, यहांतक कि हम ठीक इससे विपरीत आदर्श भी पा सकते हैं। परंतु यह आदर्श पूर्णतः एकरूप होगा, जीवन एक जैसा होगा, जैसा कि मनुष्य इसकी कल्पना करता है। विभेद केवल ब्योरेमें ही होंगे, क्योंकि एक देशमें लोग एक चीजको पसंद करते हैं और दूसरेमें दूसरी चीजको; और फिर जिस समाजमें मनुष्य जन्म ग्रहण करता है उसमें कुछ विशेष रीति-रिवाज होते हैं और सुख-समृद्धिका एक आदर्श होता है और दूसरे समाजमें दूसरे रीति-रिवाज होते हैं और सुख-समृद्धिका दूसरा आदर्श होता है—बस, इतना ही।

यदि कोई, दृष्टांतस्वरूप, यूरोपियनोंसे बातचीत करे तो वे कहेंगे कि यूरोपसे अधिक सुन्दर कोई दूसरा देश नहीं है। मैं ऐसे फ्रांसीसी लोगोंको जानती थी—एक नहीं बल्कि सैकड़ोंको—जो कहा करते थे कि फ्रांसीसी औरतोंसे अधिक सुन्दर औरतें संसारमें और कहीं नहीं होतीं! और मैं एक निग्रोको जानती थी जिसकी पूरी शिक्षा फ्रांसमें हुई थी और जो, यह पूछनेपर कि कौन-सी स्त्रियां सबसे अधिक सुन्दर होती हैं, कहा करता था: "निग्रो स्त्रीसे अधिक सुन्दर कोई स्त्री नहीं होती।" यह बिलकुल स्वाभाविक था, था न? हां, बात ऐसी ही है। दूसरा कोई मकान उस मकानसे अधिक सुन्दर नहीं होता जिसमें तुम रहनेके अभ्यासी हो गये हो—देहातके मकान जिनमें हम रहते हैं, जहां हम पैदा हुए हैं—और प्राकृतिक दृश्यके बारेमें भी वही बात है, भोजनके बारेमें भी वही बात है, अभ्यासोंके लिये भी बस वही बात है, बशर्ते कि यह सब पर्याप्त सुसमंजस ढंगसे चलता रहे, कोई बहुत प्रचंड आघात न लगे। तब मनुष्य पूर्ण रूपसे संतुष्ट रहता है।

बस, यही है मनुष्योंकी सामान्य मनोभावना। और मनुष्य चक्कर-पर-

चक्कर, चक्कर-पर-चक्कर लगाता रहता है — और कभी-कभी वह लौह वृत्त होता है और कभी-कभी सुनहरे रंगका — परंतु मनुष्य चक्कर-पर-चक्कर, चक्कर-पर-चक्कर काटता रहता है और उसके बच्चे उसी वृत्तमें चक्कर काटेंगे और बच्चोंके बच्चे भी चक्कर-पर-चक्कर लगायेंगे — और इसी प्रकार यह चलता रहेगा। बस, यही बात है।

आजके लिये इतना पर्याप्त है।

१५ फ़रवरी, १९५६

प्रिय माताजी, श्रीअरविंद यहां "इस कार्य-कर्त्री विश्व-प्रकृति" की बात कहते हैं। क्या अन्य लोकोंमें भी कोई कार्य-कर्त्री प्रकृति है?

दूसरे लोकोंमें, तुम्हारा मतलब क्या है?

मनमें और उससे और ऊपर।

पार्थिव प्रकृतिमें केवल जड़-तत्त्व (भौतिक तथा उसके विभिन्न स्तर) ही नहीं है, बल्कि प्राण और मन भी हैं; यह सब पार्थिव प्रकृतिका अंग है!

और उसके बाद कोई प्रकृति नहीं है, कहनेका मतलब, वहां यह विभेद नहीं रहता। यह विभेद मूलतः भौतिक जगतमें है जिसका वर्णन यहां किया गया है।[1]

---

[1] 'योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध (पृ० ११४), के परिच्छेदमें, जिसे माताजीने ठीक उस समय पढ़ा था, श्रीअरविंद पुरुष और प्रकृति, प्रकृतिके ईश्वर और प्रकृतिके बीचके परंपरागत विभेदका वर्णन करते हैं और यह बतलाते हैं कि प्रकृतिके ईश किन-किन अवस्थाओंमेंसे होते हुए प्रकृतिके अंदर डूब जाते हैं, अथवा जगत्‌की क्रियावलियोंमें अंतरात्मा निमग्न हो जाती है; उसके बाद वह आत्माकी मुक्तिका परंपरागत पथ दिखलाते हैं जिससे आत्मा प्रकृतिसे ऊपर उठ जाती है और फिर एक बार प्रकृतिका ईश्वर बन जाती है।

परंतु, जैसा कि श्रीअरविंद कहते हैं, यही "समस्त सत्य नहीं है"। उन्होंने केवल संक्षेपमें वह चीज दी है जो गीतामें कही गयी है। यही बात गीता कहती है; परंतु बात ठीक-ठीक ऐसी ही नहीं है।

केवल, जैसा कि वह कहते हैं, यह उपयोगी हो सकती है, अर्थात्, सत्ताके विभिन्न अंगोंके बीच गोल-माल पैदा करनेके बदले यह दो वस्तुओंके बीच विभेद करनेमें सहायता करती है : एक तो वह जो उच्चतर है और दूसरी वह जो निम्नतर है, एक वह जो भगवान्‌की ओर मुड़ी है और दूसरी वह जो जड़-तत्त्वकी ओर मुड़ी है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे यह एक उपयोगी परिकल्पना है; परंतु, तथ्य रूपमें, यह बस इतना ही है। वास्तविक बातें ऐसी नहीं हैं।

> **श्रीअरविंद लिखते हैं : "प्रकृति,—'सनातन'की सचेतन 'शक्ति'के रूपमें नहीं जो कि उसका दिव्य 'सत्य' रूप है, बल्कि अपने उस रूपमें जिसमें वह हमें 'अज्ञान'में प्रतीत होती है,—एक कार्यकारिणी 'शक्ति' है जो यंत्रवत् क्रिया करती है। इसके विषयमें हमें जो अनुभव होते हैं उनके अनुसार वह सचेतन रूपमें बुद्धिशाली नहीं है, यद्यपि उसके सभी काम पूर्ण बुद्धिसे प्रेरित होते हैं।"**
>
> ('योग-समन्वय' पूर्वार्द्ध, पृ० ११४)

> **प्रकृति सचेतन रूपमें बुद्धिशाली नहीं है? . . .**

एक बुद्धि है जो उसके द्वारा और उसके अंदर, उसके कर्मके अंदर कार्य करती है, पर वह उस बुद्धिके विषयमें सचेतन नहीं है। तुम पशुओंके द्वारा इसे समझ सकते हो। उदाहरणके रूपमें, चींटियोंको ले लो। वे ठीक वही काम करती हैं जो उन्हें करना चाहिये; उनका समस्त कर्म और समूचा संगठन सचमुच एक पूर्ण वस्तु है। परंतु उन्हें उस बुद्धिका ज्ञान नहीं होता जो उनका संगठन करती है। वे एक बुद्धिके द्वारा यंत्रवत् परिचालित होती हैं जिसके विषयमें वे अवगत नहीं होतीं। और यदि तुम अत्यंत विकसित पशुओंको भी लो, जैसे, बिल्ली और कुत्तेको, वे ठीक उसी चीजको जानते हैं जो उन्हें करनी चाहिये : अपने बच्चोंको शिक्षा देनेवाली बिल्ली उतने ही अच्छे ढंगसे उन्हें शिक्षा देती है जैसे कोई स्त्री अपने बच्चोंको (कभी-कभी तो स्त्रीकी अपेक्षा अधिक अच्छे रूपमें), पर बिल्ली एक ऐसी बुद्धिसे चालित होती है जो उसे

मशीनकी तरह चलाती है। वह उस बुद्धिके विषयमें सचेतन नहीं होती जो उससे कार्य कराती है। वह सज्ञान नहीं होती, वह अपनी निजी इच्छासे अपने कार्यके अंदर किसी भी प्रकारका कोई परिवर्तन नहीं कर सकती। कोई चीज उसे यंत्रवत् कार्यमें प्रवृत्त करती है पर उसके ऊपर उसका कोई अधिकार नहीं होता।

यदि कोई मनुष्य हस्तक्षेप करे और किसी बिल्लीको शिक्षा दे तो वह उसके कार्यमें परिवर्तन करा सकता है; परंतु ऐसी स्थितिमें वास्तवमें उस मनुष्यकी चेतना उसके ऊपर क्रिया करती है, न कि उसकी अपनी चेतना। वह उस चेतनाके विषयमें सज्ञान नहीं होती जो उससे कार्य कराती है।

और इस प्रकारकी आत्म-सज्ञानता, अपने-आपको क्रिया करते हुए निरीक्षण करनेकी, हम कार्य क्यों करते हैं, कैसे करते हैं आदि समझनेकी, और फलतः अधिकार रखने और कर्म बदलनेकी यह संभावना — यह मनकी चीज है और अपने निजी अधिकारसे प्राप्त मनुष्यकी चीज है। यही मनुष्य और पशुके बीच एक प्रमुख अंतर है: यह कि मनुष्य अपने विषयमें सचेतन है, वह उस शक्तिके विषयमें सज्ञान हो सकता है जो उससे कार्य कराती है, और न केवल उसके विषयमें अवगत हो सकता है वरन् उसपर अपना अधिकार जमा सकता है।

परंतु जो लोग अपने-आपको किसी शक्तिके द्वारा परिचालित अनुभव करते हैं और कहते हैं: "मैं इसे करनेके लिये विवश था", जिनकी इच्छा-शक्तिने उसमें भाग नहीं बंटाया, वे यह सिद्ध करते हैं कि अभीतक उनकी जड़ें पशुत्वके अंदर, या यूं कहें, निश्चेतनाके अंदर गहराईमें जमी हुई हैं। मनुष्य केवल तभी सचेतन मानव प्राणी बनना आरंभ करता है जब वह यह जानने लगता है कि वह कार्य क्यों करता है और जब वह एक सुनिश्चित इच्छा-शक्तिके द्वारा अपने कार्यमें परिवर्तन करनेमें समर्थ होता है, जब उसे आत्म-संयम प्राप्त हो जाता है। आत्म-संयम प्राप्त होनेसे पहलेतक मनुष्य कम या अधिक एक पशु ही होता है जिसमें चेतना-का एक नन्हा-सा भ्रूण होता है जो वहां बन रहा होता है, जो एक छोटी-सी लौ होता है जो झिलमिलाती तथा जलनेकी कोशिश करती है और जो अत्यंत हलके वायुके झोंकेसे बुझ सकती है।

"प्रक्रिया-शक्तिके रूपमें प्रकृति एक यंत्रवत् कार्य करनेवाली सक्रिय 'शक्ति' है, — क्योंकि यह अपने ऊपर लादी हुई गतिको पूरा करती है; परंतु इसके अंदर वह 'एकमेव' है जो जानता है...

"किसी भी आकारमें विद्यमान व्यष्टिगत अंतरात्मा या सचेतन सत्ता इस अनुभवग्राही पुरुषके साथ या इस क्रियाशील प्रकृतिके साथ तदाकार हो सकती है। यदि वह अपने-आपको प्रकृतिके साथ तदाकार करती है तो वह स्वामी, भोक्ता और ज्ञाता नहीं होती . . . .।"

(वही पृ० ११४-११५)

यदि प्रकृति उस 'शक्ति'से परिचालित होती है जो आत्मसचेतन है और यदि वह (प्रकृति) ठीक-ठीक वही करती है जो उस-पर लादा जाता है तो फिर क्या कारण है कि ये सब विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं? भला प्रकृति वस्तुओंको कैसे विकृत कर सकती है?

हां, मैं इस प्रश्नकी आशा करती थी।

मैं अभी-अभी तुमसे कह रही थी कि यह गीताका सिद्धांत है, और यह संपूर्ण 'सत्य' नहीं है।

जब मैं फ्रांसमें थी, मैंने यह बात सुनी थी। ये वे लोग हैं जो गीताकी व्याख्या करते हैं और कहते हैं कि धुएंके बिना कोई वह्नि नहीं हो सकती — जो सच नहीं है। और वहांसे आरंभ करके वे कहते हैं: "जीवन वैसा ही है और तुम उसे बदल नहीं सकते, यह ऐसा ही है। जो कुछ तुम कर सकते हो वह बस इतना ही है कि पुरुषकी ओर चले जाओ: शासित होनेके बदले शासक-शक्ति बन जाओ।" बस। परंतु, जैसा कि श्रीअरविंद अंतमें कहते हैं, यह गीताका सिद्धांत है, यह संपूर्ण 'सत्य' नहीं है; यह महज वस्तुओंको आंशिक रूपमें देखना है — लाभदायी, व्यावहारिक, सुविधाजनक है, पर संपूर्ण रूपसे सत्य नहीं है।

यदि ऐसी बात है तो यह कैसी बात है कि श्रीअरविंदके शिष्य संसारकी मुक्तिके लिये गीताके संदेशका प्रचार करते हैं?

यह उनका धंधा है। यदि उससे उन्हें आनंद मिलता है, मेरे लिये सब समान है।

परंतु श्रीअरविंदके योगके साथ इसका कोई संबंध नहीं है?

ऐसा नहीं कहा जा सकता कि कोई संबंध नहीं है; परंतु यह संकीर्णता है, बस। उन्होंने एक छोटा-सा टुकड़ा पकड़ लिया है और उसीको वे समग्र वस्तु बना देते हैं। परंतु ऐसा प्रत्येक व्यक्तिके साथ होता है। मैं यह जानना चाहूंगी कि कौन व्यक्ति समग्रको पकड़नेमें समर्थ होता है, प्रत्येक व्यक्ति अपना टुकड़ा पकड़ता है और उसे अपनी समग्र वस्तु बना देता है।

परंतु श्रीअरविंदने समझाया है...

ओह! पर तुम एक प्रचारक हो! तुम उन्हें समझाना क्यों चाहते हो? यदि वे उस तरह संतुष्ट हैं तो उन्हें अपनी संतुष्टिमें ही छोड़ दो...। यदि वे आकर तुमसे कहते हैं: "यही श्रीअरविंदका सिद्धांत है", तो तुम्हें उनसे यह कहनेका अधिकार है: "नहीं, तुम भूल करते हो, यह परंपरागत सिद्धांत है, यह श्रीअरविंदका सिद्धांत नहीं है।" बस, इतना ही। परंतु तुम उनसे यह नहीं कह सकते: "तुम्हें अपना मत बदलना चाहिये।" यदि इससे उन्हें प्रसन्नता होती है तो उन्हें उसे बनाये रखने दो।

यह बहुत सुविधाजनक है। मैंने उसे फ्रांसमें, पेरिसमें, भारत आनेसे पहले देखा था, मैंने देखा था कि यह कितना अधिक व्यावहारिक है। सर्वप्रथम, यह तुम्हें एक बहुत गभीर और अत्यधिक लाभदायी सत्य पकड़नेका अवसर देता है, जैसा कि मैंने कहा था; और फिर यह तुम्हें अपनी बाहरी प्रकृतिको बदलनेकी समस्त आवश्यकतासे बचा देता है।

यह इतना सुविधापूर्ण है, है न? मनुष्य कहता है: "मैं ऐसा हूं, मैं इसके बारेमें क्या कर सकता हूं? मैं अपनेको प्रकृतिसे पृथक् करता हूं, मैं वह जो चाहे उसे करने देता हूं, मैं यह प्रकृति नहीं हूं, मैं पुरुष हूं, ओह! वह अपने निजी रास्तेसे चलती रहे, आखिर मैं उसे बदल तो सकता नहीं!" यह अत्यंत सुविधाजनक है। और यही कारण है कि लोग इसे अपनाते हैं; क्योंकि वे कल्पना कर लेते हैं कि वे पुरुषके अंदर हैं, परंतु जरा-सी खरोंच लगते ही वे सीधे प्रकृतिके अंदर वापस गिर पड़ते हैं, पूर्ण रूपसे, और तब वे क्रोधसे आगबबूला हो उठते हैं या निराश हो जाते हैं या बीमार पड़ जाते हैं। और बस, बात ऐसी ही है।

मैंने किसी व्यक्तिके विषयमें सुना था कि उसने, किसी तरह, पुरुषके साथ इस प्रकार तादात्म्य यथार्थ रूपमें प्राप्त कर लिया था और वह एक अद्भुत वातावरण विकीर्ण करता था; परंतु वह उन सबको खतरनाक

क्रांतिकारी समझता था जो पार्थिव प्रकृतिमें कोई वस्तु बदलना चाहते थे, जो लोग पृथ्वीकी वस्तुओंको परिवर्तित करना चाहते थे, दृष्टांतस्वरूप, दुःख-कष्टको दूर किया जा सकता है या अंतमें मृत्युकी आवश्यकताको रद्द किया जा सकता है, एक विकास, एक ज्योतिर्मय प्रगति हो सकती है जिसे संहारकी आवश्यकता नहीं होगी — आह! जो लोग इस प्रकार सोचते हैं वे भयानक क्रांतिकारी हैं। यदि आवश्यकता हो तो उन्हें जेलमें डाल देना चाहिये!

परंतु जब कोई एक महान् योगी हुए बिना भी, ज्ञानी होना चाहता हो तो उसे इन सब चीजोंकी ओर एक मुस्कानके साथ ताकनेमें समर्थ होना चाहिये, उनसे प्रभावित नहीं होना चाहिये। तुम्हारे पास तुम्हारा अपना अनुभव है; उसे जितना संभव हो उतना सही और पूर्ण बनानेकी कोशिश करो, पर प्रत्येक व्यक्तिको उसके अपने अनुभवके साथ छोड़ दो। जब वे गुरु मानकर तुम्हारे पास आयें और तुमसे कहें: "अब, मुझे 'ज्योति' और 'सत्य'की ओर ले चलिये", तब, उस समयसे तुम्हारा दायित्व आरंभ हो जाता है — परंतु उससे पहले नहीं। (एक शिष्यकी ओर ताककर) यह कुछ कहना चाहता है!

श्रीअरविंदने कहा है: "गीता . . . उच्चतम आध्यात्मिक मनकी सीमाओंपर ही रुक जाती है और उन्हें पार कर 'अतिमानसिक प्रकाश'की दीप्तियोंतक नहीं पहुंचती।"

(वही पृ० ११०)

गीताका अनुसरण करके मनुष्य केंद्रीय सत्यको क्यों नहीं पकड़ता और अतिमानसिक योगके पथपर क्यों नहीं आता?

मैं नहीं समझी कि तुम्हारा क्या मतलब है। परंतु ऐसे बहुत-से लोग हैं जो यह विश्वास करते हैं कि वे श्रीअरविंदके योगका अनुसरण तो करते हैं पर अतिमानसिक सत्यको नहीं प्राप्त करते।

यह बहुत अधिक इस बातपर निर्भर नहीं करता कि मनुष्य किस पथका अनुसरण करता है; यह निर्भर है उस क्षमताके ऊपर जो मनुष्यमें होती है।

परंतु मैं पूछ रहा हूं: गीताका केंद्रीय सत्य है भगवान्‌के प्रति समर्पण, इसे मनुष्य क्यों नहीं पकड़ पाता? . . . . "हमारे दिव्य

पथप्रदर्शक, तथा हमारी प्रकृतिके स्वामी एवं अंतर्वासीके प्रति पूर्ण समर्पणका सर्वोच्च मर्म ही उसका केंद्रीय रहस्य है।"

(वही पृ० ११०)

निस्संदेह, यही बात है जो गीतामें लिखी है कि तुम्हें अपने-आपको संपूर्णतः दे देना चाहिये। तुम जानते ही हो, गीतामें, कृष्ण पथप्रदर्शक और अंतरस्थ प्रभु हैं, और तुम्हें अपने-आपको पूर्ण रूपसे उन्हें दे देना चाहिये, सर्वांगपूर्ण समर्पण कर देना चाहिये — और उसके बाद? मैं तुमसे कहती हूं, लोग किसी-न-किसी शिक्षाको अंगीकार कर तो लेते हैं, पर वे सर्वदा उसका अनुसरण करनेमें समर्थ नहीं होते; वे एक खास बिंदुतक ऊपर जाते हैं और रुक जाते हैं।

मैं तुम्हारी कठिनाईको नहीं समझ रही हूं। तुम्हारा मतलब है कि जिन लोगोंको गीताकी शिक्षाके सत्यपर पूरा विश्वास हो गया है वे इस शिक्षाको चरितार्थ नहीं करते?

समर्पणकी शिक्षा।

हां, अच्छा, यह शिक्षा गीतामें है — और यह बात तुम्हें आश्चर्यमें डालती है? परंतु संसारभरमें ऐसे अनगिनत लोग हैं जो किसी-न-किसी शिक्षाके सत्यपर विश्वास करते हैं, परंतु यह बात उन्हें उस शिक्षाको चरितार्थ करनेकी योग्यता नहीं प्रदान करती। उदाहरणार्थ, सभी बौद्ध लोग, संसारके लाखों-करोड़ों बौद्ध लोग यह मानते हैं कि बौद्धधर्म सत्य है, — क्या यह बात उन्हें बुद्धके जैसा बननेके योग्य बना देती है? निश्चय ही नहीं। अतएव, इसमें भला इतनी आश्चर्यजनक बात क्या है?

मैंने तुम्हें बताया है कि ऐसे लोग क्यों हैं जो श्रीअरविंदकी पुस्तकें पढ़ने और अध्ययन करनेके बाद भी इसे स्वीकार करते हैं; वे इसे क्यों स्वीकार करते हैं, इसे जोरसे पकड़े रखते हैं, गीताकी इस शिक्षासे चिपके रहते हैं: इसका कारण यह है कि यह सुविधापूर्ण है, मनुष्यको अपनी प्रकृतिका परिवर्तन करनेके लिये कोई प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं होती: प्रकृति अपरिवर्तनीय है, अतएव उसे बदलनेकी चिंता करनेकी तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं; तुम उसे अपने ही तरीकेसे चलते रहने दो, तुम अपने एकांत स्थलके शिखरसे उसकी ओर निहारते हो और वह जो चाहे उसे करने देते हो और कहते हो: "मैं यह नहीं हूं, मैं वह नहीं हूं।"

यह बहुत सुविधाजनक है, इसे बहुत शीघ्रतासे किया जा सकता है (कम-से-कम मनुष्य यह दिखावा कर सकता है कि यह हो गया है)। जैसा कि मैंने कहा है, बहुत कम लोगोंका व्यवहार उनके सिद्धांतसे मिलता-जुलता है; यदि तुम्हारा गला खराब हो जाता है या सिर-दर्द होता है या तुम्हारा पैर छिल जाता है तो तुम चिल्लाना या शिकायत करना, रोना-धोना आरंभ कर देते हो और फलस्वरूप तुम अनासक्त नहीं रहते, तुम एकदम आसक्त और घनिष्ठ रूपसे आबद्ध रहते हो। यह अत्यंत मानवीय तथ्य है।

अथवा, जब कोई तुमसे कोई अप्रिय बात कहता है, तुम विक्षुब्ध हो जाते हो। बस, यह ऐसा ही है — क्योंकि तुम प्रकृतिसे घनिष्ठ रूपमें आसक्त हो, यद्यपि तुमने घोषणा की है कि तुम नहीं हो। बस, इतना ही।

२२ फरवरी, १९५६

प्यारी माताजी, यह मेरी समझमें नहीं आता, "...अमर आत्माकी दृढ़ अविचल स्थिति।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० ११९)

कौन-सी बात है जो तुम नहीं समझते? यह कि अमर आत्माकी प्रबल अविचल स्थिति हो सकती है? यहां वही कहा गया है जो कहा गया है। अमर आत्मा, अपने अमर होनेके तथ्यके कारण ही, अनिवार्य रूपसे अविचल और प्रबल होती है।

परंतु फिर श्रीअरविंद कहते हैं: "इसका (गीताका) नियम मनद्वारा प्राणिक आवेगका निग्रह करना नहीं, बल्कि अमर आत्माकी दृढ़ अविचल स्थिति है।"

हां। परंतु यह एक निष्कर्ष है, मेरे बच्चे। यदि तुम समझना चाहते हो तो तुम्हें वाक्यको प्रारंभसे पढ़ना चाहिये...। आह! (एक शिष्यकी ओर मुड़कर) मुझे रोशनी और पुस्तक दो। (माताजी खोजती हैं) यहां रहा, वह कहते हैं: "इसका (गीताका) लक्ष्य है एक चरम-परम,

पूर्ण एवं दृढ़-स्थिर अवस्था, एक ऐसी प्रवृत्ति और भावना जो आत्माका संपूर्ण संतुलन ही बदल डाले। प्राणिक आवेगका मनद्वारा निग्रह करना नहीं, बल्कि अमर आत्माकी दृढ़ अविचल स्थिति ही इसका नियम है।"

यह तो दिवालोककी तरह स्पष्ट है। गीताको एक अमर आत्माकी प्रबल अविचल स्थितिकी आवश्यकता है—बाकी सब गौण हैं। गीता चाहती है कि आत्माको अपनी अमरताका ज्ञान हो जाय और इसके परिणामस्वरूप उसे एक प्रबल अचल स्थिति प्राप्त हो जानी चाहिये।

कारण, यह एक तथ्य है, यह ऐसा ही है। जब आत्मा अमरत्वके विषयमें सज्ञान हो जाती है तो वह एक अचल-अटल स्थितिको प्राप्त हो जाती है जो संपूर्ण रूपसे शक्तिसे गठित है। पूर्णतः अचल-अटल होती है। कहनेका मतलब, वह अब तनिक भी हिलती-डुलती नहीं, बल्कि एक प्रबल अचलता होती है, जो कोई जड़ता या निःशक्तताकी अचलता नहीं होती; वह प्रबल अचलता होती है जो कर्मकी नींव है, अर्थात्, मनुष्य जो कुछ करता है वह इसी शक्तिशाली — सर्व-समर्थ, — अमर आत्माकी अचलतापर अवलंबित होता है।

परंतु, जानते हो, ऐसी कोई व्याख्या नहीं है जो तुम्हें उसे समझा दे; तुम्हें अनुभव प्राप्त करना होगा। जबतक मनुष्यको अनुभव नहीं प्राप्त हो जाता, वह यह नहीं समझ सकता कि इसका क्या अर्थ है...। और यही बात प्रत्येक चीजके लिये कही जा सकती है; मस्तक, छोटा-सा मस्तिष्क इसे नहीं समझ सकता। जिस क्षण मनुष्यको अनुभव हो जाता है, वह समझ लेता है—उससे पहले नहीं। मनुष्यको एक प्रकारकी कल्पना-प्रसूत धारणा हो सकती है, पर वह समझता नहीं है। समझनेके लिये मनुष्यको उसे जीवनमें उतारना होगा। जब तुम अपनी अमर आत्माका ज्ञान प्राप्त कर लोगे, तुम समझ जाओगे कि उसकी सशक्त अचलता क्या चीज है—पर उससे पूर्व नहीं। अन्यथा, ये सब महज शब्द-ही-शब्द हैं।

तुम यह नहीं समझ पाते कि किस प्रकार मनुष्य एक संग ही अचल-अटल और शक्ति-संपन्न हो सकता है, क्या यही बात है जो तुम्हें परेशान कर रही है? अच्छा, मेरा जहांतक संबंध है मैं कह सकती हूं कि सबसे बड़ी शक्ति अचलताके अंदर है। यही सर्वोपरि शक्ति है।

और इसका एक बहुत मामूली उपरितलीय प्रयोग है जिसे तुम शायद समझ सकोगे। कोई व्यक्ति है जो आता है और तुम्हारा अपमान करता है अथवा तुमसे कोई अप्रिय बात कहता है; और यदि तुम क्रोध या दुर्भावनाके साथ एक होकर कांपना आरंभ कर दो तो तुम अपनेको

बिलकुल दुर्बल और निरावृत्त अनुभव करोगे और इस प्रकार साधारणतया मनुष्य अपनेको मूर्ख ही साबित करता है। परंतु तुम यदि अपने अंदर और विशेषकर अपने मस्तकमें, ऐसी पूर्ण अचलता बनाये रखनेमें सफल हो जो इन प्रकंपनोंको ग्रहण करना अस्वीकार करती है, तो फिर उसी समय तुम एक महान् शक्तिका अनुभव करने लगते हो और तब दूसरा व्यक्ति तुम्हें परेशान नहीं कर सकता। यदि तुम खूब शांत-स्थिर बने रहो, यहांतक कि शरीरसे भी, और जब तुम्हारे विरुद्ध कोई बलका प्रयोग करे तो भी तुम खूब स्थिर, बहुत नीरव, एकदम अचल-अटल बने रह सको तो हां, उसमें एक ऐसी शक्ति होती है जो न केवल तुम्हारे ऊपर बल्कि दूसरे व्यक्तिके ऊपर भी प्रभाव डालती है। यदि तुम्हारे अंदर आंतरिक प्रत्युत्तरके ये सब प्रकंपन न हों, यदि तुम अपने अंदर, सर्वत्र, पूर्ण रूपसे अचल-अटल बने रह सको तो उसकी दूसरे व्यक्तिके ऊपर तत्काल क्रिया होती है। यह चीज तुम्हें यह धारणा देती है कि अचलताकी शक्ति क्या है। और यह एक मामूली तथ्य है जो प्रत्येक दिन घट सकता है। यह कोई आध्यात्मिक जीवनकी महान् घटना नहीं है, यह महज बाहरी, भौतिक जीवनकी एक चीज है।

अचलतामें एक प्रचंड शक्ति होती है: वह चाहे मानसिक अचलता, ऐंद्रिय अचलता या भौतिक अचलता ही हो। यदि तुम एक दीवालकी तरह बन सको, संपूर्ण रूपसे गतिहीन, तो जो कोई चीज दूसरा व्यक्ति तुम्हारी ओर भेजेगा वह तत्काल उसीके ऊपर वापस जा गिरेगी। और उसमें फौरन कार्य करनेकी शक्ति होती है। यह अचलता हत्यारेके हथियारको भी रोक सकती है, समझे, उसमें इतनी अधिक शक्ति होती है। बस, बात यह है कि तुम्हें ऐसा नहीं होना चाहिये कि ऊपरसे तो अटल दिखायी दो और अंदरसे खौलते रहो। मेरा मतलब उससे नहीं है। मेरा मतलब है सर्वांगपूर्ण अचलतासे।

माताजी, क्या यह वही चीज है जो आत्माकी समता है जिसकी चर्चा श्रीअरविंदने की है?

आत्माकी समता एक पथ है। यह एक साधन है, यह एक पथ है—यह एक लक्ष्य भी हो सकता है। परंतु यह सर्वोच्च शिखर नहीं है।

उदाहरणार्थ, कुछ ऐसे लोग होते हैं जो यह कहते हैं, जो यह मानते हैं कि जो कुछ होता है वह भागवत 'संकल्प' की अभिव्यक्ति होता है (मैं समझती हूं कि पिछली बार मैंने इसकी चर्चा की थी), जीवनको देखनेकी,

जीवनके विषयमें सोचनेकी एक पूरी पद्धति है, जो इस प्रकारकी है, जो कहती है : "जो कुछ यहां है, संसार जैसा भी है, जो कुछ होता है वह सब भागवत 'संकल्प'का प्रकाश है; परिणामतः, बुद्धिमानी हमसे अपेक्षा करती है (यदि हम भगवान्‌के साथ संबंध बनाये रखना चाहते हैं) कि हम बिना हिचकिचाये और तनिक भी विक्षुब्ध हुए बिना, अथवा ज़रा भी कोई प्रतिक्रिया किये बिना, होनेवाली प्रत्येक चीजको स्वीकार करें, क्योंकि वह दिव्य 'संकल्प'की अभिव्यक्ति है और यह आशा की जाती है कि हमें उसको सम्मान देना चाहिये।" यह एक ऐसी परिकल्पना है जो निश्चित रूपसे आत्माकी यह समता प्राप्त करनेमें लोगोंकी सहायता करती है। परंतु तुम यदि इसकी विपरीत भावनाको स्वीकार किये बिना और दोनोंमें सामंजस्य बैठाये बिना इसे स्वीकार करो तो हां, स्वभावतः, तुम्हें सारे जीवनके लिये बस चुप बैठ जाना चाहिये और कुछ नहीं करना चाहिये — अथवा हर हालतमें, संसारकी उन्नतिके लिये कभी प्रयास नहीं करना चाहिये।

मुझे स्मरण है, एक दिन क्लासमें, हमारी इस वर्तमान क्लासके शुरू होनेसे पहले (उस क्लासमें जो हर बुधवारको भी हुआ करती थी, शायद, मुझे ठीक याद नहीं, परंतु जिस क्लासमें मैं पुस्तकें पढ़ा करती थी), मैंने अनातोल फ्रांसकी एक पुस्तक पढ़ी थी। उनकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी — मेरी समझमें वह जेरोम क्वाइंयारकी पुस्तक थी पर बिलकुल निस्संदिग्ध नहीं हूं — जिसमें वह कहते हैं कि मनुष्य यदि जीवनको अधिक अच्छा बनानेकी परेशानी न उठाते तो वे पूर्ण रूपसे सुखी रहते। मैं यहां उनके ठीक-ठीक शब्दोंको नहीं, बल्कि उनके भावको ही उद्धृत कर रही हूं। मनुष्यों और वस्तुओंको अधिक अच्छा बनानेकी इस इच्छाके साथ ही दुःख-कष्ट आरंभ होता है! . . . (श्रीमाताजी हंसती हैं) यह बात कहनेका उनका अपना तरीका है जो ठीक वही है जो मैं अभी दूसरे रूपमें तुम लोगोंसे कह रही थी। यदि तुम शांतिपूर्ण, प्रसन्न, सर्वदा संतुष्ट रहना तथा आत्माका पूर्ण समत्व प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हें अपने-आपसे कहना चाहिये : "चीजें वैसी ही हैं, जैसी होनी चाहिये", और यदि तुम धार्मिक व्यक्ति हो, तो तुम्हें अपने-आपसे कहना चाहिये ; "वे वैसी ही हैं जैसी कि होनी चाहिये क्योंकि वे भागवत 'संकल्प' की ही अभिव्यक्तियां हैं", और फिर हमें बस एक ही चीज करनी है, वह है वे जैसी हैं उन्हें उसी रूपमें स्वीकार कर लेना और खूब शांत रहना, क्योंकि अशांत रहनेकी अपेक्षा शांत रहना कहीं अधिक अच्छा है। वह बातको घुमाकर दूसरे तरीकेसे रखते हैं; वह कहते हैं कि जीवन बहुत

सुखकर और बहुत संतोषप्रद और मनोरंजक बना रहेगा, यदि मनुष्य यह इच्छा करना आरंभ न करें कि वह दूसरे प्रकारका हो। और जिस क्षण वे संतुष्ट नहीं रहते, स्वभावतः कोई भी सुखी नहीं होता! क्योंकि जब कोई मनुष्य यह देखता है कि वह ठीक वैसा नहीं है जैसा उसे होना चाहिये तो, हां, वह दुःखी होना आरंभ कर देता है— और फिर दूसरे लोग भी।

परंतु प्रत्येक व्यक्तिमें यदि यह कहनेकी सद्बुद्धि हो: वस्तुएं वैसी ही हैं जैसी होनी चाहिये: मनुष्य मरता है क्योंकि उसे मरना ही है, और मनुष्य बीमार है क्योंकि उसे बीमार होना ही है, मनुष्य उन लोगोंसे बिछुड़ता है जिन्हें वह प्यार करता है क्योंकि उसे बिछुड़ना ही है, और फिर, इसी तरह और सब,... और मनुष्य गरीब है क्योंकि उसे गरीब होना चाहिये, मनुष्य ... हां, इसकी कोई सीमा नहीं — हां, यदि पूर्ण रूपसे, समग्र रूपसे मनुष्य कहता है: चीजें वैसी ही हैं जैसी होनी चाहिये, तो फिर उससे कष्ट पाने या विद्रोह करनेका कोई मतलब नहीं होगा, वह तो एक मूर्खता होगी! ... आह! मनुष्यको जरा युक्तिसंगत होना चाहिये। अतएव हम कहते हैं कि चीजें जैसी हैं उससे उन्हें अधिक अच्छा बनानेकी इच्छा करनेपर ही दुःख-क्लेश प्रारंभ होता है। जब तुम बीमार होते हो तब तुम बीमार होना क्यों नहीं चाहते? जब तुम बीमार होनेपर बीमार होना नहीं चाहते तब तुम उस समयकी अपेक्षा अधिक बीमार हो जाते हो जब कि तुम अपने-आपसे यह कहते हो: "अच्छा, यह ईश्वरकी इच्छा है, मैं अपनी बीमारी स्वीकार करता हूं!" कम-से-कम उस समय तुम शांत रहते हो, वह चीज तुम्हें स्वस्थ होनेमें सहायता करेगी, शायद ...। और गरीब लोग, — वे क्यों धनी होना चाहते हैं? और जो लोग अपने बच्चे खो देते हैं अथवा अपने माता-पिताको खो देते हैं, — वे भला वैसा होना क्यों नहीं पसंद करते? यदि प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता कि चीजें वैसी ही रहें जैसी कि वे हैं तो प्रत्येक व्यक्ति सुखी रहता।

यह एक दृष्टिकोण है। केवल ऐसा होता है कि शायद — शायद, भागवत 'इच्छा' ठीक ऐसी नहीं होती। और संभवतः वह वैसी हो सकती है जैसी उस कहानीमें बात आती है: तुम सब हाथी और उसके महावतकी कहानी जानते हो? — हाथी, महावत और सड़कपर उपस्थित ब्राह्मण जिसने हाथीके रास्तेसे हटना अस्वीकार कर दिया और, जब महावतने उससे कहा: "हट जाओ", उसने उत्तर दिया: "नहीं, मेरे अंदर विद्यमान भगवान् यह चाहते हैं कि मैं यहीं रहूं", और महावतने उत्तर दिया: "क्षमा कीजिये, पर मेरे अंदरके भगवान् तुमसे कहते हैं हट जाओ!"

अतएव आनातोल फ्रांसके लिये शायद ठीक यही उत्तर है कि मनुष्यकी इच्छासे उच्चतर एक इच्छा है जो वस्तुओंको बदलना चाहती है। और इसलिये उसकी आज्ञा मानने और वस्तुओंको बदलनेके सिवा और कुछ भी करणीय नहीं है।

यही बात है। बस, हो गया?

> प्यारी माताजी, यहां लिखा है: "कर्मयोगके पथमें कर्म ही वह ग्रंथि है जिसे हमें सबसे पहले खोलना होगा।"
>
> (वही, पृ० ११८)

> कर्म क्यों ग्रंथि बन जाता है?

क्योंकि मनुष्य कर्मसे आसक्त होता है। वह ग्रंथि अहंकी ग्रंथि है। तुम कामनाके कारण एक कर्म करते हो। श्रीअरविंद ऐसा कहते हैं, कहते हैं न? कर्म करनेका साधारण तरीका किसी-न-किसी रूपमें कामनासे—एक कामनासे, एक आवश्यकतासे—बंधा होता है और बस वही गांठ है। यदि तुम केवल कामनाकी संतुष्टिके लिये कर्म करते हो (कामना जिसे तुम आवश्यकता या प्रयोजन या कोई दूसरी चीज कहते हो, परंतु तहमें, यदि तुम उस बातकी एकदम तहमें चले जाओ, तो देखोगे कि वह किसी कामनाका प्रवेग है जो तुमसे कर्म कराता है), हां, यदि तुम कामनाके प्रवेगके प्रभावके अधीन कार्य करते हो तो यदि तुम कामनाको दबा दोगे तो काम न कर सकोगे।

और बस, यही है पहला उत्तर जो लोग तुम्हें देते हैं। जब उनसे कहा जाता है: "कर्मफलसे आसक्त हुए बिना कर्म करो, यह चेतना रखो कि सचमुच तुम कार्य नहीं कर रहे बल्कि वास्तवमें स्वयं भगवान् कार्य कर रहे हैं", तो साढ़े निन्यानबे प्रतिशत लोग यह उत्तर देते हैं: "परंतु यदि मैं ऐसा अनुभव करूं तो फिर हिलडुल भी नहीं सकता! तब मैं कोई काम न करूंगा; सर्वदा कोई आवश्यकता, कोई कामना, कोई व्यक्तिगत प्रवृत्ति ही किसी-न-किसी रूपमें मुझसे कार्य कराती है।" अतएव, श्रीअरविंद कहते हैं: "यदि तुम गीताकी शिक्षाको जीवनमें संसिद्ध करना चाहते हो तो सबसे पहले तुम्हें इस ग्रंथिको खोलना होगा",—वह ग्रंथि जो कर्मको कामनासे जोड़ती है—वे दोनों इतनी अच्छी तरह संयुक्त होते हैं कि यदि तुम एकको हटा लो तो तुम दूसरेको भी हटा लोगे। वह कहते हैं कि ग्रंथिको खोलना होगा ताकि मनुष्य कामनाको तो दूर हटा दे पर काम करना जारी रखे।

और यह एक तथ्य है; यही वह चीज है जिसे करना होगा। ग्रंथिको ढीला करना ही होगा। . . . यह एक मामूली आंतरिक शल्यक्रिया है जिसे मनुष्य बहुत आसानीसे कर सकता है; और जब वह यह क्रिया कर लेता है, वह अनुभव करता है कि वह पूर्णतः बिना किसी व्यक्तिगत प्रयोजनके कार्य करता है — बल्कि अपनी अहंकारपूर्ण शक्तिसे उच्चतर और बलवत्तर, किसी 'शक्ति'से परिचालित होकर करता है। और तब मनुष्य तो कार्य करता है, पर कर्मफल उसपर वापस नहीं आते। . . .

यह चेतनाका एक अद्‌भुत और बिलकुल ठोस व्यापार है। जीवनमें तुम कोई कार्य करते हो (कोई भी कर्म तुम करते हो, भला, बुरा, नगण्य उससे कुछ नहीं आता-जाता), वह चाहे जो भी हो, वह तुरत परिणामोंकी एक शृंखला उत्पन्न कर देता है। वास्तवमें तुम एक विशेष परिणाम पानेके लिये उसे करते हो, बस उसीके लिये तुम करते हो, उसी परिणामकी दृष्टिसे तुम करते हो। उदाहरणके लिये यदि मैं इस तरह 'माइक' (ध्वनिविस्तारक यंत्र) लेनेके लिये अपना हाथ बढ़ाती हूं तो मैं एक परिणामकी, समझो, माइकमें ध्वनि उत्पन्न करनेकी, आशा करती हूं। और इससे सदा, सदा ही एक परिणाम उत्पन्न होता है। परंतु तुम यदि ग्रंथिको काट दो और उस 'शक्ति'को जो ऊपरसे आती है — अथवा किसी अन्य स्थानसे आती है — अपने भीतरसे काम करने दो और अपने द्वारा कार्य होने दो तो उस समय तुम्हारे कर्मके परिणाम तो होते हैं पर वे अब तुम्हारे पास नहीं आते, क्योंकि वास्तवमें तुमने कार्यका प्रारंभ नहीं किया था, बल्कि ऊपरसे आनेवाली 'शक्ति'ने किया था। और परिणाम ऊपर चले जाते हैं, अथवा वे उस 'शक्ति'के द्वारा निर्दिष्ट, इच्छित, निर्देशित और नियंत्रित होते हैं जिसने तुमसे कार्य कराया था। और तुम पू...र्ण...रू...प...से अपनेको मुक्त अनुभव करते हो, जो कुछ तुमने किया है उसके परिणाम तुमपर लौटकर नहीं आते। . . .

ऐसे लोग होते हैं जिन्हें यह अनुभव हुआ है (परंतु ये चीजें सबसे पहले एक झलकके रूपमें, एक मुहूर्त्तके लिये आती हैं और फिर वापस चली जाती हैं; वास्तवमें जब मनुष्य रूपांतरके लिये बिलकुल तैयार हो जाता है केवल तभी ये आकर सदाके लिये ठहर जाती हैं), हां, कुछ लोगोंको यह अनुभव एक बार होता है, संभवतः अपने जीवनमें कुछ क्षणोंके लिये उन्हें यह अनुभव हुआ है; और उसके बाद वह क्रिया वापस चली जाती है, चेतनाकी वह स्थिति पीछे चली जाती है; परंतु स्मृति बनी रहती है। और वे उसकी नकल करते हैं। और जब संयोगवश वे ऐसे लोग हों जो भाषण देना जानते हों, कुछ गुरुओंकी तरह जिनके शिष्य हों और जो उन्हें इस पथकी

शिक्षा देते हों, वे इस विषयमें कहते हैं : "जब वास्तवमें भगवान् ही तुम्हारे द्वारा काम करते हैं और जब तुमने कामनाकी ग्रंथि काट दी है, तो तुम जो कुछ करते हो फिर उसका कोई नैतिक या अन्य परिणाम तुम्हें नहीं प्राप्त होता। और तुम चाहे जो कर्म कर सकते हो : तुम अपने पड़ोसीकी हत्या कर सकते हो, किसी नारीका सतीत्व भंग कर सकते हो, तुम कोई भी चीज कर सकते हो जिसे तुम्हारे अंतरस्थ भगवान् चाहते हैं—और तुम्हें कभी कोई परिणाम प्राप्त नहीं होगा।"

और सचमुच वे ऐसा करते हैं! वे अपनी सभी अतियोंको छिपानेके लिये इस अनुभवको एक आवरणके रूपमें ग्रहण करते हैं...। यह बात बस प्रसंगवशात् ऐसे लोगोंसे तुम्हें सावधान करनेके लिये कही जा रही है जो वैसा होनेका बहाना करते हैं जैसे वास्तवमें नहीं होते।

परंतु, यथार्थमें, परिणाम बहुत सीधा होता है, क्योंकि वे तत्काल अपने झूठे दिखावेके परिणाम भोगते हैं (वे कहते हैं कि वे नहीं भोगते, पर वे भोगते हैं)...। मैंने एक संन्यासीका बड़ा अद्‌भुत उदाहरण देखा था जो किसी व्यक्तिपर इसलिये क्रुद्ध हो गया था कि वह उसका शिष्य होना नहीं चाहता था (जो इस बातको सिद्ध करता था कि वह उस स्थितिको उपलब्ध करनेसे बहुत दूर था)। उसने उसका बदला लेना चाहा। और निस्संदेह, उसे कुछ शक्तियां प्राप्त थीं, उसने उस व्यक्तिको मार डालनेके लिये जिसने कि उसका शिष्य बनना अस्वीकार कर दिया था, एक बहुत शक्तिशाली संरचना बनायी। संयोगवश वह व्यक्ति श्रीअरविन्दके संपर्कमें था। उसने उन्हें अपनी कहानी बतायी और श्रीअरविन्दने मुझे सुनायी। और परिणाम यह हुआ कि उस व्यक्तिकी संरचना, जो तथाकथित भागवत 'इच्छा'से कार्य कर रहा था, इस ढंगसे वापस उसीपर जा पड़ी कि स्वयं वही मर गया!

और यह केवल उसी सत्यको पुनः स्थापित करनेका एक तथ्य था। उसमें और कुछ करनेको नहीं था।

अतएव इस कहानीकी शिक्षा यह है कि मनुष्यको दिखावा नहीं करना चाहिये, उसे होना चाहिये; मनुष्यको पूर्ण सच्चा होना चाहिये और अपनी कामनाओंको सुन्दर सिद्धांतोंके द्वारा ढकना नहीं चाहिये।

मैं बहुतेरे ऐसे लोगोंसे मिली हूं जो यह दावा करते थे कि उन्हें आत्माकी पूर्ण समता और पूर्ण मुक्ति प्राप्त हो चुकी है और जो अपनेको इन सिद्धांतोंके पीछे छिपाते थे : "सब कुछ भागवत 'इच्छा' है", पर जो, वास्तवमें, अपने विचारमें, भागवत 'इच्छा'के स्थानपर अपनी इच्छाको रखते थे, और वे जो कुछ दावा करते थे उसे उपलब्ध करनेसे बहुत दूर थे। वे आलसी

लोग थे जो कोई प्रयास करना नहीं चाहते थे और अपनी प्रकृतिको रूपांतरित करनेके लिये कार्य करनेके बदले, जैसी-की-वैसी ही बनाये रखना पसंद करते थे। बस, यही बात है!

प्रिय माताजी, ऐसे लोगोंमें शक्तियां होती हैं?

हां! कुछ तो ऐसे होते हैं जिन्हें महान् शक्तियां प्राप्त होती हैं। परंतु ये वे शक्तियां होती हैं जो प्राण-जगत्से और प्राणिक सत्ताओंके साथ संपर्क होनेपर आती हैं।

बहुत तरहकी शक्तियां होती हैं। केवल, ये शक्तियां सच्ची भागवत 'शक्ति'के सम्मुख नहीं ठहर पातीं — वे उसे सहन नहीं कर सकतीं। परंतु सामान्य मानव प्राणियोंके मुकाबले उनमें बहुत अधिक सामर्थ्य होती है।

तब, क्या वे लोग हानि पहुंचा सकते हैं?

बहुत। केवल पहुंचा सकते ही नहीं, पहुंचाते हैं। बहुत अधिक हानि पहुंचाते हैं। जो लोग इस कारण यातना भोगते हैं कि उन्हें किसी तथा-कथित संन्यासी'से परिचित होनेका दुर्भाग्य प्राप्त हुआ था, उनकी संख्या प्रचुर है, प्रचुर। मैं तुम्हें डरानेके लिये यह बात नहीं कह रही हूं, क्योंकि तुम यहां सुरक्षित हो, बल्कि इसलिये कि यह एक तथ्य है। दीक्षा प्राप्त करते समय ये लोग प्राण-जगत्की किसी शक्तिका प्रभाव ग्रहण कर लेते हैं जो सब वस्तुओंमें सबसे अधिक खतरनाक है...। सर्वदा ऐसी बात नहीं होती, परंतु अधिकतर ऐसा ही होता है।

कारण, इस जगत्में सच्चाई इतना दुर्लभ गुण है कि यदि कोई इसे देखे तो उसे इसके सामने आदरके साथ सिर झुका देना चाहिये। "सच्चाई",

---

'निस्संदेह, यहां केवल उन्हीं लोगोंकी ओर संकेत है जो एकमात्र इस उद्देश्यसे कषाय वस्त्र धारण करते हैं कि वे सार्वजनिक रूपसे सम्मानित इस वेषके पर्देके पीछे अपनी अहंजन्य लालसाओंको छिपाये रखें। उन लोगोंका कोई प्रश्न नहीं हो सकता जिनका हृदय शुद्ध है और जिनका बाना आध्यात्मिक जीवनके प्रति उनके सर्वांगीण आत्म-दानका महज बाहरी चिह्न है। (माताजी)

जिसे हम सच्चाई कहते हैं, अर्थात्, पूर्ण ईमानदारी और पारदर्शकता: अर्थात् कहीं कोई चीज ऐसी नहीं होनी चाहिये जो झूठा दावा करती हो, अपनेको छिपाती हो अथवा जो कुछ वह नहीं है वैसी स्वीकृत होना चाहती हो।

२९ फरवरी, १९५६

इस दिन शामको, इस वार्त्तालापके बाद होनेवाले ध्यानके समय वह चीज हुई जिसे श्रीमाताजीने "पार्थिव वातावरणमें 'अति-मानसिक ज्योति-शक्ति'की प्रथम अभिव्यक्ति" कहा है।

> "यज्ञके विधानका अभिप्राय वह सार्वजनीन दिव्य कर्म है जो इस सृष्टिके आदिमें 'लोकसंग्रह' के प्रतीकके रूपमें प्रकट हुआ था। इसी विधानके आकर्षणसे एक दिव्यीकारक, रक्षक-शक्ति इस अहंमय और विभक्त सृष्टिकी भूलोंको सीमित और संशोधित तथा उन्हें शनैः-शनैः दूर करनेके लिये अवतरित होती है। यह अवतरण, यह पुरुष या 'भागवत आत्मा'का यज्ञ, — जिसके द्वारा वह अपने-आपको 'शक्ति' और जड़-प्रकृतिके अधीन कर देता है, ताकि वह इन्हें अनुप्राणित और प्रकाशयुक्त कर सके — 'निश्चेतना' और 'अविद्या' के इस संसारकी रक्षाका बीज है। कारण, गीता कहती है: "यज्ञको इन प्रजाओंका साथी बनाकर प्रजापतिने इन्हें उत्पन्न किया।"[1] यज्ञके विधानको स्वीकार करना अहंका इस बातको क्रियात्मक रूपसे अंगीकार करना है कि इस संसारमें वह न तो अकेला है और न मुख्य ही है। यह उसका इस बातको मान लेना है कि, इस अत्यंत खंडित सत्तामें भी, उसके परे और पीछे कोई ऐसी वस्तु है जो उसका अपना

---

[1]'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। गीता ३-१०

> अहंमय व्यक्तित्व नहीं है, कोई ऐसी वस्तु है जो उससे महत्तर और पूर्वतर है, एक विश्वतर सर्वमय सत्ता है जो उससे दासता और सेवाकी मांग करती है।"
>
> ('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० १२३)

प्रिय माताजी, "भगवान्‌के यज्ञ" का क्या मतलब है?

यह आत्मदान है। यह वह शब्द है जिसे गीता आत्मदानके अर्थमें प्रयुक्त करती है।

केवल, यह यज्ञ एक पारस्परिक चीज है, यही बात श्रीअरविन्द प्रारंभमें कह रहे हैं: भगवान्‌ने उस 'जड़-तत्त्व'में — जो अचेतन बन गया था — चैतन्य जगानेके लिये अपने-आपको उसके अंदर अर्पित कर दिया है और वास्तवमें यह यज्ञ ही, भगवान्‌का 'जड़-तत्त्व'के अंदर यह आत्मदान ही, अर्थात् 'जड़-तत्त्व'के अंदर उनका यह बिखर जाना ही भगवान्‌के प्रति 'जड़-तत्त्व'के यज्ञका औचित्य सिद्ध करता है और उसे अपरिहार्य बना देता है; क्योंकि यह पारस्परिकताकी एक ही और वही क्रिया है। चूंकि भगवान्‌ने 'जड़-तत्त्व'के अंदर अपने-आपको उत्सर्ग कर दिया है और उसके अंदर दिव्य चेतनाको जगानेके लिये उसके अंदर सर्वत्र अपने-आपको बिखेर दिया है, इसीलिये 'जड़-तत्त्व' भी अपने-आपको भगवान्‌के प्रति उत्सर्ग करनेके लिये स्वयंमेव बाध्य हो गया है। यह एक प्रकारका पारस्परिक और अन्योन्य यज्ञ है।

और बस यही चीज है जो गीताका महान् रहस्य है: यह इस बातका समर्थन है कि 'जड़-तत्त्व' के एकदम हृदयमें भागवत 'उपस्थिति' है। और, इसी कारण, 'जड़-तत्त्व'को भगवान्‌के प्रति अपने-आपको उत्सर्ग करना होगा, अपने-आप, यहांतक कि अचेतन रूपसे भी — चाहे कोई इसे चाहे या नहीं, बस यही होता है।

केवल, यह जब अचेतन रूपसे किया जाता है तब मनुष्य यज्ञका हर्ष नहीं प्राप्त करता, जब कि सचेतन रूपसे करनेपर मनुष्यको यज्ञका हर्ष प्राप्त होता है जो कि सर्वोच्च हर्ष है।

फ्रेंच भाषामें "sacrifice" (साक्रिफिस—यज्ञ) शब्दका अर्थ थोड़ा अधिक संकीर्ण होता है, मूल संस्कृत शब्दका अर्थ वैसा नहीं होता। क्योंकि फ्रेंचमें "साक्रिफिस" शब्दमें एक प्रकारके दुःख-कष्टका, लगभग संतापका भाव निहित होता है। इसके विपरीत संस्कृतमें यह भाव एकदम नहीं है; यह "आत्म-दान" से मिलता-जुलता है।"

प्यारी माताजी, यहां लिखा है: "सभी एक गुप्त 'एकता'के द्वारा परस्पर जुड़े हुए हैं।"

(वही, पृ० १२४)

यह निगूढ़ 'एकता' क्या चीज है?

यह यथार्थमें दिव्य 'उपस्थिति' है।

चूंकि भगवान् मूलतः एक हैं और फिर भी उन्होंने ऊपरसे देखनेमें सभी सत्ताओंके अंदर अपने-आपको विभक्त कर दिया है, और इस प्रकार मूलभूत 'एकत्व'को पुनः स्पष्ट किया है। और वास्तवमें इस दिव्य 'एकत्व'के कारण ही (जो, बहरहाल, सभी सत्ताओंमें थोड़ा-थोड़ा दिखायी देता है), मूल रूपमें 'ऐक्य' पुनः स्थापित हो गया है। और जब मनुष्य उस एकमेवके विषयमें सचेतन होता है तो उसे इस 'एकत्व'की चेतनाका हर्ष प्राप्त होता है। परंतु जो लोग सचेतन नहीं होते वे चेतनाके इस हर्षको खो देते हैं। परंतु चीज तो बस एक ही होती है।

श्रीअरविन्द कहते हैं: 'एकत्व' विद्यमान है; चाहे तुम इस विषयमें सज्ञान हो या न हो, वह है, इससे उन तथ्योंमें कोई अंतर नहीं पड़ता; परंतु तुम्हारे लिये अंतर पड़ता है: यदि तुम सज्ञान हो तो तुम्हें हर्ष प्राप्त होता है; यदि तुम सज्ञान नहीं हो तो तुम इस हर्षको खो देते हो।

परंतु कोई यदि अचेतन है तो फिर वह यज्ञ कैसे कर सकता है?

वह (यज्ञ) अपने-आप होता है।

चाहे तुम इसे जानो या न जानो, चाहे तुम इसे चाहो या न चाहो, तुम सब भागवत 'उपस्थिति'के साथ संयुक्त हो, जो, यद्यपि ऊपरसे देखनेमें खंडित है, फिर भी 'एक' है। भगवान् 'एक' हैं, वह वस्तुओं और सत्ताओंमें केवल खंडित प्रतीत होते हैं। और चूंकि यह 'ऐक्य' एक तथ्य है, चाहे तुम इसके बारेमें अवगत हो या नहीं, इससे इस तथ्यमें कोई फर्क नहीं पड़ता। और चाहे तुम इसे चाहो या नहीं, तुम समस्त वस्तुओंके बावजूद इस 'ऐक्य'के अधीन होते हो।

यही बात है जिसे मैंने तुम लोगोंको न मालूम कितनी बार समझाया है: तुम समझते हो कि तुम एक-दूसरेसे पृथक् हो, परंतु वही एक 'पदार्थ', बाह्य रूपमें अंतर दिखायी पड़नेके बावजूद, सबके अंदर विद्यमान है; और

एक केंद्रमें उत्पन्न होनेवाला प्रकंपन अपने-आप दूसरेमें भी प्रकंपन जगा देता है।

अतएव, यज्ञमें सुधार लानेके लिये कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिये, कोई प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं है?

मैं तुम्हारे निष्कर्षको बिलकुल नहीं समझी।

यदि तुम दुःखी रहनेमें ही खुश हो तो यह बिलकुल ठीक है, यह तुम्हारा अपना विषय है; यदि तुम दुःखी रहने और कष्ट भोगने तथा जिस अज्ञान और अचेतनतामें हो उसीमें बने रहनेसे संतुष्ट हो तो वैसे ही बने रहो। परंतु तुम यदि इससे संतुष्ट नहीं हो, यदि तुम सचेतन होना चाहते हो और अपने दुःख-कष्टको समाप्त करना चाहते हो तो फिर तुम्हें यज्ञके विषयमें सचेतन होने तथा उसे अचेतन रूपसे करनेके बदले सचेतन रूपसे करनेके लिये सतत प्रयत्न करना होगा।

प्रत्येक वस्तु चेतनाके सचेतन होने या न होनेके तथ्यपर निर्भर करती है। और एकमात्र सर्वोच्च 'चैतन्य'के अंदर ही तुम अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति साधित कर सकते हो।

परंतु यह एक तथ्य है कि 'एकत्व' विद्यमान है, चाहे तुम इसके विपरीत भी अनुभव क्यों न करो, और इस तथ्यके विषयमें तुम कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि यह एक दिव्य तथ्य है — यह एक दिव्य कर्म और एक दिव्य तथ्य है। अगर तुम भगवान्‌के विषयमें सचेतन हो, तुम इस तथ्यके विषयमें भी सचेतन हो जाते हो। यदि तुम भगवान्‌के विषयमें सचेतन नहीं हो, यह तथ्य बना रहता है पर तुम उसके विषयमें सज्ञान नहीं हो — बस, इतना ही।

तो प्रत्येक चीज चेतनाकी क्रियापर निर्भर करती है। और संसार अंधकार, यंत्रणा, दुःख-दैन्य आदिकी स्थितिमें है... प्रत्येक चीज, प्रत्येक चीज जो यहां है, इसका कारण बस यह है कि यह भगवान्‌के विषयमें अवगत नहीं है; क्योंकि इसने अपनी चेतनाके साथका संबंध काट दिया है, क्योंकि इसकी चेतना भगवान्‌से पृथक् हो गयी है। कहनेका तात्पर्य, यह संसार अचेतन बन गया है।

कारण, सच्ची चेतना दिव्य 'चेतना' है। यदि तुम दिव्य 'चेतना'से अपनेको अलग कर लेते हो तो तुम बिलकुल अचेतन बन जाते हो; ठीक-ठीक यही चीज है जो हुई है। और इसलिये, प्रत्येक चीज जो यहां है, संसार जैसा कि यह है, तुम्हारी चेतना जैसी कि वह है, वस्तुएं जिस

स्थितिमें वे हैं, ये सब इस पृथक्ता और चेतनाका, इस प्रत्यक्ष धूमिलता-का परिणाम हैं।

जिस क्षण व्यक्तिगत चेतना दिव्य 'चेतना'से पृथक् हो जाती है, वह जिसे हम निश्चेतना कहते हैं उसमें प्रविष्ट हो जाती है, और यही निश्चेतना वह चीज है जो उसकी सभी विपत्तियोंका कारण है।

परंतु जो कुछ है वह सब मूलतः दिव्य है, और दिव्य 'एकत्व' एक तथ्य है, तुम उसे रोक नहीं सकते; तुम्हारी सारी अचेतनता और तुम्हारी सारी अस्वीकृतियां उसमें कोई परिवर्तन नहीं ला सकतीं — यह एक तथ्य है, यह बस ऐसा ही है।

और निष्कर्ष यह है कि सच्चा रूपांतर चेतनाका रूपांतर है — बाकी सब चीजें उसके बाद अपने-आप आयेंगी।

बस, यही बात है।

प्यारी माताजी, हमारे अंदर कौन-सा भाग पूर्ण त्यागका विरोध करता है?

यह तो ऐसी बात है मानों तुम यह पूछो: "हमारे अंदर कौन-सी चीज अचेतन है?" परंतु वास्तवमें, प्रत्येक चीज अचेतन है, सिवा भगवान्‌के। और जब मनुष्य भगवान्‌के साथ युक्त हो जाता है केवल तभी उसकी सत्तामें सच्ची चेतना पुनः स्थापित होती है। बाकी चीजें तो अर्ध-चेतना और अर्ध-चेतनाके मिश्रणके जैसी चीज हैं।

और कोई बात? नहीं?

(एक शिष्यकी ओर मुड़कर) ओह! यह कुछ कहना चाहता है!

माताजी, यहां एक बहुत सुन्दर वाक्य है!

आह! केवल एक ही?

"प्रत्येक सत्ता विवश होकर अपने भंडारमेंसे लगातार कुछ-न-कुछ वितरण कर रही है..." और श्रीअरविंद फिर यह कहते हैं: "और, फिर वह अपनी ऐच्छिक या अनैच्छिक भेंटके बदलेमें अपने परिपार्श्वसे सदैव कुछ-न-कुछ प्राप्त भी करती है।"

(वही, पृ० १२४)

हां, यही बात है जिसे मैं अभी कह रही थी। और फिर?

मनुष्य अपने परिपार्श्वसे ग्रहण करता है या केवल भगवान्‌से?

ओह! दोनोंसे।

कारण यहां यह कहा गया है: "वह अपने परिपार्श्वसे ग्रहण करता है।"

हां! कारण श्रीअरविंद कहते हैं कि जड़-तत्त्वमें ऐक्य है, अभिव्यक्तिमें ऐक्य है, सार-तत्त्वमें ऐक्य है, और अनिवार्य रूपसे यहां एक प्रकारका आदान-प्रदान चलता है।

वास्तवमें यही बात है जिसे हमने पचास हजार बारसे भी अधिक कहा है: वह यह कि सब कुछ भगवान् है और परिणामस्वरूप सब कुछ 'एकमेव' है; केवल तुम्हारी चेतना ही पृथक् है और अचेतनताकी स्थितिमें है क्योंकि यह पृथक् है; परंतु यदि इस अचेतनताको और पृथक्ताके इस बोधको दूर हटा दो, तुम दिव्य बन जाओगे।

परंतु साधारण जीवनमें, अपने परिपार्श्वके अंदर, मनुष्य जो कुछ ग्रहण करता है वह सर्वदा वही नहीं होता जो वह देता है।

आह! परंतु तुम्हें इतने छिछले तौरपर चीजोंको नहीं समझना चाहिये।

(दूसरा शिष्य): **क्या निश्चेतना सचेतन होनेकी अभीप्सा करती है?**

नहीं। निश्चेतनामें विद्यमान भगवान् चेतनामें विद्यमान भगवान्‌से अभीप्सा करते हैं। कहनेका तात्पर्य, भगवान्‌के बिना वहां कोई अभीप्सा नहीं हो सकती; निश्चेतनामें प्रच्छन्न चेतनाके बिना, निश्चेतनाको चेतनामें परिवर्तित करनेकी कोई संभावना नहीं हो सकती। परंतु निश्चेतनाके एकदम हृदयमें दिव्य 'चेतना' विद्यमान है इसी कारण तुम अभीप्सा करते हो और अनिवार्य रूपसे — यही बात है जिसे वह कह रहे हैं — अपने-आप, यंत्रवत् यज्ञ होता है। और यही कारण है कि जब कोई कहता है: "वास्तवमें अभीप्सा तुम नहीं करते, बल्कि भगवान् करते हैं, यथार्थतः

तुम प्रगति नहीं करते, भगवान् प्रगति करते हैं, वास्तवमें तुम सचेतन नहीं होते, स्वयं भगवान् सचेतन होते हैं"— ये महज शब्द नहीं हैं, यह एक तथ्य है। केवल तुम्हारा अज्ञान और तुम्हारी अचेतनता ही तुम्हें इसे अनुभव करनेसे रोकते हैं।

(इसके बाद ध्यान हुआ जिसमें 'अतिमानसिक ज्योति-शक्ति' प्रथम बार अभिव्यक्त हुई।)

७ मार्च, १९५६

प्रिय माताजी, यज्ञका वह कौन-सा रूप है जिसमें वेदीके ऊपर पशुओंका वध किया जाता है?

निश्चय ही यह एक अत्यंत अंधकारपूर्ण और अत्यंत चेतनाहीन कार्य है। जिस यज्ञकी बात यहां कही गयी है और जो गीतामें है, वह ऐसा यज्ञ है जिसमें मनुष्य स्वयं अपना बलिदान करता है, न कि दूसरोंका।

क्योंकि यहां लिखा है: "पात्र चाहे जो हो, हवि चाहे जो कुछ हो, जो हविको ग्रहण करता और उसे स्वीकार करता है वह 'परात्पर' और विश्वव्यापी 'सनातन देव' ही होता है।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध पृ० १२७)

सौभाग्यवश उस गरीब जानवरके लिये जिसे बलि चढ़ाया जाता है! शायद वह सीधा भगवान्के पास पहुंच जाता है।

इसपर विचार करना बड़ा दिलचस्प मालूम होगा... । एक ऐसे मनुष्यकी कल्पना करो जो भगवान्की, अथवा किसी एक देवता या देवी-की कृपा-दृष्टि पाना चाहता है ताकि वह कोई ऐसी वस्तु पा ले जो बहुत ज्यादा अहंभावके साथ व्यक्तिगत हो, ऐसी चीज पा ले जिसे वह चाहता है और जिसे पाना वह कठिन अनुभव करता है; और इसलिये वह अपने पशुओंके बाड़ेसे एक मुर्गीके बच्चेको पकड़ लेता है और ले जाकर देवीके सामने उसका गला काट देता है और उसके साथ-साथ, संभवत: अच्छी पैदावारके लिये या अपनी पैदावारकी अच्छी बिक्रीके लिये

अथवा यदि उसे संतान न हो तो संतान पानेके लिये अथवा अपनी स्त्रीको बीमारीसे नीरोग कर देनेके लिये — किसी भी ऐसी चीजके लिये प्रार्थना करता है। और फिर कल्पना करो कि विकसनशील यह चैत्य कण, जो अभी एक अर्ध-चेतन (अभी अर्ध-चेतन भी नहीं) नन्हीं-सी चिनगारीके जैसी है, चेतनाका यह मूल-तत्त्व जो कि उस चूजेमें है, सीधा भगवान्‌के पास पहुंच जाता है जो उसे बड़ा बना देते हैं; जब कि उस मनुष्यकी प्रार्थना सुनी भी नहीं जाती जिसने कोई-न-कोई लाभ प्राप्त करनेके लिये उस चूजेको अर्पित किया था।

संभवतः अधिकतर बस यही चीज होती है। अतएव इस व्यापारमें जो वास्तवमें लाभान्वित होता है वह है मुर्गीका बच्चा, न कि वह मनुष्य !

प्यारी माताजी, ऐसे लोग भी होते हैं जो विरोधी शक्तियोंको बलि चढ़ाते और उनकी पूजा करते हैं। क्या इन्हें भी भगवान् ग्रहण करते हैं?

तुम्हारा मतलब क्या उन बलियोंसे है जिनकी चर्चा मैंने अभी की है, जिनमें लोग एकदम व्यक्तिगत लाभोंके लिये किसी चीजकी पूजा चढ़ाते हैं?

नहीं, मेरा मतलब उन लोगोंसे है जो विरोधी शक्तियोंको बलि चढ़ाते हैं।

विरोधी शक्तियोंको? पर वे यह नहीं जानते कि वे विरोधी हैं! अथवा, जैसा कि लोग करते हैं, उदाहरणार्थ, जब हैजेके देवताके चारों ओर, अथवा चेचकके देवताके चारों ओर परिक्रमा करते हैं: गीत गाते हुए और ढोल बजाते हुए परिक्रमा की जाती है और सभी प्रकारकी चीजें उस पूजामें चढ़ायी जाती हैं। यह उसे संतुष्ट करनेके लिये किया जाता है ताकि वह बहुत अधिक लोगोंको न मार डाले।

सबसे पहले मनुष्यको यह दृढ़ विश्वास हो जाना चाहिये कि इस देवताका अस्तित्व है, यह कोई मात्र पुतली नहीं है जो यहां अपनी वेदीपर बैठी हुई है।

जो हो, इस प्रकारके दृष्टांतोंमें, मैं समझती हूं कि सबसे बढ़कर लोगोंका विश्वास ही है जो उनकी रक्षा करता है। जब वे अपना छोटा-सा अनुष्ठान समुचित रूपसे संपन्न कर चुकते हैं तो उन्हें पूरा

विश्वास हो जाता है कि "ओह! अब यह समाप्त हो जायगा, क्योंकि वह संतुष्ट है।" और, चूंकि उनमें दृढ़ विश्वास होता है, वह उन्हें प्रतिक्रिया करनेमें सहायक होता है और व्याधि विलीन हो जाती है। मैंने यह चीज सड़कोंपर बहुत बार देखी है। संभव है वहां कोई छोटी-सी विरोधी सत्ता हो, परंतु ये बहुत महत्त्वहीन चीजें हैं।

अन्य उदाहरणोंमें, किन्हीं मंदिरोंमें प्राणिक सत्ताएं हैं जो कम या अधिक शक्तिशाली हैं और जिन्होंने वहां अपना घर बना लिया है।

परंतु यहां श्रीअरविंदका जो मतलब है वह यह है कि ऐसी कोई चीज नहीं, यहांतक कि अत्यंत भगवद्विरोधी शक्ति भी नहीं, जो अपने मूलमें परात्पर भगवान् न हो। सो, अनिवार्य रूपसे, प्रत्येक वस्तु सचेतन या अचेतन रूपसे, उन्हींके पास वापस जाती है। जो व्यक्ति पूजा देता है उसकी चेतनामें वह चीज भगवान्के पास नहीं जाती: वह अधिक या कम बड़े दैत्यके पास जाती है जिसे वह संबोधित करता है। परंतु प्रत्येक वस्तुके द्वारा, मूर्तिके काठके द्वारा, यहांतक कि प्राणमय विरोधी सत्ताकी दुर्भावनाके भी द्वारा, अंतमें, सब कुछ भगवान्के पास वापस चला जाता है, क्योंकि सब कुछ वहींसे आता है। केवल, जिस व्यक्तिने पूजा दी या यज्ञ किया है, वह केवल अपनी निजी चेतना तथा अपनी मांगी हुई वस्तुके अनुपातमें ही ग्रहण करता है। अतएव हम यह कह सकते हैं कि सैद्धांतिक रूपमें वह भगवान्के पास वापस जाता है, पर प्रत्युत्तर आता है उस सत्तासे जिसे उसने संबोधित किया है, न कि परात्पर स्रोतसे, क्योंकि वह उसके संपर्कमें नहीं था, मनुष्यका संपर्क केवल अगले स्तर, अगले मध्यवर्ती स्तरके साथ होता है, उच्चतर स्तरके साथ नहीं।

यह बिलकुल निश्चित है कि यदि यह क्रिया एकदम अचेतन है तो परिणाम भी बिलकुल अचेतन ही होगा; और अगर क्रिया पूर्णतः अहंकार-पूर्ण है तो परिणाम भी पूर्णतः अहंकारपूर्ण होगा। यह बात ठीक उस कहानीके जैसी है जो मैंने एक शुक्रवारको तुम लोगोंके सामने पढ़ी थी, श्रीअरविंदकी लिखी पहली कहानी[1] जिसमें उन्होंने कर्मकी व्याख्या की है और कहा है कि अशुभका फल अशुभ होता है और शुभका फल शुभ। अशुभसे अशुभ पैदा होता है और शुभसे शुभ पैदा होता है, यही है कर्म; यह कोई दंड या पुरस्कार नहीं है, यह अपने-आप होने-

---

[1] यहां 'स्वप्न' शीर्षक कहानीकी ओर संकेत है जो मूलतः बंगलामें लिखी गयी थी।

वाली चीज है। हां, यदि तुम्हारा यज्ञ अहंकारपूर्ण और तिमिराच्छन्न यज्ञ होता है तो उसका फल अवश्यमेव अंधकाराच्छन्न और अहंकारपूर्ण होगा।

> **प्यारी माताजी, यहां लिखा है: "यज्ञके विषयमें एक असंस्कृत विचार यह है कि यह कष्टमय आत्म-बलिदान, कठोर आत्म-पीड़न तथा कृच्छ्र आत्मोच्छेदका कार्य है।... परंतु गीता अपने प्रति किसी मात्रामें भी अधिक उग्रताके प्रयोगको मना करती है। क्योंकि अंतःस्थित आत्मा वास्तवमें विकसनशील परमेश्वर ही है, वह कृष्ण है, वह भगवान् है। उसे उस प्रकार पीड़ा और यंत्रणा नहीं पहुंचानी है जिस प्रकार संसारके असुर उसे पीड़ा और यंत्रणा पहुंचाते हैं, बल्कि उसे उत्तरोत्तर संवर्धित, पालित-पोषित और दिव्य प्रकाश, बल, हर्ष और ज्वलंत रूपसे उद्घाटित करना है।"**
>
> (वही, पृ० १२६)

> **मनुष्य "ज्वलंत रूपसे" किस प्रकार उद्घाटित हो सकता है?**

यदि तुम चाहो तो "ज्वलंत रूपसे" पदके स्थानपर "सच्चाईके साथ" अथवा "पारदर्शक रूपसे" पद रख सकते हो, किसी ऐसी चीजकी तरह जो अपारदर्शक न हो या विकृत न करती हो; कोई स्वच्छ, पारदर्शक वस्तु हो जो कोई क्लेश न देती हो।

तुम एक जंगलेका रूपक ले सकते हो जो प्रकाशकी ओर खुला है। यदि तुम्हारे जंगलेमें काले किये हुए या धुंधले अपारदर्शक शीशे लगे हैं तो जो कुछ उनके भीतरसे होकर आता है वह स्वभावतः धुंधला और अपारदर्शक हो जाता है और बहुत कम ही उसके भीतरसे आता है। और यदि वे बिलकुल पारदर्शक शीशे हों तो उनके भीतरसे चमकीला प्रकाश ही आता है। अथवा, यदि तुम्हारे शीशे रंगीन हों तो जब प्रकाश तुम्हारे पास पहुंचता है वह किसी-न-किसी रूपमें रंग जाता है। परंतु वे यदि पूर्ण रूपसे निर्मल और उज्ज्वल हों तो उनके भीतरसे शुद्ध और उज्ज्वल प्रकाश ही आता है।

> **माताजी, गीता यज्ञके यथार्थ सार-तत्त्वकी बात कहती है और श्रीअरविंद कहते हैं: "इसकी विधि आत्म-दमन नहीं, महत्तर**

जीवन है; आत्म-पंगूकरण नहीं, बल्कि अपने प्राकृतिक मानवीय अंगोंका दिव्य अंगोंमें रूपांतर है . . .।"

(वही, पृ० १२६)

क्या हम भौतिक रूपांतरके लिये अभीप्सा नहीं करते ?

जब श्रीअरविंद "पूर्ण रूपांतर"की चर्चा करते हैं तो वह स्वभावतः, भौतिक रूपांतरकी बात कहते हैं। परंतु गीता पूर्ण रूपांतरकी बात नहीं कहती (मैं ऐसा नहीं समझती)। कारण, गीतामें, भौतिक रूपांतरकी भावना विद्यमान नहीं है। जैसा कि उस दिन मैं तुम लोगोंको समझा रही थी, यह संसार वैसा ही है जैसा कि यह है, और तुम्हें बस इसे उसी रूपमें लेना होगा जैसा कि यह है और यह जो कुछ है उससे प्रभावित नहीं होना होगा। क्योंकि तुम एक उच्चतर चेतनामें प्रवेश कर जाते हो, तुम बाहरी रूपोंसे अपनेको मुक्त कर लेते हो, पर वे वैसे ही बने रहते हैं जैसे वे हैं। निश्चय ही वहां (गीतामें) स्वभावके बदलनेकी कुछ, बहुत अधिक नहीं, चर्चा है, पर वहां भौतिक जगत्को बदलनेका कोई प्रश्न नहीं है।

प्यारी माताजी, मैंने यह बात नहीं समझी : "आत्माके आंतरिक रिपुओंको . . . बलि शब्दके कठोरतर अर्थमें बलि चढ़ा देनी होगी, भले ही ये जाते समय अपनी प्रतिच्छायाद्वारा जिज्ञासुकी चेतनापर कैसा भी दुःख क्यों न डाल जायं।"

(वही, पृ० १२६)

नहीं समझे? ऐसा कभी तुम्हारे साथ नहीं हुआ? कभी नहीं? जब, उदाहरणार्थ, तुम्हारे अंदर एक ऐसी वृत्ति होती है जिसे तुम पसंद नहीं करते (क्रोध या घृणाकी वृत्ति, वैसी सभी प्रकारकी चीजें, अथवा कोई असच्चाई या अन्य कोई चीज जो तुम्हें पसंद नहीं), जब तुम उसका त्याग करते हो, अपने अंदरसे बाहर फेंक देते हो, जब उसे अपने अंदर न रखनेका प्रयत्न करते हो तो वह तुम्हें चोट पहुंचाती है, पहुंचाती है न? उससे तुम्हें दर्द होता है, ऐसा लगता है मानों कोई वस्तु खींचकर बाहर निकाली जा रही हो। हां, बस, इसी दर्दके विषयमें वह कह रहे हैं; वह कहते हैं कि जिस बुरी चीजको तुम अपने अंदरसे निकाल फेंकते हो वही, जाते-जाते, बिदाईके समयकी भेंटके रूपमें, एक हल्की-सी नन्हीं चोट तुम्हें देती है। बस, यही बात कह रहे हैं।

कारण, मनुष्य सर्वदा इस भ्रममें रहता है कि दर्द स्वयं उसका अपना होता है। यह सच नहीं है। दर्द ऐसी चीज है जो तुमपर डाली जाती है। वही घटना, अपने समस्त ब्योरेमें, ठीक-ठीक एक ही ढंगसे, तुम्हारे ऊपर पीड़ाकी कोई छाया डाले बिना, घट सकती है; इसके विपरीत, कभी-कभी वह तुम्हें उल्लासपूर्ण हर्षसे भर सकती है। और फिर भी वह यथार्थमें ठीक वही चीज होती है। परंतु एक हालतमें मनुष्य विरोधी शक्तियोंकी ओर खुला होता है जिनका वह त्याग करना चाहता है और दूसरीमें, वह नहीं खुला होता, वह पहले ही उनसे बहुत अधिक दूर होता है और अब उनसे प्रभावित नहीं होता, और इसलिये, जिस अभावात्मक पक्षका वे प्रतिनिधित्व करते हैं उसे अनुभव करनेके बदले वह केवल भावात्मक पक्षका अनुभव करता है जिसका प्रतिनिधित्व भगवान् करते हैं। भागवत कृपा ही तुम्हें आगे बढ़ाती है और भागवत कृपासे ही मनुष्य दिव्य आनंदका अनुभव करता है। परंतु जो भगवत्कृपा मनुष्यको आगे बढ़ाती है उसके साथ तादात्म्य स्थापित करनेके बदले वह उस कुत्सित वस्तुके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है जिससे वह छुटकारा पाना चाहता है; और इसलिये, स्वभावतः, वह ऐसा अनुभव करता और दुःख पाता है।

यह एक ऐसा परीक्षण है जिसे तुम कर सकते हो, यदि तुम बस, थोड़े-से सचेतन होओ। तुम्हारे अंदर कोई वस्तु है जिसे तुम नहीं चाहते, कोई बुरी चीज — किसी-न-किसी कारणवश तुम उसे नहीं चाहते, तुम उसे बाहर निकाल देना चाहते हो — हां, यदि तुम उस वस्तुके साथ थोड़ा-सा भी तादात्म्य स्थापित करते हो, तुम निकाल बाहर करनेका कष्ट अनुभव करते हो; यदि, इसके विपरीत, तुम दिव्य शक्तिके साथ एकात्म होते हो जो तुम्हें मुक्त करने आती है, तुम भगवत्कृपाका आनन्द अनुभव करते हो — और तुमने जो प्रगति कर ली है उसका परमोल्लास अनुभव करते हो।

और यह तुम्हारे लिये इस बातका सुनिश्चित चिह्न, एक निस्संदिग्ध संकेत है कि तुम किस वस्तुके साथ एकात्म हो। यदि तुम नीचेसे आनेवाली शक्तियोंके साथ एकात्म होते हो तो तुम दुःख-क्लेश भोगते हो; यदि तुम ऊपरसे आनेवाली शक्तियोंके साथ एकात्म होते हो तो सुखी रहते हो। और मैं यहां उल्लासकी बात नहीं कहती; तुम्हें यह नहीं समझना चाहिये कि जब कोई कूदता-फांदता है, नाचता है, चिल्लाता और मौज करता है तो वह दिव्य शक्तियोंके साथ एकात्म होता है (वह हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता)। मैं इस चीजकी चर्चा नहीं कर रही हूं। मैं दिव्य आनंदकी, आंतरिक आनंदकी चर्चा कर रही हूं जो विशुद्ध होता है।

जब-जब कोई छाया गुजरे और उसके तुम्हारी सत्तामें प्रकट होते ही एक जरा-सी बेचैनी या तीव्र पीड़ा या असह्य वेदनाका पूरा सरगम अनुभव होने लगे तो तुम अपने-आपसे कह सकते हो: "आह! निस्संदेह शत्रु विद्यमान है!" किसी-न-किसी रूपमें।

प्यारी माताजी, उस व्यक्तिको क्या अनुभव होता है जो अपने-आपको भगवान्‌के चरणोंमें पूरी तरह समर्पित कर चुका है?

परंतु... इसे करो, मेरे बच्चे, तुम समझ जाओगे! वह प्रत्येक व्यक्तिके लिये एक जैसा नहीं होता।

श्रीमाताजी, "प्रयोजन... उस प्रयोजनकी मूल भावना"[1], का क्या अर्थ है, क्या वे दोनों एक ही चीज नहीं हैं?

क्या?

प्रयोजन...।

हां, मैं जानती हूं।

...और उसके पीछेकी भावना।

मेरे लिये यह दिनकी तरह स्पष्ट है। मैं तुम्हारा प्रश्न नहीं समझी। प्रयोजन और प्रयोजनकी भावनामें क्या अंतर है?

जो भावना उसके पीछे है।

क्या सभी चीजोंके पीछे एक भावना नहीं है? नहीं?

सर्वदा ही उनके पीछे एक भावना होती है।

---

[1]"कर्मोंकि यज्ञका फल भी कर्म और उसके प्रयोजनके अनुसार एवं उस प्रयोजनकी मूल भावनाके अनुसार भिन्न-भिन्न होता है।" (वही, पृ० ११८)

ठीक है, हां, बस यही बात है जो वह कह रहे हैं, और कुछ नहीं, कि तुम्हें यह जानना चाहिये कि किस प्रकारकी भावना तुम्हारे प्रयोजनके पीछे विद्यमान है।

वह कहते हैं कि परिणाम भिन्न प्रकारका होता है।

स्वभावतः! जिस भावनाके साथ तुम कार्य करते हो उसके अनुसार परिणाम भिन्न प्रकारका होता है

परंतु क्या प्रयोजन और भावना एक ही वस्तु नहीं हैं?

तुम मुझसे क्या कहलवाना चाहते हो? यदि उन दोनोंके बीचका अंतर तुम नहीं समझते तो मैं उसे तुमको नहीं समझा सकती।

सब समय शक्तियां क्रियाशील रहती हैं जो लोगोंको गतिशील बनाती हैं, उन्हें चलाती हैं। व्यक्ति-सत्ताके अंदर यही चीज यथार्थ प्रयोजनोंके रूपमें अनूदित होती है; परंतु प्रयोजनके पीछे एक कार्य करनेवाली शक्ति विद्यमान रहती है जो व्यक्तिगत नहीं होती।

समझते हो?

हां।

आह!

मैं समझती हूं कि बातें समझनेमें सबसे बड़ी कठिनाइयां इस मनमाने सरलीकरणसे आती हैं जो कि आत्माको एक ओर और जड़-तत्त्वको दूसरी ओर रख देता है। इसी मूर्खताके कारण मनुष्य कुछ नहीं समझता। बस आत्मा है और जड़तत्त्व है — यह निस्संदेह बहुत सुविधाजनक है। तो, यदि कोई आत्मासे संबंध नहीं रखता तो वह जड़-तत्त्वसे संबंध रखता है; यदि कोई जड़-तत्त्वसे संबंध नहीं रखता तो वह आत्मासे संबंध रखता है। परंतु तुम किसे आत्मा और किसे जड़-तत्त्व कहते हो? यह वस्तुओं-का एक झुंड है, जिसे गिना नहीं जा सकता, एक सीढ़ी है जिसका अंत नहीं है। यह विश्व मानों विभिन्न जगतों तथा चेतनाकी स्थितियोंकी एक अनंत क्रम-परंपरा है और वर्द्धमान सूक्ष्मताकी उस क्रम-धारामें, कहां तुम्हारा जड़-तत्त्व समाप्त होता है? कहां तुम्हारी आत्मा आरंभ होती है? तुम "आत्मा"की बात कहते हो — कहां यह आत्मा आरंभ होती है?

वहांसे जहां तुम नहीं देखते? क्या वह वही चीज है? अतएव तुम, उदाहरणार्थ, प्राण-जगत्‌की सभी सत्ताओंको "आत्मा"के अंदर शामिल कर देते हो, क्योंकि तुम उन्हें अपनी स्वाभाविक स्थितिमें नहीं देखते — यह सब "आत्मा' है — और वे सचमुच तुम्हारे प्रयोजनके पीछे विद्यमान आत्मा हो सकती हैं — और उसका बहुत मूल्य नहीं है! बस, यही बात है।

यह ठीक उन लोगोंकी तरह है जो कहते हैं: "जब तुम जीते हो तब तुम जड़-तत्त्वमें रहते हो; जब तुम मर जाते हो, तुम आत्मामें चले जाते हो। बस, यही बात है। तब आत्माको जड़-तत्त्वसे मुक्त करो, मर जाओ, और तुम्हारी आत्मा जड़-तत्त्वसे मुक्त हो जायेगी।" बस, ये ही मूर्खताएं हैं जो तुम्हारे समझनेमें बाधा देती हैं। परंतु यह सब जैसा कि जगत् है उससे मेल नहीं खाता।

मानव-चेतनाके लिये जैसी कि वह है, निस्संदेह, दृश्य वस्तुओंसे अनंत-गुनी अधिक अदृश्य वस्तुएं हैं। जो चीजें तुम्हारे लिये दृश्य हैं और जिनके बारेमें तुम सचेतन हो, उनके विषयमें तुम जो कुछ जानते हो वह लगभग स्वयं नारंगीके मुकाबले नारंगीके छिलकेके जैसा है — और उससे भी अधिक, उस नारंगीके मुकाबले जिसका छिलका बहुत बारीक होता है, मोटे छिलकेवालीके मुकाबले नहीं! और इसलिये, यदि तुम नारंगीका केवल छिलका ही जानते हो तो तुम नारंगीके विषयमें कुछ नहीं जानते।

और कम या अधिक बस यही होता है। विश्वके विषयमें तुम जो कुछ जानते हो वह सब एक पतली ऊपरी पपड़ी होता है — और इसे भी तुम अपर्याप्त रूपमें ही जानते हो। परंतु बस इतना ही तुम उसके संबंधमें जानते हो, और बाकी सब तुमसे बच निकलता है।

१४ मार्च, १९५६

> **"इस योगका अभ्यास एकमात्र केंद्रीय मोक्षदायक ज्ञानके सतत स्मरणकी अपेक्षा रखता है।...सबमें एक ही आत्मा है, एकमेव भगवान् ही सब कुछ हैं; सब भगवान्‌में हैं, सब भगवान् हैं**

और विश्वमें भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, — यह विचार या यह श्रद्धा तबतक कर्मीकी चेतनाकी संपूर्ण पीठिका रहती है जबतक कि यह उसकी चेतनाका सार-सर्वस्व ही नहीं बन जाती। इस प्रकारके स्मरणको अर्थात् अपने-आपको क्रियाशील बनानेवाले इस प्रकारके ध्यानको उस तत्के — जिसका हम इतने शक्तिशाली रूपसे स्मरण करते हैं अथवा इतने अनवरत रूपसे ध्यान करते हैं, — प्रगाढ़ और निर्बाध संदर्शन तथा सजीव और सर्वस्पर्शी ज्ञानमें बदल जाना चाहिये और निश्चय ही अंतमें यह इसमें बदल भी जाता है।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० १३०-१३१)

प्यारी माताजी, "अपने-आपको क्रियाशील बनानेवाले ध्यान" से श्रीअरविंदका क्या मतलब है?

यह एक ऐसा ध्यान है जिसमें तुम्हारी सत्ताको रूपांतरित करनेकी शक्ति होती है। यह एक ऐसा ध्यान है जो तुम्हें आगे बढ़ाता है, यह उस निश्चल-निष्क्रिय ध्यानके विपरीत है जो गतिहीन और अपेक्षाकृत जड़ होता है और जो न तो तुम्हारी चेतनामें किसी चीजको परिवर्तित करता है, और न तुम्हारी जीवन-पद्धतिमें। सक्रिय ध्यान रूपांतर सिद्ध करनेका ध्यान होता है।

साधारणतया लोग सक्रिय ध्यानका अभ्यास नहीं करते। जब वे ध्यानमें (अथवा कम-से-कम जिसे वे "ध्यान" कहते हैं) प्रवेश करते हैं, वे एक प्रकारकी निश्चलतामें घुस जाते हैं जहां कुछ भी हिलता-डुलता नहीं — और वे उसमेंसे ठीक वैसे ही बाहर निकलते हैं जैसे प्रवेश करते समय होते हैं; और न तो उनकी सत्तामें, और न उनकी चेतनामें ही कोई परिवर्तन होता है। और वह ध्यान जितना ही अधिक गतिहीन होता है वे उतना ही अधिक प्रसन्न होते हैं। वे इस प्रकार शाश्वत कालतक ध्यान कर सकते हैं, पर इससे न तो विश्वमें और न उनके अंदर कभी कोई परिवर्तन आयेगा। यही कारण है कि श्रीअरविंद सक्रिय ध्यानकी बात कह रहे हैं जो इसके एकदम विपरीत है। यह रूपांतर लानेवाला ध्यान है।

इसे कैसे किया जाता है? क्या इसे किसी भिन्न तरीकेसे किया जाता है?

मैं समझती हूं कि अभीप्सा भिन्न प्रकारकी होनी चाहिये, मनोभाव भिन्न प्रकारका होना चाहिये। "भिन्न तरीका", "तरीका"से तुम्हारा क्या मतलब है? — (हंसी) बैठनेका तरीका? . . . वह नहीं? आंतरिक मनोभाव?

हां।

परंतु हर एकके लिये यह भिन्न होता है।

मैं समझती हूं कि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है यह जानना कि हम क्यों ध्यान करते हैं। बस, यही चीज है जो ध्यानको उसकी विशेषता प्रदान करती है, जो उसे इस या उस प्रकारका बनाती है।

तुम दिव्य शक्तिकी ओर उद्घाटित होनेके लिये ध्यान कर सकते हो, तुम साधारण चेतनाका त्याग करनेके लिये ध्यान कर सकते हो, तुम अपनी सत्ताकी गहराईमें पैठनेके लिये ध्यान कर सकते हो, तुम यह जाननेके लिये ध्यान कर सकते हो कि तुम अपने-आपको सर्वांगपूर्ण रूपसे कैसे दे सकते हो; तुम सभी प्रकारकी चीजोंके लिये ध्यान कर सकते हो। तुम शांति और स्थिरता और निश्चल-नीरवतामें प्रवेश करनेके लिये ध्यान कर सकते हो (लोग साधारणतया यही करते हैं, पर अधिक सफलता पाये बिना)। परंतु तुम रूपांतर साधित करनेकी 'शक्ति' पानेके लिये, जिन सब स्थलोंको रूपांतरित करनेकी आवश्यकता है उनका पता लगानेके लिये, प्रगतिकी धाराका पता लगानेके लिये भी ध्यान कर सकते हो। और फिर, तुम बहुत व्यावहारिक कारणोंसे भी ध्यान कर सकते हो: जब कोई कठिनाई दूर करनी हो, कोई समाधान पाना हो, जब तुम किसी-न-किसी कार्यमें सहायता चाहते हो, तुम उस सबके लिये भी ध्यान कर सकते हो।

मैं समझती हूं प्रत्येक व्यक्तिकी ध्यान करनेकी अपनी निजी पद्धति होती है। परंतु कोई यदि अपने ध्यानको सक्रिय बनाना चाहता हो तो उसमें प्रगति करनेकी अभीप्सा अवश्य होनी चाहिये और प्रगतिकी इस अभीप्सामें सहायता करने तथा उसे चरितार्थ करनेके लिये उसे ध्यान करना चाहिये। तब वह सक्रिय बन जाता है।

प्रिय माताजी, यहां श्रीअरविंद लिखते हैं: "यह कोई महत्त्वकी बात नहीं कि हवि किस वस्तुकी है और उसे हम किसकी भेंट चढ़ाते हैं . . ." और फिर: "भेंट करते समय ऐसी चेतना

होनी चाहिये कि सब सत्ताओंमें विद्यमान एकमेव दिव्य परम सत्ताको ही हम यह वस्तु भेंट कर रहे हैं।"

(वही, पृ० १२८-१२९)

ये दो वाक्य परस्पर विरोधी हैं, हैं न?

नहीं, मेरे बच्चे। इसका यह कारण है कि तुम वाक्यके भावको नहीं समझ रहे हो। इसका अर्थ है: इस बातका कोई महत्त्व नहीं कि तुम कौन-सी चीज अर्पित करते हो और उसे किसको देते हो, बशर्ते कि वह अर्पण भगवान्‌के प्रति उत्सर्गके रूपमें किया जाय।

बस, यही चीज है जो मैं सर्वदा लोगोंसे दूसरे शब्दोंमें कहती हूं: जो कोई कार्य करो — चाहे तुम किसी आफिसमें जाओ और हिसाब-किताब रखो, मोटरगाड़ी चलाओ, कुछ भी करो — जो भी कार्य करो, और स्वभावतः चाहे किसी भी व्यक्तिके लिये करो, वह कार्य भगवान्‌को अर्पित होना चाहिये। उसे करते हुए तुम्हें भगवान्‌को स्मरण करते रहना चाहिये और उसे भगवान्‌के प्रति अपने आत्मार्पणकी अभिव्यक्तिके रूपमें करना चाहिये। बस, यही बात श्रीअरविंद यहां कह रहे हैं, अन्य कोई बात नहीं।

प्यारी माताजी, आपसे पूछनेके लिये मेरे पास एक प्रश्न है, पर यह मेरा अपना प्रश्न नहीं, किसी दूसरे व्यक्तिका है।

आह! देखें, क्या प्रश्न है?

क्यों? क्या वह व्यक्ति यहां नहीं है?... या वह बोलनेसे डरता है! बहुत अच्छा, अपना प्रश्न पूछो।

ऐसा प्रायः ही कहा जाता है या भविष्यवाणी की जाती है कि २, ३, ४, ५, ६ (२३ अप्रैल, ५६) संख्याओंका आश्रमके लिये एक विशेष महत्त्व होगा। क्या यह सच है?

यदि तुम चाहो, मैं इसका उत्तर मजाकके साथ दे सकती हूं। आज-कल कलैंडरको बदलनेकी चर्चा चल रही है; यदि यह बदल दिया जायगा तो ये संख्याएं बदल जायंगी और तब सारी कहानी ही समाप्त हो जायगी, काफूर हो जायगी!

यह एक रूढ़ि है, है न?

स्पष्ट ही, यदि रूढ़िको सामान्य नियम बना दिया जाय, जैसे कि कलेंडरके बारेमें, वह एक बहुत शक्तिशाली रचना बन सकती है। परंतु एक बहुत शक्तिशाली रचना बननेके लिये यह आवश्यक है कि रूढ़िको बहुत व्यापक रूपमें स्वीकार किया जाय (मैं जिन्हें "रचनाएं" कहती हूं, वे ऐसे बिंब हैं जिन्हें कोई शक्ति अनुप्राणित कर सकती है तथा जिनका प्रतीकके रूपमें प्रयोग हो सकता है)। कुछ ऐसे लोग होते हैं जो अपने निजी बिंब बना लेते हैं।

और उन्हें अपने निजी प्रतीकोंके रूपमें ग्रहण करते हैं, और उनके लिये ये प्रतीक उपयोगी तथा सत्य होते हैं; जैसे, उदाहरणार्थ, स्वप्नोंके प्रतीक। परंतु ये केवल उनके लिये ही सत्य होते हैं, ये विशुद्धतः व्यक्तिगत होते हैं। जब कि, तुम यदि कलेंडरको लो जो लगभग समूची मनुष्य जातिके द्वारा गृहीत है तो तुम्हारा प्रतीक बहुत अधिक विस्तृत क्षेत्रमें काम कर सकता है; परंतु मूल एक ही वस्तु है; यह एक रूढ़ि है। स्वभावतः ये ऐसी चीजें हैं जिनके हम अभ्यस्त हैं, क्योंकि वे हमारे बचपनसे वैसी ही रही हैं; परंतु यह सब निर्भर करता है उस देशपर जहां मनुष्य पैदा हुआ है और उस समाजपर जिसमें उसने जन्म ग्रहण किया है।

दुनियामें ऐसे समाज भी हैं जो भिन्न रूपसे तारीखोंकी गिनती करते हैं। और इसलिये, उनके लिये अन्य संख्याएं अन्य अवसरोंपर प्रतीकात्मक अर्थ रखती हैं। केवल, हमारी रचना (वह जिसमें तुम पैदा हुए हो, जिसे तुमने अंगीकार किया है), यह रचना यदि मनुष्योंकी एक विशाल संख्याके द्वारा अपनायी गयी है तो तुम इस रचनाके द्वारा क्रिया करके इस बृहत् जनसंख्याके ऊपर क्रिया करनेमें समर्थ हो सकते हो। तुम किसी रचनाके द्वारा उसी हदतक कार्य कर सकते हो जिस हदतक वह कुछ लोगोंद्वारा स्वीकृत है। यह विशुद्ध रूपमें परंपरागत बात है! हमने एक विशेष दिनसे गणना शुरू की — जो, बिलकुल मनमाने ढंगसे चुना गया था — और इसलिये संख्याओंने वह रूप लिया जो आज है। परंतु, उदाहरणके लिये, तुम सिर्फ किसी मुस्लिम समाजके पास जाओ, यहां गणना — मैं नहीं जानती कि वह मुहम्मदके जन्मसे या उनकी मृत्युसे — आरंभ हुई और उनकी संख्याएं बिलकुल अलग हैं। अतएव, यदि तुम उनके पास जाकर कहो: २, ३, ४, ५, ६ तो वे कहेंगे: "इसका क्या मतलब है, तुम्हारी संख्या २, ३, ४, ५, ६ का? एकदम कुछ नहीं।"

ये चीजें प्रतीकके रूपमें उपयोगी हो सकती हैं और एक अधिक सूक्ष्म

जगत्को एक अधिक स्थूल जगत्के संपर्कमें रखनेका उपाय बन सकती हैं। ये इस रूपमें व्यवहृत हो सकती हैं, बस।

परंतु, लाखों-करोड़ों मनुष्योंके स्थानमें यदि वर्तमान कलेंडरका उपयोग करनेवाले केवल तीन या चार ही व्यक्ति हों तो फिर ऐसा कहना निरर्थक होगा कि ये संख्याएं प्रतीकात्मक हैं। ये केवल इन्हीं तीन या चार व्यक्तियोंके लिये प्रतीकात्मक होंगी। अतएव, वास्तवमें अपने-आपमें उस चीजका कोई महत्त्व नहीं, महत्त्व है इस बातका कि किस हदतक उसका व्यवहार होता है। बस, वही चीज है जो महत्त्वपूर्ण है।

मनुष्य यही मूल नक्षत्रों और जन्मकुंडलीके विषयमें भी करते हैं। वह बिलकुल सरल रूपमें एक भाषा और एक परंपरा है, और यदि यह परंपरा स्वीकार की जाय तो यह एक विशेष कार्यके लिये व्यवहृत हो सकती है। परंतु इसे स्वीकार करनेवालोंकी संख्याके अनुपातमें ही इसका एक सापेक्षिक मूल्य होता है।

इस सापेक्षिक जगत्में आवश्यक रूपसे प्रत्येक चीज सापेक्षिक है। अतएव सभी चीजोंको अक्षरशः नहीं लेना चाहिये, क्योंकि यह चीज हमें अनुदार बना देती है।

लोग जितने ही अधिक अनगढ़ होते हैं, उतने ही अधिक सरल-हृदय होते हैं और उतना ही ये चीजें कुसंस्कारपूर्ण रूप ले लेती हैं। जब किसी विशिष्ट तथ्यको एक दुर्व्यवहृत सामान्य सिद्धांतका रूप दे दिया जाता है तब उसे ही अंध-विश्वास कहते हैं।

मैं बराबर सीढ़ीके नीचेसे गुजर जानेवाले व्यक्तिका उदाहरण दिया करती हूं। सीढ़ीके ऊपरी सिरेपर कोई कारीगर कोई काम कर रहा है और, एक अशुभ संयोगवश, नीचेसे गुजरनेवाले व्यक्तिके सिरके ऊपर उसका एक औजार गिर पड़ता है और राहगीरका सिर फट जाता है — ऐसा हो सकता है, यह एक सच्चा तथ्य है, और उस मनुष्यका सिर चूर-चूर हो जाता है। परंतु कोई व्यक्ति जो इस दुर्घटनाको देखता है, बादमें एक सामान्य नियम बना देता है और कहता है: "सीढ़ीके नीचेसे जाना दुर्भाग्यका एक चिह्न है"— यही है अंध-विश्वास। और बस इसी तरह ये सब चीजें होती हैं।

परंतु ज्ञानकी भी बहुत-सी बातोंका ठीक यही एक मूल-स्रोत होता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई खास दवा, किन्हीं अनुकूल परिस्थितियोंके साथ-साथ होनेके कारण, कुछ लोगोंको नीरोग कर देती है तो तुरंत यह घोषणा कर दी जाती है कि यह ओषधि इस रोगके लिये अमोघ है। परंतु यह बात सच नहीं है। और सबूत यह है कि यदि एक ही ओषधि

एक ही तरहसे सौ लोगोंपर प्रयुक्त की जाय तो कोई दो परिणाम एक जैसे नहीं होंगे, कभी-कभी तो उसके प्रभाव नितांत विपरीत होंगे।" फलतः, ओषधिका अपना गुण-धर्म नीरोग नहीं करता; इस ओषधिमें विश्वास करना एक अंध-विश्वास है।

और मूलतः स्थूल-विज्ञान और अंध-विश्वासके बीच बहुत थोड़ा-ही अंतर है। शायद यह अंतर केवल बातोंको प्रकट करनेके लिये की गयी सावधानीमें ही है। यदि कोई सावधानी बरतता है जैसा कि वैज्ञानिक कहते हैं, और कहता है, "ऐसा लगता है कि यह चीज ऐसी होगी... हम ऐसा कह सकते हैं... सब बातें मिलकर हमें यह सोचनेके लिये बाध्य करती हैं...", तो फिर इसमें कोई अंध-विश्वास नहीं रहता! परंतु इसके विपरीत जब कोई कहता है: "यह ऐसा ही है," तो वह निश्चित रूपसे एक अंध-विश्वास है। देखा तुमने?

अतएव, जिस व्यक्तिने तुमसे यह प्रश्न पूछा है उसे तुम्हें इस प्रकार उत्तर देना चाहिये: यदि ३, ४, ५, ६ या २, ३, ४, ५, ६ के दिन, तुम्हारे साथ कोई असामान्य बात हो और तुम्हें कोई आंतरिक या बाह्य प्रेरणा प्राप्त हो तो तुम घोषित कर सकते हो कि यह एक असामान्य तिथि है। परंतु तुम्हारे साथ यदि कुछ भी न हो तो यह तुम्हारे लिये बिलकुल असामान्य तिथि नहीं होगी; यह अन्य सभी तिथियोंकी तरह ही एक तिथि होगी!

(मौन)

एक बहुत प्राचीन परंपरा थी, बहुत, बहुत प्राचीन, यहांकी वैदिक परंपरासे भी कहीं अधिक प्राचीन, जो कहती थी: "यदि शुभेच्छा-संपन्न बारह मनुष्य एकत्र हों और भगवान्‌को पुकारें तो भगवान् आनेके लिये बाध्य हैं।" हां, संभवतः सही है, संभवतः यह एक अंध-विश्वास है। संभवतः शुभेच्छा-संपन्न बारह आदमियोंपर और वे जो कुछ हैं उसपर निर्भर करता है। संभवतः यह दूसरी चीजोंपर भी निर्भर है। यदि तुम मुझसे पूछो, मैं समझती हूं कि शायद ऐसा हुआ था, प्रारंभमें बारह मनुष्य एक साथ एकत्र हुए (संयोगवश वे बारह ही थे, कदाचित् वे स्वयं भी यह नहीं जानते थे कि क्यों) और वे अपनी अभीप्सामें इतने तीव्र और प्रबल थे, कि उन्हें प्रत्युत्तर मिल गया। परंतु यह कहना कि "यदि शुभेच्छा-संपन्न बारह आदमी अपनी अभीप्सामें एक हो जायं तो वे अवश्य ही भगवान्‌को नीचे उतार लायेंगे," एक अंध-विश्वास ही है।

वास्तवमें, बातें इसी ढंगसे हुईं और जिस व्यक्तिने इसे लक्ष्य किया, उसने इसे सावधानतापूर्वक व्यक्त किया: "यदि शुभेच्छा-संपन्न बारह व्यक्ति अपनी अभीप्साको संयुक्त कर दें तो भगवान् आनेके लिये बाध्य हैं।" और उस समयसे, मैं कह सकती हूं बारह व्यक्तियोंके अनेक दल (समान अभीप्साके) एक साथ इकट्ठे हुए हैं ... और वे भगवान्को नहीं उतार लाये! पर जो हो, वह परंपरा आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है।

बस, यही बात है।

इस संध्या-समय हम बारहसे बहुत अधिक लोग हैं (हंसी)। आओ, एक बार कोशिश करें और देखें कि इसमें सफलता मिलती है या नहीं!

(ध्यान)

२१ मार्च, १९५६

प्रिय माताजी, यहां यह लिखा है: "... किसी भी समग्र ज्ञान ... के लिये एक आधारभूत अनुभूति आवश्यक है, वह यह कि हम भगवान्को एक ऐसी सारभूत सत्ता और सत्य अनुभव करें ...।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० १३३)

मनुष्य भगवान्को कैसे जान सकता है?

भगवान् ही बनकर, मेरे बच्चे। और यही है एकमात्र पथ: तादात्म्यके द्वारा। जैसा कि श्रीअरविंद कहते हैं: "हम भगवान्को जानते हैं और भगवान् ही बन जाते हैं, क्योंकि हम अपने गुह्य रूपमें पहलेसे ही वह हैं।" चूंकि भगवान् हमारी सत्ताके एकदम सार-तत्त्व हैं, इसीलिये हम भगवान् बन सकते हैं और परिणामस्वरूप, उन्हें जान सकते हैं; अन्यथा उन्हें जानना बिलकुल असंभव होता।

हम अपने अंदर भगवान्को कैसे पा सकते हैं?

अरे, अभी-अभी मैंने ठीक यही बात कही है।

यथार्थमें तुम्हारा मतलब क्या है? ... किस पद्धतिसे?

सबसे पहले, तुम्हें भगवान्‌को खोजना आरंभ करना होगा और फिर वही तुम्हारे जीवनका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य होना चाहिये। तुम्हारा संकल्प अटूट होना चाहिये, तुम्हारी अभीप्सा सतत और तुम्हारी लगन अविच्छिन्न होनी चाहिये, तथा एकमात्र यही चीज होनी चाहिये जिसे तुम वास्तवमें चाहते हो। फिर तुम उन्हें अवश्य पाओगे।

पर स्वभावतः, यदि तुम अपने जीवनमें पांच मिनट तो 'उनकी' बात सोचो और पैंतालीस मिनट दूसरी चीजोंमें व्यस्त रहो तो फिर सफलता-की अधिक संभावना नहीं रहेगी। हर हालतमें, इसमें बहुत-से जन्म बीत जायंगे।

यह कोई मनबहलावकी चीज नहीं होनी चाहिये। यह कार्य हमारी सत्ताका एकमात्र कार्य होना चाहिये, हमारे जीवनका एकमात्र कारण होना चाहिये।

इतना पर्याप्त है न?

प्रिय माताजी, हम लोगोंको कोई बात सुनाइये, क्योंकि हमारे पास कोई प्रश्न नहीं है।

कोई बात क्यों सुनाइये?

मैं यह कह सकती हूं कि अत्यंत मूल्यवान् उपहार नीरवतामें दिये जाते हैं।

(ध्यान)

२८ मार्च, १९५६

"यदि संसार और उसकी क्रियावलियोंसे पलायन, अर्थात् परम मोक्ष एवं शम ही जिज्ञासुका एकमात्र ध्येय होता तो ये तीन

---

[1] अंतर्यामी भगवान्, विश्वव्यापी भगवान् तथा परात्पर भगवान् या निर्वाणका अनुभव।

महान् आधारभूत अनुभव' उसके आध्यात्मिक जीवनकी कृतार्थता-के लिये पर्याप्त होते; इन्हींमें एकाग्र होकर वह अन्य समस्त विश्व या लौकिक ज्ञानका त्याग कर देता और स्वयं भारमुक्त होकर शाश्वत प्रशांतिकी ओर प्रयाण करता। परंतु उसे संसार और उसकी क्रियावलियोंको भी अपने ध्यानमें रखना है, इनके मूलभूत दिव्य सत्यको जानना है और दिव्य सत्य तथा व्यक्त सृष्टिके उस प्रतीयमान विरोधका समाधान करना है जो अधिकांश आध्यात्मिक अनुभवोंका प्रारंभ-बिंदु है।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० १३७)

मैं इसका अर्थ नहीं समझा। यह विरोध आध्यात्मिक अनुभव-का प्रारंभ-बिंदु क्यों है?

जिसे लोग साधारणतया आध्यात्मिक अनुभव कहते हैं वह है जो जीवन मनुष्य यापन करता है उससे भिन्न किसी वस्तुकी तीव्र आवश्यकता-का बोध और अधिकांश समय यह बोध कठिनाइयों या निराशाओं या दुःख-दर्द या शोक-संतापके आनेपर, उन सभी चीजोंके आनेपर जाग्रत होता है जो दुःख-कष्ट ले आती हैं और साथ-ही-साथ कुछ अधिक अच्छी स्थिति प्राप्त करनेकी अभीप्सा जगाती हैं। बस, यही चीज है जो सामान्य-तया आध्यात्मिक अनुभवोंकी जड़में होती है: यह अभावात्मक वस्तु है।

भगवान्को जानने और उनके साथ संयुक्त होनेकी भावात्मक आवश्यकता प्रायः बहुत बादमें आती है। मैं प्रायः कहती हूं; अपवाद भी होते हैं; पर प्रायः आरंभमें जीवनकी विपदाओंसे भागना ही वह चीज है जो मनुष्यको आध्यात्मिक जीवनकी ओर ले जाती है। बहुत थोड़े-से लोग, यदि वे पूर्ण आंतरिक और बाह्य समस्वरताकी स्थितिमें होते और उनके साथ कुछ भी अप्रिय या दुःखदायी न होता तो, बहुत थोड़े-से लोग ही भगवान्की बात सोचते; वे उसके विषयमें कुछ परवाह न करते, वे साधारण वस्तुओंका आधे-आधेकी नीतिके साथ समझौता कर लेते और किसी पूर्ण वस्तुकी खोज न करते। बस, यही श्रीअरविंद यहां कहना चाहते हैं।

परंतु मनुष्य जब यह आध्यात्मिक जीवन प्राप्त कर लेता है, वह यह अनुभव करता है कि यह सर्वत्र सभी बाह्य रूपोंके पीछे तथा साथ-ही-साथ सीधे बाह्य रूपोंके बिना भी विद्यमान है। बाह्य रूपोंके पीछे भी यह है; यही बात वह कह रहे हैं कि हमें इन विरोधोंको जानना होगा और

उनमें सामंजस्य स्थापित करना होगा। एक ऐसा स्थान या चेतनाकी एक ऐसी स्थिति है जहां वे सुसमंजस रूपमें विद्यमान हैं।

परंतु, पहले, मनुष्यको इस प्रकार (आरोहणका संकेत) जाना होगा और तब इस प्रकार (अवतरणका संकेत) वापस आना होगा। बस!

> **श्रीअरविंद यहां लिखते हैं: "तो भी उस (साधक) के अंदर या उसके सामने केवल यह नित्य आत्म-सचेतन 'सत्ता', यह आध्यात्मिक 'चेतना', स्वयं-प्रकाश 'शक्ति'की यह अनंतता और यह कालातीत तथा अपार परमानंद ही विद्यमान नहीं है। उसके साथ ही परिमित 'काल-देश'से बंधा यह विश्व या शायद एक प्रकारका निःसीम सांत भी उसके अनुभवके सम्मुख निरंतर वर्तमान है और इसके अंदर सब कुछ नश्वर, सीमित, खंडित . . . है।"**
>
> (वही, पृ० १३९)

"निःसीम सांत" — इसका तात्पर्य क्या है?

यह एक ऐसी वस्तुका निरूपण करनेका एक तरीका है जिसे निरूपित नहीं किया जा सकता।

वास्तवमें, हम लगभग यह कह सकते हैं कि ब्योरे तो सांत हैं और संपूर्ण अनंत है, परंतु वह "अनंत" नहीं कहते, वह "निःसीम" कहते हैं — अर्थात् देशमें निःसीम और कालमें निःसीम, परंतु फिर भी अपने-आपमें सीमित। प्रत्येक ब्योरेकी अपनी विशिष्ट सीमा है और संपूर्णकी कोई सीमा नहीं है।

> **प्यारी माताजी, फिर भी एक और बात है जिसे मैंने नहीं समझा है: "कभी तो उसे यह प्रतीत होता है कि उसकी आत्माकी ये दो अवस्थाएं (अनंतताकी चेतनता और कालके अंदर विश्वकी चेतनता) उसकी चेतनाकी स्थितिके अनुसार उसके लिये बारी-बारीसे आती हैं। और, कभी ऐसा लगता है कि ये उसकी सत्ताके दो अवयव हैं, दो अर्द्ध — ऊर्ध्व और निम्न या आंतर और बाह्य अर्द्ध — हैं जिनमें मेल नहीं है और जिनमें मेल बैठाना आवश्यक है। उसे शीघ्र ही मालूम हो जाता है कि उसकी चेतनाके इस पार्थक्यमें एक बड़ी भारी**

मोक्षदायिनी शक्ति है, क्योंकि इसके कारण वह अब 'अविद्या' एवं 'निश्चेतना'से पूर्ववत् बद्ध नहीं रहता।"

(वही, पृ० १३९)

मैं इसे नहीं समझा।

चूंकि यह विभाजन तुम्हारे अंदर है और तुम शाश्वत जीवनका आस्वादन कर सकते हो, इसीलिये तुम्हें बाहरी जीवन असत्य प्रतीत होता है; और फलस्वरूप, इस विरोधके कारण तुम वह करना आरंभ करते हो जो बाहरी जीवनसे दिव्य जीवनकी ओर जानेके लिये आवश्यक होता है। यदि सत्ताके अंदर कोई विरोध न होता, यदि उन दोनोंके बीच कोई मध्यवर्त्ती सत्ता होती तो यह स्थिति अनिश्चित रूपमें बनी रहती; तुम अपनी कठिनाई और अपनी आवश्यकताको दृष्टिगोचर न करते, जैसे तुम रह रहे हो वैसे ही, बिना सोचे-विचारे, अभ्यासवश, रहना जारी रखते।

फिर इस विरोधके कारण ही सत्ताके एक भागमें दूसरेका निरीक्षण करनेकी आदत पड़ जाती है। अन्यथा मनुष्य यह जाने बिना भी कि वह क्या करता है, सहज-स्वाभाविक रूपमें, जीवन यापन करता रहेगा।

(एक शिष्यको संबोधित कर) कुछ कहना है?

यह ऐसा क्यों है कि "समस्त 'कालातीत' सत्ता 'कालगत' क्रीड़ाके लिये दबाव डालती है; 'कालगत' सब कुछ कालातीत 'आत्म-तत्त्व'के आधारपर और उसीके चारों ओर परिभ्रमण करता है"?

(वही, पृ० १४०)

क्योंकि यह ऐसा ही है, मेरे बच्चे। जो कुछ अनभिव्यक्त है वह सब अभिव्यक्त होना चाहता है और जो कुछ अभिव्यक्त है वह अपने मूल-स्रोतकी ओर वापस जानेका प्रयास करता है।

यह बात मानों ऐसी है जैसे कि तुम मुझसे यह पूछो: "पृथ्वी गोल क्यों है और सूर्य तथा ग्रह-तारे क्यों हैं?" यह ऐसा ही है, विश्वका विधान ऐसा ही है।

इनमेंसे अधिकतर चीजें तथ्योंके विवरण मात्र हैं; परंतु उनकी कोई व्याख्या नहीं है, क्योंकि हम मानसिक व्याख्याएं नहीं दे सकते। हम व्याख्याएं दे तो सकते हैं, परंतु जिस चीजकी व्याख्या हम करना चाहते हैं, उसकी व्याख्या एक दूसरीके द्वारा होती है, जिसकी व्याख्या फिर एक दूसरीके द्वारा देनी पड़ती है, फिर जिसकी व्याख्या एक और दूसरीके

द्वारा देनी होती है — और इसी तरह अनंततः चलता है। तुम विश्व-भरकी परिक्रमा कर सकते हो — और एक चीजके द्वारा दूसरीकी व्याख्या दे सकते हो, इससे कोई बात नहीं बनती।

एकमात्र बात जो मनुष्य कह सकता है वह है: यह ऐसा ही है।

बस, इसी कारण यह कहा जाता है कि मन कुछ भी नहीं जान सकता: वह कुछ नहीं जान सकता क्योंकि उसे व्याख्याओंकी आवश्यकता होती है। व्याख्या केवल उसी हदतक मूल्यवान् होती है जिस हदतक वह व्याख्यात वस्तुके ऊपर कार्य करनेकी शक्ति तुम्हें प्रदान करती है, अन्यथा उसका क्या लाभ है? यदि किसी चीजकी व्याख्या तुम्हें उसे बदलनेकी शक्ति नहीं देती तो वह एकदम व्यर्थ है, क्योंकि, जैसा कि मैंने कहा है, जो व्याख्या तुम देते हो वह दूसरी व्याख्याको आवश्यक बना देती है और इसी भांति चलता रहता है। परंतु, तुम यदि किसी व्याख्याके द्वारा किसी वस्तुपर अधिकार प्राप्त करते हो, वह जो कुछ है उससे भिन्न उसे बना देनेकी शक्ति पा लेते हो तो फिर उसके लिये कष्ट उठाना सार्थक है। पर बात ऐसी नहीं है। यहां, तुम इस प्रकार, ठीक ऊपरी सतह-पर ही, एक नयी ऊंचाईकी ओर हवामें ऊपर उछलनेके बदले, गोल-गोल चक्कर काटते रहते हो।

बस, इतना पर्याप्त है?

(एक शिष्यकी ओर मुड़कर) हां, हां, तुमने अपना प्रश्न पहले ही पूछ लिया है, पर फिर भी, यदि तुम चाहो तो उसे जोरसे पूछ सकते हो।

श्रीअरविंद एक पहली अनुभूतिकी बात कहते हैं जिसमें मनुष्य एक ओर तो शाश्वत सत्ता, ब्रह्मन्‌को और दूसरी ओर जगत्‌की सत्ता, मायाको परस्पर-विरोधी सत्ताओंके रूपमें, देखता है; उसके बाद एक दूसरी अनुभूति है अतिमानसिक और वह कहते हैं: "...ब्रह्म-मायाका जो द्वैत एक समय परस्पर-विरोधी प्रतीत होता था और अब द्विदल या द्वयात्मक अनुभव होता है उसका रहस्य जिज्ञासुके समक्ष इस रूपमें आविष्कृत हो जाता है कि वह सब आत्माओंकी आत्मा ...का प्रथम महान् और क्रियाशील रूप है।"

(वही, पृ० १४०)

जब यह अनुभव प्राप्त हो जाता है तो क्या इसका अर्थ यह है कि हमारी निम्न प्रकृतिने परिवर्तित होना स्वीकार कर लिया

है? उस समय क्या द्वैत द्वयात्मक सत्ताके रूपमें दीखता है?

स्पष्ट ही। मैं तुम्हारा प्रश्न नहीं समझ रही।

तबतक, यह द्वैत बना रहता है जिसकी वह चर्चा करते हैं।

वह एक बाह्य रूप है, वह कोई यथार्थ तथ्य नहीं है।

जब मनुष्य यह अनुभव करता है कि इस द्वैतका कोई अस्तित्व नहीं है...।

उसका मतलब है कि मनुष्य बाह्य रूपसे परे चला गया है, उसने उस यथार्थ तथ्यको देख लिया है जो सदा विद्यमान था।

क्या वह एक आश्वासन है?

आखिरकार, जब तुमने प्रगति कर ली है, तो तुमने प्रगति कर ही ली है! मैं तुम्हारा प्रश्न नहीं समझ रही हूं। यदि तुम कोई प्रगति करते हो तो तुम प्रगति करते ही हो; यदि तुम किसी भ्रम-भ्रांतिके पीछे छिपे किसी सत्यको देखते हो तो साधारणतया इसे प्रगति माना जाता है।

परंतु यहां, वह फिर यह समझाते हैं कि निम्नतर प्रकृति भी...

हां, पर तुमने चूंकि यह अनुभव कर लिया है कि यह एक और वही वस्तु है...। यही बात मैं कुछ क्षण पहले कह रही थी: जब तुमने एक व्याख्या पा ली है तब वह तुम्हारी बाहरी प्रकृतिको बदलनेके लिये पर्याप्त है? क्या वह बदल गयी है, क्या तुम अपनी बाहरी प्रकृतिमें जो थे उससे भिन्न बन गये हो?

नहीं।

नहीं। अतएव कोई और वस्तु आवश्यक है। बस, मेरा मतलब यही था; कोई व्याख्या पर्याप्त नहीं होती, कोई दूसरी वस्तु आवश्यक होती है। स्पष्ट ही, जिस बातको मनुष्य पहले नहीं जानता था उसे जान

लेना एक प्रगति ही है, परंतु जबतक यह ज्ञान सक्रिय नहीं बन जाता और रूपांतरकी एक शक्तिमें नहीं बदल जाता तबतक इसका कोई विशेष उपयोग नहीं है।

क्या तुम समझ रहे हो? बहुत अच्छा।

(एक बच्चेको संबोधित करते हुए) क्या तुम कोई प्रश्न पूछना चाहते हो? पूछो। थोड़ा-सा साहस करो।

प्यारी माताजी, मनुष्य अपनी समझ-शक्तिको कैसे बढ़ा सकता है?

अपनी समझ-शक्ति? आह, बहुत अच्छा, अपनी चेतनाको बढ़ाकर, मनसे परे जाकर, चेतनाको विस्तृत करके, चेतनाको गहरी बनाकर, उन क्षेत्रोंका स्पर्श करके जो मनके दूसरी ओर विद्यमान हैं।

(इस वार्तालापके प्रथम प्रकाशनके समय, सन् १९६२ में, श्रीमाताजीने, इस अंतिम प्रश्नके साथ निम्नांकित टिप्पणी जोड़ दी।)

मैं अब एक और चीज जोड़ूंगी: अनुभूति। ज्ञानको अनुभूतिमें बदलना। और अनुभूति अपने-आप तुम्हें दूसरी अनुभूतिकी ओर ले जायगी।

परंतु "अनुभूति"से मेरा मतलब ऐसी वस्तु है जो सामान्यतया उसका जो अर्थ ग्रहण किया जाता है उससे एकदम भिन्न है। यह किसी जानी हुई बातका अनुभव प्राप्त करना नहीं है—अवश्य ही यह स्पष्ट है—पर जानने और समझनेके बदले (भले ही वह ज्ञान मानसिक ज्ञानसे बहुत अधिक ऊंचा हो, यहांतक कि कोई अत्यंत सर्वांगपूर्ण ज्ञान हो), वह वह 'शक्ति' बन जाता है, जो उसे मूर्त्त रूप प्रदान कर देती है। मूलतः, वह वस्तुओंका तपस्—विश्वका तपस् बन जाना है।

यह सर्वदा कहा जाता है कि अभिव्यक्तिके मूलमें है सच्चिदानंद और उसे इस क्रममें रखा जाता है: पहले है सत्, अर्थात् विशुद्ध सत्ता; फिर चित्, इस सत्ताका आत्म-ज्ञान और आनंद सत्ताका आनंद, जो उसे बनाये रखता है। परंतु इस चित् और आनंदके मध्यमें है तपस्, अर्थात् आत्म-संसिद्धकारी चित्। और जब मनुष्य वह तपस्, वस्तुओंका तपस् बन जाता है तो उसे वह ज्ञान मिल जाता है जो वस्तुओंको बदल देनेकी सामर्थ्य प्रदान करता है। वस्तुओंका तपस् वह वस्तु है जो इस 'अभिव्यक्तिके' अंदर उनके जीवनको परिचालित करती है।

जब मनुष्य वहां पहुंच जाता है, उसे इतने शक्तिशाली बल-सामर्थ्यका बोध होता है! — वह विश्वव्यापी शक्ति-सामर्थ्य है। उस समय मनुष्य-को यह बोध होता है कि सारे विश्वपर उसका प्रभुत्व स्थापित हो गया है।

४ अप्रैल, १९५६

"एक ओर तो उसे (साधकको) यह ज्ञान प्राप्त होता है कि एक 'साक्षी-चेतना' है जो ग्रहण, निरीक्षण और अनुभव करती है, जो कर्म करती नहीं जान पड़ती, किंतु जिसके लिये हमारे भीतर और बाहरके ये सभी कर्म प्रारंभ किये जाते और जारी रखे जाते प्रतीत होते हैं। उसके साथ ही, दूसरी ओर वह एक कर्त्री 'शक्ति' या 'कार्य-प्रक्रिया' की शक्तिको जानता है जो सभी कल्पनीय क्रियाओंको गठित, प्रेरित और परिचालित करती, गोचर एवं अगोचर अगणित पदार्थोंको उत्पन्न करती तथा अपनी अविरत कर्मधारा और सृष्टि-प्रवाहके स्थिर आधारों-के तौरपर उन्हें प्रयोगमें लाती दिखायी देती है। 'साक्षी-चेतना'में एकांतभावसे प्रवेश करके वह शांत, निर्लिप्त तथा निश्चल हो जाता है। वह देखता है कि अबतक वह प्रकृति-की गतियोंको निष्क्रिय भावमें प्रतिबिंबित करता आया है और फिर पीछे उन्हींको अपनी मान लेता रहा है; तथा च, इसी प्रतिबिंबित करनेकी क्रियाके कारण उन्हें उसकी अंतरस्थ-साक्षी आत्मासे एक आध्यात्मिक-सा मूल्य और महत्त्व प्राप्त हो गया है। परंतु अब उसने वह अध्यारोप या प्रतिबिंबात्मक तादात्म्य वापस ले लिया है। वह केवल अपनी शांत आत्माके प्रति ही सचेतन है और उसके चारों ओर जो गतिशील है उस सबसे विलग है। सब चेष्टाएं उसके बाहर हो रही हैं और उनकी अंतरीय वास्तविकताकी एकदम इति हो गयी है। वे अब उसे यांत्रिक प्रतीत होती हैं, अब वह उनसे अनासक्त रहकर उन्हें समाप्त कर सकता है।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० १४१)

साक्षी आत्मा क्या चीज होती है?

साक्षी-आत्मा वह आत्मा है जो एक ऐसी स्थितिमें प्रवेश कर जाती है जिसमें वह कोई कार्य किये बिना निरीक्षण करती है। साक्षी उस सत्ताको कहते हैं जो उस सबको देखती है जो किया जाता है, पर जो स्वयं उसे नहीं करती। अतएव जब अंतरात्मा एक ऐसी स्थितिमें चली जाती है जिसमें वह कर्ममें भाग नहीं लेती, प्रकृतिके द्वारा कार्य नहीं करती, केवल पृथक् रहती और निरीक्षण करती है, तब वह साक्षी-आत्मा बन जाती है।

यदि कोई बाहरी कर्मोंको बंद करना चाहे तो यह सर्वोत्तम उपाय है। मनुष्य अपनी अंतरात्मामें पीछे हट जाता है, अपनी सत्ताकी चरम सीमातक, एक प्रकारकी अचलताके अंदर — ऐसी अचलताके अंदर जो देखती तो है पर हिस्सा नहीं बंटाती, यहांतक कि आज्ञा भी नहीं देती। बस, इतना ही पर्याप्त होता है।

तुम नहीं समझे, बच्चे?

जब कोई किसी चीजसे, किसी विशेष गति-विधि या क्रिया या चेतनाकी स्थितिसे अपने-आपको वियुक्त करना चाहता है तो यही उसकी अत्यंत फलदायी प्रक्रिया है; व्यक्ति जरा पीछे हट आता है, उस वस्तुकी ओर इस प्रकार देखता है जैसे कोई नाटकका एक दृश्य देखता है, और वह उसमें हस्तक्षेप नहीं करता। और कुछ देर बाद, उस वस्तुके साथ उसका कोई सरोकार नहीं रह जाता, वह एक ऐसी चीज बन जाती है जो मानों उससे बाहर हो रही है। तब मनुष्य बहुत शांत-स्थिर बन जाता है।

केवल, मनुष्य जब इसे करता है तो उससे बाहरी गति-विधिके अंदर कोई चीज कभी परिवर्त्तित नहीं होती, वह ज्यों-की-त्यों बनी रहती है, पर वह अब तुम्हें स्पर्श नहीं करती। हमने यह बात न मालूम कितनी बार पहले कही है; यह केवल प्रथम पग है, इससे तुम्हें वस्तुओंसे अधिक परेशानी अनुभव न करनेमें सहायता मिलती है। परंतु सारी बातें ज्यों-की-त्यों बनी रहती हैं — अनिश्चित कालतक। यह एक अभावात्मक अवस्था है।

जब श्रीअरविंद यह कहते हैं कि "पार्थक्य स्थिति मोक्षदायक है", तब क्या वह इसी चीजकी चर्चा करते हैं?

(वही, पृ० १४२)

हां। वह मोक्ष देती है, बिलकुल ठीक। यह ठीक वही बात है। मनुष्य

इसीके लिये, क्या तुम नहीं देखते, मोक्षके लिये, आसक्तियोंसे, प्रतिक्रियाओं-से, परिणामोंसे मुक्ति पानेके लिये इसका अभ्यास करता है। जो लोग गीताको इस रूपमें समझते हैं वे तुमसे कहते हैं, वे उसकी अपेक्षा बहुत अधिक नहीं समझते, वे तुमसे कहते हैं: "तुम संसारको बदलनेकी चेष्टा क्यों करना चाहते हो? संसार सर्वदा वैसा ही रहेगा जैसा कि वह है और वैसा ही बना रहेगा जैसा कि वह है, तुम्हें बस एक पग पीछे हट आना है, अपने-आपको वियुक्त करना है, उसकी ओर वैसे ही देखना है जैसे कोई साक्षी किसी ऐसी चीजकी ओर ताकता है जिसके साथ उसका कोई सरोकार नहीं होता — और उसे अकेला छोड़ देना है।" पेरिसमें गीताके साथ मेरा प्रथम संपर्क ऐसा ही था, मेरी भेंट एक भारतीयसे हुई जो बहुत बड़ा गीता-भक्त था और नीरवताका बहुत बड़ा दोस्त था। उसने कहा: "जब मैं अपने शिष्योंके साथ होता हूं, यदि वे उपयुक्त स्थितिमें होते हैं, तो मुझे बोलनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। अतएव हम लोग एक साथ नीरवताका पालन करते हैं, और नीरवतामें ही कोई-न-कोई चीज अनुभूत होती है। परंतु वे जब ऐसा करनेके लिये पर्याप्त अच्छी स्थितिमें नहीं होते तो, उन्हें समुचित स्थितिमें ले आनेके लिये मैं थोड़ी-सी बातचीत करता हूं, बिलकुल थोड़ी-सी। परंतु जब वे और भी बुरी स्थितिमें होते हैं, वे प्रश्न पूछते हैं!" (हंसी)

परंतु क्या यही वह व्यक्ति थे, थे न, जिन्होंने संसारको बदलना नहीं चाहा था, क्या यही वह व्यक्ति थे जिन्होंने अपनेको क्रांति-कारी बतलाया था?

ओह, वह तो तुम्हारे प्रश्नोंसे छुट्टी पानेके लिये है! (हंसी)

नहीं, यह तो गीता समझनेका उनका तरीका था: ये वैसे लोग हैं जो सर्वदा यह वाक्य (मेरी समझमें विकृत रूपमें) उद्धृत करते हैं कि धुएंके बिना कोई अग्नि नहीं होती।[1] संभवतः हजार वर्ष पहले अथवा

---

[1]शायद श्रीमाताजी गीताके दो निम्नांकित श्लोकोंका हवाला दे रही हैं:

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ (३-३३)
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ (३-३८)

"सभी प्राणी अपनी प्रकृतिका अनुसरण करते हैं, यहांतक कि ज्ञानी

पांच सौ वर्ष पहले भी यह सत्य था, पर अब नितांत मूर्खता है। अतएव मनुष्य वस्तुओंकी व्याख्या करनेके लिये इस वाक्यका व्यवहार नहीं कर सकता: "संसार जिस स्थितिमें है उसके लिये तुम इतने बेचैन क्यों होते हो? — धुएंके बिना कोई अग्नि नहीं होती।"

यह सच नहीं है।

परंतु फिर भी, यह केवल एक दृष्टिकोण है। मैं समझती हूं कि सभी दृष्टिकोण आवश्यक हैं — यदि प्रत्येक अपने स्थानपर रहे और दूसरेको बाधा देनेकी कोशिश न करे। यदि उन्होंने ठीक इतना जोड़ा होता कि, "मेरा अनुभव ऐसा है,", तो यह बात बिलकुल ठीक होती; परंतु दूसरे जो कुछ करते थे उसकी आलोचना करनेके लिये वह इसका उपयोग करते थे। और यहां वह गलत थे।

इसका मतलब है कि वह वास्तवमें सच्चे नहीं थे?

क्यों? वह संभवतः अपने विश्वासमें सच्चे थे...। तुम्हारा मतलब क्या यह है कि जब कोई प्रचारके लिये उतर जाता है तो वह सच्चा-सरल नहीं होता?

वह विश्वास करता है कि वह सच्चा है।

नहीं, क्षमा करना, उसे उस बातका पूरा निश्चय होता है। (संभवतः विनम्रतावश) वह मुझसे चौथी अवस्थाकी बात कहना भूल गये थे जो और भी अधिक बुरी है: वह है वह अवस्था जिसमें मनुष्य प्रश्न पूछनेके बाद उत्तरके विषयमें तर्क-वितर्क करना आरंभ करता है। वह निस्संदेह सबको मात कर देता है!

यदि तुम जगत्-संबंधी धारणापर आते हो कि यह भगवान्‌की सभी जटिलताओंके साथ उनकी अभिव्यक्ति है तो तुम्हें जटिलता और बहुविधताको स्वीकार करना ही होगा, और तब तुम्हारे लिये यह असंभव हो

भी अपनी प्रकृतिका अनुसरण करते हैं, तब फिर भला निग्रह करनेसे क्या लाभ? ... जैसे अग्नि धुएंसे ढकी होती है और आइना धूलसे, जैसे जेरसे गर्भ ढका होता है, वैसे ही ज्ञान कामनासे ढका होता है

जाता है कि तुम यह चाहो कि दूसरे भी ठीक तुम्हारी ही तरह सोचें और अनुभव करें।

प्रत्येक व्यक्तिका सोचने, अनुभव करने तथा प्रतिक्रिया करनेका अपना निजी तरीका होना ही चाहिये; तुम क्यों चाहते हो कि दूसरे वैसा ही करें जैसा कि तुम करते हो और तुम्हारे ही जैसे हों? और यदि हम यह मान भी लें कि तुम्हारा सत्य उनके सत्यसे महत्तर है (यद्यपि यह शब्द एकदम कोई अर्थ नहीं रखता, क्योंकि, एक विशेष दृष्टिकोणसे सभी सत्य ठीक हैं—वे सभी आंशिक हैं पर वे ठीक हैं क्योंकि वे सत्य हैं), परंतु जिस क्षण तुम चाहते हो कि तुम्हारा सत्य तुम्हारे पड़ोसीके सत्यसे महत्तर हो, तुम सत्यसे विच्युत होना आरंभ कर देते हो।

तुम जैसे सोचते हो वैसे ही सोचनेके लिये दूसरोंको भी बाध्य करनेकी इच्छा रखनेकी यह आदत, मुझे सर्वदा बहुत विचित्र मालूम होती रही है; यही चीज है जिसे मैं "प्रचारकी भावना" कहती हूं और यह बहुत दूरतक जाती है। तुम एक पग आगे जा सकते हो और यह इच्छा कर सकते हो कि लोग वही करें जो तुम करते हो, वैसा ही अनुभव करें जैसा तुम अनुभव करते हो, और फिर वह चीज एक भयावह एकरूपताकी ओर ले जाती है।

जापानमें मेरी मुलाकात टॉलस्टायके लड़केसे हुई थी जो महान् मानव-एकताकी वृद्धिके लिये संसारभरकी यात्रा कर रहा था। उसका समाधान बड़ा सरल था: प्रत्येक व्यक्तिको एक ही भाषा बोलनी चाहिये, एक ही प्रकारका जीवन बिताना चाहिये, एक ही ढंगसे पोशाक पहननी चाहिये, एक ही प्रकारका भोजन करना चाहिये... और मैं दिल्लगी नहीं कर रही हूं, वह ठीक यही बात कहा करता था। मैं टोकियोमें उससे मिली; उसने कहा: "परंतु प्रत्येक व्यक्ति प्रसन्न रहेगा, सभी एक-दूसरेको समझेंगे, यदि प्रत्येक व्यक्ति एक ही कार्य करेगा तो कोई झगड़ा नहीं करेगा।" उसे यह बात समझानेका कोई उपाय नहीं था कि यह चीज बहुत युक्तिसंगत नहीं है! वह इसी बातका प्रचार करनेके लिये संसारभरकी यात्रा करनेके लिये निकल पड़ा था, और जब लोग उससे उसका नाम पूछते तो वह कहता: "टॉलस्टॉय"— अब, टॉलस्टॉय, समझे... लोग कहते: "ओह!" (ऐसे बहुतेरे लोग थे जो यह नहीं जानते थे कि टॉलस्टॉय मर गये हैं) और वे सोचते: "ओह! कितना बड़ा सौभाग्य, हम कोई बड़ी विशेष बात सुनने जा रहे हैं!"—और फिर वह यही संदेश लोगोंको सुनाता!

हां तो, यह केवल उसी मनोभावका अतिरंजित रूप है।

जो हो, मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि एक समय ऐसा आता है जब मनुष्य स्वयं जिस सत्यकी बात सोचता है उसके विषयमें दूसरोंको विश्वास दिलानेकी तनिक भी आवश्यकता अनुभव नहीं करता।

मैं जो कुछ हूं, मैं जो सत्य प्राप्त करता हूं, उसकी जब कोई आलोचना करता है, जब दूसरे समालोचना करते हैं...

तुम नम्रतापूर्वक उससे कह सकते हो: "तुम अपने कार्यकी चिंता करो।" परंतु तुम्हें वहीं रुक जाना चाहिये। जो व्यक्ति आलोचना करता है उसे क्या तुम यह समझाना चाहते हो कि किसीकी आलोचना करना उचित नहीं है? — जितना ही अधिक तुम उसे समझाओगे, उतना ही अधिक उसे विश्वास होगा कि उसकी बात ठीक है!

उसको नहीं, बल्कि दूसरोंको जो उसका अनुसरण करते हैं?

ओह! तुम्हें भय है कि वे दूसरी ओर प्रचार करेंगे...।

उससे कुछ भी नहीं आता-जाता। हमारे पास उस तरहका एक उदाहरण है जो बहुत मजेदार है। एक व्यक्ति था जिसका नाम मैं नहीं बतलाऊंगी। वह यहां आया और उसने एक बड़े फ्रेंच समाचार-पत्रमें एक बहुत ही मूर्खतापूर्ण लेख लिखा जिसमें... हां, जिसमें उस मनुष्यकी मूर्खता ही प्रकट हुई थी और जो अत्यंत तीव्र रूपमें आश्रमके विरुद्ध था (बस, इसी कारण मैं उसे मूर्खतापूर्ण नहीं कहती, पर फिर भी...)। हां, उसका परिणाम — उस लेखका परिणाम — यह हुआ कि हमें एक व्यक्तिका यह पत्र मिला: "मैंने वह लेख पढ़ा है, मैं तुरत आश्रम आना चाहता हूं।"

— इसका एकदम विपरीत प्रभाव हो सकता है।

११ अप्रैल, १९५६

"एक तरफ तो जिज्ञासुओंको अनंत और स्वयंभू देवाधिदेवके उस सत्तात्मक रूपका ज्ञान होता है जिसमें वह देव सब वस्तुओंको सत्ताकी अनिर्वचनीय गर्भावस्थामें धारण करता है, जिसमें वह सब आत्माओंकी आत्मा और सब जीवोंका जीव है, सब पदार्थोंका आध्यात्मिक पदार्थ और निर्वैयक्तिक अकथनीय सत् है; पर साथ ही वह एक असीम व्यक्ति भी है जो यहां अगणित व्यक्तित्वोंमें अपने-आपको ही प्रकट करता है, वह ज्ञान-का स्वामी, शक्तियोंका स्वामी, प्रेम, आनंद और सौंदर्यका ईश्वर, सब लोकोंका एक ही उद्गम, आत्म-अभिव्यंजक और आत्म-सर्जक है, विश्वात्मा, विश्व-मन तथा विश्व-प्राण है, वह एक चेतन और सजीव सद्वस्तु है और इस दृश्य जगत्को, जो अचेतन एवं निर्जीव जड़-तत्त्व प्रतीत होता है, आश्रय प्रदान करता है।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० १४३)

प्यारी माताजी, "आत्म-सर्जक" का क्या मतलब है?

आत्म-सर्जक? इसका मतलब है कि 'वह' अपने-आपको सृष्ट करता है। सर्जन यहां अभिव्यक्त करने, वास्तविक और दृश्य रूप लेनेके अर्थमें ग्रहण किया गया है। अतएव वह 'उनका' अपना ही स्वरूप है जिसे 'वह' अभिव्यक्त करते हैं। स्वयं अपने-आपको 'वह' व्यक्त करते हैं, प्रकट करते हैं, दृष्टिगोचर बनाते हैं।

प्रधानतया, "सृजन" शब्द साधारण तौरपर एक दूसरे अर्थमें लिया जाता है: इसका मतलब है कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तुसे बनाना। यही कारण है कि श्रीअरविंद यहां "आत्म-सर्जक" कहते हैं, जिसका मतलब है कि 'वह' स्वयं अपने लिये और अपने-आपको एक बाहरी आकार प्रदान करते हैं। यह सत्ताके प्रकारका एक परिवर्तन है: एक अनभिव्यक्त संभाव्यता बनी रहनेके बदले वह एक अभिव्यक्त सद्वस्तु बन जाती है। वह केवल उलट जाती है और कुछ नहीं। वह रहती एक ही वस्तु है: इस ओरसे नहीं दिखायी देती; उस ओरसे दिखायी देती है—बस, इतना ही। तुम घूम जाओ तो वह दिखायी देती है। तुम उस प्रकार घूम जाओ और तुम उसे नहीं देखते, तुम इस प्रकार घूम जाओ

और तुम उसे देखते हो। बस। ऐसी ही सरल-सीधी बात है यह।

> **"दूसरी तरफ उसे देवाधिदेवके उस रूपका भी ज्ञान होता है जो कार्य-निष्पादक चिच्छक्तिसे संपन्न है। वह चिच्छक्ति एक ऐसी आत्म-सचेतन शक्तिके रूपमें प्रकट की गयी है जो अपने भीतर सब कुछ धारण और वहन करती है और उसे विश्वगत देश-कालमें अभिव्यक्त करनेके लिये नियुक्त है।"**
>
> (वही, पृ० १४३)

हां, यही बात है, ठीक यही बात मैं कह रही थी: एक ढंगसे, बात ऐसी है मानों उसका अस्तित्व ही नहीं है और फिर उसे "प्रकट किया जाता है", समझे, वह ऐसा (भंगिमा) करते हैं, वह उस शक्तिको प्रकट करते हैं और वह दृश्य और वास्तविक बन जाती है, और फिर, एक ही कालमें संपूर्ण रूपमें एक ही वस्तु बनी रहनेकी जगह, वह विकसित होती है, वह 'काल' और 'देश'में अभिव्यक्त होती है। बस, यही बात श्रीअरविंद कहते हैं, बस यहींपर 'काल' और 'देश' की भावना आरंभ होती है, क्योंकि अब वहां कुछ भी समकालिक नहीं होता।

> **श्रीअरविंदने पहले ब्रह्म-माया (शाश्वत सत्ता और जगत्में विद्यमान सत्ता) के द्वैतकी बात कही है और अब वह ईश्वर-शक्ति (अपनी सत्तामें विद्यमान भगवान् और वैश्व संसिद्धिकी अपनी 'शक्ति'के रूपमें विद्यमान भगवान्) के द्वैतकी बात करते हैं। यह ईश्वर-शक्तिके द्वैतकी बात बहुत स्पष्ट नहीं है।**

दूसरा इससे अधिक सरल है, है न? क्योंकि वह दो वस्तुओंमें विभक्त है और बिलकुल सुस्पष्ट है: एक है सद्वस्तु और दूसरी है माया; एक है 'ज्योति' और दूसरी है अंधकार; एक है 'चैतन्य', दूसरी है अचेतनता; एक है 'सत्य', दूसरी है मिथ्यात्व। वह बहुत सुविधानजक है।

यहां यह चीज बहुत अधिक कठिन है: यह एक ही चीज है जो स्वयंभू, अनभिव्यक्त है और फिर जो एकाएक, ऐसा (प्रक्षेपणका संकेत) करती है। और यह ठीक-ठीक वही चीज है, पर जो कुछ भीतर था उसको व्यक्त करनेकी यह एक क्रिया है और यही चीज है जो जगत्की सृष्टि करती है। यह एक ही चीज है जिसमें दो प्रकारकी गतियां हैं; जैसे कि तुम जब सोते हो और जब जागते हो, अथवा जब तुम स्थिर बने रहते हो

और जब हिलना-डोलना आरंभ करते हो अथवा जब तुम नीरव रहते हो और उसके बाद शोर मचाना आरंभ करते हो, यह ऐसा ही है। एक गति तो भीतर है, जो स्वयं अपने अंदर सब कुछको धारण करती है, पर वहां जो कुछ है उसकी कोई अभिव्यक्ति नहीं होती। और दूसरी गति है ठीक इस प्रकार (प्रक्षेपणका वही संकेत) करती है और जो कुछ उसके अंदर है वह सब बाहर आ जाता है।

और फिर, इस चीजके दृष्टिगोचर होनेके लिये, यह आवश्यक है कि इसका अनुगमन किया जाय। जब यह भीतर होती है, यह समकालिक हो सकती है, क्योंकि यह अनभिव्यक्त होती है, अतएव सब कुछ 'काल' और 'देश' से बाहर एक शाश्वततामें विद्यमान होता है — अचल-अटल, अस्तित्वविहीन। दूसरी दिशामें, प्रत्येक वस्तु बन जाती है और इसलिये उस समय एक-दूसरेका अनुगमन करने तथा 'देश' और 'काल'के अंदर प्रसारित होनेके कारण प्रत्यक्ष करनेकी क्रिया सतत जारी रहती है।

और वह है एक ही वस्तु।

यह बात ठीक इस तरह है कि तुम मानों पहले इस तरह (दुहरा बने रहनेका संकेत) होते हो और फिर तुम ऐसा करते हो (खुलनेका संकेत) — और इसलिये वहां जो कुछ था वह निकल आता है। अतएव ये दोनों गतियां शब्दशः एक-दूसरीके विपरीत हैं, पर यह है बस एक ही वस्तु दो विपरीत स्थितियोंमें जो समकालिक होती हैं: यह इस तरह बनी रहती है (अंतर्मुखी रहनेका संकेत) और साथ-ही-साथ यह इस तरह (बहिर्मुखी होनेका संकेत) रहती है; एक दूसरीका खंडन नहीं करती और वे दोनों युगपत् विद्यमान रहती हैं। परंतु एक दिशामें यह अदृश्य रहती है क्योंकि यह आत्मलीन रहती है और दूसरी क्रियामें, यह बाहरकी ओर प्रक्षिप्त होती है और इसीलिये दिखायी देती है। और जब यह आत्मलीन होती है, यह पूर्ण समकालिकताके अंदर एक साथ विद्यमान रहती है; और दूसरी क्रियामें, यह अपने-आपको खोलती है और सतत संभूतिका रूप लेती है, जब यह अपने-आपको खोलती है, यह आवश्यक रूपसे सत्ताके अंदर 'काल' और 'देश' को ले आती है, जब कि ऊपर वहां, यह 'देश' से बाहर, 'काल'-से बाहर और सब प्रकारके संभव इंद्रिय-ज्ञानसे परे होती है। परंतु दो विपरीत क्रियाओंके अंदर यह वही एक वस्तु होती है।

और सच पूछो तो यह इसी भांति वास्तवमें विद्यमान रहती है।

यह ऐसी ही है। और जब यह ऐसा (बाहरकी ओर संकेत) करती है, यह इस प्रकार (अंदरकी ओर संकेत) बने रहना बंद नहीं करती,

कहनेका मतलब, जब यह आत्मलीन होती है, तब अभिव्यक्त होना बंद नहीं करती; और जब यह अभिव्यक्त होती है, तब आत्मलीन बने रहना बंद नहीं करती। दूसरे रूपमें कह सकते हैं कि यह एक स्थायी और युगपत् द्वैत सत्ता है, पर यह ठीक एक ही चीज है, केवल एक चीज है, पर है दो विपरीत अवस्थितियोंमें।

क्या यह सब तनिक भी दिमागमें घुसा ? अथवा नहीं घुसा ?

कुछ भी नहीं ? तुम्हें और कुछ नहीं पूछना ?

> **प्यारी माताजी, क्या मैं एक प्रश्न आपसे पूछ सकता हूं जिसे मैं पहले भी पूछ चुका हूं ? क्योंकि मैंने उसे ठीक-ठीक नहीं समझा है।**

आह ! देखें, यदि मैं उसे और अधिक स्पष्ट कर सकूं।

> **मैंने अभीतक "वैयक्तिक" और "निर्वैयक्तिक" का अर्थ नहीं समझा है : "... दिव्य परम रहस्यके ये दो महान् तत्त्व — 'वैयक्तिक' और 'निर्वैयक्तिक' — यहां परस्पर एकीभूत हैं।**
>
> (वही, पृ० १४४)

हां।

तुम, तुम वैयक्तिक हो, हो न ? तुम अनुभव करते हो कि तुम एक व्यक्ति हो। और फिर यहां हवा है, तुम यह अनुभव नहीं करते कि हवा एक व्यक्ति है — अतएव हवा निर्वैयक्तिक है।

यह एकदम सही नहीं है, यह एक उदाहरण है : हवा, आंधी, पानी, इनका एक व्यक्तित्व है, परंतु यहां यह उदाहरण मैंने तुम्हें समझानेके लिये दिया है। हवाको तुम कोई ठीक-ठीक और सुनिश्चित आकार नहीं दे सकते, यह सर्वत्र है : तुम्हारे शरीरमें, तुम्हारे शरीरके बाहर, यहां, वहां, सब जगह; परंतु इसका कोई सुव्यक्त रूप नहीं है। इसका एक ठीक-ठीक, सुनिश्चित संघटन है, परंतु अवश्य ही हम यहां रसायन-शास्त्रकी चर्चा नहीं कर रहे हैं, हम केवल आकारकी बात कह रहे हैं। जब तुम वायुकी बात सोचते हो तब तुम्हें किसी व्यक्तिका बोध नहीं होता।

मैं ठीक यही बात पानीके विषयमें नहीं कहूंगी, क्योंकि पानीकी बहुत-सी निश्चित विशिष्टताएं हैं। एक नदीका पानी वैसा ही नहीं होता जैसा

दूसरी नदीका होता है; और, इसके अतिरिक्त, यह दृष्टिगोचर है, इसलिये इसमें थोड़ा-सा व्यष्टिगत वैशिष्ट्य भी है।

परंतु वायु या वाष्प एक ऐसी वस्तुकी धारणा तुम्हें प्रदान करता है जो व्यक्ति नहीं है; हां, बस वह है। जब कोई व्यक्ति या गुण किसी निर्दिष्ट शरीरके अंदर, तुम्हारे शरीर या अन्य किसी व्यक्तिके शरीर जैसे शरीरमें, अभिव्यक्त होता है तो वह वैयक्तिक बन जाता है। किंतु जब वह एक ही समय सर्वत्र होता है और उसकी कोई खास विशेषताएं नहीं होतीं, अस्पष्ट रूपमें व्यक्त होता है तो उसे "निर्वैयक्तिक" कहा जाता है।

अतएव, वैयक्तिक भगवान् वह भगवान् हैं जिन्हें एक आकार दिया गया है। उदाहरणार्थ, प्रत्येक व्यक्तिके आंतरिक भगवान् वैयक्तिक भगवान् हैं; क्योंकि उनका प्रत्येक व्यक्तिके साथ एक व्यक्तिगत संबंध है। वह ऐसे भगवान् हैं जो इस व्यक्तिके भगवान् हैं, जो उसके बिलकुल अपने भगवान् हैं।

परंतु जिस वस्तुका न तो कोई आकार है और न कोई विशेष लक्षण, न किसी प्रकारकी कोई सुनिश्चित रूप-रेखा, और जिसके साथ हम कोई व्यक्तिगत संबंध नहीं स्थापित कर सकते — वह निर्वैयक्तिक भगवान् हैं।

और इसलिये श्रीअरविंद कहते हैं कि एक ऐसी स्थिति है जिसमें वे दोनों एक होते हैं। फिर भी वह है एक ही वस्तु: यह एक ही पदार्थके दो पार्श्वकी तरह है। यदि तुम एक विशेष रास्तेसे भगवान्‌की ओर जाओ तो तुम 'उनको' निर्वैयक्तिक रूपमें प्राप्त करते हो, अर्थात् तुम उनके साथ कोई व्यक्तिगत संपर्क स्थापित नहीं कर सकते। परंतु तुम यदि दूसरी ओरसे उनके पास जाओ, तो तुम उन्हें एक व्यक्तिके रूपमें पाते हो — जो तुम्हारे तुच्छ व्यक्तित्वके मुकाबले बहुत विशाल है, परंतु जिसके साथ तुम व्यक्तिगत संबंध स्थापित कर सकते हो। और फिर भी वह है एक ही भगवान् जिसे तुम इस तरहसे या उस तरहसे देखते हो।

१८ अप्रैल, १९५६

"इसके एक सिरेपर जिज्ञासु केवल 'सत्ता'के उस 'स्वामी' से सचेतन हो सकता है जो उसे मुक्त और दिव्य बनानेके लिये उसके अंदर अपने ज्ञान, शक्ति और आनंदके सामर्थ्य बलपूर्वक

उंडेल रहा है; शक्ति उसे इन ज्ञान आदिका द्योतक निर्वैयक्तिक बल या ईश्वरका गुण मात्र प्रतीत हो सकती है। दूसरे सिरे-पर वह विश्वका सृजन करनेवाली उस जगज्जननीसे मिलन प्राप्त कर सकता है जो अपने आत्म-सत्स्वमेंसे देवताओं और लोकोंको तथा सब पदार्थों और सत्ताओंको उत्पन्न करती है। अथवा, यदि वह इन दोनों ही रूपोंको देखता है तो भी वह इन्हें एक असम एवं विभेदक दृष्टिसे ही देख सकता है, वह एकको दूसरेके अधीन कर देता है तथा शक्तिको ईश्वरके पास पहुंचनेका साधनमात्र समझता है। इसके परिणामस्वरूप एक एकांगी प्रवृत्ति पैदा होती है अथवा समतोलताका अभाव रहता है; अर्थात् कार्यनिष्पादनका जो बल प्राप्त होता है वह अपने आधारपर सुप्रतिष्ठित नहीं होता अथवा ईश्वरीय सत्यका जो प्रकाश उपलब्ध होता है वह पूर्णतः क्रियाशील नहीं होता। जब इस द्वैतके दोनों पक्षोंका पूर्ण मिलन साधित हो जाता है और वह उसकी चेतनापर अधिकार कर लेता है तब जिज्ञासु उस पूर्णतर शक्तिके प्रति उद्घाटित होने लगता है जो उसे यहांके 'विचारों' और 'बलों'के अस्त-व्यस्त संघर्षसे सर्वथा बाहर निकालकर उच्चतर सत्यमें ले जायगी और इस 'अविद्यामय' जगत्को प्रकाशयुक्त और मुक्त करने तथा इसपर प्रभुत्वपूर्ण ढंगसे क्रिया करनेके लिये उस सत्यके अवतरणको संभव बना देगी।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० १४५-४६)

हां, यदि वह दो रूपोंको (अर्थात् 'सत्ताके स्वामी' और जगज्जननीको) देखता है तो वह उन्हें एक असम दृष्टिसे देख सकता है और इसका मतलब है कि वह अभीतक उन दोनोंमें विभेद करता है और एक या दूसरेको महत्त्व प्रदान करता है। और उस अवस्थामें उसमें एकमुखी प्रवृत्ति विद्यमान रहती है; वह केवल एक पक्षको देखता है या वहां इन दोनों दर्शनोंके बीच समतोलताका अभाव होता है। और इसलिये कर्मनिष्पादन-के बलको पूर्ण रूपसे कोई सहारा नहीं प्राप्त होता, तात्पर्य, जगज्जननीके कर्मको उसका समर्थन नहीं प्राप्त होता जिसे वह 'स्वामी' कहते हैं, जगज्जननीके कर्मको परम प्रभुके समर्थनका पर्याप्त आधार नहीं प्राप्त होता; अथवा यों कहें कि वास्तवमें अभी दैवी ज्ञानकी ज्योति (अर्थात् परम प्रभुकी चेतना) उपलब्ध नहीं हुई है, पूर्णतः क्रियाशील नहीं हुई है, अर्थात् वह एक सृष्टिके रूपमें अनूदित नहीं हुई है।

या तो सृजनकारी शक्तिको दैवी ज्ञानका सहारा नहीं प्राप्त हुआ है, या दैवी ज्ञान सृजनकारी शक्तिमें अभिव्यक्त नहीं हुआ है। बस, यही श्रीअरविंदके कहनेका तात्पर्य है। अपनी चेतनाके अंदर उन दोनोंमें अब विभेद न कर, एक साथ ही दोनोंको ग्रहण करनेके बदले साधककी प्रवृत्ति यहां इसकी या उसकी ओर जानेकी है।

श्रीअरविंद कहते हैं कि जब मनुष्य अपनी चेतनाके अंदर उन दोनोंको पृथक् न करनेमें सफल होता है तो वह पूर्णतः यह समझ सकता है कि सबका 'अधीश्वर' कौन है। अन्यथा वह इस ओर या उस ओर झुक जाता है और स्वभावतः जो कुछ करता है वह अपूर्ण रह जाता है। वह यह बात बहुत स्पष्ट रूपमें कहते हैं, कहते हैं न, कि यदि मनुष्य 'शक्ति' या विश्वजननीपर बल न देकर प्रभुकी ओर झुक जाता है तो वह 'निर्वैयक्तिक' में, सृष्टिसे बाहर चला जाता है, वह निर्वाणमें वापस चला जाता है। वह कहते हैं कि 'निर्वैयक्तिक' की ओर जानेकी यह प्रवृत्ति कर्म-योगमें भी विद्यमान रह सकती है, और वह निर्वैयक्तिक शक्ति, निर्वैयक्तिक कर्म सर्वदा ही मुक्तिदायी पक्ष माना जाता रहा है; वह तुम्हें व्यक्तित्वकी संकीर्ण सीमाओंसे मुक्त करता है। और यही कारण है कि इस अनुभूतिकी जो अभिभूतकारी शक्ति है उसके विषयमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है . . .। आजतक यही वह चीज रही है जिसे लोग योग समझते रहे हैं: वैयक्तिकका परित्याग कर निर्वैयक्तिक चेतनामें प्रवेश कर जाना। श्रीअरविंद इसे एक अभिभूतकारी अनुभव कहते हैं, क्योंकि यह तुम्हें यह धारणा प्रदान करता है कि तुम अहंकी समस्त सीमाओंसे मुक्त हो गये हो। और फिर बादमें वह एकत्वका वर्णन करते हैं; वैयक्तिक पक्षपर तथा दिव्य पुरुषके साथ एकत्व प्राप्त करनेपर जोर देते हैं; उस अवस्थामें जगत् कोई भ्रम या कोई अस्थायी वस्तु नहीं रहता जो कुछ समय बाद विलीन हो जायगी बल्कि जगत् शाश्वत दिव्य पुरुष-की सतत और सक्रिय मूर्त रूप बन जाता है।

यही है दूसरा छोर।

और जब मनुष्य दोनोंका अनुभव एक साथ प्राप्त कर लेता है वह पूर्ण बन जाता है।

और कोई बात?

. . . .

> **प्रिय माताजी, "विराट् शक्तिके सुन्दर पुष्प" की जो बात वह यहां कहते हैं वह क्या वस्तु है? वह कहते हैं: "विराट् शक्तिके इस सुन्दर पुष्पको विश्व-प्रयासके लक्ष्यका**

> पूर्वाभास तथा इसके वास्तविक आशयकी झलक प्राप्त है।"
> (वही, पृ० १४७)

यह अंतरात्मा ही है जिसे वह "विराट् शक्तिका यह सुन्दर पुष्प" कहते हैं।

> (श्रीमाताजी पढ़ती हैं) : ... "यह व्यक्तित्व निर्वैयक्तिक 'सनातनता'में चेतना, प्राण और अंतरात्माकी तरह कोई थोड़े दिनोंका मेहमान नहीं है, वरंच इसमें सत्ताका वास्तविक मर्म निहित है।"
> (वही, पृ० १४७)

दिव्य व्यक्तिकी उपस्थिति, यही वह चीज है।

> "विराट् 'शक्ति'के इस सुन्दर पुष्पको ...।"

वह अंतरात्मा है।

> "... विश्व-प्रयासके लक्ष्यका पूर्वाभास तथा इसके वास्तविक आशयकी झलक प्राप्त है।"

चेतन और सजीव शाश्वतकी उपलब्धि प्राप्त है। यही बात है वह।

यही आशयकी झलक है।
और प्रयासका यथार्थ लक्ष्य है।

> तुरत ही बादमें श्रीअरविंद लिखते हैं: "जैसे ही जिज्ञासुमें गुह्य दृष्टि खुलती है, उसे पीछे अवस्थित उन लोकोंका ज्ञान प्राप्त होता है जिनमें चैतन्य और व्यक्तित्व बहुत बड़ा स्थान रखते हैं तथा प्रथम महत्त्वकी वस्तु बन जाते हैं।"
> (वही, पृ० १४७)

और तब, तुम क्या चाहते हो? इसके बारेमें हमने न जाने कितनी बार बातचीत की है। तुम इस विषयमें क्या जानना चाहते हो? तुम इस

लोकोंका वर्णन सुनना चाहते हो, या वहां जानेका उपाय जानना चाहते हो — दोमेंसे क्या चाहते हो ?

वहां जानेका उपाय।

वहां जानेका उपाय, ओहो !

क्या तुम जानते हो कि अपने शरीरसे बाहर कैसे निकला जाता है ?

क्या तुम इतना-सा भी जानते हो कि शरीरसे बाहर निकलनेका अर्थ क्या है (दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक रूपमें नहीं, मेरा मतलब है गुह्य रूप-में) ? क्या तुम अपने शरीरसे बाहर निकलनेके विषयमें सचेतन होते हो, क्या तुम उसे स्वेच्छापूर्वक करते हो ? क्या तुम जानते हो कि अपना शरीर कैसे छोड़ा जाता और एक अधिक सूक्ष्म शरीरमें कैसे निवास किया जाता है, और उसके बाद फिर उसको छोड़ दिया जाता है और एक दूसरे सूक्ष्म-तर शरीरमें रहा जाता है — और इसी प्रकार कई बार होता रहता है ? क्या तुम यह सब करना जानते हो ? क्या तुमने कभी किया है ? नहीं। तो हम इसके विषयमें किसी और दिन बात करेंगे।

ऐसा स्वप्नमें होता है, माताजी।

स्वप्नमें ? क्या तुम जानते हो कि अपनी स्वप्नावस्थामें तुम कहां रहते हो ?

थोड़ा-सा।

थोड़ा-सा ? बात मजेदार होती जा रही है ! और अपने स्वप्नोंमें तुम कहां जाते हो ?

बहुधा ऐसे लोकोंमें . . .

किन लोकोंमें ?

प्राणमय लोकोंमें।

ओह ! ओह ! तुम प्राणमय जगत्में जाते हो — और वहां तुम्हारे साथ कुछ भी दुःखदायी बात नहीं होती ?

बहुत बार।

आह! और वहांसे बाहर निकलनेकी व्यवस्था कैसे करते हो?

शरीरमें वापस दौड़ आता हूं।

बस, यहीं तुम्हारा ज्ञान समाप्त हो जाता है?

नहीं। कभी-कभी एक पुकार उठती है और तब लगता है कि दौड़कर भाग जानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। परंतु वह स्थिति बहुत देरतक नहीं ठहरती।

वह देरतक नहीं ठहरती। परंतु क्या स्वेच्छापूर्वक तुम बाहर जाते हो, वहां प्रवेश करते हो?

स्वेच्छापूर्वक नहीं।

क्या तुम उस स्थानपर वापस जा सकते हो जहां तुम पहले अक्सर जा चुके हो?

नहीं, माताजी।

क्या तुम बार-बार एक ही स्थानपर नहीं जाते हो?

स्वेच्छापूर्वक नहीं।

आह! परंतु ऐसे बच्चे हैं जो ऐसा करना जानते हैं, वे अपने स्वप्नोंको जारी रखते हैं। प्रत्येक दिन शामको जब वे बिछौनेपर सोते हैं तो उसी स्थानपर वापस चले जाते हैं और अपना स्वप्न जारी रखते हैं।

जब मैं बच्चा था तब मैं ऐसा किया करता था।

अब तुम बच्चे नहीं रहे, यह दुःखकी बात है!

क्योंकि उन दिनों मेरा दूसरा कोई कार्य नहीं था।

आह! अच्छा, फिरसे बालक बन जाओ और तुम फिरसे यह करना सीख जाओगे।

इससे अधिक मजेदार बात और कोई नहीं है। यह रातका एक ऐसा कार्य है जो बहुत मजेदार होता है। तुम एक कहानी आरंभ करते हो, फिर, जब तुम्हारे जागनेका समय होता है, तुम अंतिम वाक्यपर पूर्ण विराम लगा देते हो और अपने शरीरमें वापस लौट आते हो। अगली रात फिर उसे आरंभ करते हो, पृष्ठको फिरसे खोलते हो और अपनी कहानी फिरसे आरंभ करते हो और जितनी देर बाहर रहते हो पूरे समय लिखते रहते हो। और फिर तुम सारी चीजोंको अच्छी तरह सजाते हो — उन्हें अच्छे ढंगसे व्यवस्थित करना चाहिये, उसे बहुत सुन्दर होना चाहिये। और जब वापस आनेका समय होता है, तुम फिरसे दुबारा पूर्ण विराम लगाते हो और उन चीजोंसे कहते हो: "जबतक मैं वापस नहीं आता तबतक चुपचाप पड़ी रहो!" और तुम अपने शरीरमें वापस आ जाते हो। तुम इस चीजको रोज शामको आरंभ करते हो और परियोंकी अद्‌भुत कहानियोंकी एक पुस्तक लिखते हो—बशर्त्ते कि तुम जब जागो तो उन्हें याद रखो।

परंतु यह इस बातपर निर्भर करता है कि हम सारे दिन एक निश्चल अवस्थामें बने रहें, ठीक है न?

नहीं, यह निर्भर करता है बच्चेकी सरलता और सच्चाईपर।

और जो कुछ होता है उसपर विश्वास होनेपर, मनकी आलोचनात्मक भावनाका अभाव होनेपर, और हृदयकी सरलता, और युवा और क्रियाशील शक्तिपर — इन सभी चीजोंपर — अंतरकी एक प्रकारकी प्राणिक उदारतापर निर्भर है। हमें अत्यधिक अहंकारपूर्ण नहीं होना चाहिये, हमें न तो बहुत अधिक लोभी, न बहुत व्यावहारिक, न अत्यधिक उपयोगितावादी होना चाहिये — निस्संदेह ऐसी बहुत सारी चीजें हैं जो हममें नहीं होनी चाहिये, बच्चोंकी तरह। और फिर, हमारे अंदर होनी चाहिये एक सुस्पष्ट कल्पनात्मक शक्ति, क्योंकि (ऐसा लगता है कि मैं तुमसे मूर्खतापूर्ण बातें कर रही हूं, पर यह बिलकुल सही है) एक ऐसा जगत् है जिसमें तुम सर्वोच्च रूप-स्रष्टा होते हो: वह है तुम्हारा अपना ही विशिष्ट प्राणमय जगत्। तुम वहां सर्वोच्च निर्माता होते हो और, यदि तुम्हें पता हो कि उसका उपयोग कैसे किया जाता है तो तुम अपना एक अद्‌भुत जगत् बना

सकते हो। यदि तुम्हारे अंदर एक कलात्मक या कविसुलभ चेतना हो, यदि तुम्हें सामंजस्य, सौंदर्यसे प्रेम हो, तुम वहां एक आश्चर्यजनक वस्तुका निर्माण कर डालोगे जो भौतिक अभिव्यक्तिके अंदर उतर आनेकी कोशिश करेगी।

जब मैं छोटी बच्ची थी, मैं इसे "अपने-आपसे कहानी कहना" कहा करती थी। यह अपने मस्तिष्कमें, शब्दोंके द्वारा कुछ कहना बिलकुल नहीं है: यह उस स्थानपर चला जाना है जो तरो-ताजा और शुद्ध है, और ... वहां एक अद्भुत कहानीका निर्माण करना है। और यदि तुम्हें मालूम हो कि इस ढंगसे अपने-आपसे कोई कहानी कैसे कही जाती है, और वह वास्तवमें सुन्दर, वास्तवमें सुसमंजस, वास्तवमें शक्तिशाली और अच्छी तरह सुव्यवस्थित हो तो यह कहानी तुम्हारे जीवनमें संसिद्ध हो सकती है — शायद ठीक उसी रूपमें नहीं जिसमें तुमने उसकी सृष्टि की है, पर जो कुछ तुमने बनाया था उसकी कम या अधिक विकृत भौतिक अभिव्यक्तिके रूपमें संसिद्ध हो सकती है।

इसमें संभवतः वर्षों लग सकते हैं; परंतु तुम्हारी कहानी तुम्हारे जीवनको संगठित करनेमें प्रवृत्त रहेगी।

परंतु बहुत थोड़े-से लोग ही ऐसे होते हैं जो यह जानते हैं कि कोई सुन्दर कहानी कैसे कही जाती है; और फिर वे उसमें सर्वदा भयावह वस्तुओंको मिला देते हैं जिनके लिये पीछे पछताते हैं।

यदि कोई एक उत्तम कहानीकी सृष्टि कर सके और उसमें कोई भी भयप्रद वस्तु न मिलाये, सौन्दर्यके सिवा उसमें और कुछ न हो तो प्रत्येकके जीवनपर उस कहानीका बहुत अधिक प्रभाव पड़ेगा। और यही बात है जिसे कोई व्यक्ति नहीं जानता।

यदि मनुष्यको यह पता हो कि प्राणमय रूपोंके इस जगत्‌में इस शक्तिका, इस सृजनात्मिका शक्तिका उपयोग कैसे किया जाता है, जब मनुष्य अभी एक बच्चा, एक बहुत नन्हा बच्चा होता है तभी उसे यह ज्ञात हो कि इसका प्रयोग कैसे किया जाता है ... क्योंकि सचमुच तभी (अपने बचपनमें ही) मनुष्य अपनी भौतिक भवितव्यताका निर्माण करता है। परंतु सामान्यतया, जो लोग तुम्हारे इर्द-गिर्द रहते हैं, कभी-कभी तुम्हारे अपने छोटे-छोटे मित्रतक, पर सबसे अधिक माता-पिता और अध्यापक इसमें हस्तक्षेप करते हैं और तुम्हारे लिये सब कुछ बर्बाद कर देते हैं, इतनी अच्छी तरह बर्बाद कर देते हैं कि ऐसा बहुत कम ही होता है कि वह चीज पूर्ण रूपसे सफल हो पाये।

अन्यथा, यदि उसे उस ढंगसे, एक बच्चेकी सहज-स्वाभाविक सरलताके

साथ किया जाय तो तुम अपने लिये एक आश्चर्यजनक जीवनका संगठन कर सकते हो (मैं भौतिक जगत्की बात कह रही हूं)।

बचपनके स्वप्न प्रौढ़ावस्थाके यथार्थ सत्य होते हैं।

२५ अप्रैल, १९५६

"ईश्वरविषयक सीमित मानवीय धारणाको पार कर वह एकमेव दिव्य सनातनतक पहुंच जायगा...।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० १५०)

मनुष्य जिसे ईश्वर कहता है वह ईश्वरकी एक सीमित चेतना है, ईश्वरकी संपूर्ण चेतना नहीं है; अतएव वह ईश्वरकी इस सीमित चेतनासे परे और सच्चे भगवान्की ओर जायगा।

श्रीअरविंदके कहनेका अर्थ है कि मनुष्यको ईश्वरके संबंधमें एक सीमित ज्ञान, एक सीमित चेतना और बोध और अनुभव प्राप्त है, भगवान्का पूर्ण अनुभव नहीं प्राप्त है, और उसे ज्ञान और बोधको पार कर विशालतर तथा सत्यतर बोधकी ओर जाना होगा।

प्रिय माताजी, पार्थिव जीवनका औचित्य...।

हां, पार्थिव जीवनका औचित्य यही है कि मनुष्य पृथ्वीपर भगवान्को उपलब्ध करनेके लिये है।

उस हेतुके बिना पार्थिव जीवन एक प्रकारका आसुरिक जीवन हो जायगा।

(मौन)

यदि भगवान्को पुनः खोज लेने और भगवान् ही बन जानेका, उन्हें अभिव्यक्त करनेका, उन्हें बाह्य रूपमें उपलब्ध करनेका यह सर्वोच्च हेतु न होता तो पार्थिव जीवन, जैसा कि यह है, एक राक्षसी जीवन हो जाता।

स्वभावत:, लोग जितने ही अधिक अचेतन होते हैं, उतना ही कम इस बातको समझते हैं, क्योंकि वे अवलोकन करना नहीं चाहते, वे अपनी पुरानी आदतोंके अनुसार यंत्रवत् जीवन बिताते हैं, अपनी जीवन-विधिके विषयमें न तो सचेतन होते हैं और न इसका अवलोकन ही करना चाहते हैं। परंतु जैसे-जैसे चेतना बढ़ती है, मनुष्य अनुभव करता है कि किस प्रकारका भयावह नरक है यह जीवन — जीवन जैसा कि यह है।

और जब मनुष्य उस वस्तुके विषयमें सचेतन होता है जिसकी ओर यह जीवन ले जा रहा है केवल तभी हम इसे स्वीकार कर सकते और समझ सकते हैं। जीवनका जो प्रमुख हेतु है केवल यही इसे स्वीकार करने योग्य बनाता है।

उसके बिना वास्तवमें यह जीवन एक संत्रासदायी दानवीय जीवन बन जायगा।

प्यारी माताजी, "दिव्य सुख"[1] से क्या मतलब है?

वह भगवान्का सुख है।

कैसे...?

तुम मुझसे क्या सुनना चाहते हो, मेरे बच्चे? तुम्हें उसे जीवनमें उतारना होगा और तभी जानोगे कि वह क्या है।

यह वह वस्तु है जिसे संस्कृतमें आनंद कहते हैं। और हमने पहले कई बार कहा है कि इस आनंदको जाननेके लिये मनुष्यको सबसे पहले समस्त मानवीय सुखोंका पूर्णत: त्याग कर देना होगा, पहली बात यह कि, जबतक किसी मानवीय सुखमें तुम्हें आह्लाद मिलता है, तुम आनंदको समझने लायक समुचित स्थितिमें नहीं हो।

वह तुम्हें प्राप्त हो सकता है और तुम्हें उसका भानतक नहीं होगा।

---

[1] "एक 'आनंद'ने उसे आक्रांत किया है और जतला दिया है कि वह दुःख-तापको असंभव कर दे सकता है तथा स्वयं पीड़ाको भी दिव्य सुखमें बदल सकता है।"

(वही, पृ० १४८)

"एक आध्यात्मिक सत्य और ऋतने इस संसारके शुभ और अशुभको अपूर्णता या मिथ्यात्वका दोषी ठहराया है और एक परम शुभको खोल दिया है...। परंतु इन सबके पीछे तथा इनके अंदर उसने एक देवको अनुभव किया है जो ये सभी चीजें हैं, — प्रकाशदाता, मार्गदर्शक, सर्वज्ञ, शक्तिका स्वामी, आनंदका दाता, सखा, सहायक, पिता, माता, जगत्‌कीड़ामें खेलका साथी, उसकी सत्ताका परम प्रभु, उसकी अंतरात्माका प्रियतम और प्रेमी है।"

(वही, पृ० १४९)

क्या किसी व्यक्तिके लिये परमात्मा ये सब चीजें एक साथ हो सकते हैं?

हां, और बहुत-सी अधिक चीजें भी।

यह तो केवल एक बहुत छोटा-सा वर्णन है।

परंतु यहां भी, यदि कोई यह अनुभव पाना चाहे तो उसे जीवनमें तथा मनुष्योंके बीच इन संबंधोंको पानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये, कारण, यदि कोई साधारण जीवनमें, साधारण संबंधोंके रूपमें, इन्हें पाना चाहे तो वह इन्हें उस रूपमें अनुभव करनेमें अक्षम हो जाता है जिस रूपमें भगवान् इन्हें दे सकते हैं। और साधारणतया, अधिकतर लोग, यहांतक कि वे लोग भी जिनमें जीवंत आत्मा होती है, भगवान्‌के साथ इन संबंधोंको केवल तभी पानेका प्रयास करते हैं जब वे मानवीय संबंधों-की अपनी खोजमें अत्यंत तीखा और निराशाजनक अनुभव प्राप्त कर चुकते हैं!

इसमें उनका बहुत अधिक समय नष्ट हो जाता है, इसमें बहुत सारी शक्ति बर्बाद हो जाती है। और सामान्यतया, वे उस अवस्थामें पहुंचनेसे पहले ही एकदम जर्जरित तथा क्लांत हो जाते हैं जिसमें वे दिव्य उपस्थितिके साथ इन संबंधोंको संपूर्ण जाज्वल्यमान रूपमें प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं।

इससे समयकी बहुत अधिक हानि होती है तथा शक्तिका भी अत्यधिक अपव्यय होता है; परंतु ऐसा लगता है कि बहुत थोड़े-से लोग ही ऐसे होते हैं जो इन सब टेढ़े-मेढ़े रास्तोंसे बचकर एकदम सीधे जा सकते हों। अधिकतर, जब उनसे यह कहा जाता है कि एक भागवत आनंद और एक दिव्य परिपूर्णता है जो उस सबको अतिक्रम करती है जिसकी

कल्पना वे साधारण जीवनमें कर सकते हैं तो वे उसपर विश्वास नहीं करते; और उसपर विश्वास दिलानेके लिये उन्हें, जैसा कि मैंने कहा है, उस सबके एक दुःखदायी अनुभवकी जरूरत होती है जो साधारण संबंधोंके अंदर मिथ्या, प्रवंचक और निराशाजनक है।

कहा जाता है कि उदाहरण ही सर्वोत्तम शिक्षक है, पर यथार्थमें बहुत थोड़े-से लोग ऐसे होते हैं जो किसी उदाहरणका अनुसरण करनेकी परवा करते हैं — विशेषतः उस समय जब कि उदाहरण उनसे कुछ ज्यादा परे होते हैं। वे सभी स्वयं अपना अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं; उन्हें ऐसा करनेका अधिकार है, परंतु वह पथको अंतहीन बना देता है।

प्यारी माताजी, यदि किसीको माताके प्रेम जैसी किसी चीजकी या किसी सहायताकी आवश्यकता हो तो वह अपनी आवश्यकताके अनुसार उसे भगवान्‌के अंदर कैसे अनुभव कर सकता है?

यथार्थमें तुम क्या कहना चाहते हो?

यदि, उदाहरणार्थ, हम कोई बात जानना चाहते हैं अथवा हमें पथप्रदर्शनकी या किसी अन्य वस्तुकी आवश्यकता है, हम, अपनी आवश्यकताके अनुसार, उसे भगवान्‌से कैसे प्राप्त कर सकते हैं?

उसे भगवान्‌से मांगकर। यदि तुम उनसे नहीं मांगते तो उसे कैसे पा सकते हो?

यदि तुम भगवान्‌की ओर मुड़ो और उनपर पूरा भरोसा रखो और उनसे मांगो, तो तुम उस चीजको पा लोगे जिसकी तुम्हें आवश्यकता है — आवश्यक रूपमें वह चीज नहीं जिसके विषयमें तुम कल्पना करते हो कि तुम्हें उसकी जरूरत है; परंतु यथार्थमें जिस वस्तुकी तुम्हें आवश्यकता है वह पा जाओगे। परंतु तुम्हें उनसे मांगना होगा।

तुम्हें सच्चाईके साथ यह परीक्षण करनेकी कोशिश करनी चाहिये। तुम्हें सभी प्रकारके बाहरी उपायोंके द्वारा उसे प्राप्त करनेका प्रयास नहीं करना चाहिये और फिर यह आशा नहीं करनी चाहिये कि भगवान् तुम्हें दे देंगे, यहांतक कि उनसे मांगे बिना भी दे दें। निस्संदेह, जब तुम चाहते हो कि कोई व्यक्ति तुम्हें कोई चीज दे तो तुम उससे वह चीज मांगते हो, मांगते हो न? और तब तुम यह आशा क्यों करते हो कि भगवान् तुम्हारे मांगे बिना ही तुम्हें दे दें?

साधारण मानवीय चेतनामें यह क्रिया ठीक इसके विपरीत होती है। मनुष्य किसी चीजकी कल्पना करता है और कहता है: "मुझे इसकी आवश्यकता है, मुझे इस संबंधकी आवश्यकता है, मुझे इस प्रकारका प्रेम चाहिये, मुझे यह ज्ञान चाहिये आदि-आदि। हां, भगवान्‌को यह चीज मुझे देनी चाहिये, अन्यथा वह भगवान् ही नहीं हैं।" कहनेका मतलब, तुम समस्याको पूर्ण रूपसे उलट देते हो।

सबसे पहले, तुम कहते हो: "मुझे आवश्यकता है।" क्या तुम जानते हो कि उस चीजकी तुम्हें सचमुच आवश्यकता है या वह केवल एक धारणा है जिसे तुमने बना लिया है या वह एक कामना है या एकदम कोई अज्ञानपूर्ण क्रिया है? पहली बात: तुम इस विषयमें कुछ भी नहीं जानते।

दूसरी बात: निश्चित रूपसे, तुम अपनी निजी इच्छा भगवान्‌पर लादना चाहते हो जब तुम उनसे कहते हो: "मुझे इसकी आवश्यकता है।" और तब तुम उस चीजको उनसे मांगते भी नहीं कि "मुझे यह चीज दीजिये।" तुम कहते हो: "मुझे इसकी आवश्यकता है। फलतः, जब मुझे इसकी जरूरत है, वह मेरे पास अवश्य आनी चाहिये, बिलकुल स्वाभाविक रूपमें, अपने-आप ही; भगवान्‌का यह कर्तव्य है कि जिन-जिन चीजोंकी मुझे आवश्यकता हो उन्हें वह मुझे दें।"

परंतु यदि ऐसा हो कि तुम सचमुच यह न जानो कि तुम्हारी आवश्यकता क्या है और वह केवल एक भ्रम हो और सत्य न हो और, इस व्यापारमें, तुम उसे अपने इर्द-गिर्दके प्रत्येक व्यक्तिसे मांगो और भगवान्‌के पास न जाओ, अपने तथा उनके बीच कोई संबंध न उत्पन्न करो, उनकी बात न सोचो या अपने मनोभावमें कम-से-कम थोड़ी सच्चाई रखकर उनकी ओर न मुड़ो, तो, चूंकि तुम उनसे कुछ नहीं मांगते, उनके लिये ऐसा कोई कारण नहीं कि वह तुम्हें कोई चीज दें।

परंतु तुम यदि उनसे मांगो तो, चूंकि वह भगवान् हैं वह तुमसे कुछ अधिक अच्छे रूपमें जानते हैं कि तुम्हें क्या चाहिये; और वह तुम्हें वह चीज देंगे जिसकी तुम्हें आवश्यकता है।

अथवा हो सकता है; तुम आग्रह करो और अपनी निजी इच्छा उनपर लादना चाहो तो यह संभव है कि वह तुम्हें वह चीज दे भी दें जिसे तुम चाहते हो ताकि वह तुम्हें अवगत करा दें और तुम्हारी भूल-के विषयमें तुम्हें सचेतन बना दें कि सचमुच वह चीज ऐसी नहीं थी जिसकी तुम्हें आवश्यकता थी। और फिर तुम विरोध करना आरंभ करते हो (मेरा मतलब यह नहीं है कि व्यक्तिगत रूपसे तुम, मैं यहां

सभी मनुष्योंकी चर्चा कर रही हूं) और कहते हो: "भगवान्ने मुझे ऐसी चीज क्यों दी है जो मुझे हानि पहुंचाती है?" — यह बात पूर्णतः भूल जाते हो कि वास्तवमें स्वयं तुमने ही वह चीज मांगी थी!

दोनों ही अवस्थाओंमें तुम सर्वदा आपत्ति करते हो। यदि वह तुम्हारी मांगी वस्तु दे देते हैं और वह चीज तुम्हें लाभकी अपेक्षा कहीं अधिक हानि पहुंचाती है तो तुम आपत्ति करते हो। और फिर, यदि वह उसे नहीं देते तो भी तुम आपत्ति करते हो: "कैसी बात है! मैंने उनसे कहा कि मुझे उसकी जरूरत है और वह मुझे वह चीज नहीं देते।"

दोनों ही अवस्थाओंमें तुम शिकायत करते हो, और बेचारे भगवान् दोषी बनते हैं।

केवल, इन सब बातोंके स्थानमें, यदि तुम्हारे अंदर उस वस्तुको पानेकी महज एक अभीप्सा, उत्कंठा, तीव्र ज्वलंत आवश्यकताका बोध हो जिसे तुम कम या अधिक स्पष्ट रूपमें अपनी सत्ताका परम 'सत्य', सभी वस्तुओं-का 'मूल-स्रोत', सर्वोपरि 'शुभ', हम जो कुछ चाहते हैं उसका उत्तर, सभी समस्याओंका समाधान समझते हो; यदि तुम्हारे अंदर यह तीव्र मांग है और तुम उसे उपलब्ध करनेकी अभीप्सा करते हो तो तुम फिर भगवान्से कभी यह नहीं कहोगे कि: "यह मुझे दो, वह मुझे दो," अथवा: "इसकी मुझे आवश्यकता है, मेरे लिये वह आवश्यक है"। तुम उनसे कहोगे: "मेरे लिये वही करो जो आवश्यक है और मुझे मेरी सत्ताके परम 'सत्य' तक ले चलो। मुझे वही वस्तु दो जिसे तुम अपने सर्वोच्च ज्ञानके द्वारा मेरी आवश्यक वस्तुके रूपमें देखते हो।"

और तब, उस हालतमें, तुम निस्संदिग्ध हो सकते हो कि तुम्हें गलत नहीं समझा जायगा और 'वह' तुम्हें ऐसी कोई वस्तु नहीं देंगे जो तुम्हें हानि पहुंचाये।

फिर इससे भी अधिक ऊंचा एक दूसरा उपाय है, परंतु उससे प्रारंभ करना कुछ अधिक कठिन है।

परंतु उस मनोभावकी अपेक्षा यह पहला भी बहुत अधिक सच्चा पथ है जिसमें मनुष्य भगवान्से कहता है: "मुझे इसकी आवश्यकता है। मुझे यह चीज दो।" क्योंकि सचमुच देखा जाय तो, बहुत थोड़े-से लोग ही ऐसे होते हैं जो वास्तवमें यह जानते हैं कि किस चीजकी उन्हें आवश्यकता है—बहुत ही थोड़े। और इस बातका प्रमाण यह है कि वे सर्वदा अपनी कामनाओंको संतुष्ट करनेके प्रयत्नमें लगे रहते हैं, उनका समस्त प्रयास उसी दिशामें झुका होता है, और प्रत्येक बार जब उनकी

एक कामना पूरी हो जाती है तो उनका मोह भंग हो जाता है और वे दूसरी कामनाकी ओर बढ़ जाते हैं।

और जब वे बहुत अधिक खोज कर चुकते हैं, बहुत अधिक भूलें कर चुकते हैं, काफी मात्रामें दुःख भोग चुकते हैं तथा बहुत निराश हो चुकते हैं तब उसके बाद, कभी-कभी, वे थोड़ा समझदार होना आरंभ करते हैं और अपने-आपसे पूछते हैं कि क्या इस सबसे बाहर निकलनेका, अर्थात् अपने निजी अज्ञानसे बाहर निकलनेका कोई पथ है या नहीं।

और फिर तभी, उसी मुहूर्त्तमें मनुष्य इसे कर सकता है (श्रीमाताजी अपनी बाहें खोल देती हैं): "मैं यह रहा, मुझे ग्रहण करो और मुझे सच्चे पथपर ले चलो।"

उसके बाद सब कुछ ठीक तरहसे चलना आरंभ कर देता है।

२ मई, १९५६

> **श्रीअरविंद कहते हैं कि मिलन तीन प्रकारका होता है: एक है अज्ञानसे मुक्ति और 'सत्य' तथा सनातनके साथ तादात्म्य...।**

वह ज्ञानका योग है।

> **फिर अंतरात्माका भगवान्‌के साथ या उनके अंदर निवास।**

वह भक्तियोगका लक्ष्य है।

> **फिर प्रकृतिमें एकरूपता, भगवान्‌के साथ साधर्म्य: "वैसा ही पूर्ण बनना जैसे पूर्ण वह हैं।"**
>
> ('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० १५१)

कहनेका मतलब, केवल गहराइयोंमें ही एकत्व नहीं होता, वरन् बाह्य रूपमें भी, क्रिया-कलापोंमें भी एकत्व प्राप्त होता है। ज्ञानमें एकत्व, प्रेममें एकत्व और कर्ममें एकत्व प्राप्त होता है। इसे दूसरे शब्दोंमें कह सकते

हैं : ज्ञानका योग, प्रेम और भक्तिका योग तथा कर्मोंका योग। ये भगवान्‌के निकट जानेके तीन प्रकारके पथ हैं जिनकी चर्चा वह यहां कर रहे हैं।

प्रिय माताजी, यहां श्रीअरविंद "आत्माओंके अपने स्वधाम"की चर्चा कर रहे हैं। आत्माओंका स्वधाम क्या है?

वह एक भागवत तत्त्व है।

(मौन)

बस इतना ही?

प्रिय माताजी, आपने कहा है : "अतिमानस पृथ्वीपर उतर आया है।" इसका ठीक-ठीक तात्पर्य क्या है? आपने यह भी कहा है : "जिन चीजोंकी प्रतिज्ञा की गयी थी वे संसिद्ध हो गयी हैं।" वे कौन-सी चीजें हैं?[1]

आह! यह बात, यह तो निस्संदेह अज्ञान है! बहुत दीर्घ कालसे इसके लिये वचन दिया गया है, बहुत समय पहलेसे यह बात कही गयी है— केवल यहां नहीं, बल्कि जगत्‌के प्रारंभसे। इस विषयमें सभी प्रकारकी

---

[1]श्रीमाताजीने २९ फरवरीकी 'अतिमानसिक अभिव्यक्ति' की घोषणा दो संदेशोंमें की थी जो अप्रैल, १९५६ की 'शिक्षा-केंद्र पत्रिका'में प्रकाशित हुए थे :

"हे प्रभु, तूने इच्छा की है, और मैं कार्यान्वित करती हूं :
एक नयी ज्योति पृथ्वीपर प्रकट हो रही है,
एक नया जगत् उत्पन्न हो गया है।
जो वस्तुएं प्रतिज्ञात थीं वे संसिद्ध हो गयी हैं।"

"पृथ्वीपर अतिमानसकी अभिव्यक्तिका होना अब महज एक संभावना नहीं है, बल्कि एक जीवंत तथ्य, एक सत्य वस्तु है।

"यह (अतिमानस) यहां कार्य कर रहा है, और एक दिन आयेगा जब अति अंध, अत्यंत अचेतन, यहांतक कि सर्वाधिक अनिच्छुक लोग भी इसे पहचाननेके लिये बाध्य होंगे।"

भविष्यवाणियां, सभी प्रकारके पैगम्बरोंद्वारा की गयी हैं; यह कहा गया है: "एक नया स्वर्ग और एक नयी पृथ्वी उत्पन्न होगी, एक नयी जाति पैदा होगी, यह संसार रूपांतरित होगा . . .।" सभी परंपराओंमें पैगम्बरोंने इस बातकी चर्चा की है।

आपने कहा है: "वे संसिद्ध हो गयी हैं।"

हां। तो फिर?

नवीन जाति कहां है?

नवीन जाति? कुछ समय, जैसे . . . कुछ हजार वर्षोंतक प्रतीक्षा करो और तुम उसे देखोगे!

जब मन धरतीपर अवतरित हुआ, जिस क्षण मन पार्थिव वातावरणमें अभिव्यक्त हुआ और जिस क्षण पहला मनुष्य प्रकट हुआ, दोनोंके बीच लगभग लाख-लाख वर्ष गुजर गये। सो अब यह कार्य अधिक तेजीसे होगा, क्योंकि अब मनुष्य इसकी आशा करता है, उसे इस विषयमें एक अस्पष्ट विचार है; वह कुछ अर्थमें अतिमानवके आविर्भावकी प्रत्याशा करता है। जब कि, निश्चय ही, बन्दरोंने मनुष्यके जन्मकी आशा नहीं की थी, उन्होंने कभी उसकी बात नहीं सोची — इस समुचित कारणसे कि संभवत: वे बहुत विचार नहीं करते। परंतु मनुष्योंने इस विषयमें सोचा है और वे उसकी प्रतीक्षा करते हैं, अतएव कार्य तीव्र गतिसे चलेगा। परंतु फिर भी तीव्र गतिका अर्थ है हजारों वर्ष, शायद। हम इस विषयमें कुछ हजार वर्ष बाद फिरसे बात करेंगे।

(मौन)

जो लोग आंतरिक रूपमें तैयार हैं, जो खुले हुए हैं और उच्चतर शक्तियोंके संपर्कमें हैं, जिन लोगोंको कमोबेश अतिमानसिक 'ज्योति' और 'चैतन्य'का सीधा व्यक्तिगत संपर्क प्राप्त हो चुका है वे पार्थिव वातावरणमें उत्पन्न अंतरको अनुभव करनेमें सक्षम हैं।

परंतु उसके लिये . . .। केवल सजातीय ही सजातीयको पहचान सकता है, व्यक्तिके अंदर विद्यमान अतिमानसिक 'चेतना' ही पार्थिव वातावरणमें क्रियाशील 'अतिमानस'के विषयमें अवगत हो सकती है। जिन लोगोंने,

किसी-न-किसी कारणवश, इस दर्शन-शक्तिको विकसित किया है वे इसे देख सकते हैं। परंतु जो लोग किसी मामूली-सी आंतरिक वस्तुके विषयमें भी सज्ञान नहीं हैं, और जो अपनी अंतरात्माके विषयमें कुछ भी कहनेमें एकदम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं, ऐसे लोग निश्चय ही पार्थिव वातावरणमें उत्पन्न भेदको समझ सकनेके लिये तैयार नहीं हैं। उन्हें इसके लिये अभी बहुत लंबा रास्ता तय करना होगा। कारण, जिन लोगोंकी चेतना कम या अधिक ऐकांतिक रूपसे बाह्य सत्तापर — मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्तापर — केंद्रित होती है, उनके लिये वस्तुओंको एक ऊट-पटांग और अप्रत्याशित रूप ग्रहण करनेकी आवश्यकता होती है और तभी वे उन्हें स्वीकार कर पाते हैं। तब वे उन्हें चमत्कार कहते हैं।

परंतु जब शक्तियोंके हस्तक्षेपका यह चमत्कार निरंतर होता रहता है जो परिस्थितियों तथा अवस्थाओंको बदल देता है और जिसका परिणाम बहुत व्यापक होता है, इसे वे चमत्कार नहीं कहते, क्योंकि सिर्फ बाहरी रूप मात्र ही दिखायी देता है और यह बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होता है। परंतु, सच पूछा जाय तो, छोटी-से-छोटी वस्तु जो होती है उसपर यदि तुम विचार करो तो तुम यह स्वीकार करनेके लिये बाध्य होगे कि यह चमत्कारपूर्ण है।

चूंकि तुम उसपर विचार नहीं करते केवल इसीलिये तुम चीजोंको उस रूपमें लेते हो जैसी कि वे हैं, जिस लिये कि वे हैं, बिना किसी शंका-संदेहके; अन्यथा प्रत्येक दिन तुम्हें अपने-आपसे यह कहनेके अनगिनत अवसर प्राप्त होते कि: "सचमुच, यह तो बिलकुल आश्चर्यजनक है। यह कैसे हुआ ?"

बिलकुल सीधे तौरपर, यह विशुद्धतः ऊपरी तौरपर देखनेकी एक आदत है।

प्यारी माताजी, इस नयी 'चेतना'के प्रति हमारा क्या मनोभाव होना चाहिये ?

यह इस बातपर निर्भर है कि तुम उसके द्वारा क्या करना चाहते हो।

यदि तुम एक अनोखी वस्तुके रूपमें उसकी ओर ताकना चाहो तो तुम्हें बस उसे देखते रहना होगा, समझनेका प्रयत्न करना होगा।

यदि तुम चाहो कि वह तुम्हें बदल दे तो तुम्हें अपने-आपको खोलना होगा और प्रगति करनेका प्रयास करना होगा।

क्या इस अभिव्यक्तिसे लोगोंको समष्टिगत रूपसे या व्यक्तिगत रूपसे लाभ होगा?

तुम यह प्रश्न क्यों पूछते हो?

क्योंकि बहुत-से लोग जो यहां आये हैं पूछते हैं: "इससे हम लोगोंको कैसे लाभ पहुंचेगा?"

ओह!

और उससे उन्हें क्यों लाभ पहुंचना चाहिये? लाभ पानेका उन्हें क्या अधिकार है? ठीक इस कारण कि उन्होंने यहां आनेके लिये रेलगाड़ी पकड़ी है?

ऐसे लोगोंको मैं जानती हूं जो यहां बहुत दीर्घकाल, दीर्घकाल पहले आये थे, लगभग (ओह, अब मुझे याद नहीं है, पर बहुत दिन पहले), निश्चय ही बीस वर्षोंसे भी अधिक पहले आये थे और प्रथम बार जब कोई व्यक्ति आश्रममें मरा तो उन्होंने पर्याप्त असंतोष प्रकट किया, कहा: "परंतु मैं, मैं यहां इसलिये आया था कि मैंने समझा था कि यह योग मुझे अमर बना देगा; पर मनुष्य यदि मर सकता है तो मैं फिर क्यों आया?"

हां, यह भी वही बात है। लोग यहां आनेके लिये रेलगाड़ी पकड़ते हैं — इस बार[1] और समयोंकी अपेक्षा लगभग डेढ़ सौ व्यक्ति अधिक आये थे, एकदम इस कारण कि वे "लाभ उठाना" चाहते थे। परंतु संभवत: ठीक यही कारण था कि उन्हें लाभ नहीं मिला! क्योंकि 'वह' इसलिये नहीं आया है कि लोग चाहे जिस किसी प्रकार लाभ उठा लें।

वे पूछते हैं कि क्या अपनी आंतरिक कठिनाइयोंको जीतना अधिक आसान होगा।

मैं फिर वही बात दुहराऊंगी। क्या कारण है और क्या अधिकार है उन लोगोंको यह पूछनेका कि वह अधिक आसान होना चाहिये? उन्होंने क्या किया है, उन लोगोंने, अपनी ओरसे? वह अधिक आसान क्यों होना चाहिये? लोगोंके आलस्य और अकर्मण्यताको संतुष्ट करनेके लिये — या किसलिये?

---

[1] २४ अप्रैल, १९५६ के दर्शनोत्सवके समय।

क्योंकि जब कोई नयी चीज होती है, लोगोंके मनमें सर्वथा ही उससे लाभ उठानेका विचार आता है।

नहीं ! जब कोई नयी चीज होती है तभी नहीं; सर्वत्र और सब समय लोगोंके मनमें लाभ उठानेका विचार रहता है। परंतु निःसंदेह यही कुछ न पानेका सर्वोत्तम तरीका है।

वे यहां किसको धोखा देना चाहते हैं? भगवान्को? . . . वैसा करना मुश्किलसे ही संभव है।

यही बात उन लोगोंके विषयमें है जो 'इंटरव्यू' मांगते हैं। मैं उनसे कहती हूं: "सुनो, तुम लोग बहुत बड़ी संख्यामें आये हो, और यदि प्रत्येक व्यक्ति मुझसे मिलनेके लिये समय मांगे तो इन दिनों प्रत्येकसे मिलनेके लिये मेरे पास पर्याप्त मिनट भी नहीं होंगे। जितने दिन तुम यहां ठहरने-वाले हो उसमें तो मुझे एक मिनट भी समय नहीं मिलेगा।" तब वे कहते हैं: "ओह! मैंने इतना अधिक कष्ट उठाया है। मैं इतनी दूरसे आया हूं, मैं वहांसे सीधा आया हूं, मैं इतनी दूर आया हूं, मुझे इतने अधिक घंटोंतक सफर करना पड़ा — और मुझे इन्टरव्यूका कोई अधिकार नहीं है?" मैं कहती हूं: "मुझे दुःख है, पर तुम केवल एक ही व्यक्ति नहीं हो जिसने ऐसा किया है।"

बस, यही बात है, समझे: यह देना और लेना, सौदा करना है। यह कोई व्यापारिक संस्था नहीं है, हमने कहा, हम यहां व्यापार नहीं करते।

शिष्योंकी संख्या अब दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। इससे क्या सूचित होता है?

परंतु स्वभावतः वह बढ़ती रहेगी! और यही कारण है कि मैं अब वह काम नहीं कर सकती जो मैं उस समय करती थी जब कि आश्रममें एक सौ पचास व्यक्ति थे। यदि उन्हें थोड़ी-सी भी समझ होती तो वे समझ जाते कि मैं अब लोगोंके साथ (अभी हालमें उनकी संख्या १८०० थी, मेरे बच्चे!) वही संबंध नहीं रख सकती। अतएव मैं १८४५ लोगोंके साथ (मैं समझती हूं, यही ठीक-ठीक संख्या थी) वही संबंध नहीं रख सकती जैसा कि लगभग तीस या यहांतक कि सौ लोगोंके साथ रखती थी। मुझे यह युक्ति समझने-के लिये काफी आसान प्रतीत होती है।

परंतु वे चाहते हैं कि प्रत्येक चीज वैसी ही बनी रहे जैसी वह पहले थी, और, जैसा कि तुम कहते हो, वे "लाभ उठाने" में सर्वप्रथम होना चाहते हैं।

माताजी, जब पार्थिव वातावरणमें मन अवतरित हुआ, बन्दरने मनुष्य-रूपमें परिवर्तित होनेका कोई प्रयत्न नहीं किया था, किया था? वास्तवमें प्रकृति माताने ही उस प्रयासकी व्यवस्था की थी। परंतु यहां...।

परंतु सच पूछो तो स्वयं मनुष्य अपने-आपको अतिमानवमें परिवर्तित करने नहीं जा रहा!

नहीं?

बस थोड़ा-सा प्रयास करो! (हंसी)

वह चीज है समझे, कोई दूसरी चीज है जो कार्य करने जा रही हैं।

सो, हमें...।

केवल — हां, यहां एक "केवल" है, मैं उतना निर्मम नहीं होना चाहती: अब मनुष्य सहयोग दे सकता है। कहनेका तात्पर्य, वह इस प्रक्रियामें, शुभेच्छाके द्वारा, अभीप्साके द्वारा हाथ बंटा सकता है, और यथाशक्ति अधिक-से-अधिक सहायता कर सकता है। यही कारण है कि मैंने यह कहा था कि यह काम अधिक तेजीसे चलेगा। मैं आशा करती हूं कि वह बहुत अधिक तेजीसे चलेगा।

परंतु, आखिरकार, यह बहुत अधिक तेजी भी कुछ तो समय लेगी ही।

(मौन)

सुनो। यदि तुम सब लोगोंने, जिन्होंने इसके विषयमें सुना है, एक बार नहीं बल्कि शायद सैकड़ों बार, इस विषयमें स्वयं भी चर्चा की है, इसपर विचार किया है, इसके लिये आशा की है, इसे चाहा है — ऐसे लोग भी हैं जो उसीके लिये, अतिमानसिक 'शक्ति' को ग्रहण करने तथा अतिमानवमें रूपांतरित होनेके अभिप्रायसे यहां आये, वही उनका लक्ष्य था, था न?.. परंतु यह कैसी बात है कि तुम सब लोग इस 'शक्ति' से इतने अपरिचित थे कि जब वह आयी तो तुमने उसको अनुभवतक नहीं किया?

क्या तुम लोग मेरी इस समस्याको हल कर सकते हो? यदि तुम्हारे पास इस समस्याका उत्तर है तो तुम्हें कठिनाईका हल भी प्राप्त हो जायगा।

मैं बाहरसे आनेवाले लोगोंकी चर्चा नहीं कर रही हूं जिन्होंने कभी इसका चिंतन नहीं किया, जो इसमें कभी संलग्न नहीं रहे, और जो यह भी नहीं जानते कि 'अतिमानस' जैसी कोई वस्तु प्राप्तव्य है, समझे। मैं उन लोगोंकी बात कर रही हूं जिन्होंने इसी अभीप्साके ऊपर अपने जीवनको आधारित किया है (और मैं उनकी सच्चाईपर संदेह नहीं करती, एक क्षणके लिये भी), जिन्होंने कार्य किया है, कुछने तीस वर्षोंतक, कुछने पैंतीस वर्षोंतक, कुछने थोड़े कम समयतक, प्रत्येक कार्य यह कहते हुए किया है: "जब 'अतिमानस' आयेगा ... जब 'अतिमानस' आयेगा ...", यही थी उनकी टेक: "जब अतिमानस आयेगा ...।" परिणामतः, वे यथार्थमें सबसे उत्तम संभव स्थितिमें थे, हम उससे किसी अधिक अच्छी स्थितिकी कल्पना नहीं कर सकते थे। क्या बात है कि उनकी आंतरिक तैयारी इतनी (बस इतना ही कहें) इतनी अपूर्ण थी कि जब 'स्पंदन' आया, उन्होंने तादात्म्यके संपर्कके द्वारा उसको तुरत अनुभव नहीं किया?

व्यक्तिगत रूपसे, प्रत्येक व्यक्तिका उद्देश्य था अपने-आपको तैयार करना, इस 'शक्ति' के कम या अधिक घनिष्ठ व्यक्तिगत संपर्कमें आना, सहायता करना; अथवा, यदि वह सहायता न कर सके तो जब 'शक्ति' अभिव्यक्त हो तब कम-से-कम तैयार रहना, उसे पहचानना और उसकी ओर उद्घाटित होना। और एक ऐसे जगत्में जहां जो तुम्हारे अंदर है वह भी अभिव्यक्त नहीं है, एक विजातीय वस्तु होनेकी जगह तुम एकाएक 'वही' (शक्ति) बन जाते हो, तुम सीधे अंदर प्रवेश कर जाते हो, पूरी तरहसे उसी वातावरणमें पहुंच जाते हो: वही 'शक्ति' यहां है, तुम्हें घेरे हुए है, तुम्हारे अंदर प्रवेश कर रही है।

यदि तुम्हें थोड़ा-सा भी आंतरिक संपर्क प्राप्त होता, तुम तुरत उसे पहचान जाते, क्या तुम ऐसा नहीं मानते?

खैर, कम-से-कम यही चीज उन लोगोंके साथ हुई है जिन्हें थोड़ा-सा आंतरिक संपर्क प्राप्त था; उन्होंने इसे पहचान लिया, इसे अनुभव किया; उन्होंने कहा: "आह! यह रही वह चीज, वह आ गयी है।" पर यह कैसी बात है कि, तब, इतने सौ लोगोंने, उनमेंसे केवल मुट्ठीपर लोगोंकी बात नहीं जिन्होंने वास्तवमें उसके सिवा और कोई चीज नहीं चाही, उसके सिवा और किसी चीजकी बात नहीं सोची, उसीपर अपने समस्त जीवनकी बाजी लगा दी थी, यह कैसी बात है कि उन्होंने कुछ भी अनुभव नहीं किया? इसका क्या अर्थ हो सकता है?

निस्संदेह, केवल सजातीय ही सजातीयको समझ सकता है। यह एक सुस्पष्ट तथ्य है।

व्यक्तिगत रूपसे उस 'वस्तु'के संपर्कमें प्रविष्ट होनेकी एक संभावना थी — यह वही चीज थी जिसे श्रीअरविन्दने आवश्यक पद्धति कहा था : कुछ थोड़े-से लोग होते हैं जो, अपने आंतरिक प्रयास और अभीप्साके द्वारा, इस 'शक्ति'-के संपर्कमें प्रवेश करते हैं। यही चीज है जिसे हम 'अतिमानस'में आरोहण कहा करते थे। और इसलिये, यदि यह किसी आंतरिक आरोहणके द्वारा भी हुआ होता (अर्थात्, अपने-आपको भौतिक चेतनासे मुक्त करके भी ऐसा हुआ होता), यदि आंतरिक आरोहणकी स्थितिमें उन्होंने अतिमानसको स्पर्श किया होता तो, जब वह आया तब, उन्होंने उसे स्वभावतः पहचान लिया होता। परंतु पहलेसे एक संपर्क अपरिहार्य था : यदि उन्होंने उसे स्पर्श नहीं किया था तो फिर वे उसे कैसे पहचान पाते ?

कहनेका मतलब, विश्वव्यापी क्रिया ऐसी ही होती है (मैंने कुछ दिन पहले यह चीज तुम्हारे सामने पढ़ी थी : कुछ व्यक्ति, जो पथप्रदर्शक, अग्रगामी होते हैं, आंतरिक प्रयास तथा आंतरिक प्रगतिके बलपर, उस नयी 'शक्ति'के साथ संबंध स्थापित करते हैं जो अभिव्यक्त होना चाहती है और उसे अपने अंदर ग्रहण करते हैं। और फिर, चूंकि इस प्रकारकी पुकारें होती हैं, बात संभव बन जाती है, और अभिव्यक्तिका युग, काल, क्षण आ उपस्थित होता है। बस, इसी भांति यह हुआ — और अभिव्यक्ति हुई।

परंतु, तब, जो लोग तैयार थे उन्हें उसे अवश्य पहचान लेना चाहिये था।

मैं शीघ्र ही तुम्हें यह बतला देना चाहती हूं कि ऐसे लोग हैं जिन्होंने उसे पहचाना तो, पर फिर भी......। परंतु जो लोग प्रश्न पूछते हैं, जो लोग ठीक इसलिये यहां आये हैं, पंक्तिमें खड़े हो गये हैं कि वे इसे उसी प्रकार पी जायं जिस प्रकार कि एक गिलास शरबत पिया जाता है, यदि उन्होंने कोई तैयारी नहीं की है, वे भला कोई भी चीज कैसे अनुभव कर सकते थे ? और वे लाभ उठानेकी बात करते हैं : "हम उससे लाभ उठाना चाहते हैं....।"

फिर भी, यह बिलकुल संभव है (मैं थोड़ा मजाक कर रही हूं), यह बिलकुल संभव है कि यदि वे जरा-से भी सच्चे हों (बहुत अधिक नहीं, क्योंकि वह थकानेवाला होता है ! बस जरा-से सच्चे हों) तो उन्हें कुछ ऐसे अच्छे धक्के लग सकते हैं जो उन्हें तेजीसे आगे बढ़ा ले जायेंगे। यह संभव है। वास्तवमें, मैं समझती हूं, यही चीज है जो होगी।

परंतु इसमें संदेह नहीं कि यह मनोभाव.....यह मनोभाव, जो भाड़ेके सिपाहियों जैसा है, सामान्यतया बहुत लाभदायी नहीं सिद्ध होता। यदि कोई सच्चे रूपमें अभीप्सा करे और यदि उसके सामने कठिनाइयां हों तो शायद वे कठिनाइयां कम हो जायंगी। हम ऐसी आशा कर सकते हैं।

(शिष्यकी ओर मुड़कर) तो, यही बात है जो तुम उन्हें बता सकते हो: सच्चे, सद्हृदय बनो तो तुम्हें सहायता प्राप्त होगी।

श्रीमाताजी, अभी हालमें, यहां एक वक्तव्य प्रचारित हुआ है—उसमें कहा गया है: "जो कुछ अभी-अभी, इस 'विजय'के साथ हुआ है, वह कोई अवतरण नहीं है बल्कि एक अभिव्यक्ति है। और यह किसी व्यक्तिगत घटनासे कहीं अधिक है: " 'अतिमानस' विश्व-लीलाके अंदर फूट पड़ा है।"

हां, हां, हां। सचमुच मैंने यह सब कहा है। मैं इसे स्वीकार करती हूं। तो फिर?

यह कहा गया है: "अतिमानसिक तत्त्व कार्य कर रहा है . . .।"

परंतु अभी-अभी मैंने यह सब विस्तारके साथ तुम्हें समझाया है (माताजी हंसती हैं), यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है!

मैं जिसे "अवतरण" कहती हूं वह यह है: सबसे पहले चेतना ऊपर चढ़ती है, तुम उस 'चीज'को वहां पकड़ लेते हो, और उसके साथ नीचे उतर आते हो। यह एक व्यक्तिगत क्रिया है।

जब यह व्यक्तिगत घटना इस ढंगसे घटती है कि वह एक साधारण प्रकारकी संभावना उत्पन्न करनेके लिये पर्याप्त होती है तो वह "अवतरण" नहीं रह जाती, वह एक "अभिव्यक्ति" बन जाती है।

मैं जिसे अवतरण कहती हूं वह व्यक्तिगत क्रिया होती है और वह क्रिया व्यक्तिगत चेतनामें होती है। और जब कोई नवीन जगत् पुराने जगत्के अंदर अभिव्यक्त होता है तो — उदाहरणार्थ, जब मन पृथ्वीपर फैल गया था — मैं उसे अभिव्यक्ति कहती हूं।

तुम इसे जो चाहो कह सकते हो, मेरे लिये इससे कोई अंतर नहीं पड़ता, परंतु हमें एक-दूसरेको अवश्य समझना चाहिये।

जिसे मैं अवतरण कहती हूं वह व्यक्तिगत चेतनामें होता है। ठीक जिस तरह मनुष्य आरोहणकी बात कहता है (वास्तवमें आरोहण नामकी कोई चीज नहीं है: वहां न तो ऊपर है न नीचे और न कोई दिशा है, यह तो कहनेका एक ढंग है), तुम आरोहणकी बात कहते हो जब तुम्हें यह भान होता है कि तुम किसी चीजकी ओर ऊपर उठ रहे हो; और तुम

अवतरणकी बात कहते हो जब कि, उस वस्तुको पकड़नेके बाद, तुम अपने साथ उसे नीचे ले आते हो।

परंतु जब दरवाजे खुले होते हैं और बाढ़ अंदर आ जाती है, तुम उसे अवतरण नहीं कह सकते। तब तो यह एक दिव्य शक्ति होती है जो विस्तारित होती है। समझ रहे हो? ...... आह!

शब्द चाहे जो व्यवहृत हों, मेरे लिये सब एक समान हैं। तात्विक रूपसे, मैं शब्दोंकी कोई परवा नहीं करती, पर मैं उन शब्दोंको तुम्हें समझा रही हूं, और एक-दूसरेको समझना उत्तम है, क्योंकि, अन्यथा व्याख्याओंका कोई अंत नहीं है।

अब, जो लोग तुमसे चालाकीके साथ ये प्रश्न पूछते हैं, उन्हें तुम यह उत्तर दे सकते हो कि कोई चीज पानेका सर्वोत्तम उपाय खींचना नहीं बल्कि देना है। यदि वे नवीन जीवनके प्रति अपने-आपको सर्मपित कर देना चाहते हैं तो, हां, नवीन जीवन भी उनके अंदर प्रवेश करेगा।

परंतु वे यदि नवीन जीवनको अपने अंदर खींचना चाहेंगे तो वे अपनी ही स्वार्थपरताके द्वारा अपने दरवाजेको बंद कर देंगे। बस, यही बात है।

९ मई, १९५६

प्रिय माताजी, हमारा सच्चा आध्यात्मिक जीवन कहांसे आरंभ होता है?

सच्चा आध्यात्मिक जीवन तब आरंभ होता है जब मनुष्यको अपने चैत्य पुरुषके अंदर भगवान्‌के साथ संपर्क प्राप्त हो जाता है, जब मनुष्य चैत्यके अंदर भागवत उपस्थितिके विषयमें सज्ञान हो जाता तथा चैत्यके साथ सतत संबंध स्थापित कर लेता है। तब आध्यात्मिक जीवन प्रारंभ होता है, उससे पहले नहीं। सच्चा आध्यात्मिक जीवन।

जब मनुष्य अपने चैत्य पुरुषके साथ युक्त हो जाता है और दिव्य उपस्थितिके बारेमें सज्ञान हो जाता है, और दिव्य उपस्थितिसे ही अपने कर्मोंकी अंतःप्रेरणा प्राप्त करने लगता है, और जब उसकी संकल्प-शक्ति भागवत संकल्प-शक्तिकी सचेतन सहयोगिनी बन जाती है, — यही है प्रारंभ-बिंदु।

उससे पूर्व, मनुष्य आध्यात्मिक जीवनका एक अभीप्सु हो सकता है, परंतु उसे सच्चा आध्यात्मिक जीवन नहीं प्राप्त होता।

प्यारी माताजी, मैं एक वाक्यकी व्याख्या सुनना चाहता हूं। श्रीअरविंदने कहींपर कहा है: "भौतिक रूपमें तुम कुछ नहीं हो, आध्यात्मिक रूपमें तुम सब कुछ हो।"

इसका अर्थ यह है कि वास्तवमें विराट् 'आत्मा', आध्यात्मिक चेतना और भागवत उपस्थिति ही वे चीजें हैं जो जीवनको उसका समस्त मूल्य प्रदान करती हैं और इस आध्यात्मिक चेतना तथा भागवत उपस्थितिके बिना जीवनका कोई मूल्य नहीं है।

यही बात व्यक्तिके लिये भी सत्य होती है, उसकी भौतिक क्षमताएं चाहे जो भी हों और चाहे जिन भौतिक अवस्थाओंमें वह रहता हो, उसका एक-मात्र मूल्य वही है जो उसमें विद्यमान दिव्य उपस्थिति और आध्यात्मिक चेतनाका मूल्य होता है।

अतएव वस्तुओंके सत्यके दृष्टिकोणसे, जिस मनुष्यके पास कोई भौतिक संपत्ति अथवा जिसमें क्षमताएं या असाधारण संभावनाएं नहीं हैं, पर जो अपने चैत्य पुरुषके बारेमें सज्ञान तथा अपने अंदर विद्यमान भगवान्‌के साथ युक्त है, वह पृथ्वीके किसी राजासे अथवा किसी करोड़पतिसे, जिसके पास प्रचुर भौतिक शक्ति हो पर जो अपने चैत्य पुरुषसे अचेतन हो, अनंतगुना महान् है।

सत्यके दृष्टिकोणसे, बात ऐसी ही है। बस, यही श्रीअरविन्दका मतलब है: किसी भी आपातदृश्य और बाहरी वस्तुका कोई वास्तविक मूल्य नहीं है। एकमात्र वस्तु जो मूल्यवान् है वह है दिव्य चेतना तथा परमात्माके साथ एकत्व।

श्रीमाताजी! आपने पिछली बार जो कुछ कहा था उसके अनु-सार उन लोगोंका प्रश्न फिर भी रह ही जाता है जो नयी 'शक्ति'के प्रति ज्ञानपूर्वक उद्घाटित नहीं हैं। तब वे भला किस प्रकार प्रभावित होंगे? क्या वे अतिमानसिक नहीं वरन् आध्यात्मिक शक्तिके द्वारा प्रभावित होंगे?

क्या, क्या, क्या?

तुम आध्यात्मिक और अतिमानसिक शक्तिके बीच क्या भेद करते हो?

परंतु आपने कहा है कि जिन लोगोंने कुछ नहीं किया है अथवा अपने-आपको नहीं दिया है वे कैसे इस 'शक्ति'से प्रभावित होने या लाभ उठानेकी आशा करेंगे? जो लोग यहां हैं पर सचेतन रूपसे खुले हुए नहीं हैं, क्या वे भी प्रभावित होंगे?

प्रभावित, हां।

क्या उन्हें भी सहायता मिलेगी?

पर यदि वे सहायता पानेकी परवा न करें! क्या उसके बावजूद तुम उनकी सहायता करना चाहते हो?

यदि कोई अभीप्सा करता है, सहायता चाहता है, यदि उद्‌घाटन बहुत मामूली भी हो फिर भी आवश्यक रूपसे उसमें कुछ उद्‌घाटन होता ही है। परंतु कोई यदि सहायता न चाहे..... अथवा मैं यहांतक कह सकती हूं कि ऐसे लोग भी होते हैं जो निश्चित रूपमें यह समझते हैं कि उन्हें सहायताकी कोई आवश्यकता नहीं है, वे अनुभव करते हैं कि वे स्वयं अपनी सहायता बहुत अच्छी तरह कर सकते हैं और दूसरोंकी सहायताकी उन्हें कोई जरूरत नहीं, और अनुभव करते हैं कि वास्तवमें वे स्वयं ही कार्य करते हैं, स्वयं ही प्रगति करते हैं, स्वयं ही सब कुछ करते हैं। अतएव वे कोई सहायता नहीं चाहते, वे उसकी कोई जरूरत नहीं महसूस करते। जब वे इसकी कोई परवा नहीं करते तब तुम उन्हें सहायता क्यों पहुंचाना चाहते हो?

परंतु आपने कहा कि अंधे लोग भी उसे अनुभव करनेके लिये बाध्य होंगे।

मैंने कहा कि यह उन लोगोंको भी दिखायी देगा जो अशुभचिंतक हैं— क्या यही तुम्हारा मतलब है? परंतु वह तो एक बिलकुल अलग बात है। जब तुम्हारी नाकपर एक मुक्का पड़ता है, तो तुम किसीकी सहायता पाये बिना भी उसे समझनेके लिये बाध्य होते हो!

जब मनुष्य इस 'शक्ति'को पहचान लेता है...

हां।

वह उद्घाटित होनेके लिये बाध्य होता है...

हां।

अतएव जिस व्यक्तिने अबतक सहायता पानेकी इच्छा नहीं की थी वह भी इसे चाहेगा।

इस 'शक्ति'को पहचानेगा? — ओह! जब वह मुक्का खा लेगा? (हंसी) संभवतः। ऐसा हो सकता है। कोई भी बात हो सकती है।

अतएव, जो व्यक्ति अभी भी अचेतन है वह आघात पाकर खुल जायगा।

तो फिर? तुम्हारा निष्कर्ष क्या है? तुम क्या होनेकी आशा करते हो?

कहनेका तात्पर्य यह कि वह देखेगा कि यह एक चमत्कार है।

अपने ऊपर पड़नेवाले मुक्केको? (हंसी)

वह उसे चमत्कार नहीं कहेगा, वह उसे बुरा काम कहेगा। वह कहेगा: "यह दुर्भाग्य है, यह मेरा अमंगलमय अदृष्ट है, यह अन्याय है", वह ऐसी सभी प्रकारकी बातें कहेगा जैसी कहनेकी लोगोंकी आदत होती है।

परंतु मैं अभीतक यह नहीं समझ पायी कि आखिर तुम्हारे प्रश्नका अर्थ क्या है। तुम क्या पूछनेकी चेष्टा कर रहे हो? क्या तुम्हारा मतलब यह है कि सारा संसार, वह चाहे या न चाहे, अभीप्सा करे या न करे, पहचाने या न पहचाने, जल्दी या देरसे, पृथ्वीपर अवतरित अति-मानसिक उपस्थितिके प्रभावमें आ जायेगा — क्या तुम्हारा मतलब यही है?

नहीं।

आह! यह दुःखकी बात है, कारण उसका कुछ मतलब होता। (हंसी) और मैंने उत्तर दिया होता: "हां" — और तब बात समाप्त हो गयी होती!

नहीं। जो लोग आधे खुले हैं . . .

वे उन लोगोंसे आधा अधिक ग्रहण करेंगे जो बिलकुल ही खुले नहीं हैं! (हंसी)

यह अभिव्यक्ति उनसे अधिक अभीप्सा करायेगी ?

आह! यह मैं नहीं जानती। वह प्रत्येक व्यक्तिपर निर्भर करेगी। प्रत्येक व्यक्तिके लिये यह बात अलग-अलग होगी।

क्या तुम स्वयं अपने लिये वकालत कर रहे हो?

हां।

ओह! ओह! तुम यह जानना चाहते हो कि तुम्हारे साथ क्या होगा? अपने मनको शांत करो, वह बिलकुल ठीक होगा। मैं लगभग वही बात कह सकती हूं जो जौन ऑफ आर्कके झंडेके विषयमें कहा गया था: "तुमने परिश्रममें हिस्सा बंटाया है, तुम्हें विजयमें भी हिस्सा मिलेगा।" लो अब, तुम संतुष्ट हो?

हां।

१६ मई, १९५६

"संक्षेपमें, यह निःशंक होकर कहा जा सकता है कि जबतक वह अतिमानसिक 'सत्य-चेतना' प्राप्त नहीं हो जाती जिसके द्वारा वस्तुओंके बाह्य रूप अपने-अपने स्थानमें सुस्थित हो जायेंगे और उनका सार-तत्त्व तथा वह अंतरीय तत्त्व भी जो सीधा इस आध्यात्मिक सार-तत्त्वसे निकलता है प्रकट हो जायेंगे, तब-तक कोई भी प्रस्तावित समाधान सामयिक होनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इस बीच हमारी एकमात्र सुरक्षा इस बातमें है कि हम आध्यात्मिक अनुभूतिके पथ-प्रदर्शक नियम-

की खोज करें अथवा अपने भीतरके उस प्रकाशको उन्मुक्त करें जो हमें तबतक मार्ग दिखा सकता है जबतक कि वह महत्तर साक्षात् 'सत्य-चेतना' हमें अपनेसे ऊर्ध्व स्तरमें प्राप्त नहीं हो जाती या अपने अंदर ही उत्पन्न नहीं हो जाती। क्योंकि हमारे अंदरकी और वे सब चीजें जो केवल बाहरी हैं, वह सब जो आध्यात्मिक बोध या प्रत्यक्षानुभव नहीं है,—बुद्धिकी कल्पनाएं, उसके निरूपण, अथवा निष्कर्ष, 'जीवन-शक्ति'के निर्देश या उसकी प्रेरणाएं तथा भौतिक पदार्थोंकी असंदिग्ध आवश्यकताएं, ये सब कभी अर्ध-प्रकाश होते हैं और कभी मिथ्या प्रकाश। ये प्रकाश, अपने श्रेष्ठ रूपमें भी, केवल कुछ कालके लिये ही सहायक हो सकते हैं या केवल थोड़ी-सी ही सहायता कर सकते हैं और शेषांशमें तो ये हमें बाधा पहुंचाते या भ्रममें डालते हैं।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० १५९)

भौतिक वस्तुओंकी आवश्यकताएं भी? मैं नहीं समझ पाया।

यह सब, केवल भौतिक आवश्यकताएं ही नहीं। ये सभी वस्तुएं कभी-कभी किसी प्रकारकी ज्योतियां, अर्थात् घटी हुई और अज्ञानसे मिश्रित ज्ञान, होती हैं और कभी-कभी झूठी ज्योतियां, अर्थात् ऐसी ज्योतियां जो ज्ञान बिलकुल नहीं होतीं: केवल भावनाएं, धारणाएं, देखनेके ढंग, अनुभव करनेके तरीके आदि होती हैं—ये सभी वस्तुएं सामान्यतया साधारण मानवीय चेतनाके द्वारा ज्ञान मानी जाती हैं।

श्रीअरविंद भौतिक आवश्यकताओंकी, शरीरकी आवश्यकताओंकी भी चर्चा करते हैं जिनके विषयमें साधारण तौरपर यह माना जाता है कि वे बिलकुल अनिवार्य हैं और उनका अपना सत्य है; वह कहते हैं कि वह सत्य भी एकदम आंशिक प्रकाश ही है, मतलब, ज्ञानका आभास है या यहांतक कि झूठी चीज भी हो सकता है।

यह बात सभी आधुनिक विचारोंके विरुद्ध पड़ती है।

लोगोंकी धारणा सर्वदा यह होती है कि जिसे वे शरीरकी आवश्यकताएं समझते हैं, शरीर जिस चीजकी मांग करता है वह एक अकाट्य विधान है; और यदि मनुष्य उसका पालन नहीं करता तो वह अपने शरीरके प्रति बहुत अन्याय करता है और शरीर उसके परिणामोंको भोगता है। और श्रीअरविंद कहते हैं कि ये आवश्यकताएं अपने-आपमें या तो बहुत

ही आंशिक ज्योतियां हैं अर्थात् वस्तुओंको देखनेका केवल एक ढंग हैं या बिलकुल ही कोई ज्योति नहीं हैं, पूर्ण रूपसे मिथ्या हैं।

यदि कोई इस समस्याका काफी गहराईके साथ अध्ययन करे तो वह देखेगा कि किस हदतक शरीरकी ये तथाकथित आवश्यकताएं उसकी मानसिक स्थितिपर निर्भर करती हैं। उदाहरणके लिये, खानेकी आवश्यकता। कुछ ऐसे लोग होते हैं जिन्हें यदि आठ दिनोंतक भोजन न मिले तो वे सचमुच भूखके मारे प्राण गंवा देते हैं। परंतु दूसरे ऐसे लोग भी होते हैं जो जान-बूझकर ऐसा करते हैं; वे योगके नियमके रूपमें, योगकी एक आवश्यकताके रूपमें उपवास करते हैं। और उनके लिये, आठ दिनोंके उपवासके अंतमें, शरीर उतना ही स्वस्थ रहता है जितना कि वह पहले था, और कभी-कभी तो और भी अधिक अच्छा होता है !

अंतमें, इन सब चीजोंके लिये, प्रश्न है अनुपातका, मात्राका। यह स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति सर्वदा खाये बिना नहीं जी सकता। परंतु यह बात भी उतनी ही स्पष्ट है कि भोजनकी आवश्यकताके विषयमें मनुष्यकी जो भावना है वह भी सच नहीं है। निस्संदेह, अध्ययनके लिये यह एक अच्छा विषय है: "शरीरके संबंधमें मानसिक वृत्तिका महत्त्व।"

श्रीअरविंद शरीरकी आवश्यकताओंको अपने-आपमें सच्ची चीजें नहीं स्वीकार करते। वह कहते हैं: यह सच नहीं है, यह केवल एक भावना, एक धारणा है जिसे तुमने बना लिया है, यह कोई सच्ची वस्तु नहीं है, कोई ऐसी चीज नहीं है जिसके अंदर अपना कोई सत्य हो।

प्रिय माताजी, यह "अत्यावश्यक विधान", यह "आध्यात्मिक और अतिमानसिक विधान" क्या है?

वह है प्रत्येक सत्ताका सत्य।

प्रत्येक सत्ता अपने अंदर अपना आध्यात्मिक विधान, अपना अतिमानसिक विधान वहन करती है। प्रत्येकके लिये वह एक ही नहीं है, वह एकमात्र अभिन्न विधान नहीं है। प्रत्येकके लिये वह उसकी सत्ताका सत्य होता है, कहनेका तात्पर्य, वह वस्तु है जिसे उसे विश्वमें अवश्य उपलब्ध करना होगा और वह स्थान है जिसे जगत्‌के अंदर उसे अधिकृत करना होगा।

वही है उसकी सत्ताका सत्य।

"न ही प्राण और अध्यात्ममें एक प्रकारका कुसंबंध स्थापित

करनेके लिये बार-बार यत्न करना पर्याप्त हो सकता है, — ऐसा कुसंबंध कि भीतर तो गुह्य अनुभव हो और बाहर एक ऐसा सौंदर्य-रसिक, बौद्धिक एवं ऐन्द्रिय प्रकृति-पूजा या उच्च सुखवाद हो जो गुह्य अनुभवका सहारा लेकर और आध्यात्मिक स्वीकृतिकी चमक-दमकमें अपनी कामनाओंको तृप्त करता रहे।"
(वही, पृ० १५८)

"सौंदर्य-रसिक ऐंद्रिय प्रकृति-पूजा" से श्रीअरविंदका क्या मतलब है?

बस, इस तरह श्रीअरविंद विभिन्न देशोंके, विशेषकर यूनान या भारतके विभिन्न देवताओंका वर्णन करते हैं। कहनेका मतलब, यह सभी वस्तुओंको दिव्य प्राणियों, दिव्य सत्ताओंमें रूपांतरित करनेका एक सौंदर्यात्मक या बौद्धिक तरीका है। प्रकृतिकी सभी शक्तियोंको, सभी तत्त्वोंको, सभी आध्यात्मिक शक्तियोंको, सभी बौद्धिक शक्तियोंको, सभी भौतिक शक्तियोंको — इन सबको देवताओंके वर्गमें परिणत कर दिया जाता है और उन्हें एक सौंदर्यात्मक और बौद्धिक सत्य प्रदान कर दिया जाता है। यह सभी विश्वगत शक्तियों और सद्वस्तुओंके साथ व्यवहार करनेकी एक प्रतीकात्मक, कलात्मक, साहित्यिक तथा कवित्वमय पद्धति है। बस, इसी तरह ये देवगण उद्भूत हुए, यूनान या मिस्रके देवगणोंकी तरह, अथवा यहांतक कि भारतके देवगणोंकी तरह।

ये सभी देवता प्रतिरूप हैं जिन्हें श्रीअरविंद "सौंदर्य-रसात्मक और बौद्धिक" कहते हैं — यह विश्वकी धारणा करनेका एक तरीका है। परंतु इसका मतलब यह नहीं है कि वे किसी सत्यके साथ (किसी सत्यकी अपेक्षा किसी सद्वस्तुके साथ) मिलते-जुलते नहीं : उस तरहकी सत्ताएं हैं; परंतु यह संपूर्ण जगत् या यों कहें कि संपूर्ण जगतोंके समीपस्थ होनेका एक विशेष पथ है।

प्यारी माताजी, क्या नैतिकताने हमें अपनी चेतना बढ़ानेमें सहायता नहीं पहुंचायी है?

यह निर्भर करता है लोगोंके ऊपर। ऐसे लोग होते हैं जिन्हें इससे सहायता मिलती है। ऐसे लोग भी होते हैं जिन्हें बिलकुल सहायता नहीं मिलती।

नैतिकता पूर्णतः एक कृत्रिम और ऐच्छिक वस्तु है, और अधिकतर प्रसंगोंमें, सर्वोच्च प्रसंगोंमें, यह इस प्रकारके नैतिक संतोषके द्वारा सच्चे आध्यात्मिक प्रयासको अवरुद्ध कर देती है कि मनुष्य सच्चे पथपर है। और एक सज्जन पुरुष है, वह अपने कर्तव्योंका पालन करता है, जीवनकी सभी नैतिक आवश्यकताओंको पूरा करता है। इस प्रकार, मनुष्य इतना आत्म-तुष्ट होता है कि वह जरा भी आगे नहीं बढ़ता और कोई और प्रगति नहीं करता।

धार्मिक मनुष्यके लिये भगवान्‌के पथपर प्रवेश करना बहुत कठिन है; यह बात बार-बार कही गयी है, पर यह सचमुच सत्य है, क्योंकि वह अत्यंत आत्म-तुष्ट होता है, वह समझता है कि जो कुछ उसे उपलब्ध करना था उसे उपलब्ध कर लिया है, वह अब किसी प्रकारकी अभीप्सा नहीं रखता, यहांतक कि उसमें वह मौलिक विनम्रता भी नहीं होती जो तुमसे प्रगति करनेकी इच्छा कराती है। तुम जानते ही हो, जो व्यक्ति भारतमें सात्त्विक मनुष्य' कहलाता है वह सामान्यतया अपने सद्‌गुणके अंदर बहुत सुखपूर्वक बैठा रहता है और कभी उससे बाहर निकलनेकी नहीं सोचता। अतएव, वह चीज तुम्हें भागवत उपलब्धिसे लाखों मील दूर रखती है।

आंतरिक ज्योति पानेसे पहले जो चीज वास्तवमें मनुष्यको सहायता देती है वह है अपने लिये कुछ विशेष नियमोंका निर्माण जो स्वभावतः ही अत्यंत कठोर और सुनिश्चित नहीं होने चाहिये, पर फिर भी इतने पर्याप्त रूपमें सुस्पष्ट होने चाहिये कि वे सही मार्गसे पूर्णतः बाहर चले जाने या ऐसी भूलें करनेसे रोक सकें जिन्हें सुधारा न जा सके — ऐसी भूलें जिनके परिणाम मनुष्य सारे जीवन भोगता है।

ऐसा करनेके लिये, यह अच्छा है कि अपने अंदर किन्हीं ऐसे सिद्धांतोंको स्थापित कर लिया जाय जो, वे चाहे कुछ भी हों, अपने स्वभावसे मेल खाते हों। यदि तुम किसी सामाजिक, समष्टिगत नियमको अपना लो तो तुम तुरत इस सामाजिक नियमके बंधनमें पड़ जाओगे और वह प्रायः मौलिक रूपमें तुम्हें रूपांतरके लिये कोई भी प्रयास करनेसे रोकेगा।

'भारतीय परिभाषाके अनुसार सात्त्विक पुरुष वह है जो ज्ञान, समता और ज्योतिके तत्त्वके द्वारा परिचालित होता है, जब कि उसके विपरीत, राजसिक व्यक्ति वह कहलाता है जो अपनी कामनाओं और आवेगोंके वशीभूत होकर जीवन चलाता है तथा तामसिक व्यक्ति वह होता है जो जड़ता और तमिस्रामें निवास करता है।

प्रिय माताजी, श्रीअरविंदने कहा है कि मनुष्यको अपने अंदर एक ज्योतिको खोजना चाहिये और फिर भागवती शक्तिके प्रति समर्पण करना चाहिये। अब, जब कि 'अतिमानस' अवतरित हो गया है, क्या ऐसा करना अधिक आसान होगा ?

वही है यह, अंतरकी ज्योति, अब।

कठिनाई क्या है? तुम्हें कोई आपत्ति या विरोध कहां दिखायी देता है? आखिर, तुम्हारी कठिनाई क्या है ?

हम यह कैसे समझ सकते हैं कि अब यह अधिक आसान हो गया है? इस अवतरणका क्या प्रभाव है?

तबतक प्रतीक्षा करो जबतक यह चीज तुम्हारे अंदर नहीं होती और तब तुम इसे समझ जाओगे !

अच्छा। कल्पना करो कि एक अंधकारपूर्ण कमरेमें तुमने उसी प्रकारका स्पिरिटका दीया रखा है जैसा कि लोग लगभग ५० वर्ष पहले रखा करते थे। (उनके कमरोंमें स्पिरिटके दीये होते थे जैसे कि आजकल लालटेनें होती हैं; वह थोड़ा अधिक अच्छा था पर कम या अधिक एक जैसी ही चीज थी)। सो, उससे तुम अपने कमरेमें रोशनी करते थे, और फिर एकाएक किसी आदमीने बिजलीसे रोशनी करनेका उपाय निकाला। और तुम्हारे स्पिरिटके दीयेके स्थानपर सुन्दर बिजलीकी बत्ती आ गयी जो दसगुनी अच्छी रोशनी देती है।

क्या है तुम्हारी कठिनाई, तुम्हारी समस्या?

अपने कमरेको—अपने आंतरिक कमरेको आलोकित करनेके लिये तुम्हारे पास हमेशा एक रोशनी थी, परंतु स्पिरिटके दीपकके स्थानपर अब यह बिजलीकी बत्ती है। बस यही है अंतर।

तुम नहीं समझते? नहीं? इसे समझना बहुत कठिन नहीं है।

हम उस प्रकाशको देखना चाहते हैं।

देखना ? आह ! . . . कमरेमें घुसो और वह तुम्हें दिखायी देगा।

(मौन)

बस, इतना ही?

माताजी, पहले प्रश्नके अंतमें एक वाक्य है जिसे मैं नहीं समझा: "और शेषांशमें तो ये हमें बाधा पहुंचाते या भ्रममें ही डालते हैं।" इस "शेषांश"का क्या मतलब है?

श्रीअरविंद मानसिक रचनाओं, बुद्धिके निरूपणों अथवा निर्णयों, प्राण-शक्तिके सुझावों और बहकावों तथा शरीरकी आवश्यकताओंकी चर्चा कर रहे हैं। अब, ये सब, ये अर्ध-ज्योतियां या मिथ्या ज्योतियां मार्गमें कुछ कम उपयोगी हो सकती हैं, हमें तनिक सहायता कर सकती हैं, और केवल कुछ समयके लिये ही कर सकती हैं। और जो कुछ यह सब नहीं है, बाकी सब कुछ, अर्थात् सभी अनगिनत विचार और गति-विधियां, संवेदन और अनुभव जो हमें होते हैं, हां, यह सब बिलकुल किसी कामके नहीं होते। और एकदम निरुपयोगी होनेसे भी अधिक बुरा है यह कि यह सब हमें रास्तेपर रोक लेते हैं, बस। यह सब हमें भ्रममें डाल देते हैं। कहनेका मतलब, यह सब आंतरिक अस्तव्यस्तता उत्पन्न करते हैं और इस सबकी पूर्णतः अवहेलना करनी चाहिये।

वे सब असंख्य चीजें जो मनुष्य सोचता, अनुभव करता, महसूस करता, देखता, करता है... वह सब बिलकुल ही किसी कामकी नहीं होतीं। स्वभावतः ही, योगके दृष्टिकोणसे, मेरा मतलब है।

(उस बच्चेकी ओर मुड़कर जो प्रकाश देखना चाहता था) अब भी तुम्हारे पास दूसरा प्रश्न है?

कमरेमें कैसे प्रवेश किया जा सकता है?

तुम चाभी लो और दरवाजा खोल लो!

तुम्हें चाभी अवश्य ढूंढनी होगी।

अथवा तुम्हें दरवाजेके सामने तबतक बैठे रहना होगा जबतक कि तुम्हें वह शब्द, वह भावना या वह शक्ति नहीं मिल जाती जो दरवाजा खोल देती है—जैसे कि "अरेबियन नाइट्स" की कहानियोंमें होता है।

यह कोई मजाक नहीं है, यह बहुत गंभीर बात है। तुम्हें दरवाजेके सामने बैठ जाना होगा और तबतक एकाग्र होना होगा जबतक कि तुम्हें चाभी या शब्द या खोलनेकी शक्ति नहीं प्राप्त हो जाती।

यदि कोई कोशिश न करे तो यह स्वयं अपने-आप नहीं खुलता।

संभवत: हजारों वर्ष बाद, हां, खुलता है, परंतु तुम इसे तुरत चाहते हो — सो? इसे तुरंत करनेके लिये तुम्हें आग्रहके साथ दरवाजेके सामने तबतक बैठे रहना होगा जबतक कि तुम्हें उसका उपाय नहीं मिल जाता। यह एक चाभी हो सकती है, एक शब्द हो सकता है, एक शक्ति हो सकती है, कोई भी एक चीज हो सकती है। और तुम वहां दरवाजेके सामने बने रहो जबतक कि वह खुल न जाय।

और तुम किसी और चीजकी बात मत सोचो।

केवल अपने दरवाजेकी बात।

क्या वहां कोई चाभीका छेद नहीं है जहांसे रोशनी निकलती हो?

चाभीका छेद? आखिर तुम्हारे कहनेका मतलब क्या है? एक रंध्र जिसमेंसे प्रकाश निकलता हो?... शायद वह निकल रहा है, पर शायद उसे कोई देखता नहीं।

वह निकल रहा है।

परंतु वह तो एक दूसरा प्रश्न है: तुम्हें अपनी आंखें खोलनी होंगी। तुम्हें अपनी आंखोंको खोलना, देखना सीखना होगा।

बहुत, बहुत नन्हें बच्चे नहीं देखते, बहुत छोटे पशु भी नहीं देखते, नन्हें बिल्लीके बच्चे नहीं देखते। उन्हें इसमें कई घंटे या कई दिन लग जाते हैं — वे नहीं देखते।

तुम्हें देखना सीखना होगा।

२३ मई, १९५६

प्रिय माताजी, योग और धर्ममें क्या अंतर है?

आह! मेरे बच्चे... यह तो ऐसा है मानों तुम मुझसे यह पूछो कि कुत्ते और बिल्लीमें क्या अंतर है!

(दीर्घ मौन)

एक ऐसे व्यक्तिकी कल्पना करो जिसने, किसी-न-किसी रूपमें, भगवान्-जैसी किसी चीजके बारेमें कुछ सुना है अथवा जिसे व्यक्तिगत रूपसे ऐसा अनुभव हुआ है कि इस प्रकारकी कोई वस्तु है। वह सब प्रकारके प्रयत्न करना आरंभ करता है: संकल्प-शक्तिका प्रयोग, नियमानुशीलन, एकाग्रता-का अभ्यास, सभी प्रकारके प्रयत्न इसलिये करता है कि वह इस भगवान्-को पाये, यह पता लगाये कि वह क्या हैं, उनसे परिचित हो और उनके साथ युक्त हो। तब कहा जायगा कि यह व्यक्ति योग कर रहा है।

अब, यदि इस व्यक्तिने उन सभी प्रयुक्त प्रक्रियाओंको लिपिबद्ध कर लिया है और एक निश्चित शैलीका निर्माण करता है, और जो कुछ उसने अनु-संधान किया है उस सबको अकाट्य नियमोंके रूपमें प्रस्थापित करता है, — उदाहरणार्थ, वह कहता है: भगवान् इस प्रकारके हैं, भगवान्को पानेके लिये तुम्हें ऐसा करना ही होगा, यह विशिष्ट भंगिमा अपनानी होगी, यह मनोभाव बनाना होगा, यह अनुष्ठान संपन्न करना होगा, और तुम्हें अवश्य स्वीकार करना होगा कि यही सत्य है, तुम्हें अवश्य कहना होगा: "मैं यह स्वीकार करता हूं कि यही है सत्य और मैं पूर्ण रूपसे इससे संबद्ध हूं; और तुम्हारी पद्धति ही एकमात्र यथार्थ पद्धति है, और यही है उसके लिये एकमात्र पद्धति।" — यदि यह सब लिख लिया गया हो, किन्हीं सुनिश्चित विधानों और अनुष्ठानोंमें संगठित और व्यवस्थित कर दिया गया हो तो यही बन जाता है धर्म।

क्या मनुष्य इस पद्धतिसे (धर्मकी पद्धतिसे) भगवान्को उपलब्ध कर सकता है?

जो लोग अपने अंदर कोई आध्यात्मिक भवितव्यता वहन करते हैं और भगवान्को प्राप्त करनेके लिये, उनसे सचेतन होने तथा उनको जीवनमें संसिद्ध करनेके लिये जन्म लेते हैं, वे, चाहे जिस पथका, जिस पद्धतिका अनुसरण क्यों न करें, वहां पहुंच जायेंगे। कहनेका तात्पर्य, धर्ममें भी ऐसे लोग हुए हैं जिन्होंने आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त किये हैं और भगवान्को पाया है — धर्मके कारण नहीं, सामान्यतया इसके बावजूद, इसके होते हुए भी — कारण उनमें एक आंतरिक प्रेरणा थी और वह प्रेरणा सभी कठि-नाइयोंके बावजूद और उनके भीतरसे होते हुए उन्हें वहां ले गयी। प्रत्येक वस्तु उनके लिये अच्छी थी।

परंतु ये ही लोग यदि अपने अनुभवको व्यक्त करना चाहते हैं, वे स्व-भावतः ही उस धर्मके शब्दोंका व्यवहार करते हैं जिसमें वे पले थे, अतएव

वे अपने अनुभवको सीमित करते हैं और उसे बलात् बहुत अधिक सीमा-बद्ध कर देते हैं, वे उसे मानों सांप्रदायिक बना देते हैं। परंतु हो सकता है कि उन्होंने स्वयं सभी प्रथागत रीतियों और सभी प्रकारकी सीमाओं और सभी परंपराओंको भली-भांति अतिक्रांत कर लिया हो और विशुद्ध सरल रूपमें सच्चा अनुभव प्राप्त किया हो।

प्यारी माताजी, आज संसारमें अधिकतर लोग किसी-न-किसी धर्मका अनुसरण करते हैं। क्या उन्हें सहायता मिलती है?

बहुत नहीं।

शायद वे अब फिरसे आरंभ कर रहे हैं, परंतु इस शताब्दीके प्रारंभमें बहुत दीर्घ कालतक, उन्होंने धर्मको ज्ञानके विपरीत कोई वस्तु मानकर त्याग दिया था — कम-से-कम सभी बुद्धिप्रधान लोगोंने त्याग दिया था। केवल अभी हालमें ही पक्के प्रत्यक्षवादसे भिन्न किसी दूसरी वस्तुकी ओर लौटनेकी क्रिया प्रारंभ हुई है।

लोग सामाजिक अभ्यासवश किसी धर्मका पालन करते हैं, इसलिये करते हैं कि दूसरे लोग उनकी निंदा न करें। उदाहरणार्थ, गांवमें, धार्मिक अनुष्ठानोंमें न जाना कठिन होता है, क्योंकि तुम्हारे सभी पड़ोसी तुम्हारी ओर अंगुलियां उठाते हैं। परंतु इस बातका आध्यात्मिक जीवनके साथ एकदम कुछ भी संबंध नहीं है, बिलकुल कुछ भी नहीं।

(मौन)

जब पहली बार मैं भारत आयी तो एक जापानी जहाजसे आयी थी। इस जापानी जहाजपर दो पादरी, अर्थात् विभिन्न संप्रदायोंके प्रोटेस्टेंट प्रीस्ट थे। मुझे याद नहीं कि ठीक-ठीक किन संप्रदायोंके थे, पर वे दोनों अंग-रेज थे; मेरा ख्याल है कि एक तो था ऐंग्लीकन और दूसरा था प्रेस्बीटे-रियन।

अब, रविवार आया। जहाजपर धार्मिक अनुष्ठान करना जरूरी था, नहीं तो वे जापानियोंकी तरह पेगन समझे जायेंगे! अनुष्ठान करना ही होगा, पर कौन उसे संपन्न करे? ऐंग्लीकन करे या प्रेस्बीटेरियन? बस, इस बातपर झगड़ा शुरू हो गया। अंतमें, उनमेंसे एक सम्मानके साथ चुप बैठ गया (मुझे याद नहीं कि वह कौन था, मेरा ख्याल है कि वह ऐंग्लीकन था) और प्रेस्बीटेरियनने अपना अनुष्ठान संपन्न किया।

वह जहाजके एक बड़े कमरेमें संपन्न हुआ। हमें इस कमरेमें जानेके लिये कुछ सीढ़ियां नीचे जाना था। उस दिन, सभी पुरुषोंने अपना सूट पहना — वह गर्मीका दिन था, मेरा ख्याल है कि हम लाल सागरमें थे — उन्होंने अपना वेस्ट-कोट पहना, कालर लगाया, जूते पहने; नेक-टाइयां मली-मांति बांधी, सिरपर हैट रखा और वे नीचे गये, उनके हाथमें एक पुस्तक थी, डेकसे उस कमरेतक लगभग एक जुलूसके रूपमें वे लोग गये। महिलाओंने भी अपना-अपना हैट पहना, किसी-किसीके हाथमें छतरी भी थी, और उनके हाथोंमें भी एक पुस्तक, प्रार्थनाकी एक पुस्तक थी।

इस तरह वे सब नीचे कमरेमें भर गये, और उस प्रेस्बीटेरियनने एक प्रवचन दिया, अर्थात् धर्मोपदेश दिया, और प्रत्येक व्यक्तिने बहुत धार्मिक भावके साथ सुना। और फिर, जब वह समाप्त हो गया, वे सब ऊपर आ गये, उस व्यक्तिके जैसे संतोषके साथ जिसने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया है। और स्वभावतः ही, पांच मिनट बाद वे 'बार' में जाकर शराब पीने लगे और ताश खेलने लगे, और उनका धार्मिक अनुष्ठान विस्मृतिके गर्भमें जा डूबा। उन्होंने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया था, सब समाप्त हो गया था, अब उस विषयमें कुछ भी और कहनेकी आवश्यकता नहीं थी।

और पादरी, प्रायः विनम्रताके साथ, मुझसे यह पूछने आया कि मैंने क्यों भाग नहीं लिया। मैंने उससे कहा : "महाशय, मुझे दुःख है, पर मुझे धर्ममें विश्वास नहीं है।"

"ओह, ! ओह ! आप जड़वादी हैं !"

"ना, बिलकुल नहीं।"

"आह ! फिर क्यों ?"

"ओह ! यदि मैं आपको बता दूं तो आप काफी नाराज हो जायेंगे, कोई बात न कहना ही कहीं अधिक अच्छा होगा !"

परंतु उसने इतना अधिक आग्रह किया कि मैंने अंतमें कहा : "बस, बात यही है कि मैं नहीं समझती कि आप सच्चे हैं, न तो आप और न आप-का दल। आप सब वहां एक सामाजिक कर्तव्य पूरा करने और एक सामाजिक रीति-रिवाजका पालन करने गये, इसलिये बिलकुल नहीं गये कि आपने वास्तवमें ईश्वरके साथ संपर्क प्राप्त करना चाहा था।"

"भगवान्‌के साथ संपर्क प्राप्त करना ! पर यह तो हम नहीं कर सकते ! हम अधिक-से-अधिक यही कर सकते हैं कि कुछ अच्छे शब्द कहें, परंतु हममें ईश्वरके साथ संपर्क स्थापित करनेकी क्षमता नहीं है।"

तब मैंने कहा : "परंतु ठीक यही कारण था कि मैं वहां नहीं गयी, क्योंकि उसमें मेरी रुचि नहीं है।"

उसके बाद उसने मुझसे बहुत-से प्रश्न किये और मुझे भेदकी बात बतायी कि वह 'पेगनों' को धर्मांतरित करनेके लिये चीन जा रहा है। अंततोगत्वा मैं गंभीर हो गयी और उससे बोली: "सुनिये, आपके धर्मके पैदा होनेसे भी पहले — अभी दो हजार वर्ष भी नहीं बीते हैं — चीनी लोगोंके पास एक बहुत ऊंचा दर्शनशास्त्र था और उन्हें उस पथका ज्ञान था जो उन्हें भगवान्‌तक ले जाता था; और जब वे पाश्चात्य लोगोंकी बात सोचते हैं, वे उन्हें बर्बर समझते हैं। और आप वहां जा रहे हैं उन लोगोंको धर्म सिखाने जो उसके विषयमें आपसे कहीं अधिक जानते हैं? आप उन्हें क्या सिखाने जा रहे हैं? कपटी होना, एक गहरे दर्शन-शास्त्रका अनुसरण करने तथा जीवनसे अनासक्त होनेके बदले, जो चीजें उन्हें एक अधिक आध्यात्मिक चेतनाकी ओर ले जाती हैं, उनके बदले खोखले अनुष्ठानोंको संपन्न करना ... मैं नहीं समझती कि आप कोई बहुत अच्छी चीज करने जा रहे हैं।"

तब उसने अपना दम घुटता-सा अनुभव किया, बेचारा! वह मुझसे बोला: "ऐह, मुझे भय है, आपके शब्दोंसे मुझे विश्वास नहीं हो सकता!"

"ओह!" मैंने कहा, "मैं आपको विश्वास दिलानेकी चेष्टा नहीं कर रही हूं, मैं केवल आपके सामने यथार्थ स्थितिका वर्णन कर रही हूं, और मैं बिलकुल नहीं समझ पाती कि क्यों बर्बर लोग उन सभ्य लोगोंको वह चीज सिखानेके लिये जाना चाहते हैं जिसे वे उनसे बहुत पहलेसे जानते हैं। बस।"

और बात यहीं समाप्त हो गयी।

माताजी, बौद्ध परंपरामें कहा गया है ...

ओह! ओह! तुम बौद्ध बन रहे हो! यह फैशन है।

हां?

...वे कहते हैं कि बुद्धके जन्मसे दो हजार पांच सौ वर्ष बाद ...

हां, वह एक नये बौद्ध-धर्मका प्रचार करनेके लिये वापस आयेंगे, यही बात है?

ऐसा लगता है कि उनकी शिक्षाका अंत हो जायगा, और उसके स्थानमें कोई नयी चीज आ जायगी।

हां, उस सज्जनने... क्या है उनका नाम... 'अ' ने किसने तुमसे यह कहा था?

परंतु वह उनका सिद्धांत है। उन्होंने मुझसे भी कहा था कि उनकी समझमें श्रीअरविंद ही वह व्यक्ति हैं जिन्होंने बुद्धकी शिक्षाओंको चरितार्थ किया है। क्या यही बात है? तुम उनका व्याख्यान सुनने नहीं गये थे?... नहीं, तुम तब क्या पूछना चाहते हो?

> **कारण वह समय अब हो गया है — कल वह दिन होगा जब दो हजार पांच सौ वर्ष पूरे हो जायेंगे — क्या नवीन चीजसे इसकी संगति बैठती है?**

कौन-सी नवीन चीज?

> **नवीन अतिमानसिक अभिव्यक्ति।**

ओह! सुनो, यह मुझे ठीक उसी प्रकारकी खोज प्रतीत होती है जिसे मनुष्य उस समय करता है जब वह कोई सनसनीदार चीज चाहता है। ग्रंथोंकी व्याख्या करनेके सर्वदा बहुत-से तरीके होते हैं, और मनुष्य उसीके अनुसार व्याख्या करता है जो वह उनसे कहलाना पसंद करता है।

(मौन)

यह बात मुझे किसी दूसरी चीजका स्मरण कराती है: (एक अध्यापककी ओर मुड़कर) क्या उन लोगोंने उन उच्चारणोंकी खोज निकाला है जिनसे चित्रलिपियां पढ़ी जा सकती हैं?

> **मिस्री?**

हां, चित्रलिपियां, वे मिस्रकी ही हैं!

> **मेरा ख्याल है।**

तो इसका अर्थ है कि उन्होंने पांच हजार वर्ष पहले बोली जानेवाली भाषाकी खोज कर ली है?

मेरा ख्याल है। और कुछ ऐसी चित्रलिपियां हैं जो उच्चारण-शास्त्र भी हैं।

उच्चारण-शास्त्र! यह जानकारी कहां मिल सकती है?

यह पुस्तकालयमें है, माताजी, ऐसी कोई चीज वहां है।

ओह! ... चूंकि मैं अपने-आपसे पूछ रही थी कि उन्होंने फरोंन राजाओं और देवताओंके नामोंका पुनरुद्धार कैसे किया। स्वभावतः ही अधिक हालके लोगोंने उनके विषयमें कहा है, यूनानी उनकी चर्चा करते हैं, फोनिसियन उनका वर्णन करते हैं; उनके पास ध्वनि-शास्त्र था। परंतु उससे अधिक प्राचीन? पहले फरोंन और देवताओंके उन सब नामोंका, इनका पता किसने लगाया है?

परंपरा कहती है कि चैम्पोलियनने, रोसेट्टा पत्थरके द्वारा। एक पत्थर मिला था जिसपर यूनानी, मिस्री और काप्टिक भाषाके लेख थे, जिन्होंने समस्याको हल करनेमें सहायता की।

क्या उसे पूरा निश्चय था कि जो कुछ मिस्री भाषामें लिखा गया था वही यूनानीमें भी था? इस विषयमें उसने कैसे निश्चय किया?

एक अस्पष्ट भावना थी, कुछ थोड़े-से पथ-प्रदर्शक निर्देश थे और परस्पर मिलान करनेके योग्य तथ्य थे।

परंतु वह तो अर्थके लिये था, उच्चारणके लिये नहीं।

हां।

दीक्षाकी कक्षाओंमें कौन-सी भाषा बोली जाती थी? वार्तालाप कैसे करते थे, वे लोग?

मैं जानता हूं कि शब्दोंके उच्चारण दिये हुए हैं। अब, वे यथार्थ उच्चारण जानते हैं या नहीं यह दूसरी बात है। वे प्राचीन यूनानी भाषातकका उच्चारण नहीं जानते।

यूनानी ? वे उसका उच्चारण नहीं जानते ?

वे यह नहीं जानते कि उसका उच्चारण कैसे किया जाता था।

क्या प्राचीन मिस्रकी भाषा अत्यंत आदि संस्कृत भाषाकी समकालीन है, या वह और भी अधिक पुरानी है? और उसके बाद, फिर दूसरी बात: क्या असीरियाका कोनीफार्म लेखन ध्वन्यात्मक था या सांकेतिक ?

मेरा ख्याल है कि वहां भी उच्चारणोंको पढ़ना संभव है, कारण बाइबिलमें दिये हुए बहुत सारे नामोंको सुधार दिया गया है और यह देखा गया है कि उनमें विकृतियां थीं: उदाहरणार्थ, Nabuchodonosor।

हां, ओह! वह बदल दिया गया है।

क्या उन्हें पूर्णतः विश्वास हो गया है कि उच्चारण प्राप्त हो गये हैं...?

हां, यह मुझे बड़ा विचित्र लगता है। क्योंकि एक पुस्तक मेरे हाथमें आयी थी जिसमें नामोंका पुनरुद्धार किया गया था, और वे थोड़े अजीब-से बन गये थे! पर फिर भी, उनके उच्चारण करनेका कोई एक विशेष ढंग अवश्य रहा होगा। मेरा मतलब, क्या प्राचीनतम संस्कृतसे भी अधिक पुरानी कोई दूसरी मानवीय भाषा है?

मैं सबसे पुरानी भाषाका काल नहीं जानता।

एक बात और, क्या इस सांकेतिक मिस्री भाषाका संबंध काल्डियन-परंपरासे है या आर्य-परंपरासे? सभी भाषाओंमें संस्कृत धातुएं पायी जाती हैं। ठीक यही बात है जो मैं जानना चाहती थी।

मैंने कहीं पढ़ा था कि मिस्रके पुरोहित मंत्रोंके द्वारा दीक्षा दिया करते थे।

संस्कृत मंत्रोंसे ? परंतु यह बात अवश्य ही किसी उपन्यासमें होगी, निश्चय ही !

कुछ संस्कृत शब्दोंसे।

सभी भाषाओंमें संस्कृत धातुएं (थोड़े विकृत रूपमें) पायी जाती हैं। और एक ऐसी भी बहुत पुरानी परंपरा है जो इन दोनों विभक्त परंपराओं, आर्य और काल्डियनसे अधिक पुरानी होनेका दावा करती है। परंतु यूनानी, उदाहरणार्थ, जो कि अपेक्षाकृत अर्वाचीन है, क्या यह आर्य-परंपरा या काल्डियन-परंपराकी कोई भाषा है ?

यूनानी एकदम आर्य-परंपराकी है।

एकदम आर्य-परंपराकी।

मिस्रकी भाषा काल्डियन मूलसे आयी है।

काल्डियन, हां। परंतु सर्वत्र मिस्री भाषा और यूनानीका मिश्रण होता रहा है।

फोनिसियन भाषा अधिक पुरानी थी। लिखित भाषाके दृष्टि-कोणसे, यह यूनानीकी अपेक्षा अधिक पहलेकी है।

परंतु फोनिसियन ध्वन्यात्मक है, यह ध्वन्यात्मक भाषा है।

और चित्रलिपियां लिखी जाती हैं ऊपरसे नीचेकी ओर तथा दांयेंसे बायें, अथवा क्या बायेंसे दांयें लिखी जाती थीं ?

दांयेंसे बायें।

दांयेंसे बायें। काल्डियन भाषाएं इसी भांति लिखी जाती हैं। चीनी और जापानी भाषाएं भी। केवल आर्य भाषाएं बायेंसे दायें लिखी जाती हैं।

(ध्यान)

बहुत बादमें, इस वार्तालापके प्रकाशनके समय, एक शिष्यने माताजीसे पूछा कि चित्रलिपियोंके विषयमें यह प्रश्न किस कारण उठाये गये थे।

एक समय, मुझे इसके विषयमें जाननेमें बहुत अधिक दिलचस्पी रहा करती थी। मैंने उस समय विद्यमान वस्तुओंको अपनी स्मृतिमें ले आनेकी कोशिश की, परंतु मैं उत्तर नहीं पा सकी। वहां एक पूरा व्यवधान था।

क्या आपने शब्द सुने ?

(कुछ क्षण मौनके बाद) देखो, मैं तुम्हें एक उदाहरण दूंगी। लगभग दो वर्ष हुए, मुझे 'ज' के लड़केके विषयमें एक अंतर्दर्शन हुआ। वह मेरे पास उसे ले आयी थी, वह पूरा एक वर्षका भी नहीं था, और जिस कमरेमें मैं लोगोंसे मिलती थी उसमेंसे उसे देखनेके ठीक बाद ही आयी थी। उसे देखकर मुझे एक ऐसे व्यक्तिकी याद आयी जिसे मैं अच्छी तरह जानती थी। पर मैं कह न सकी कि वह कौन था। और उसके बाद, उसी दिन, तीसरे पहर मुझे एक सूक्ष्म-दर्शन प्राप्त हुआ। वह 'दर्शन' प्राचीन मिस्रका था, अर्थात्, मैं वहांकी कोई व्यक्ति थी, महान् पुजारिन या अन्य कोई (मैं नहीं जानती कौन, क्योंकि व्यक्ति अपने-आपसे यह नहीं कहता कि "मैं अमुक व्यक्ति हूं": तादात्म्य पूरा था, किसीको देखनेका भाव नहीं था, अतएव मैं नहीं जानती)। मैं एक अद्‌भुत इमारतमें थी, बड़ी विशाल! बहुत ही ऊंची, लेकिन सूनी, वहां कुछ नहीं था, था केवल एक स्थान जहां बड़ी उत्कृष्ट चित्रकारियां थीं। सो, वहां मैंने प्राचीन मिस्रकी चित्रकारियोंको पहचाना। और मैं अपने कमरेसे बाहर आ रही थी, एक प्रकारके बड़ेसे हॉलमें प्रवेश कर रही थी : वहां एक प्रकारकी नाली थी जो चारों ओर दीवालोंके नीचे, पानी एकत्र होनेके लिये बनी थी। और तब मैंने बच्चेको देखा (जो आधा नंगा था) और वहां नालेमें खेल रहा था। और मुझे धक्का-सा लगा, मैं बोली : "यह क्या! यह कितना बीभत्स है!" (परंतु हृदयकी भावनाएं, विचार, सब-के-सब मेरी चेतनामें फ्रेंच भाषामें अनूदित हो गये थे)। वहां शिक्षक आया, उसे मैंने बुलवाया था। मैंने उसे डांटा-डपटा। मैंने शब्द सुने। परंतु मैं नहीं जानती कि मैंने क्या कहा, मुझे वे शब्द अब बिलकुल याद नहीं हैं। मैं जिन शब्दोंका

उच्चारण कर रही थी उन्हें मैंने सुना, मैं यह भी जानती थी कि उनका क्या अर्थ है, परंतु अनुवाद फ्रेंचमें था, और उनका उच्चारण मैं याद नहीं रख सकी। मैं उससे बोली, उससे कहा: "यह कैसी बात है कि तुमने बच्चेको यहां खेलने दिया?" और उसने मुझे उत्तर दिया (और उसके उत्तरके साथ-साथ मैं जग पड़ी), (मैंने आरंभके शब्दोंको नहीं सुना, पर मेरे विचारमें वे थे) : "अमेनहोटेप इसे पसंद करता है।" अमेनहोटेप मैंने सुना; मुझे याद रहा। अतएव मैंने समझा कि वह बच्चा अमेनहोटेप था।

अतएव मैंने समझा कि मैं बोली; मैं एक ऐसी भाषा बोली जो अब मुझे याद नहीं है। मुझे "अमेनहोटेप" याद रहा क्योंकि मैं उसे अपनी जाग्रत् चेतनामें जानती हूं; "अमेनहोटेप"। परंतु अन्यथा, अन्य उच्चारण नहीं कायम रहे। मुझे उच्चारणोंकी कोई स्मृति नहीं है।

और मैं जानती हूं कि मैं उसकी मां थी; उस समय मैंने यह जाना कि मैं कौन हूं, क्योंकि मैं जानती हूं कि अमेनहोटेप अमुक व्यक्तिका पुत्र है (इसके अतिरिक्त, मैंने इतिहासमें ढूंढा)। अन्यथा वहां कोई संपर्क नहीं है: एक छिद्र है।

मैं सर्वथा उन माध्यमोंकी प्रशंसा करती हूं (सामान्यतया वे बहुत सरल लोग होते हैं) जिन्हें उच्चारणकी ठीक-ठीक स्मृति होती है, जो तुमसे कह सकते हैं: "देखिये, मैंने यह-यह बात कही है।" इस तरह हमें ध्वन्य-नुरूप स्वरलिपि मिल जाती है। जो उच्चारण मैंने किये थे वे यदि मुझे याद रह सकते तो हमें स्वरलिपि मिल जाती, पर मुझे याद नहीं हैं।

मुझे यह बातचीत याद है: अचानक मैंने अपने-आपसे कहा: "यदि वह भाषा सुनी जा सके तो कितनी मजेदार बात होगी", और फिर, कौतूहल-वश: "उन्होंने उच्चारणका आविष्कार कैसे किया है? कैसे?" इसके अलावा, बचपनमें इतिहासमें जो सब नाम पढ़े थे वे सब आज बदल दिये गये हैं। वे कहते हैं उन्होंने उच्चारणका पता लगा लिया है, अथवा कम-से-कम, वे दावा करते हैं, कि उन्होंने उनका पता लगा लिया है। परंतु मैं नहीं जानती।

यही बात प्राचीन बेबीलोनकी है: मुझे अत्यंत सही-सही स्मृतियां हैं, पूर्ण रूपसे वास्तविक। परंतु जब मैं बोलती हूं अपनी बोली हुई बातोंका उच्चारण मुझे याद नहीं रहता, वहां उसकी मानसिक प्रतिलिपि मात्र रहती है।

मुझे उच्चारणोंकी कोई स्मृति नहीं है।

मैं आश्चर्य करता था कि आपके ये सब प्रश्न किस कारण उपस्थित हुए हैं।

ठीक यही कारण था, यही बात कि मैं सचेतन हूं कि मुझे उच्चारणोंकी स्मृति नहीं है। ऐसे लोग होते हैं जिन्हें उच्चारण याद रहते हैं, मुझमें वह स्मरण-शक्ति नहीं है। अतएव उसे जाननेकी मुझे उत्सुकता थी। अन्यथा मुझे सदा ही यह शक्ति प्राप्त रही है (जब कभी भूतकालकी कोई ऐसी बात होती थी जिसपर मुझे संदेह होता था, या जो मजेदार या अपूर्ण होती थी), मेरे पास सर्वदा ऐसा उपाय होता कि मैं उसे अपनी चेतनामें वापस ले आऊं। परंतु उच्चारण नहीं आते। वह चेतनाकी एक स्थितिके रूपमें आता है जो मानसिक रूपमें अनूदित होती है, और इसलिये यह मानसिक रूपमें उन शब्दोंमें अनूदित होती है जिन्हें मैं जानती हूं। अतः यह बिलकुल मजेदार नहीं है।

इन दिनों भी, जब कभी मैं संगीत बजाती थी, स्वरोंकी स्मृति अस्पष्ट और अपूर्ण होती थी। "संगीतके स्रोत" (ऊपरकी ओर संकेत) से आनेवाले स्वर मुझे याद रहते थे, और फिर, जब वास्तविक संगीतमें उनमेंसे कुछ स्वर पुनः अभिव्यक्त होते तो मैं उन्हें पहचान जाती; परंतु वहां वह यथार्थता, वह सुस्पष्टता नहीं होती जिससे उन्हें वाणीके द्वारा या बाजेके द्वारा पुनः उत्पन्न करना मेरे लिये संभव हो। वह नहीं होती थी, उसका अभाव होता था। इसके विपरीत, आंखोंकी स्मृति बनी रहती थी... वह आश्चर्यजनक होती थी। जिस चीजको मैं केवल एक बार देख लेती थी वह जम जाती, कभी भूलती नहीं थी।

बहुत बार इस ढंगसे अपने अंतर्दर्शनोंमें ("अंतर्दर्शनों"में, यथार्थमें स्मृतियोंमें, पुनरुज्जीवित स्मृतियोंमें), मैंने उस कालकी भाषामें बातचीत की है, उस भाषाका उच्चारण किया है, मैंने दूसरोंको बोलते हुए सुना है, पर उच्चारण याद नहीं रहा। जो कुछ मैं बोली उसका भाव तो बना रहा पर उच्चारण नहीं रहा।

यह दुःखकी बात है।

३० मई, १९५६

"जो विद्याएं ज्ञानवृद्धिमें सहायक हैं उनके अध्ययनमें योगीका लक्ष्य यह होना चाहिये कि वह मनुष्यमें तथा प्राणियों, पदार्थों और शक्तियोंमें भासमान चित्-शक्तिके व्यापारों तथा उसके सृष्टि-संबंधी आशयोंकी खोज करे और उन्हें हृदयंगम करे, साथ ही उन रहस्यों एवं प्रतीकोंका, जिनमें वह अपनी अभिव्यक्तिको व्यवस्थित करती है, कार्यान्वित करनेके उसके ढंगको भी खोजे और समझे।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० १६४)

मैं पहले कह चुकी हूं, समझा चुकी हूं कि यदि बाहरी आकारोंको स्वयं उनमें ही, उनके लिये ही, केवल उनके बाह्य स्वरूपको ही न देखा जाय बल्कि उन्हें किसी गभीरतर और अधिक स्थायी सत्यकी अभिव्यक्तिके रूपमें देखा जाय तो ये सभी आकार (जैसे कि निस्संदेह सभी परिस्थितियां और घटनाएं), सब-के-सब उस शक्तिके प्रतीक बन जाते हैं जो पीछे विद्यमान है और उन्हें अपने-आपको प्रकट करनेके लिये प्रयुक्त करती है। ऐसी कोई एक भी परिस्थिति, एक भी आकार, एक भी क्रिया, एक भी गतिविधि नहीं है जो किसी-न-किसी गभीरतर वस्तुका प्रतीक न हो, ऐसी चीजका प्रतीक जो कि पीछे अवस्थित होती है और जिसे, सामान्य तौरपर, समस्त कर्मों-को प्रवर्तित करना चाहिये।

चेतनाकी एक विशिष्ट अवस्थाके लिये कोई एक भी शब्द, कोई एक भी भंगिमा, कोई एक भी क्रिया ऐसी नहीं जो किसी गभीरतर या उच्चतर सत्य-को, किसी अधिक स्थायी, अधिक तात्विक, अधिक सत्य सद्वस्तुको अभिव्यक्त न करती हो; और एक बार जब कोई उसे देख लेता या अनुभव कर चुकता है तो प्रत्येक वस्तु अर्थपूर्ण बन जाती है, और वह अधिक स्पष्ट रूपमें यह देखता है कि वस्तुओंको कैसे सुसंगठित, सुव्यवस्थित होना चाहिये ताकि कोई गभीरतर सत्य पहलेकी अपेक्षा और भी अधिक अच्छे रूपमें अभिव्यक्त हो सके।

"कलाओंमें योगीका लक्ष्य केवल सौंदर्य-भावनाकी और मन या प्राणकी तृप्ति करना नहीं, बल्कि यत्र-तत्र-सर्वत्र भगवान्‌को देखना, उसके कार्योंमें उसके भाव और अर्थका आत्म-प्रकाश अनुभव

करते हुए उसकी पूजा करना तथा देवताओं, मनुष्यों, प्राणियों और पदार्थोंमें उसी 'एकमेव भगवान्' को व्यक्त करना होना चाहिये।"

(वही, पृ० १६५)

हम उन एकमेव भगवान्को कैसे अभिव्यक्त कर सकते हैं?

यह निर्भर करता है उस विषयपर जिसे मनुष्य अभिव्यक्त करना चाहता है : देवता, मनुष्य या वस्तु।

जब कोई चित्र बनाया जाता है या किसी संगीतकी रचना की जाती है अथवा कोई कविता लिखी जाती है, प्रत्येक व्यक्तिका अभिव्यक्त करने-का अपना निजी तरीका होता है। प्रत्येक चित्रकार, प्रत्येक संगीतज्ञ, प्रत्येक कवि, प्रत्येक मूर्तिकारका भगवान्के साथ एक अनोखा, व्यक्तिगत संपर्क होता है अथवा होना चाहिये, और जो कार्य उसकी अपनी विशेषता है, जिस कलाको उसने अधिगत किया है उसके द्वारा उसे इस संपर्कको अपने निजी ढंगसे, अपने निजी शब्दोंमें, अपने निजी रंगोंके द्वारा व्यक्त करना चाहिये। अपने लिये, प्रकृतिके बाह्य रूपकी प्रतिकृति तैयार करनेके बदले, वह इन रूपोंको किसी अन्य वस्तुके परिधानके रूपमें लेता है, जो वस्तुएं पीछे अवस्थित हैं, अधिक गभीर हैं, उनके साथके उसके संबंधको ठीक-ठीक रूपमें लेता है और उनके द्वारा उसीको व्यक्त करनेका प्रयास करता है। जो कुछ वह देखता है बस उसीकी नकल उतारनेके बजाय, वह उनके द्वारा उसे व्यक्त करनेका प्रयत्न करता है जो उनके पीछे विद्यमान है, और बस यही चीज है जो एक सजीव कला तथा प्रकृति-के सारहीन अनुकरणमात्रके समस्त भेदको उत्पन्न करती है।

श्रीमाताजी अपने हाथमें लिये हुए एक फूल-पर एकाग्र होती हैं। वह सुनहला चंपाका फूल है।

क्या तुम लोगोंने इस फूलको ध्यानपूर्वक देखा है?

इसमें बारह दल हैं और चार-चारकी तीन कतारें हैं।

हमने इसे "अतिमानसिक मनोवैज्ञानिक परिपूर्णता" का नाम दिया है।

(मैंने कभी इस बातपर ध्यान नहीं दिया था कि इसमें तीन कतारें हैं : एक छोटी कतार इस तरहकी है, दूसरी उससे थोड़ी अधिक बड़ी है और

तीसरी और भी अधिक बड़ी है। ये कतारें चार-चार श्रेणियोंमें विभक्त हैं: चार दल, चार दल, चार दल।

हां, यदि कोई विश्व-प्रकृतिके आकारोंमें ठीक-ठीक किसी प्रतीकात्मक अभिव्यक्तिको देखना चाहता है तो वह एक केंद्र देख सकता है जो कि परात्पर सत्य है, और एक त्रिविध अभिव्यक्ति है (क्योंकि चारकी संख्या अभिव्यक्तिको सूचित करती है) जिसमें एक-दूसरेके ऊपर अवस्थित तीन जगत् हैं: सबसे बाहरी (इसमें सबसे बड़े दल हैं और उत्तम रूपमें गठित हैं), यह है भौतिक जगत्, उसके बाद है प्राणिक जगत् और फिर मानसिक जगत्, और उसके बाद केंद्रमें है अतिमानसिक सत्य।

और, तुम इसमें सभी प्रकारके दूसरे सादृश्य ढूंढ सकते हो।

बस, इतना पर्याप्त है?

श्रीमाताजी, कर्मोंके विभाजनके प्रसंगमें, श्रीअरविंद यहां लिखते हैं: "एक ऐसा योग, जो परम देवको सर्वांगीण रूपमें प्राप्त करनेके लिये किया जाता है, विश्वात्माके कर्मों या स्वप्नोंकी भी — यदि वे स्वप्न हैं तो — अवहेलना नहीं करेगा, न ही वह उस भव्य उद्यम और बहुमुखी विजयसे पराङ्मुख होगा जिसे परम देवने मानव प्राणीमें अपने लिये निर्धारित किया है। परंतु इस प्रकारकी व्यापकताके लिये इसकी पहली शर्त यह है कि संसारमें हमारे कर्म भी यज्ञके अंग होने चाहिये और वह यज्ञ हमें सर्वोच्च देव तथा भागवती शक्तिको ही अर्पित करना चाहिये, किसी अन्य 'देव' तथा अन्य 'शक्ति'को नहीं, साथ ही वह हमें ठीक भावनाके साथ और यथार्थ ज्ञानपूर्वक, अपनी स्वतंत्र आत्माके द्वारा अर्पित करना चाहिये, जड़-प्रकृतिके सम्मोहित क्रीतदासद्वारा नहीं। यदि कर्मोंका विभाजन करना ही हो तो इन दो प्रकारके कर्मोंमें ही विभाजन करना होगा — एक तो वे जो हृदयकी पावन ज्वालाके अत्यंत निकट हैं और दूसरे वे जो इससे अधिक दूर हैं तथा इसी कारण इसके द्वारा न्यूनतम प्रभावित या प्रकाशित हैं, — अथवा यों कहें कि एक तो वे समिधाएं जो जोरसे या चमकके साथ जलती हैं और दूसरे वे लकड़ीके कुंदे जो वेदीपर अत्यंत घने रूपमें एकत्र कर दिये जानेके कारण अपनी आर्द्र, भारी और विस्तृत बहुलतासे आगकी तेजीको रोक देते हैं।"

(वही, पृ० १६३)

मनोवैज्ञानिक रूपमें, हमारे जीवनमें किस चीजके साथ यह विभाजन मिलता-जुलता है?

मैं समझती हूं कि यह प्रत्येक व्यक्तिके लिये अलग-अलग है। अतएव प्रत्येक व्यक्तिको उन क्रियाओंका पता लगाना होगा जो उसकी अभीप्साको, उसकी चेतनाको, वस्तुओं-संबंधी उसके गहरे ज्ञानको बढ़ाती हैं, तथा जो, उनके विपरीत, उसे यंत्रवत् बना देती हैं और उसे अधिक पूरे तौरपर पीछे खींच लाती और वस्तुओंके साथ उसका एक विशुद्ध भौतिक संबंध जोड़ देती हैं।

कोई एक साधारण नियम बनाना कठिन है।

इसका अर्थ है कि प्रत्येक कार्यको ठीक-ठीक पूजाके रूपमें करना चाहिये?

सच पूछा जाय तो यह निर्भर है कार्य करनेके तरीकेपर, न कि स्वयं उस कार्यपर।

तुम कोई कार्य अपने हाथमें लेते हो जो एकदम स्थूल है, जैसे, फर्श साफ करना या किसी कमरेमें झाड़ू लगाना। हां, तो मुझे ऐसा लगता है कि यह कार्य एक बहुत गहरी चेतनामें ले जा सकता है यदि उसे पूर्णता और प्रगतिकी एक विशेष भावनाके साथ किया जाय; जब कि दूसरे कार्य, जिन्हें ऊंचे प्रकारका माना जाता है, जैसे, अध्ययन अथवा साहित्यिक और कलात्मक कार्य, यदि उन्हें नाम कमानेकी भावनाके साथ, अथवा अपने मिथ्याभिमानकी संतुष्टिके लिये अथवा किसी भौतिक लाभके लिये किया जाय तो तुम्हें प्रगति करनेमें सहायता नहीं करेंगे। अतएव यह बात स्पष्ट ही एक प्रकारका वर्गीकरण करती है जो बाहरी तथ्यकी अपेक्षा कहीं अधिक निर्भर है आंतरिक मनोभावपर। परंतु उस वर्गीकरणको प्रत्येक वस्तुपर लागू किया जा सकता है।

स्वभावतः एक प्रकारका ऐसा कर्म है जो केवल विशुद्धतः लाभप्रद और व्यक्तिगत कारणोंसे किया जाता है, जैसे, वह कार्य (चाहे जो भी वह हो) जो अपनी जीविका कमानेके लिये किया जाता है। वह मनोभाव ठीक वह मनोभाव है जिसकी तुलना श्रीअरविंद लकड़ीके गीले कुंदोंके साथ करते हैं जो इतने घने रूपमें एकत्र कर दिये जाते हैं कि अग्निकी ज्वाला उनके भीतरसे नहीं निकल पाती। उसमें कोई चीज आर्द्र और बहुत अधिक कठोर होती है।

और यह चीज हमें किसी ऐसी चीजके पास ले आती है जिसकी बात मैं कई बार तुम्हें सुना चुकी हूं। परंतु वह चीज एक समस्या उपस्थित करती है जो अभीतक परिस्थितियोंद्वारा हल नहीं हुई है, मैं समझती हूं मैं पहले इस विषयमें तुमसे बातचीत कर चुकी हूं, परंतु फिर भी मैं दुबारा आज श्रीअरविंदके इस वाक्यके प्रसंगमें इसकी चर्चा करूंगी।

अपने वर्तमान पार्थिव जीवनके प्रारंभमें मैं बहुत-से ऐसे लोगोंके संपर्कमें आयी थी जो कहा करते थे कि उनमें एक महान् आंतरिक अभीप्सा है, किसी गभीरतर और सत्यतर वस्तुकी ओर जानेकी उत्कंठा है, पर वे अपनी जीविका कमानेकी क्रूर आवश्यकतासे जकड़े हुए हैं, उसके वशीभूत हैं, क्रीतदास हैं। और उसका बोझ उनके ऊपर इतना अधिक लदा हुआ है, वह उनका इतना अधिक समय और शक्ति ले लेता है कि वे अन्य किसी, आंतरिक या बाह्य, क्रियामें तल्लीन नहीं हो सकते। मैंने यह बात बहुत बार सुनी, मैंने बहुतेरे गरीब लोगोंको देखा — मेरा मतलब धनकी दृष्टिसे गरीब लोगोंसे नहीं है बल्कि वे गरीब इस अर्थमें थे कि वे अपनेको एक संकीर्ण, भारी आवश्यकताके अंदर अवरुद्ध अनुभव करते थे।

उस समय मैं बहुत छोटी थी, और सर्वदा अपने-आपसे यह कहा करती थी कि यदि कभी मैं कर सकी तो, एक छोटा-सा जगत् — ओह ! बिलकुल नन्हा-सा पर फिर भी — एक नन्हा-सा जगत् बनानेकी कोशिश करूंगी जहां लोग भोजन और वस्त्र और निवास और जीवनकी अत्यावश्यक आवश्यकताओंकी समस्याओंमें उलझे बिना जीवन बितानेमें समर्थ हो सकेंगे, ताकि मैं देख सकूं कि सुनिश्चित भौतिक जीवन-यापनकी इस निश्चयतासे मुक्त होकर सभी शक्तियां स्वाभाविक रूपसे दिव्य जीवन तथा आंतरिक सिद्धिकी ओर नियोजित होती हैं।

हां तो, अपने जीवनके मध्य-भागके आस-पास — कम-से-कम जिसे साधारण तौरपर मानव-जीवनका मध्य-भाग माना जाता है — मुझे साधन प्राप्त हुए और मैं इसे सिद्ध कर सकी, अर्थात् मैंने जीवन-यापनकी इन अवस्थाओंका निर्माण किया। और मैं इस निष्कर्षपर पहुंची हूं कि वास्तवमें यह आवश्यकता ही वह चीज नहीं है जो मनुष्योंको किसी आंतरिक सिद्धि-में निरत होनेसे रोकती है, बल्कि वह चीज है एक प्रकारकी जड़ता, एक प्रकारका "तमस्", अभीप्साका अभाव, एक दयनीय शिथिलता, एक प्रकार-का "मेरी बलासे" का मनोभाव, और जो लोग जीवन-यापनकी कठिनतम अवस्थाओंका भी सामना करते हैं वे ही लोग कभी-कभी ऐसे व्यक्ति होते हैं जो अत्यधिक प्रतिकार करते हैं और जिनमें सबसे तीव्र अभीप्सा होती है।

बस, यही है मेरा निष्कर्ष। मैं प्रतीक्षा कर रही हूं कि इससे विपरीत बात मेरे सामने सिद्ध हो।

मैं बहुत अधिक चाहती हूं कि इसके विपरीत चीज देखूं, पर अमी-तक मैंने उसे देखा नहीं है। चूंकि बहुत सारी शक्तियां ऐसी होती हैं जो व्यवहृत नहीं होतीं, जब खानेके लिये कोई चीज, या सोनेके लिये कोई घर या पहननेके लिये कपड़े जुटानेकी यह भयंकर विवशता नहीं होती, जब मनुष्य इन सब बातोंकी ओरसे निश्चित होता है,—शक्तियों-का एक समूचा समूह होता है जो उस सबके लिये व्यवहृत नहीं होता; हां, वे सब खर्च होती हैं व्यर्थकी मूर्खताओंमें। और इन सब मूर्खताओंमें एक मूर्खता ऐसी है जो मुझे सबसे अधिक विनाशकारी प्रतीत होती है और वह है जीभ चलाना : बकबक करना, बकबक करना, बकबक करना। मैंने कोई ऐसा स्थान नहीं देखा है जहां लोग यहांकी अपेक्षा अधिक बकवास करते हैं और ऐसी सभी बातें कहते हैं जो नहीं कहनी चाहिये, ऐसी चीजोंमें संलग्न रहते हैं जिनसे कोई सरोकार नहीं रखना चाहिये। और मैं जानती हूं कि यह केवल अव्यवहृत शक्तिका एक उफान है।

बस, यही बात है।

अतएव कर्मोंका विभाजन शायद ठीक वह वस्तु नहीं है जो कि मनुष्य उसे समझता है...।

६ जून, १९५६

> **एक या दो बार, बस खेल-ही-खेलमें आपने अपनी या श्रीअरविंदकी कोई पुस्तक ली और सहसा एक पृष्ठ खोल लिया और एक वाक्य पढ़ा। क्या ये वाक्य किसी व्यक्तिको कोई संकेत या कोई निर्देशन दे सकते हैं? सच्चा उत्तर पानेके लिये हमें क्या करना चाहिये?**

प्रत्येक व्यक्ति इसे कर सकता है। यह इस तरह किया जाता है : तुम एकाग्र होओ। अब, वह निर्भर करता है इस बातपर कि तुम क्या चाहते हो। यदि तुम्हारे सामने कोई आंतरिक समस्या है और तुम उसका समाधान चाहते हो तो तुम उस समस्यापर एकाग्र होओ; यदि तुम यह जानना

चाहते हो कि तुम किस स्थितिमें हो, और जिसे तुम नहीं जानते, और तुम जिस अवस्थामें हो उसपर थोड़ा प्रकाश पाना चाहते हो, तो तुम बस सरलताके साथ जरा आगे आओ और प्रकाशके लिये प्रार्थना करो। अथवा, बिलकुल सरल रूपमें, यदि तुम यह जाननेके लिये उत्सुक हो कि अदृश्य ज्ञान तुमको क्या बतलाना चाहता है, तुम एक क्षणके लिये नीरव और स्थिर बने रहो और फिर पुस्तक खोलो। मैं सर्वदा इसके लिये एक कागज-तराश लेनेकी सलाह दिया करती हूं क्योंकि वह अधिक नुकीला होता है; जब तुम एकाग्र होओ उसे तुम पुस्तकमें घुसा दो और वह अपनी नोकसे किसी चीजको सूचित करेगा। तब, यदि तुम्हें मालूम हो कि एकाग्र कैसे हुआ जाता है, अर्थात् यदि तुम सचमुच कोई उत्तर पानेकी अभीप्साके साथ इसे करो तो उत्तर हमेशा आता है।

कारण, इस प्रकारकी पुस्तकोंमें (श्रीमाताजी 'योग-समन्वय' पुस्तक दिखाती हैं), दिव्य ज्ञानकी पुस्तकोंमें, सर्वदा शक्तियोंका — कम-से-कम उच्चतर मानसिक शक्तियोंका — और अधिकांशतः उच्चतम ज्ञानकी आध्यात्मिक शक्तियोंका एक पुंज होता है। प्रत्येक ग्रंथ, उसमें विद्यमान शब्दोंके कारण, इन शक्तियोंके एक छोटे-से संचयकर्ताके समान होता है। लोग इसे जानते नहीं, क्योंकि वे इसका उपयोग करना नहीं जानते, पर यह बात ऐसी ही है। उसी तरह, प्रत्येक तस्वीर (फोटोग्राफ) में, जिस व्यक्तिकी वह तस्वीर है उसकी शक्तिका, उसके स्वभावका और, यदि उसमें आध्यात्मिक सामर्थ्य हो तो उसकी सामर्थ्योंका प्रतिनिधि-रूप एक शक्ति-पुंज, एक छोटा-सा शक्ति-पुंज होता है। अब, यदि तुम सच्चे हो और तुममें कोई अभीप्सा है तो तुम एक विशेष प्रकंपनको, अपनी अभीप्साके प्रकंपनको बाहर निकालते हो जो बाहर जाता है और पुस्तकमें विद्यमान अपनेसे मिलती-जुलती शक्तिसे मिलता है, और वहां एक उच्चतर चेतना होती है जो तुम्हें उत्तर प्रदान करती है।

प्रत्येक वस्तु प्रच्छन्न रूपमें विद्यमान रहती है। संपूर्णका प्रत्येक तत्त्व प्रच्छन्न रूपमें उस सबको धारण किये रहता है जो संपूर्णमें होता है। इसे समझना थोड़ा कठिन है, पर एक उदाहरण देनेपर तुम समझ जाओगे : जब लोग जादू करना चाहते हैं तो उनके पास यदि नाखून या बालका एक टुकड़ा हो तो वही उनके लिये काफी होता है, क्योंकि उस टुकड़ेमें, प्रच्छन्न रूपमें, वह सब होता है जो स्वयं उस व्यक्तिमें होता है। और किसी पुस्तकमें वह ज्ञान गुप्त रूपमें (उक्त नहीं, अभिव्यक्त नहीं) विद्यमान होता है जो उस पुस्तकके लिखनेवाले व्यक्तिके अंदर होता है। इस प्रकार, श्रीअरविंदने समझ, ज्ञान और शक्तिकी परिपूर्णताको उपस्थित

किया है और उनकी प्रत्येक पुस्तक एक साथ ही एक प्रतीक और एक निरूपण है। उनकी हर पुस्तकमें प्रतीकात्मक रूपमें, अप्रकट रूपमें वह सब विद्यमान है जो स्वयं उनमें है। फलस्वरूप, यदि तुम पुस्तकपर एकाग्र होओ तो तुम, उस पुस्तकके द्वारा, मूल-स्रोततक जा सकते हो। और यहांतक कि तुम, उस पुस्तकके द्वारा, ठीक जो कुछ उस पुस्तकमें है उससे बहुत अधिक ग्रहण करनेमें समर्थ होओगे।

जो कुछ हम पढ़ते हैं उसे पढ़ने और समझनेका सर्वदा ही एक तरीका होता है और वही तुम जो कुछ चाहते हो उसका उत्तर देता है। यह ठीक कोई संयोग या तमाशा नहीं होता, न यह एक प्रकारका दिलबहलाव ही होता है। तुम इसे "यूं ही" कर सकते हो, और तब कुछ भी नहीं होता। तुम्हें कोई उत्तर नहीं मिलता और वह दिलचस्प नहीं होता। परंतु तुम यदि उसे गंभीरतापूर्वक करो, हां, गंभीरतापूर्वक, तुम्हारी अभीप्सा इस यंत्रपर (यह एक बैटरीकी तरह है, है न, जिसमें शक्ति भरी होती है) एकाग्र होनेकी चेष्टा करती है, उस शक्तिसे संपर्क करनेका यत्न करती है जो वहां विद्यमान होती है और जो कुछ वह जानना चाहती है उसका उत्तर पानेके लिये आग्रह करती है; हां, स्वभावतः, जो शक्ति वहां होती है — दो शक्तियोंका मिलन, एक तो वह शक्ति जिसे तुम बाहर निकालते हो और दूसरी वह जो पुस्तकमें संचित होती है — तुम्हारे हाथ और तुम्हारे कागज-तराशको या जो कुछ तुम्हारे हाथमें होता है उसको ले जाती है; ठीक उस चीजके पास ले जाती है जो उस बातको प्रकट करती है जो तुम्हें जाननी चाहिये...; स्पष्ट ही, यदि कोई इसे सच्चाई या विश्वासके बिना करता है तो एकदम कुछ नहीं आता। यदि इसे सच्चाईके साथ किया जाता है तो उत्तर आता है।

कुछ पुस्तकें इस प्रकारकी होती हैं जो औरोंकी अपेक्षा अधिक शक्तिसे भरी होती हैं; दूसरी ऐसी होती हैं जिनमें परिणाम कम स्पष्ट होता है। परंतु, साधारणतया, जिन पुस्तकोंमें सूत्र-वचन और छोटे-छोटे वाक्य होते हैं (बहुत लंबी दार्शनिक व्याख्याएं नहीं होतीं, बल्कि यों कहें कि संक्षिप्त और सुस्पष्ट रूपमें चीजें होती हैं), उन्हीं पुस्तकोंमें मनुष्योंको सबसे अधिक सफलता मिलती है।

स्वभावतः ही, उत्तरका मूल्य निर्भर करता है उस आध्यात्मिक शक्ति-पर जो उस पुस्तकमें है। यदि तुम कोई उपन्यास ले लो तो वह तुम्हें मूर्खताओंके सिवा एकदम कुछ नहीं बतायेगा। परंतु तुम यदि कोई ऐसी किताब लो जिसमें शक्तियां घनीभूत हों — ज्ञान या आध्यात्मिक शक्ति या शिक्षण-दात्री शक्तिका घनीभूत रूप हो — तो तुम्हें उत्तर मिल जायेगा।

तो अब, तुम क्या जानना चाहते हो? मैंने तुम्हें इसकी प्रक्रिया बतला दी है; क्या तुम चाहते हो कि मैं इसे करूं? क्या यही बात तुम चाहते हो, बच्चे, अथवा तुमने केवल इतना ही जानना चाहा था कि यह कैसे किया जाता है?

> **नहीं, माताजी, क्लासके पहले, चूंकि हम लोगोंके पास कोई प्रश्न नहीं था, मैंने बहुत-सी पुस्तकें खोलीं और कोई चीज पानेकी चेष्टा की, पर मैं कुछ भी नहीं पा सका।**

तुमने कुछ नहीं पाया क्योंकि शायद उस समय तुम्हारे मनमें कोई जिज्ञासा नहीं थी!

इस पुस्तकमें ('योग-समन्वय'में) बहुत-सी व्याख्याएं हैं, सो यदि तुम किसी व्याख्यामें गिर पड़े...। इसके लिये 'विचार और झांकियां' अथवा 'प्रार्थना और ध्यान' या 'कुछ वचन' जैसी कुछ पुस्तक होनी चाहिये, 'वार्त्तालाप' पुस्तक भी हो सकती है।

> **हमने 'श्रीअरविंदके पत्र' पर उसके तीसरे भागपर कोशिश की, माताजी।**

पत्र?... वह पुस्तक मुझे दो। क्या ये पत्र साहित्यके विषयमें नहीं हैं?

> **हां, माताजी।**

तब तो यह सबसे बुरा है! (हंसी)

> **नहीं, यह दूसरा भाग है।**

तब मैं सबसे पहले समष्टिके लिये कुछ निकालने जा रही हूं। अर्थात्, कौन-सी चीज यहां एकत्रित सबकी समष्टिगत अवस्थाको उत्तर दे रही और प्रकट कर रही है। हम देखने जा रहे हैं कि वह क्या करेगी। (माताजी एकाग्र होती हैं और एक छोटा-सा कार्ड पुस्तकमें डाल देती हैं।)

मेरे बच्चे, यह अंग्रेजीमें है! इसका मुझे तुरंत अनुवाद करना होगा। मेरा कार्ड इस वाक्यपर था, जो मुझे निस्संदेह यहां विद्यमान सब लोगों-

के लिये एक पर्याप्त सामान्य समस्या प्रतीत होता है: कर्मका सच्चा मनोभाव। (हंसी) श्रीअरविंद यह कहते हैं कि कर्मका सच्चा मनोभाव तब आता है "जब कर्म सर्वदा माताजीके विचारके साथ जुड़ा होता है, उनकी पूजाके रूपमें किया जाता है, इस प्रार्थनाके साथ किया जाता है कि वह तुम्हारे द्वारा किया जाय।" मैंने यही वाक्य पाया है, मैं समझती हूं, आरंभ करनेके लिये यह बुरा नहीं है।

अब, क्या कोई बालक या बालिका अपने लिये मुझसे कुछ निकलवाना चाहती है?

तुम! और तुम क्या चाहते हो? क्या तुम वह स्थिति जानना चाहते हो जिसमें तुम हो, या फिर कुछ और?

वह जिसमें मुझे होना चाहिये।

(श्रीमाताजी एक क्षण एकाग्र होती हैं, पुस्तक खोलती हैं और धीरे-धीरे पढ़ती हैं।) क्या यही वह समस्या है जिसमें तुम्हें दिलचस्पी है: अवतारका उद्देश्य?

"मैंने कहा है कि अवतार वह है जो मनुष्यजातिके लिये किसी उच्चतर चेतनाकी ओर जानेका "रास्ता" खोलनेके लिये आता है...।"

(श्रीअरविंदके पत्र, भाग १, पृष्ठ ४८०)

यहींपर मैंने अपना कागज-तराश रखा था। वह यहां आगे कहते हैं: "यदि कोई उस "रास्ते"का अनुसरण नहीं कर सकता तो या तो उस चीजकी हमारी कल्पना ही, जो कि ईसा और कृष्ण और बुद्धकी भी कल्पना है, पूरी तरह गलत है अथवा अवतारका पूरा जीवन और कार्य ही एकदम बेकार है।"

मैं नहीं समझती कि यही वह समस्या है जिसमें तुम व्यस्त थे, पर निस्संदेह यही चीज उत्तरके रूपमें आयी है...। यह बात स्पष्ट ही उस व्यक्तिके लिये कही गयी थी जिसने उनसे यह पूछा था: "अवतार आते और पथ खोलते हैं, परंतु उनका अनुसरण करनेवाला यदि कोई व्यक्ति न हो तो क्या होता है?" श्रीअरविंद कहते हैं: या तो उनकी कल्पना गलत है या उनका जीवन बिलकुल बेकार है। कहनेका तात्पर्य, यदि कोई भागवत पुरुष किसी उच्चतर सिद्धिका मार्ग खोलनेके हेतु

पृथ्वीपर आये और फिर ऐसा हो कि उस पथका अनुसरण करनेवाला पृथ्वीपर कोई न हो तो यह बिलकुल स्पष्ट है कि उनका यहां आना व्यर्थ हुआ। परंतु, सचमुच, मैं नहीं समझती कि ऐसा कभी हुआ है।

अच्छा, वाक्यका अंतिम भाग देखूं . . .। हां, यह उस व्यक्तिके लिये उत्तर है जिसने कहा था : "उसके अनुसरण करनेका न तो कोई पथ है और न कोई संभावना" और "अवतारके सभी संघर्ष और दुःख-क्लेश मिथ्या हैं और पूर्णतः निस्सार हैं!" इस व्यक्तिने दृढ़तापूर्वक कहा : "जो भगवान्का प्रतिनिधि होता है उसके लिये संघर्ष करने या प्रयास करनेकी कोई संभावना नहीं है", अर्थात् यहां जिन लोगोंका प्रश्न है उन सबके जीवनको वह अस्वीकार करता है। और श्रीअरविंद आगे कहते हैं : "इस प्रकारकी कल्पना अवतार-तत्त्वकी समूची भावनाको ही निरर्थक बना देती है" और "तब इसका कोई कारण, इसकी कोई आवश्यकता, इसका कोई अर्थ नहीं रह जाता . . .।" वे कहते हैं (हंसते हुए) : "भगवान् तो सर्व-शक्तिमान् हैं, वह पृथ्वीपर अवतरित होनेका कष्ट उठाये बिना भी लोगोंको ऊपर उठा सकते हैं . . .।" वह इस भांति (संकेत) ऐसा कर सकते हैं, वह सर्व-शक्तिमान् हैं, बस, लोगोंको ऊपर खींच लें और लोग उठ जायंगे। वे भला यहां किसलिये आयें और कष्ट उठायें?

और श्रीअरविंद अंतमें कहते हैं :

"यदि विश्व-व्यवस्थाका ही यह एक अंग हो कि उन्हें मनुष्यजातिका बोझ अपने ऊपर लेना चाहिये और दिव्य पथ खोलना चाहिये तभी अवतारका कोई अर्थ हो सकता है।"

यहां वह एक समस्याका स्पर्श करते हैं जिसमें तुम व्यस्त थे, करते हैं न? तुमने कभी यह प्रश्न अपने-आपसे नहीं किया : मनुष्य-शरीरमें भगवान्के अवतरित होनेका उद्देश्य क्या है, यह आवश्यक है या नहीं, और यह कैसे होता है, और क्यों होता है? इस बातमें, इस प्रश्नमें कभी तुम्हारी रुचि नहीं थी? कभी नहीं?

इस रूपमें नहीं।

इस रूपमें नहीं। तब इसने किसी ऐसी बातका उत्तर दिया है जिसके विषयमें तुम सचेतन नहीं थे। मैं जानती हूं कि किस बातका यह उत्तर था, परंतु तुम सचेतन नहीं थे।

आह! क्या कोई और कुछ जानना चाहता है? कोई नहीं? . . . ओह! कितने लज्जालु हो तुम सब!

आह! तुम्हारे लिये हम क्या खोजने जा रहे हैं (श्रीमाताजी 'पत्र' खोलती हैं) ... ये उन लोगोंके लिये उत्तर हैं जो पंडिताऊ ज्ञान चाहते हैं। तुम यह जानना चाहते हो कि भारतीय शब्दावलीके अनुसार परात्पर माता क्या है? ... लोग सर्वदा ही विद्वत्तापूर्ण प्रश्न पूछते हैं, उनमें कोई जीवन नहीं होता, वे केवल मस्तिष्कमें ही चलते रहते हैं।

ठहरो, मैं इस पुस्तकमें (श्रीमाताजी 'योग-समन्वय' पुस्तक उठाती हैं) कोशिश कर रही हूं, हम यह देखने जा रहे हैं कि शायद संयोगवश हम कोई चीज पा जायं (श्रीमाताजी एकाग्र होती हैं और पुस्तक खोलती हैं) ... आह! यह चीज बहुत अच्छा उत्तर देती है:

"यह एक अत्यंत क्षोभजनक उपलब्धि होती है जब हमें पता चलता है कि हमारे प्रत्येक अंगका, अर्थात्, बुद्धि, इच्छा-शक्ति, इंद्रिय-मानस, प्राणिक या कामनामय आत्मा, हृदय और शरीरका मानो सचमुच ही, अपना-अपना जटिल व्यक्तित्व है और शेष अंगोंसे स्वतंत्र प्राकृतिक गठन है।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० ८८)

ठीक-ठीक यही तुम्हारी दशा है! (हंसी)

इसके बाद: वह समझाते हैं:

"... प्रत्येक अंग न तो अपने-आपसे मेल खाता है, न दूसरोंसे और न ही उस प्रतिनिधि-रूप अहंसे मेल खाता है जो हमारे उथले अज्ञानपर किसी केंद्रस्थ और केंद्रस्थकारक आत्माद्वारा डाला गया प्रतिबिंब है।"

क्यों! यह वास्तवमें बहुत सुन्दर है। (श्रीमाताजी फिर पढ़ती हैं): "न उस प्रतिनिधि-रूप अहंसे मेल खाता है जो हमारे उथले अज्ञानपर किसी केंद्रस्थ और केंद्रस्थकारक आत्माद्वारा डाला गया प्रतिबिंब है।" और फिर:

"इस उपलब्धिसे हमें ज्ञात होता है कि हम एक ही नहीं, अपितु अनेक व्यक्तियोंसे गठित हैं और उनमेंसे प्रत्येककी अपनी-अपनी मांगें और पृथक्-पृथक् प्रकृति है। हमारा अस्तित्व भद्दे रूपमें गढ़ा हुआ एक गड़बड़झाला है जिसमें हमें दिव्य व्यवस्थाके नियमका सूत्रपात करना है।"

यह सचमुच सुन्दर है।

> (दूसरा शिष्य:) मैंने एक प्रश्न तैयार किया है। (वह 'योग-समन्वय' लेता है और पढ़ता है:) "... केंद्रीय चेतना

समय पाकर ज्ञानकी बाह्य मानसिक क्रियाओंको उत्तरोत्तर ऊंचा ले जायगी और इन्हें अपना एक भाग या अधिकृत प्रदेश बना लेगी। यह इनके भीतर अपनी अधिक विशुद्ध गतिका संचार करेगी और अधिकाधिक आध्यात्मीकृत तथा ज्ञानोद्दीप्त मनको इन तलीय क्षेत्रों अर्थात् अपने नवविजित प्रदेशोंमें, ... अपना यंत्र बना लेगी। ... वैयक्तिक चुनाव, सम्मति किंवा अभिरुचि न्यूनातिन्यून होती आयगी, बौद्धिक क्रिया, मानसिक उधेड़-बुन या अति कठोर मस्तिष्क-श्रम भी न्यूनातिन्यून हो जायगा; जो कुछ देखना आवश्यक है, जो कुछ जानना आवश्यक है वह सब अंदरकी एक 'ज्योति' ही देखेगी और जानेगी, वही विकास, निर्माण एवं संघटन भी करेगी। ... परंतु यह नहीं हो सकता कि रूपांतरका संपूर्ण क्षेत्र केवल इतना ही हो ..। क्योंकि, यदि ऐसा हो तो फिर भी ज्ञान उस मनका व्यापार बना रहेगा जो मुक्त, विश्वमय एवं अध्यात्ममय बन चुका है ...।"

('योगसमन्वय', पूर्वार्द्ध, पृष्ठ १७०)

और तब, तुम क्या जानना चाहते हो?

इसका मतलब है कि अध्यात्मभावापन्न मनका एकदम कुछ मूल्य नहीं है!

श्रीअरविंद कहते हैं: "यदि ऐसा हो तो फिर भी ज्ञान मनका व्यापार बना रहेगा।" (श्रीमाताजी पढ़ती हैं) "... वह मन जो मुक्त, विश्वमय एवं अध्यात्ममय तो बन चुका है, परंतु फिर भी अपेक्षाकृत सीमाबद्ध एवं सापेक्ष है और अपनी क्रियाशीलताके असली सारमें भी अपूर्ण है।"

मेरी समझमें नहीं आता।

हां, मुझे भी ऐसा लगता है कि तुम्हारी समझमें नहीं आता! वह कहते हैं कि यह ऐसा नहीं है। ऐसा नहीं होता, अगर ऐसा होता तो यह निरर्थक होता।

वह आगे चलकर कहते हैं (श्रीमाताजी पढ़ती हैं): "आध्यात्मीकृत मन अपनेको अतिक्रांत कर ज्ञानकी अतिमानसिक शक्तिमें रूपांतरित हो जायगा।"

यदि आध्यात्मीकृत मन सामान्य मनकी तरह कार्य करना जारी रखे तो उससे कोई अंतर नहीं पड़ेगा। पर वास्तवमें जो होता है वह ठीक इसके विपरीत है।

परंतु वह जब अध्यात्ममय बन गया है, वह पहलेकी तरह कैसे कार्य कर सकता है?

तुम्हें बस एक ही वाक्य नहीं पढ़ना चाहिये और उसके पहले और उसके बाद जो कुछ है उसकी ओरसे नजर नहीं हटानी चाहिये, क्योंकि इस तरह मनुष्य कुछ भी सिद्ध कर सकता है।

परंतु यहां, आपके साथ रहनेपर, मनुष्यको इन सब अनुभवोंमेंसे गुजरनेकी आवश्यकता नहीं होती, क्या ऐसी बात नहीं है माताजी?

गुजरनेकी आवश्यकता...। परंतु उन्होंने विस्तारके साथ कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी पथका, अपने निजी ढंगसे अनुसरण करता है, और कोई दो पथ एक जैसे नहीं हैं, और प्रत्येक व्यक्तिका अपना निजी मार्ग है। फलस्वरूप, कौन-सी "आवश्यकता", किसके लिये आवश्यकता? तुम्हारे लिये? मैं नहीं जानती। किस चीजमेंसे गुजरना? अपनी ही भावनाओंको किसी क्रममें रखना? वह संभवतः प्रत्येक व्यक्तिके लिये एकदम आवश्यक है।

मैं समझी नहीं कि तुम क्या जानना चाहते हो!

'अतिमानस'तक पहुंचनेके लिये, श्रीअरविंद कहते हैं कि कई स्तर हैं: पहला है मन, फिर विशुद्ध मन, ज्योतिर्मय मन आदि-आदि...। क्या इन स्तरोंमेंसे गुजरना प्रत्येक व्यक्तिके लिये आवश्यक है?

(कुछ देर मौन रहनेके बाद) ऐसा संभव है कि इस प्रकारका अनुक्रम सर्वदा होता हो। परंतु स्तरोंमें रहनेके काल और उनका महत्त्व व्यक्तियोंके अनुसार बहुत अधिक बदलता रहता है...। कुछ लोगोंके लिय यात्रा काफी तेज हो सकती है, इतनी तेज कि उसका भान ही न हो, जब कि दूसरोंके लिये उसमें बहुत लंबा समय लग सकता है; और प्रत्येकमें होने-

वाले प्रतिरोधके स्वरूपके अनुसार, इनमेंसे एक या दूसरे स्तरका महत्त्व बहुत अधिक मात्रामें बदलता है। . . . .

कुछ लोगोंके लिये यात्रा इतनी तेज हो सकती है कि वह लगभग तात्कालिक प्रतीत होती है, मानों यात्रा नामकी कोई वस्तु ही न हो। दूसरोंके लिये उसमें वर्षों लग जाते हैं।

यदि कोई अपनी उपलब्धिको स्थायी बनाना चाहे तो एक व्यापार ऐसा है जो स्पष्ट ही अनिवार्य प्रतीत होता है . . .। अनुभव आते हैं, चेतनाको छूते हैं, कभी-कभी महान् ज्योतियां ले आते हैं, फिर धुंधले हो जाते हैं, पीछेकी ओर चले जाते हैं और, ऊपरसे देखनेमें, अपनी सामान्य चेतनामें, तुम यह अनुभव नहीं करते कि वहां कोई महान् परिवर्तन हुआ है, कोई बहुत बड़ा अंतर आया है। और यह व्यापार बहुत बार हो सकता है; वर्षोंतक बार-बार होता रह सकता है। तुम एकाएक एक प्रकारकी अंतःप्रेरणा, एक ज्योतिकी तरह, प्राप्त करते हो, तुम सत्य चेतनामें होते हो और तुम्हें ऐसा बोध होता है कि तुमने यथार्थ वस्तुको पकड़ लिया है। और फिर, धीरे-धीरे, अथवा हठात् ऐसा लगता है कि वह चीज तुम्हारे पीछे हट गयी है और तुम उसे खोजते हो पर तुम्हें पता नहीं चलता कि तुम्हारे अंदर कोई महान् परिवर्तन आया है . . .। ऐसा प्रतीत होता है कि ये चीजें या तो संदेशवाहकों या आश्वासनोंके रूपमें आती हैं : "देखो, यह होगा"; अथवा तुमसे यह कहनेके लिये आती हैं कि : "हां, विश्वास रखो, यह इस प्रकार होगा।" . . . .

और यह बात कई बार हो सकती है। प्रगति तो होती है, स्पष्ट ही, पर वह होती है बहुत धीमी और आसानीसे दिखायी नहीं देती।

परंतु उसके बाद, अकस्मात् — शायद इस कारण कि मनुष्य पर्याप्त रूपमें तैयार है, संभवतः बस, इसी कारण, कि मुहूर्त आ गया है; और वैसा ही आदेश प्राप्त हुआ है — अकस्मात्, जब ऐसा कोई अनुभव आता है; इसका परिणाम, सत्ताके जिस भागमें यह होता है वहां, चेतना पूर्ण रूपसे उलट जाती है। यह बहुत स्पष्ट, बहुत ठोस व्यापार होता है। इसका वर्णन करनेका सबसे अच्छा तरीका यह है : एक पूर्ण विपर्यय हो जाता है। और तब सत्ताके अन्य भागोंके साथ तथा बाहरी जगत्के साथ चेतनाका संबंध मानों एकदम परिवर्तित हो जाता है; पूर्णतः एक प्रकारकी उलट-पलटकी तरह। और वह विपर्यय फिर कभी पुराने स्थानपर वापस नहीं जाता, चेतना कभी अपनी पहली अवस्थामें वापस नहीं जाती (जिसे श्रीअरविंद स्थिति कहेंगे)। एक बार जब यह चीज सत्ताके किसी भागमें हो जाती है तो सत्ताका वह भाग पक्का हो जाता है।

और जबतक ऐसा नहीं होता, वह आता है और जाता है, आता है और जाता है, मनुष्य आगे बढ़ता है और फिर उसे ऐसी धारणा होती है कि वह एक ही जगह खड़ा है; और फिर वह आगे बढ़ता है और फिर खड़ा हो जाता है, और कभी-कभी तो वह अनुभव करता है मानों वह पीछे जा रहा हो, और यह दशा बहुत लंबी होती है— सचमुच यह बहुत दीर्घ होती है। यह वर्ष-पर-वर्ष, वर्ष-पर-वर्ष बनी रह सकती है। परंतु जब चेतनाका यह विपर्यय होता है, चाहे वह मनमें हो या मनके एक भागमें, प्राणमें हो या प्राणके एक भागमें, या यहांतक कि स्वयं भौतिक चेतनामें और शरीर-चेतनामें हो, एक बार जब यह स्थापित हो जाता है, सब कुछ हो जाता है; तुम फिर कभी पीछे नहीं जाते, तुम जो कुछ पहले थे, उसी स्थितिमें फिर कभी वापस नहीं जाते, और यही चीज तुम्हें इस बातका एक सच्चा संकेत देती है कि एक स्तरको तुमने पार कर लिया है। और इससे पहले, वे सब केवल तैयारियां थीं।

जिन लोगोंको अनुभव हो चुका है वे इस विपर्ययको जानते हैं जिसकी चर्चा मैं कर रही हूं; परंतु किसीको यदि यह अनुभव नहीं हुआ है तो वह इसे नहीं समझ सकता। "मनुष्य सादृश्यके द्वारा एक प्रकारकी भावना बना सकता है, जिन लोगोंने योगका वर्णन करनेका प्रयास किया है वे इसकी तुलना त्रिपार्श्व कांच (prism) के उलटने-पलटनेके साथ करते हैं: यदि तुम इसे एक विशेष कोणपर रखते हो तो प्रकाश श्वेत होता है; जब तुम उसे उलट देते हो तो प्रकाश छिन्न-भिन्न हो जाता है। हां, ठीक यही बात होती है, अर्थात् तुम श्वेत ज्योतिको पुनः स्थापित करते हो। साधारण चेतनामें विघटन होता है और तुम श्वेतको पुनः स्थापित करते हो। यह केवल एक बिंब है। यह वास्तवमें वही चीज नहीं है, यह बस एक सादृश्य है। परंतु वह व्यापार अत्यंत प्रत्यक्ष होता है। वह लगभग ऐसा होता है मानों तुम्हें जो कुछ अंदर है उसे बाहर रखना हो, और जो कुछ बाहर है उसे अंदर रखना हो। और यह वैसी चीज भी नहीं है! परंतु तुम यदि एक गेंदको अंदरसे बाहर उलट दो, अथवा एक गुब्बारेको उलट दो (तुम नहीं उलट सकते, उलट सकते हो?), यदि तुम अंदरको बाहर और बाहरको अंदर कर सको तो यह उससे मिलता-जुलता होगा जो कि मेरा मतलब है।

और हम यह नहीं कह सकते कि हम इस विपर्ययका "अनुभव करते हैं"— उस समय कोई "भावना" नहीं होती, यह लगभग एक प्रकारका यांत्रिक तथ्य है— यह असाधारण रूपमें यांत्रिक है— (श्रीमाताजी मेजपरसे एक चीज उठाती हैं और उसे ऊपरसे नीचे उलट देती हैं) . . .।

यदि सिद्धि (उदाहरणार्थ, चेतनामें इस प्रकारका विपर्यय हो जाने) और विकासके समस्त कार्य अर्थात् तपस्याके बीचके अंतरके विषयमें कुछ कहा जाय, यह बताया जाय कि सिद्धि कैसे प्राप्त होती है तो बहुत मजेदार बातें सामने आयेंगी...। कारण, साधना, तपस्या एक चीज है और सिद्धि दूसरी चीज है, एकदम भिन्न वस्तु है। तुम शताब्दियों तपस्या कर सकते हो, और तुम सर्वदा एक स्पर्श-रेखाकी तरह सिद्धिके अधिकाधिक समीप, क्रमशः निकट पहुंच सकते हो, परंतु जब तुम्हें सिद्धि दे दी जाय केवल... तभी प्रत्येक वस्तु बदल जाती है, सब कुछ उलट-पलट जाता है। और यह चीज अवर्णनीय है, क्योंकि ज्यों ही इसे शब्दोंमें प्रकट किया जाता है त्यों ही यह तुम्हारी पकड़से निकल भागती है। परंतु वहां एक अंतर है — अभीप्सा, मानसिक तनाव, यहांतक कि उच्चतम, अत्यंत ज्योतिर्मय मनके तनाव और सिद्धिके बीच सचमुच एक तात्त्विक, पूर्ण विभेद है; सिद्धि वह चीज है जो सर्वदा ऊपरसे निश्चित की जाती है, और वह समस्त वैयक्तिक प्रयाससे, सब प्रकारकी क्रम-व्यवस्थासे पूर्णतः स्वतंत्र है। तुम नहीं देखते, मनुष्य वहां थोड़ा-थोड़ा करके नहीं पहुंचता। एक छोटे, सतत, नियमित प्रयासके द्वारा नहीं पहुंचता, यह एक ऐसी चीज नहीं है; यह एक ऐसी चीज है जो अकस्मात् आती है; वह तब स्थापित हो जाती है जब मनुष्य यह जानता भी नहीं कि वह कैसे या क्यों स्थापित हो गयी और सब कुछ बदल जाता है।

और यह चीज सबके लिये, समूचे विश्वके लिये इसी भांति होगी: यह चलती रहती है, चलती रहती है, यह बहुत धीरे-धीरे आगे बढ़ती है, और तब एक मुहूर्त्तमें, एकाएक, यह संपन्न हो जाती है, पूर्ण हो जाती है — पूर्ण नहीं होती: वह तो प्रारंभ होता है!

(मौन)

साधारणतया चैत्य पुरुषका पहला संपर्क ही यह अनुभव ले आता है, पर यह केवल आंशिक होता है, चेतनाका केवल वह भाग (अथवा सत्ताके किसी भागकी क्रिया), चेतनाका वह भाग जो चैत्य पुरुषके साथ युक्त होता है, यह अनुभव प्राप्त करता है। और इसलिये, उस अनुभवके मुहूर्त्तमें, चेतनाके उस भागकी स्थिति, अन्य भागों तथा जगत्की अपेक्षा, पूरी तरह पलट जाती है, वह भिन्न होती है। और फिर कभी नहीं बदलती। और यदि तुम चाहो या परवा करो या इस भागके संपर्कमें अपने जीवनकी सभी समस्याओं तथा अपनी सत्ताकी समस्त क्रियावलियोंको,

अपनी चेतनाके सभी तत्वोंको रख सकनेमें समर्थ होओ, तो वे इस ढंगसे सुव्यवस्थित होना आरंभ कर देते हैं कि तुम्हारी सत्ता एक इकाई — केवल एक ही बहुत्व, एक बहुविध इकाई — बन जाती है जो बहु-सम्मिश्र होती है, पर होती है एक स्थिर बिंदुके इर्द-गिर्द संगठित और संकेंद्रित, इतने अच्छे रूपमें संगठित और संकेंद्रित होती है कि केंद्रीय संकल्प या केंद्रीय चेतना या केंद्रीय सत्यसे सभी भागोंपर शासन करनेकी शक्ति प्राप्त होती है; क्योंकि वे सब इस केंद्रीय 'उपस्थिति'के चारों ओर सुव्यवस्थित, सुसंगठित होते हैं।

मुझे ऐसा लगता है कि यदि कोई मनुष्य भागवती शक्तिका सचेतन यंत्र बनना चाहता हो और यह उसकी नियति हो तो इस आवश्यकतासे बचना उसके लिये असंभव है। तुम एक अचेतन यंत्रके रूपमें भागवती शक्तिके द्वारा चालित हो सकते हो, कर्ममें नियोजित और प्रयुक्त हो सकते हो, बशर्ते कि तुम्हारे अंदर शुभेच्छा और सच्चाईकी कुछ-न-कुछ मात्रा अवश्य हो। परंतु एक सज्ञान यंत्र बननेके लिये, तादात्म्य प्राप्त करने तथा सचेतन इच्छित क्रियाएं करनेमें समर्थ होनेके लिये तुम्हारे अंदर यह आंतरिक संगठन अवश्य होना चाहिये; अन्यथा सर्वदा ही कहीं-न-कहीं तुम्हारे सामने कोई अस्तव्यस्तता, कहीं कोई उलझन या कोई दुर्बोधता, कहीं कोई अचेतनता आ उपस्थित होगी। और स्वभावतः ही तुम्हारी क्रिया एकमात्र भगवान्‌द्वारा परिचालित होनेपर भी अपनी अभिव्यक्तिमें वह पूर्णता नहीं प्राप्त करेगी जो पूर्णता उसे इस दिव्य केंद्रके इर्द-गिर्द एक सचेतन संगठन स्थापित कर लेनेपर प्राप्त होती।

यह एक श्रमसाध्य कार्य है, जो किसी भी समय और किसी भी परिस्थितिमें किया जा सकता है, क्योंकि तुम स्वयं अपने अंदर ही इस समस्याके सभी तत्वोंको वहन करते हो। यह कार्य करनेके लिये तुम्हें बाहरसे कोई चीज लेनेकी, कोई बाहरी सहायता प्राप्त करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। परंतु इसके लिये एक महान् अध्यवसायकी, एक प्रकारकी अडिगताकी आवश्यकता होती है, क्योंकि बहुत बार ऐसा होता है कि हमारी सत्तामें बुरी सिलवटें पड़ जाती हैं, अभ्यास पड़ जाता है — जो सभी प्रकारके कारणोंसे आते हैं, जो वंशपरंपरागत विकृतियोंके कारण अथवा शिक्षासे या जिस वातावरणमें तुम रह रहे हो उससे भी अथवा बहुतेरे दूसरे कारणोंसे आते हैं। तुम इन बुरी सिलवटोंको सीधा करनेकी कोशिश करते हो और वे फिर सिकुड़ जाती हैं। और तब तुम्हें फिरसे काम आरंभ करना पड़ता है, बहुधा, अनेक, अनेक बार, निरुत्साह हुए बिना और उसके बाद ही अंतिम परिणाम उपलब्ध होता है। परंतु

कोई चीज और कोई व्यक्ति इसे करनेसे तुम्हें रोक नहीं सकता, यहांतक कि कोई परिस्थिति भी नहीं। क्योंकि तुम स्वयं अपने अंदर ही इस समस्या और इसके समाधानको वहन करते हो।

(मौन)

और सच पूछो तो मानवता जिस अत्यंत सार्वजनीन रोगसे कष्ट भोग रही है वह है ऊब। मनुष्य जो मूर्खताएं करते हैं उनमेंसे अधिकांश उकताहटसे बचनेके प्रयासके कारण आती हैं। हां, मैं निश्चित रूपसे कह सकती हूं कि कोई भी बाहरी उपाय तनिक भी लाभकारी नहीं है, उकताहट तुम्हारा पीछा करती है और करती रहेगी भले ही उससे बचनेकी कोई भी कोशिश क्यों न कर लो। परंतु यह तरीका, यह उपाय, अर्थात् केंद्रीय 'चेतना' और 'उपस्थिति' के चारों ओर अपनी सत्ताको, उसकी सभी क्रियाओं और सभी अंग-प्रत्यंगोंको संघटित करनेका यह कार्य आरंभ करना, यही समस्त संभव उकताहटको दूर करनेका सबसे सुनिश्चित और सबसे पूर्ण, और सबसे अधिक शांतिदायक उपाय है। यह जीवनको महान् रस प्रदान करता है, और एक अश्रुतपूर्व विविधता भी। तुम्हें अब उकतानेका समय ही नहीं मिलता।

बस, हमें अत्यंत अध्यवसायी होना चाहिये।

और इस चीजकी दिलचस्पीको एक और चीज बढ़ा देती है और वह यह है कि इस प्रकारका कार्य, दिव्य केंद्रके इर्द-गिर्द अपनी सत्ताको सुसंमंजस बनाने और सुसंगठित करनेका यह कार्य केवल भौतिक शरीरमें और पृथ्वीपर ही किया जा सकता है। यही भौतिक शरीरका सच्चा और प्रमुख और आदि कारण है। कारण, जैसे ही तुम भौतिक शरीरमें नहीं रहते तुम इसे नहीं कर सकते, बिलकुल नहीं।

और उससे भी कहीं अधिक अद्‌भुत बात यह है कि केवल मानव-प्राणी ही इसे कर सकते हैं, क्योंकि केवल मानव-प्राणी ही ऐसे जीव हैं जिनके केंद्रमें, चैत्य पुरुषके अंदर यह दिव्य उपस्थिति विद्यमान है। उदाहरणार्थ, आत्म-विकास और संगठन और समस्त तत्त्वोंके विषयमें सचेतन होनेका यह कार्य प्राणमय और मनोमय जगतोंकी सत्ताओंकी पहुंचके अंदर नहीं है, उन सत्ताओंकी पहुंचके अंदर भी नहीं जिन्हें साधारण तौरपर "देवता" कहा जाता है; और जब वे इसे करना चाहते हैं, जब वे वास्तवमें अपने-आपको सुसंगठित करना तथा पूर्णरूपेण सचेतन होना चाहते हैं तो उन्हें शरीर धारण करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है।

और चूंकि मानव-प्राणी भौतिक शरीरमें आनेका कारण जाने बिना शरीरमें आते हैं, उनमेंसे अधिकतर लोग इस कारणको जाने बिना अपना सारा जीवन बिता देते हैं; वे इस कारणको जाने बिना अपना शरीर छोड़ देते हैं, और उन्हें उसी चीजको बार-बार अनिश्चित कालतक तबतक आरंभ करते रहना पड़ता है जबतक कि, एक दिन, कोई व्यक्ति उनसे यह कहनेके लिये नहीं आ जाता: "देखो! तुम जानते हो, इसका एक उद्देश्य है। तुम यहां यही कार्य करनेके लिये हो, अपने सुअवसरको खो मत दो!"

और कितने वर्ष नष्ट हो जाते हैं!

१३ जून, १९५६

> "आध्यात्मीकरणकी प्रक्रियामें यह (अध्यात्मभावापन्न मन) मानव-बुद्धिकी भड़कीली दरिद्रतामेंसे बाहर निकलना शुरू कर ही चुका होगा; और अब यह पहले उच्चतर मनके विशुद्ध विपुल विस्तारोंमें और तदनन्तर ऊर्ध्वके 'प्रकाश'से प्रकाशित और भी महत्तर प्रज्ञाके ज्योतिष्मान मंडलोंमें क्रमशः आरोहण करेगा। इस अवस्थामें यह एक 'अंतर्ज्ञान'की जो परतः-प्रकाशित नहीं, बल्कि स्वतः-प्रकाशमान एवं स्वतः-सत्य होता है और जो पहलेकी तरह पूर्ण रूपसे मानसिक न होनेके कारण भ्रांतिके बहुल आक्रमणसे अभिभूत भी नहीं होता, — प्रारंभिक दीप्तियोंको अधिक खुलकर अनुभव करने लगेगा और एक कम मिश्रित प्रतिक्रियाके साथ उन्हें अपने अंदर प्रवेश भी करने देगा। परंतु यहां भी आरोहणकी समाप्ति नहीं हो जायगी, फिर इसे और भी ऊपर उस अखंडित 'अंतर्ज्ञान'के असली स्तरमें उठना होगा जो मूलभूत 'सत्'की आत्म-संवित्से निकला हुआ प्रथम प्रत्यक्ष प्रकाश है और, इससे भी परे, वह तत्त्व प्राप्त करना होगा जहां-से यह प्रकाश आता है। कारण, 'मन'से भी परे एक 'अधि-मानस' है, एक अधिक मूलभूत और क्रियाशील 'शक्ति' है जो 'मन'को आश्रय देती है, उसे अपनेमेंसे निकली हुई एक क्षीण रश्मि समझती है और एक अधोमुखी गतिको संक्रांत करने-

वाले पर्दे या 'अविद्या'को उत्पन्न करनेवाले साधनके तौरपर उसका प्रयोग करती है। आरोहणका अंतिम पग होगा स्वयं इस 'अधिमानस'को भी पार करना, अथवा इसका अपने और भी महत्तर उद्गममें लौट जाना तथा 'विज्ञान'की अतिमानसिक ज्योतिमें रूपांतरित हो जाना।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० १७१)

यहां दो स्तर हैं, देखते हो न? मनुष्य मनके परे किसी विशिष्ट क्षेत्रमें ऊपर उठ सकता है, फिर उस क्षेत्रके परे और भी दूसरे क्षेत्रमें प्रवेश कर सकता है जो सभी वस्तुओंका मूल-स्रोत है। इसका अर्थ है क्रमशः दो स्तर।

प्यारी माताजी, अब जब कि 'अतिमानस' अवतरित हो चुका है, मनुष्य तर्कशील मनसे सीधा 'अतिमानस'में क्यों नहीं जा सकता?

किसने कहा है कि मनुष्य नहीं जा सकता?

श्रीअरविंद यहां बतला रहे हैं कि 'अतिमानस' के साथ संपर्क स्थापित करने तथा उसकी अभिव्यक्तिके लिये क्षेत्र तैयार करनेके लिये क्या करना चाहिये। परंतु अब जब कि वह पार्थिव वातावरणमें प्रवेश कर चुका है, मैं नहीं समझती कि उसकी अभिव्यक्तिके लिये उसपर कोई सुनिश्चित और विशिष्ट प्रक्रिया क्यों लादी जानी चाहिये। यदि वह किसी यंत्रको, जिसे वह उपयुक्त या तैयार या अनुकूल समझता है, सीधा प्रदीप्त करना चाहता है तो मैं नहीं समझती कि वह ऐसा क्यों न करे।

और मैं इसे दुहरा रही हूं: किसने कहा है कि वह अन्यथा नहीं कर सकता? किसीने नहीं। श्रीअरविंदने यहां जो कुछ वर्णन किया है वह दूसरी चीज है और, निस्संदेह, यही चीज है जो हुई। यह तैयारी थी जो अभिव्यक्तिके लिये आवश्यक थी। परंतु अब मैं नहीं समझती कि क्यों अथवा किस आधारपर अतिमानसिक क्रियापर कोई विशिष्ट प्रक्रिया लादी जानी चाहिये और उसे अपनी निजी प्रक्रिया चुननेकी स्वतंत्रता क्यों नहीं प्राप्त होनी चाहिये।

मैं समझती हूं कि सभी संभावनाएं प्रदान की गयी हैं और सभी सच्ची अभीप्साओं तथा पूर्ण आत्मोत्सर्गको प्रत्युत्तर प्राप्त होगा; और प्रक्रियाएं, साधन, अवस्थांतर तथा रूपांतरण आदि अपने स्वरूपमें असंख्य होंगे —

ऐसी बात बिलकुल नहीं होगी कि कोई चीज केवल एक विशिष्ट प्रकारसे ही होगी और उससे भिन्न प्रकारसे नहीं।

प्रधानतया, प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह कोई भी हो, जो अतिमानसिक चेतना और ज्योतिका एक नन्हा-सा कण भी या कोई विशेष प्रकारका भाव ही ग्रहण करनेके लिये तैयार हो, उसे **अपने-आप ग्रहण** करेगा। और इस चेतना और ज्योतिके परिणाम अनगिनत होंगे, क्योंकि वे निस्संदेह संभावनाओंके, प्रत्येक व्यक्तिकी अभीप्साकी सच्चाईके अनुसार उसकी क्षमताके अनुकूल होंगे।

जितना ही अधिक पूर्ण आत्म-निवेदन और जितनी ही अधिक तीव्र अभीप्सा होगी, उतना ही अधिक पूर्ण और तीव्र परिणाम भी हो सकता है। परंतु अतिमानसिक कार्यका परिणाम अपनी अभिव्यक्तिमें अगणित होगा — बहुविध, असंख्य, अनंततः विभिन्न होगा; वह अनिवार्य रूपसे एक ही धाराका अनुसरण नहीं करेगा जो सबके लिये एक-जैसी होगी। ऐसा होना असंभव है। क्योंकि यह चीज अतिमानसिक चेतनाके स्वभावके एकदम विरुद्ध है।

वातावरणका गुण-धर्म ही बदल गया है।

परिणाम निश्चय ही अनंत रूपसे विविध होंगे, पर होंगे सुस्पष्ट। कहनेका तात्पर्य, सामान्य क्रियाओंके परिणामों तथा अतिमानसिक कार्यके परिणामोंमें भेद करना संभव होगा, क्योंकि अतिमानसके परिणामोंका एक विशिष्ट स्वरूप होगा, एक असाधारण विशेषता होगी।

परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई भी व्यक्ति, किसी भी मुहूर्त्त और चाहे जिस तरीकेसे, अकस्मात् अतिमानसिक महामानव बन जायगा। ऐसी आशा नहीं करनी चाहिये।

मैं यह कहने जा रही थी कि कोई यदि केवल इतना ही देखे कि वह पहलेसे थोड़ा कम मूर्ख है तो यह भी एक बहुत बड़ी बात होगी!

क्या यह प्रभाव शिक्षाके क्षेत्रमें भी अभिव्यक्त होगा?

तुम किसी एक या दूसरे क्षेत्रको उसके लिये वर्जित क्यों करना चाहते हो?

क्योंकि शिक्षाकी जिस पद्धतिका हम लोग अनुसरण करते हैं वह अब भी, जैसा कि श्रीअरविंद कहते हैं, "मानव-बुद्धिकी एक चमचमाती हुई बर्बरता" बनी हुई है।

क्या तुम उस शिक्षाकी चर्चा कर रहे हो जो तुम अपने विद्यार्थियोंको देते हो? उसीकी बात है? परंतु अब समय हो चुका है, यह सब बदल जानी चाहिये!

जो कुछ पहले किया जा चुका है और जो कुछ दूसरोंके द्वारा किया गया है उसकी नकल करनेका एक शोचनीय अभ्यास लोगोंको पड़ गया है। बहुत दिन पहले मैंने तुमसे यह बात कही थी। वह तर्क है: "यही करना होगा, क्योंकि यही चीज सर्वत्र की जाती है"; मेरा उत्तर है: "संभवतः यही कारण है कि उसे नहीं करना चाहिये! कारण, यदि अन्य सभी उसको करते हैं तो उसे यहां भी करनेसे क्या लाभ?"

परंतु आपके हस्तक्षेपके बिना, हम कोई चीज कैसे कर सकते हैं?

परंतु यह बात तुम मुझसे क्यों पूछते हो? तुमको सबसे पहले अतिमानसके सिद्धांतोंके साथ मेल बैठाकर अपनी शिक्षा-पद्धतिको बदलना चाहिये। कम-से-कम तुम्हें प्रयास करना चाहिये। तुम्हें पूछना नहीं चाहिये, तुम्हें करना चाहिये। यदि तुम सर्वदा उसी लीकपर घूमते रहो तो तुम उसी लीकपर अनिश्चित कालतक बने रह सकते हो। तुम्हें उससे बाहर निकलनेका प्रयत्न करना चाहिये।

निस्संदेह, मैं निरंतर इस विषयपर विचार-विमर्श करती रहती हूं। मैं समझती हूं कि ठीक आज ही या शायद कल मैं इस बातकी वकालत कर रही थी कि प्रत्येक व्यक्तिको अज्ञानमें बने रहनेका अधिकार है यदि यह उसे पसंद हो (मैं यहां आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे अज्ञानकी बात, हम 'अविद्या'के जिस जगत्‌में रहते हैं उसकी बात नहीं कह रही, मैं उसकी चर्चा नहीं कर रही। मैं शिक्षाकी चिर-प्रतिष्ठित भावनाके अनुसार अज्ञानकी बात कह रही हूं।) हां, मैं यह कहती हूं कि ऐसे लोग होते हैं जो पढ़ना नहीं चाहते और पढ़ना-लिखना पसंद नहीं करते, उन्हें न पढ़नेका अधिकार है।

उनसे जो बात कहना हमारा कर्तव्य है वह यह है: "अब, तुम उस उम्रमें पहुंच गये हो जहां तुम्हारा मस्तिष्क तैयार होनेकी अवस्थामें है। वह निर्मित हो रहा है। प्रत्येक नयी वस्तु जो तुम सीखते हो, वह तुम्हारे मस्तिष्कमें एक और छोटी-सी तह बना देती है। जितना ही अधिक तुम अध्ययन करते हो, जितना ही अधिक तुम सोचते हो, जितना ही अधिक तुम मनन करते हो, जितना ही अधिक तुम काम करते हो, तुम्हारा

मस्तिष्क भी अपनी (लहरिकाओं) लपेटोंमें उतना ही अधिक बहुविध और पूर्ण बन जाता है। और चूंकि अभी तुम एक बालक हो, यही समय है जब यह कार्य अधिक उत्तम रूपमें साधित होता है। यही कारण है कि मनुष्योंमें बचपनमें ही पढ़नेका चुनाव करनेकी प्रथा है, क्योंकि उसी समय यह कार्य अनंत-गुना अधिक आसान होता है।" और यह स्पष्ट है कि जबतक बच्चा कम-से-कम थोड़ा भी अपने विषयमें सचेतन नहीं हो जाता तबतक उसे एक विशेष नियमके अधीन रखना ही होगा, क्योंकि अभीतक अपने लिये चुनाव करनेकी क्षमता उसमें नहीं है।

वह उम्र (चुनाव करनेकी उम्र) बहुत अलग-अलग होती है: यह निर्भर करती है लोगोंके ऊपर, निर्भर करती है प्रत्येक व्यक्तिके ऊपर। परंतु फिर भी, यह जानी हुई बात है कि सात वर्षसे चौदह वर्षके बीचके सात सालोंकी अवधिमें बालक विचार-चिंतनकी उम्रका स्पर्श करना आरंभ कर देता है। यदि सहायता प्राप्त हो तो बालक सात और चौदह वर्षके बीच एक चिंतन-शील व्यक्ति बन सकता है।

सातसे पहले कुछ प्रतिभाशाली बच्चे होते हैं (सर्वदा और सर्वत्र ही प्रतिभाशाली लोग होते हैं), परंतु साधारण नियम यही है कि बच्चा अपने विषयमें सचेतन नहीं होता और यह नहीं जानता कि क्यों और कैसे कोई चीज की जाती है। वही समय होता है जब उसे दत्तचित होना सिखाना चाहिये, जो कुछ वह करता है उसपर एकाग्र होना बताना चाहिये, उसके लिये पर्याप्त एक छोटा-सा आधार देना चाहिये जिसमें वह बिलकुल एक नन्हें-से पशुके जैसा न हो, बल्कि एक प्रारंभिक बौद्धिक प्रगतिके द्वारा मनुष्यजातिका एक सदस्य हो सके।

उसके बाद, सात वर्षोंकी अवधि होती है जिसमें उसे चुनाव करना — वह जो कुछ बनना चाहता हो उसका चुनाव करना सिखाना चाहिये। यदि वह एक समृद्ध, बहुविध, सुविकसित मस्तिष्क पाना चाहता हो जो अपनी क्रियामें शक्तिशाली हो तो उसे कार्य करना सिखाना चाहिये; क्योंकि वास्तवमें कर्मके द्वारा, चिंतन-मननके द्वारा, अध्ययन, विश्लेषण और जो कुछ उसका परिणाम होता है उससे मस्तिष्क गठित होता है। चौदह वर्षकी उम्रमें तुम यह जाननेके लिये तैयार हो जाते हो — अथवा तुम्हें तैयार हो जाना चाहिये — कि तुम क्या होना चाहते हो।

और इसलिये मैं कहती हूं: यदि उस उम्रके आस-पास कुछ बच्चे सुस्पष्ट रूपमें यह घोषित करते हैं: "मुझे बौद्धिक विकासमें तनिक भी दिलचस्पी नहीं है, मैं पढ़ना नहीं चाहता, अज्ञानके सामान्य रूपमें मैं अज्ञ रहना चाहता हूं", तो मैं नहीं समझती कि किस अधिकारसे हम उनपर

पढ़ाई लाद सकते हैं अथवा उन सबको एक समान करनेकी आवश्यकता ही क्यों हो।

ऐसे लोग होते हैं जो नीचेके स्तरपर होते हैं और दूसरे एक और स्तरपर। ऐसे लोग हो सकते हैं जिनमें बहुत विलक्षण क्षमताएं तो हों फिर भी उनमें बौद्धिक विकासकी कोई रुचि न हो। मनुष्य उन्हें चेतावनी दे सकता है कि यदि तुम प्रयत्न नहीं करोगे, अध्ययन नहीं करोगे तो जब तुम बड़े होगे, तो शायद दूसरोंके सामने घबड़ाहट अनुभव करोगे। परंतु यह बात यदि उनके लिये महत्त्वपूर्ण न हो और वे अ-बौद्धिक जीवन यापन करना चाहें तो मैं समझती हूं कि उन्हें विवश करनेका कोई अधिकार किसीको नहीं है। अपने स्कूलके सभी अध्यापकोंके साथ मेरा निरंतर यही झगड़ा रहा है! वे आते और मुझसे कहते हैं: यदि वे परिश्रम नहीं करते तो जब वे बड़े होंगे तो मूर्ख और अज्ञानी होंगे। मैं कहती हूं: परंतु मूर्ख और अज्ञानी रहना ही यदि उन्हें पसंद है तो तुम्हें हस्तक्षेप करनेका क्या अधिकार है?

हम ज्ञान और बौद्धिकताको अनिवार्य विषय नहीं बना सकते। बस, यही बात है।

अब, यदि तुम यह विश्वास करते हो कि समस्त प्रयास और समस्त अध्ययनसे अलग रहकर तुम प्रतिभावान् व्यक्ति बन जाओगे, और असाधारण अतिमानसिक व्यक्ति भी, तो ऐसी किसी भ्रमका पोषण मत करो, ऐसा नहीं होगा। कारण, यदि किसी आंतरिक अभीप्साके द्वारा या भागवत कृपाके द्वारा किसी उच्चतर ज्योतिका स्पर्श पा भी जाओ तो तुम्हारे मस्तिष्कमें ऐसी कोई चीज नहीं होगी जो उसको अभिव्यक्त कर सके। अतएव वह चीज एकदम मेघाच्छन्न रूपमें ही बनी रहेगी और किसी भी रूपमें तुम्हारे बाहरी जीवनको परिवर्तित नहीं करेगी। परंतु तुम्हें यदि ऐसा रहना पसंद हो तो दूसरे प्रकारका बननेके लिये तुम्हें विवश करनेका अधिकार किसीको नहीं है। तुम्हें तबतक प्रतीक्षा करनी होगी जबतक कि तुम चुनाव करनेके योग्य पर्याप्त रूपमें सचेतन नहीं हो जाते।

स्पष्ट ही, बहुत-से लोग चौदह वर्षकी अवस्थामें भी पांच वर्षके बच्चों जैसे होते हैं। परंतु इनके लिये — इनके लिये बहुत कम आशा है; विशेषकर उन लोगोंके लिये जो यहां रह चुके हैं।

यहां कोई ऐसी चीज है जो शिक्षाके संबंधमें तुम्हारे दृष्टिकोणको पूर्णतः बदल देती है।

प्रधानतः, **एकमात्र कार्य** जो तुम्हें अध्यवसायके साथ करना चाहिये वह

है उन्हें अपने-आपको जानना और अपनी निजी भवितव्यताको, उस पथ-को चुनना सिखाना जिसका वे अनुसरण करेंगे। उन्हें स्वयं अपनी ओर देखना, अपने-आपको समझना तथा अपने लिये निर्णय करना सिखाना होगा। यह चीज उन्हें यह सिखानेकी अपेक्षा अनंतगुना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि पुराने युगोंमें पृथ्वीपर क्या हुआ, या यहांतक कि पृथ्वीका कैसे निर्माण हुआ, अथवा . . . निस्संदेह, वे सब बातें जो संसारमें साधारण जीवन बितानेकी इच्छा रखनेवाले लोगोंके लिये बिलकुल आवश्यक आधार हैं, क्योंकि तुम यदि उन्हें न जानो तो तुरत कोई भी व्यक्ति तुम्हें बौद्धिक रूपसे अपमानित कर देगा: "ओह, यह मूर्ख है, यह कुछ नहीं जानता।"

परंतु फिर भी, चाहे किसी भी आयुमें, यदि तुम परिश्रमी हो और तुममें इसे करनेका संकल्प हो तो तुम पुस्तकें ले सकते और अध्ययन कर सकते हो; तुम्हें उसके लिये स्कूलमें जानेकी आवश्यकता नहीं है। संसारमें तुम्हें सब प्रकारकी बातें सिखानेके लिये पर्याप्त पुस्तकें हैं। निस्संदेह, आवश्यकतासे कहीं अधिक पुस्तकें हैं। तुम बस मेधानंद[1]के यहां, पुस्तकालयमें जाकर सभी विषयोंकी जानकारी प्राप्त कर सकते हो। तुम्हें उनके विषयमें इतनी अधिक जानकारी प्राप्त हो जायगी कि तुम अपनेको यहांतक (संकेत) भर सकते हो। . . . . .

परंतु जो चीज बहुत महत्त्वपूर्ण है वह है यह जानना कि आखिर वह क्या चीज है जिसे तुम चाहते हो। और इसके लिये आवश्यक है कि मनुष्यको कम-से-कम कुछ तो स्वाधीनता प्राप्त हो। मनुष्यको किसी भी दबाव या बंधनके अधीन नहीं होना चाहिये। उसे संपूर्ण हृदयसे कार्य करनेके योग्य होना चाहिये। अगर तुम आलसी हो, हां, तुम जानोगे कि आलसी होनेका क्या अर्थ है . . . । तुम जानते हो, जीवनमें आलसी व्यक्तियोंको दूसरोंकी अपेक्षा दसगुना अधिक कार्य करनेके लिये विवश होना पड़ता है, क्योंकि वे जो कुछ करते हैं, बुरी तरह करते हैं, अतएव वे उसे फिरसे करनेके लिये बाध्य होते हैं। परंतु ये चीजें ऐसी हैं जिन्हें मनुष्यको अनुभवसे सीखना पड़ता है। ये चीजें तुम्हारे मस्तिष्कमें भरी नहीं जा सकतीं। . . . . .

मनको यदि भीतर रोक न रखा जाय तो वह एक ऊपर-ऊपर तैरती हुई, अस्पष्ट वस्तु होता है। यदि हमें उसे किसी वस्तुपर एकाग्र करने-का अभ्यास न हो तो वह सब समय घूमता-फिरता रहता है। वह चलता

---

[1]श्रीअरविंद आश्रम पुस्तकालयके अध्यक्षका नाम। —अनुवादक।

रहता है और कहीं भी रुकता नहीं, और अनिश्चितताके एक जगत्में विचरण करता रहता है। और फिर, जब कोई अपना ध्यान स्थिर करना चाहता है तो इससे उसे चोट पहुंचती है! इसके लिये उसे थोड़ा प्रयास करना पड़ता है, उसे ऐसा लगता है: "ओह! कितना थकानेवाला है यह, यह तो चोट पहुंचाता है!" अतएव मनुष्य उसे नहीं करता। और वह एक प्रकारकी मेघाच्छन्न अवस्थामें रहता है। और तुम्हारा मस्तिष्क भी मेघके जैसा होता है; वह वैसा ही होता है; अधिकांश मस्तिष्क मेघके जैसे होते हैं: उनमें कोई भी सुनिश्चितता, कोई भी यथार्थता, कोई भी सुस्पष्टता नहीं होती, वे धुएंदार होते हैं — अस्पष्ट और धुएंदार। तुम्हें वस्तुओंके ज्ञानकी अपेक्षा कहीं अधिक उनकी धारणाएं प्राप्त होती हैं। तुम एक प्रकारके अनुमानकी स्थितिमें रहते हो, और उस समय तुम अपने मस्तकमें सभी प्रकारके विरोधी विचारोंको बनाये रख सकते हो जो कि अधिकतर संस्कारों, संवेदनों, भावनाओं; आवेगोंसे — ऐसी ही सभी प्रकारकी चीजोंसे बने होते हैं, जिनका विचारके साथ बहुत थोड़ा-सा ही संबंध होता है और... जो यथार्थतः आवारागर्दी, "विक्षिप्तावस्था" हैं।

परंतु तुममें यदि किसी विशेष विषय, किसी यथार्थ, ठोस, स्पष्ट, निश्चित विचारपर पहुंचना चाहो तो तुम्हें उसके लिये प्रयास करना होगा, अपने-आपको एकत्र करना होगा, अपने-आपको स्थिर करना होगा, एकाग्र होना होगा। और जब तुम प्रथम बार इसे करते हो तो यह अक्षरशः चोट पहुंचाता है, यह थका देता है! परंतु तुम यदि इसका अभ्यास न डालो तो सारे जीवन तुम एक दोलायमान स्थितिमें निवास करोगे। और जब तुम्हारे मनके सामने व्यावहारिक बातें आयेंगी, जब वे बातें तुम्हारे सम्मुख उपस्थित होंगी — क्योंकि, सब कुछके बावजूद, मनुष्यके सामने सर्वदा ही कुछ समस्याएं उपस्थित होती हैं जिन्हें हल करना होता है, जो बिल्कुल व्यावहारिक ढंगकी होती हैं — हां, तब तुम समस्याके सभी अंगोंको समझने, उन्हें पास-पास रखने, प्रश्नको सभी दृष्टिकोणोंसे देखने, और फिर ऊपर उठकर समाधान देखनेमें समर्थ नहीं होगे, उसके बदले तुम किसी धुंधली और अनिश्चित वस्तुके चक्करमें उछलने-गिरने लगोगे, और तुम्हें ऐसा लगेगा कि कितने सारे मकड़े तुम्हारे मस्तिष्कमें चारों ओर दौड़ रहे हैं — परंतु तुम उस चीजको पकड़नेमें सफल नहीं होगे।

मैं सबसे सरल समस्याओंकी बात कर रही हूं, समझे; मैं संसार या मानवताके भाग्यके निर्णय करनेकी, यहांतक कि किसी देशके भाग्यका निर्णय करनेकी बात नहीं कर रही — उस प्रकारकी एकदम किसी बातकी चर्चा

नहीं कर रही। मैं तुम्हारे दैनिक जीवनकी, प्रत्येक दिनकी समस्याओंकी चर्चा कर रही हूं। वे एकदम कोई धुंधली वस्तु बन जाती हैं।

हां, बस इसी चीजसे बचनेके लिये, जब तुम्हारा मस्तिष्क बननेकी अवस्थामें होता है, तुमसे यह कहा जाता है: इसे ऐसे अभ्यासों और गुणोंके द्वारा निर्मित होने देनेके बदले, थोड़ी यथार्थता, सुनिश्चितता तथा एकाग्र होने, चुनाव करने, निर्णय करने, वस्तुओंको क्रममें रखनेकी क्षमता प्रदान करनेकी चेष्टा करो, अपनी तर्क-बुद्धिका प्रयोग करनेका प्रयास करो।

कारण, यद्यपि यह बात सुपरिचित है कि तर्क-बुद्धि ही मनुष्यकी सर्वोपरि क्षमता नहीं है और उसका अतिक्रमण अवश्य करना चाहिये, फिर भी यह बात उतनी ही स्पष्ट है कि यदि तुम्हारे अंदर तर्क-बुद्धि नहीं है तो तुम एक प्रकारका पूर्णत: असंबद्ध जीवन यापन करोगे, तुम्हें यह भी नहीं मालूम होगा कि युक्तिसंगत ढंगसे कैसे व्यवहार किया जाता है। छोटी-से-छोटी बात भी तुम्हें पूरी तरह परेशान कर देगी, और तुम्हें यह भी पता नहीं चलेगा कि ऐसा क्यों हुआ, और उससे भी ज्यादा, यह नहीं मालूम होगा कि इसका उपाय कैसे किया जाय। जब कि वह व्यक्ति, जिसने कि अपने अंदर सक्रिय, सुस्पष्ट विचारणाकी एक स्थितिको स्थापित कर लिया है, सभी प्रकारके आक्रमणोंका, भावात्मक आक्रमणोंका अथवा किसी भी प्रकारके परीक्षणोंका सामना कर सकता है; क्योंकि जीवन इन सब चीजोंसे — विवादों, मामूली कष्टों, परेशानियोंसे पूरी तरह भरा हुआ है, जो हैं तो छोटी पर होती हैं अनुभव करनेवालेके अनुपातमें, और इसलिये स्वभावत: ही बहुत बड़ी अनुभूत होती हैं क्योंकि वे उसके अनुपातमें होती हैं। हां तो, बुद्धि कुछ दूर पीछे अवस्थित हो सकती है, उस सबका निरीक्षण कर सकती, मुस्करा सकती और कह सकती है: "ओह! नहीं, एक इतनी छोटी-सी बातका बतंगड़ नहीं बनाना चाहिये।"

यदि तुम्हारे पास बुद्धि न हो तो तुम्हारी स्थिति वही होगी जो तूफानी समुद्रके ऊपर एक कॉर्ककी होती है। मैं नहीं जानती कि इस अवस्थामें कॉर्कको कोई तकलीफ होती है या नहीं, परंतु यह अवस्था मुझे बहुत सुखदायी नहीं प्रतीत होती। खैर।

खैर। अब इतना सब कहनेके बाद — और मैंने केवल एक बार ही यह बात तुमसे नहीं कही है बल्कि मैं समझती हूं कि कई बार कह चुकी हूं, और तुम जितनी बार चाहो उतनी बार फिर कहनेके लिये तैयार हूं — इतना कहनेके बाद, मैं तुम लोगोंको यह चुनाव करनेके लिये पूर्ण रूपसे स्वतंत्र छोड़ देना ही उचित समझती हूं कि तुम तूफानी समुद्रके ऊपर एक कॉर्क होना चाहते हो अथवा तुम वस्तुओंका एक

सुस्पष्ट, सुनिश्चित अनुभव और पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो ताकि तुम वहांतक — हां, वहींतक जहां कि तुम जाना चाहते हो, जानेमें समर्थ हो सको।

क्योंकि एक प्रकारकी सुस्पष्टता (सही-सही देखने और समझनेकी शक्ति) होती है जो अपने चुने हुए पथका अनुसरण करनेके योग्य बननेके लिये भी अनिवार्य होती है।

मैं बिलकुल भी उत्सुक नहीं हूं कि तुम लोग विद्वान् बनो, उससे बहुत दूर हूं! क्योंकि तब मनुष्य दूसरे सीमांतपर पहुंच जाता है; मनुष्य अपने मस्तिष्कको इतनी अधिक चीजोंसे भर देता है कि फिर उच्चतर ज्योतिके लिये वहां कोई स्थान ही नहीं रह जाता; परंतु एक अत्यल्प मात्राका होना अपरिहार्य होता है ताकि हम न . . . हां, कॉर्क न बन जायं।

माताजी, यह कहा जाता है कि अध्ययनमें हमारी जो सामान्य कमियां हैं उनका कारण यह तथ्य है कि खेल-कूदोंपर, शारीरिक शिक्षणपर बहुत अधिक जोर दिया जाता है। क्या यह सच है?

किसने ऐसा कहा है? उन लोगोंने जो शारीरिक शिक्षणको पसंद नहीं करते? बूढ़े, कठोर अध्यापकोंने जो अब व्यायाम करनेमें असमर्थ हैं? उन लोगोंने? (मैं उनका नाम नहीं पूछ रही हूं!)

खैर, मैं ऐसा नहीं समझती।

तुम्हें श्रीअरविंदका वह पहला लेख याद है जो उन्होंने 'शिक्षाकेंद्र पत्रिका' के लिये लिखा था? उसमें उन्होंने बिलकुल स्पष्ट रूपमें इन लोगोंको उत्तर दिया है।

मैं नहीं समझती कि वह बात हो सकती है। मैं बिलकुल निस्संदिग्ध हूं कि वह बात नहीं है। बल्कि मैं समझती हूं (और मैं इसका सारा दोष अपने ऊपर लेती हूं) कि मेरे बच्चो, तुम लोगोंको एक प्रकारकी विलक्षण स्वतंत्रता दी गयी है, ओह! मैं नहीं सोचती कि संसारमें ऐसा कोई दूसरा स्थान भी है जहां बच्चे इतने स्वतंत्र हैं। और, निश्चय ही, यह जानना बहुत कठिन है कि इस प्रकारकी स्वतंत्रताका उपयोग कैसे करना चाहिये।

जो हो, इस परीक्षणको अजमाकर देखना उचित था। तुम इसका मूल्य नहीं समझते क्योंकि तुम नहीं जानते कि स्थिति ऐसी न होती तो क्या होता; यह स्थिति तुम्हें एकदम स्वाभाविक प्रतीत होती है। परंतु यह

जानना बहुत कठिन है कि स्वयं अपनी निजी स्वतंत्रताको कैसे संगठित किया जाता है। फिर भी, यदि तुम — और उच्चतर कारणोंसे, परीक्षाएं पास करने, जीवनमें उन्नति करने, अपने अध्यापकोंको खुश करने, बहुत-से पारितोषिक प्राप्त करनेके लिये नहीं अथवा उन सब साधारण कारणोंसे नहीं जो बच्चोंके होते हैं : डांट-फटकार न खाने, दंड न पाने आदि-आदिके लिये नहीं; हम इन सब कारणोंको अलग रख देते हैं — स्वयं अपने-आपको अपना निजी अनुशासन देनेमें सफल हो जाओ, यदि तुम अपने ऊपर कोई अनुशासन (प्रत्येक व्यक्ति अपना निजी अनुशासन, किसी दूसरे व्यक्तिका अनुसरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है) लादनेकी व्यवस्था कर लो, एक अनुशासन केवल इसलिये कि तुम प्रगति करना और सर्वोत्तम लाभ उठा लेना चाहते हो, तो . . . ओह! तुम उन लोगोंसे बहुत अधिक ऊंचे उठ जाओगे जो पाठशालाओंके सामान्य अनुशासनोंका पालन करते हैं। बस, मैं इसी बातका परीक्षण करना चाहती थी। ध्यान दो, मैं यह नहीं कहती कि मैं असफल हो गयी हूं; मुझे अभी भी बहुत आशा है कि तुम यह समझ जाओगे कि इस अलौकिक सुअवसरसे कैसे लाभ उठाया जा सकता है। परंतु, फिर भी, एक चीज है जिसे तुम्हें खोज निकालना होगा; वह है आंतरिक अनुशासनकी आवश्यकता। अनुशासनके बिना तुम कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकोगे, अनुशासनके बिना तुम एक सामान्य आदमीका सामान्य जीवन भी नहीं बिता सकोगे। परंतु साधारण समाजों या साधारण संस्थाओंके परंपरागत अनुशासनको माननेकी जगह, मैं यह पसंद करती, और मैं अभी भी चाहती हूं कि तुम उस अनुशासनका पालन करो जिसे तुम स्वयं अपने ऊपर पूर्णता प्राप्त करनेके, अपनी निजी पूर्णता, अपनी सत्ताकी पूर्णता प्राप्त करनेके प्रेमके कारण लागू करो।

परंतु उसके बिना . . .। याद रखो कि यदि मनुष्य अपने शरीरको अनुशासित न करे तो वह अपने दो पैरोंपर सीधा खड़ा भी नहीं हो सकेगा, वह एक बच्चेकी तरह हाथों और घुटनोंके बल चलेगा। तुम कुछ भी नहीं कर सकते। तुम अपने-आपको अनुशासित करनेके लिये बाध्य हो; तुम जंगलमें एकदम अकेले भले रह लो पर, समाजके अंदर नहीं रह सकते, बिलकुल ही नहीं रह सकते; और वैसा भी (जंगलमें रहना) कर सकते या नहीं, मैं ठीक नहीं जानती। यह (अनुशासन) एकदम अनिवार्य है, यह बात, न मालूम कितनी बार मैं तुम लोगोंसे कह चुकी हूं। और चूंकि मैं परंपरागत अनुशासनोंके बहुत अधिक विमुख हूं, चाहे वे सामाजिक हों या अन्य, इसका अर्थ यह नहीं है कि तुम्हें

सब प्रकारके अनुशासनसे अवश्य बचना चाहिये। मैं यह चाहूंगी कि तुममेंसे प्रत्येक व्यक्ति, अपनी आंतरिक अभीप्सा तथा आत्मोपलब्धिके संकल्पकी सच्चाईके साथ, अपना अनुशासन स्वयं खोज निकाले।

और इसलिये, जो लोग जानते हैं, चाहे वे अध्यापक हों, व्यायाम-शिक्षक हों अथवा और कोई हों, उन सबका लक्ष्य, जानकार लोगोंका उद्देश्य ही है तुमको जानकारी देना, तुम्हारी सहायता करना। जब तुम एक ऐसी स्थितिमें होते हो जो तुम्हें कठिन प्रतीत होती है तो तुम अपनी समस्या उनके सामने रखते हो और वे अपने व्यक्तिगत अनुभवके आधार-पर तुमसे कह सकते हैं: "नहीं, यह बात ऐसी है या यह वैसी है, और तुम्हें ऐसा करना चाहिये, तुम्हें उसके लिये कोशिश करनी चाहिये।" सो, तुमको जबर्दस्ती मत-मतांतरों, सिद्धांतों और तथाकथित नियमोंको, और कम या अधिक अमूर्त्त ज्ञानको निगलनेके लिये विवश करनेके बदले, वे सभी वस्तुओंके विषयमें — अत्यंत स्थूल वस्तुओंसे लेकर अत्यंत आध्यात्मिक वस्तुओंतकके विषयमें — अपने-अपने क्षेत्रोंके अंदर और अपनी-अपनी क्षमताओंके अनुसार, तुम्हें जानकारी देनेके लिये वहां विद्यमान रहेंगे।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि यदि तुम जरा भी तकनीकी ज्ञानके बिना संसारमें फेंक दिये जाओ तो तुम अत्यंत खतरनाक कार्य कर सकते हो। उदाहरणके रूपमें, एक बच्चेको ले लो जो कुछ नहीं जानता; यदि उसके हाथोंमें दियासलाई आ जाय तो सबसे पहला काम जो वह करेगा वह होगा अपने-आपको जला लेना। अतएव, उस क्षेत्रमें, विशुद्धतः भौतिक दृष्टिकोणसे, सबसे अच्छा यह होगा कि वहां ऐसे लोग हों जो जानते हों और तुम्हें बता सकें; नहीं तो, यदि प्रत्येक व्यक्तिको अपने निजी अनुभवसे सीखना पड़े तो, अत्यंत आवश्यक बातोंको सीखनेमें भी उसके कई जीवन बीत जायंगे। यही अध्यापकों और प्रशिक्षकोंकी उपयोगिता, सच्चा उपयोग है। उन्होंने कम या अधिक अभ्यासके द्वारा अथवा एक विशेष अध्ययनके द्वारा सीखा है और वे तुम्हें वे चीजें सिखा सकते हैं जिनको जानना अनिवार्य है। उससे तुम्हारा समय बच जाता है, बहुत सारा समय बच जाता है। परंतु वही उनका एक-मात्र उपयोग है: प्रश्नोंका उत्तर दे सकना। और, प्रधानतया, प्रश्न पूछनेके लिये तुम्हारे अंदर एक पर्याप्त रूपमें जाग्रत् मस्तिष्क भी होना चाहिये। मुझे नहीं मालूम, परंतु तुम्हारे पास मुझसे पूछनेके लिये कभी कोई बात नहीं होती अथवा कभी-कदास ही होती है। परंतु यह बात भयानक मानसिक जड़ताको सूचित करती है!

कभी-कभी मैं तुमसे कहती हूं: "प्रश्न मत करो, इन आंतरिक बातोंको

"स्वयं खोजनेका प्रयत्न करो", यह जानी हुई बात है। परंतु जब मैं यहां हूं और तुमसे कहती हूं : "क्या तुम्हारे पास पूछनेके लिये कोई प्रश्न नहीं है?" — नीरवता... सो, इससे सिद्ध होता है कि तुम्हारे अंदर मानसिक उत्सुकता नहीं है। और मैंने जो कुछ अभी पढ़ा है उसी विषयपर आवश्यक रूपसे प्रश्न पूछनेको तुमसे नहीं कहती; मैं किसी भी प्रश्नका, चाहे वह किसी भी व्यक्तिद्वारा पूछा गया हो, उत्तर देनेके लिये सर्वदा तैयार रहती हूं। हां, मैं कह सकती हूं कि हम प्रश्नोंके बहुत धनी नहीं हैं! सच पूछो तो बहुधा मुझे तुमसे कुछ कहनेका सुयोग प्रायः कम ही मिलता है। कोई बात कहनेका मुझे सुयोग नहीं मिलता।

मैं यहां यह भी तुम्हें कह दूं कि विज्ञानके विषयमें, भौतिक या अन्य सब चीजोंके बारेमें यदि तुम मुझसे तकनीकी प्रश्न पूछोगे तो मैं भली-भांति उत्तर दे सकती हूं : "मैं इस विषयमें कुछ भी नहीं जानती, अपनी पुस्तकें पढ़ो अथवा अपने अध्यापकसे पूछो", परंतु तुम यदि मेरे क्षेत्रके प्रश्न मुझसे पूछो तो मैं हमेशा तुम्हें उत्तर दूंगी।

अतएव, एक अंतिम प्रयास : यहां किसीके पास मुझसे पूछनेके लिये कोई प्रश्न है?

(मौन)

यह अद्भुत है! (माताजी हंसती हैं) अच्छा, तब यहीं समाप्त।

२० जून, १९५६

> प्रिय माताजी, यहां श्रीअरविंद लिखते हैं : "और फिर हृदयमें या उसके पीछे एक गभीरतर गुह्य ज्योति भी है...।"
>
> ('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृष्ठ १७२)
>
> यह गुह्य ज्योति क्या चीज है?

यह प्रेम है।

परंतु उसके बाद श्रीअरविंद आगे लिखते हैं: "हृदयकी ज्योति चाहे वह चीज न हो जिसे अंतर्ज्ञान कहते हैं, — क्योंकि अंतर्ज्ञान मनकी चीज न होते हुए भी मनसे होकर ही नीचे आता है — तथापि, यह 'सत्य'से सीधा संबंध रखती है और ज्ञानगर्वित मानवीय बुद्धिकी अपेक्षा भगवान्‌के अधिक निकट है।" क्या इस गुह्य ज्योति और अंतर्ज्ञानके बीच कोई संबंध है?

यह अंतर्ज्ञान नहीं है। यह प्रेमके द्वारा प्राप्त ज्ञान, प्रेमके द्वारा प्राप्त प्रकाश, प्रेमके द्वारा प्राप्त समझनेकी शक्ति है। श्रीअरविंद कहते हैं कि यह अंतर्ज्ञान नहीं है, क्योंकि अंतर्ज्ञान बुद्धिसे संबंध रखता है (कम-से-कम अपनी अभिव्यक्तिमें, अंतर्ज्ञानकी अभिव्यक्ति बौद्धिक होती है)। जब कि यह तादात्म्यद्वारा प्राप्त एक प्रकारका लगभग प्रत्यक्ष ज्ञान है, और यह तादात्म्य प्रेमसे प्राप्त होता है।

और "यह आंतरिक भविष्य-वक्ता" कौन है?

भविष्य-वक्ता? वह है भविष्य-कथनकी, दिव्य दर्शनकी, प्रतीकोंको समझनेकी शक्ति, और वह चैत्य पुरुषमें है। भविष्य-वक्तागण, उदाहरणार्थ, अपने मनसे भविष्यकथन नहीं करते, वे एक **प्रत्यक्ष** संपर्कके द्वारा, जो भावावेगों और भावावेशोंसे परे है, कथन करते हैं। श्रीअरविंद यहांतक कहते हैं कि विशेष रूपसे वेद, मनके द्वारा और मस्तिष्ककी सहायतासे नहीं लिखे गये थे। मंत्रोंका रूप, शब्दोंके साथ-साथ, चैत्य पुरुषके भीतरसे अपने-आप उमड़ पड़ा।

माताजी, यदि किसीको चैत्य पुरुषका संपर्क प्राप्त हो तो क्या इसका मतलब है कि उसे यह शक्ति प्राप्त है?

लगभग, हां। जितना ही पूर्ण संपर्क होगा उतनी ही अधिक वह शक्ति होगी।

फिर वह व्यक्तिकी बाहरी संभावनाओंपर भी निर्भर है। परंतु मैं कई बार यह बात तुम्हें पहले समझा चुकी हूं, मैं पहले ही कह चुकी हूं कि जब मनुष्य अपने चैत्य पुरुषके संपर्कमें आता है तो कुछ शक्तियां अपने-आप विकसित होने लगती हैं। उदाहरणार्थ, ऐसे लोग होते हैं जिन्हें कोई

बौद्धिक शिक्षा प्राप्त नहीं होती, परंतु जो अचानक व्यक्त करनेकी एकदम अद्‌भुत शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, जो इस प्रकार, अपने-आप, चैत्य पुरुषके साथ आंतरिक संपर्क प्राप्त होनेपर आती है।

श्रीअरविंद यहां "सांसारिक शीतलीकरण" की बात कहते हैं।

क्या ?

वह लिखते हैं: "सच पूछो तो इस धार्मिक-नैतिक भावनाद्वारा ही सार्वभौम हितकामना या विश्वजनीन करुणाके नियमका या पड़ोसीके प्रति प्रेम और सेवाके नियमका, अर्थात् वैदांतिक, बौद्ध या ईसाई आदर्शका जन्म हुआ था। कारण, मानव-हित-का आदर्श सब बंधनोंसे मुक्त होकर मानसिक और नैतिक आचार-धर्मकी सांसारिक पद्धतिका उच्चतम स्तर तभी बन सकता था यदि वह एक प्रकारके सांसारिक शीतलीकरण (refrigeration) के द्वारा अपने अंदरके धार्मिक तत्त्वकी प्रचंडताको शांत कर देता।"

(वही, पृ० १७५)

हां, यह जड़वादी और विशुद्ध भौतिक चिंतन है जो हृद्‌गत भावोंको ठंडा कर देता और जमा देता है, आत्माकी समस्त ऊष्माको, भावनाओं और धार्मिक चेतनाके समस्त जोश, समस्त उमंगको हर लेता है और तुम्हें कठोर तार्किक बना देता है।

श्रीमां, यदि हृदय अधिक प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करनेमें सहायक हो सकता है तो ज्ञानके मध्यस्थके रूपमें बुद्धिका क्या कार्य है ?

एक मध्यस्थके रूपमें, यही पूछते हो ?

क्योंकि मनका सच्चा कार्य है कर्मकी रचना करना और संगठन करना। मनमें एक रचनात्मिका और संगठनकारी शक्ति है, और यही चीज है जो कर्म-सिद्धिके उद्देश्यसे, कर्मकी व्यवस्थाके लिये अंतःप्रेरणाके विभिन्न तत्त्वोंको यथाक्रम रखती है। और मन यदि इसी कार्यमें संलग्न रहे, अंतःप्रेरणाओं-को ग्रहण करे — वे चाहे ऊपरसे आयें अथवा अंतरात्माके गुह्य केंद्रसे —

और केवल कर्मकी योजनाका निर्माण करे (चाहे विस्तीर्ण रूप-रेखाके साथ या अत्यंत छोटे-छोटे ब्योरोंके साथ, चाहे जीवनकी लघुतम बातोंके लिये या महान् विश्व-व्यवस्थाके लिये), तो वह अपने कार्यको पर्याप्त रूपमें पूरा कर लेगा।

यह ज्ञानका कोई उपकरण नहीं है।

परंतु यह कर्मके लिये, कर्मकी व्यवस्थाके लिये ज्ञानका उपयोग कर सकता है। यह सुव्यवस्था और सुसंगठनका एक उपकरण है और यह जब सुविकसित होता है तो बहुत शक्तिशाली और बहुत सुयोग्य उपकरण होता है।

मनुष्य, जब अपने जीवनको सुव्यवस्थित करना चाहता है — उदाहरणार्थ, अपनी सत्ताके अंदर विभिन्न तत्त्वोंको उनके स्थानपर रखना चाहता है तो वह इस बातको बहुत स्पष्ट रूपमें अनुभव कर सकता है। एक ऐसी विशेष बौद्धिक शक्ति है जो तुरत प्रत्येक वस्तुको उसके स्थानपर रख देती है तथा एक योजना बना लेती और व्यवस्था कर लेती है। और वह कोई ऐसा ज्ञान नहीं है जो मनसे आता है, वह एक ऐसा ज्ञान है जो, जैसा कि मैंने कहा है, आत्माकी गुह्य गहराइयोंमेंसे अथवा एक उच्चतर चेतनासे आता है; और मन उसे भौतिक जगत्‌में एकाग्र करता तथा उच्चतर चेतनाको कर्मका आधार देनेके लिये उसे व्यवस्थित करता है।

मनुष्यको यह अनुभव उस समय बहुत स्पष्ट रूपमें होता है जब वह अपने जीवनको व्यवस्थित करना चाहता है।

उसके बाद, मनका एक दूसरा उपयोग है। मनुष्य जब अपनी तर्क-बुद्धि-के, बुद्धिके तर्कशील केंद्रके, विशुद्ध तर्क-बुद्धिके संपर्कमें होता है तो उसे (बुद्धि) समस्त प्राणिक आवेगोंके ऊपर सशक्त संयम प्राप्त होता है। जो कुछ प्राण-जगत्‌से आता है उसपर उसके द्वारा बहुत निश्चितताके साथ संयम प्राप्त किया जा सकता और उसे नियंत्रित और व्यवस्थित कर्ममें प्रयुक्त किया जा सकता है। परंतु उसे किसी अन्य वस्तुकी सेवामें संलग्न होना चाहिये — उसे आत्म-तुष्ट नहीं अनुभव करना चाहिये।

ये ही मनके दो उपयोग हैं: यह एक नियंत्रणकारी शक्ति है, नियंत्रण करनेका साधन है, और यह व्यवस्था करनेकी शक्ति है। बस, यही उस-का सच्चा स्थान है।

प्यारी माताजी, क्या मनुष्य एकमात्र प्रेमके द्वारा भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है?

ओ! हां, मेरे बच्चे, अवश्य ही। यहांतक कि यह अत्यंत सीधा पथ है।

मनुष्य भगवान्को उपलब्ध कर सकता है, अर्थात्, अपने-आपको भगवान्के साथ एकात्म कर सकता है, भगवान्के विषयमें पूर्णतः सज्ञान हो सकता है तथा भगवान्का एक यंत्र बन सकता है। परंतु स्वभावतः, वह पूर्णयोगकी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि वह एकमात्र एक ही लीकको पकड़कर जाता है। परंतु भगवान्के साथ तादात्म्य प्राप्त करनेके दृष्टिकोणसे वह अत्यंत सीधा मार्ग भी है।

परंतु मानसिक विकासके बिना मनुष्य भगवान्को अभिव्यक्त करनेमें समर्थ नहीं होगा?

वह बौद्धिक रूपमें उन्हें अभिव्यक्त नहीं कर सकता, पर वह उन्हें कर्ममें अभिव्यक्त कर सकता है, वह भावनाओंमें उन्हें अभिव्यक्त कर सकता है, वह जीवनमें उन्हें अभिव्यक्त कर सकता है।

(मौन)

प्यारी माताजी, कभी-कभी मनुष्यमें जब अवसाद होता है तो वह बहुत लंबे समयतक बना रहता है, पर जब वह एक विशेष प्रकारका हर्ष अनुभव करता है तब वह देरतक नहीं ठहरता।

हां, यह बहुत सही है।

तब हमें क्या करना चाहिये ताकि वह अधिक देरतक बना रहे?

परंतु सत्ताके एक ही भागमें अवसाद और हर्ष नहीं होता।

यदि तुम सुखकी बात कहते हो तो प्राणका सुख ऐसी चीज है जो बहुत तेजीसे गायब हो जाता है, और मैं समझती हूं कि जीवनमें (जीवनमें जैसा कि यह अभी है) सुखकी अपेक्षा दुःखके कहीं अधिक अवसर आते हैं। सुख अपने-आपमें एक अत्यंत तेजीसे लुप्त होनेवाली चीज है, क्योंकि यदि सुखका वही स्पंदन कुछ अधिक समयतक बना रहे तो वह दुःखदायी या यहांतक कि विरक्तिजनक बन जाता है — ठीक वही स्पंदन।

सुख अपने-आपमें बहुत अस्थायी होता है। परंतु तुम यदि आनंदकी बात कहते हो तो वह एकदम भिन्न वस्तु है, वह हृदयमें प्राप्त होनेवाली

एक प्रकारकी उष्णता और ज्योति होता है, है न? — हम अपने मनमें भी आनंद अनुभव कर सकते हैं, पर वह कहीं अन्यत्र प्राप्त होनेवाली एक प्रकारकी उष्णता और सुखकरं ज्योति होता है। वह एक ऐसा गुण है जो अभीतक पूर्णतया विकसित नहीं हुआ है और मनुष्य कभी-कभी ही उसे प्राप्त करने योग्य आवश्यक मनोवैज्ञानिक स्थितिमें होता है। और यही कारण है कि वह क्षणस्थायी होता है। अन्यथा सत्ताके सत्यके अंदर, सत्ताके सत्य-स्वरूपके अंदर, तुम्हारी सच्ची आत्माके, तुम्हारी अंतरात्माके, तुम्हारे चैत्य पुरुषके अंदर आनंद निरंतर बना रहता है, निरंतर।

इसका सुखके साथ कोई सरोकार नहीं; यह एक प्रकारका आंतरिक आह्लाद है।

परंतु मनुष्य बहुत कम ही इसे अनुभव करनेकी स्थितिमें होता है, जबतक कि कोई अपने चैत्य पुरुषके विषयमें पूरी तरह सचेतन नहीं हो जाता। यही कारण है कि जब यह आता है तो क्षणस्थायी होता है, कारण इसे ग्रहण करनेके लिये आवश्यक मनोवैज्ञानिक अवस्था बहुधा नहीं होती। दूसरी ओर, मनुष्य लगभग सर्वदा ही एक ऐसी सामान्य प्राणिक स्थितिमें होता है जहां छोटी-से-छोटी दुःखदायी वस्तु भी बहुत स्वाभाविक ढंगसे और आसानीसे तुम्हारे अंदर अवसाद ला देती है — अवसाद लाती है यदि तुम दुर्बल व्यक्ति होते हो, और विद्रोह लाती है यदि तुम बलशाली हो। प्रत्येक कामना जो तुष्ट नहीं होती, प्रत्येक आवेग जिसके सामने बाधाएं आती हैं, बाहरी वस्तुके साथ प्राप्त प्रत्येक दुःखदायक संपर्क; बहुत आसानीसे और बहुत स्वाभाविक ढंगसे अवसाद या विद्रोह उत्पन्न करता है, क्योंकि वही संसारकी सामान्य स्थिति है (आज जीवन जैसा है उसकी सामान्य स्थिति है) — जब कि आनंद एक असामान्य अवस्था है।

और इसलिये, सुख, वह सुख जो महज एक सुखद संवेदन है, यदि वह देरतक बना रहे तो वह न केवल अपनी धार ही खो देता है, बल्कि अंतमें दुःखदायी बन जाता है; मनुष्य उसे बहुत लंबे अर्सेतक सहन नहीं कर सकता। अतएव, एकदम स्वभावतः वह आते ही चला जाता है। कहनेका तात्पर्य, बिलकुल वही चीज जो तुम्हें सुख पहुंचाती है — ठीक-ठीक एक ही प्रकंपन — कुछ क्षणके बाद तुम्हें सुख नहीं देती। और यदि वही चीज बनी रहे तो वह तुम्हारे लिये बिलकुल असहनीय बन जाती है। यही कारण है कि तुम्हें दीर्घकालके लिये सुख नहीं प्राप्त हो सकता।

एकमात्र वस्तु जो स्थायी हो सकती है वह है आनंद, यदि मनुष्य अपनी सत्ताके सत्यके साथ संपर्क स्थापित करे जिसमें कि यह आनंद स्थायी रूपसे विद्यमान रहता है।

माताजी, हृदयमें द्विविध क्रिया होती है: प्राणिक आवेगकी क्रिया और विशुद्ध भावातिरेककी क्रिया। किस वस्तुके कारण यह मिलावट संभव होती है?

यह मिलावट कैसे पैदा होती है?

क्योंकि दोनोंका स्थान हृदयमें है, है न?

एक ही स्थानमें नहीं है।

वह हमारा भौतिक हृदय नहीं है, समझे? वह यह केंद्र है (माताजी छातीके मध्यभागको दिखाती हैं)। परंतु वहां विभिन्न गहराइयां हैं। जितना ही अधिक तुम ऊपरी सतहपर आते हो, उतनी ही अधिक, स्वाभाविक रूपमें, प्राणिक आवेगों तथा यहांतक कि विशुद्धतः भौतिक प्रतिक्रियाओं, विशुद्धतः भौतिक संवेदनोंके साथ यह मिलावट होती है। जितनी ही गहराईमें तुम जाते हो, उतनी ही कम यह मिलावट होती है। और यदि तुम पर्याप्त गहराईमें चले जाओ तो तुम पीछेकी ओर एकदम विशुद्ध भावनाको पाओगे। यह बस गहराईका प्रश्न है।

मनुष्य सब समय अपने-आपको बाहरकी ओर फेंकता रहता है; सब समय मनुष्य इस प्रकार रहता है मानों अपने-आपसे बाहर हो, वह ऐसे उपरितलीय संवेदनोंमें रहता है मानों अपने-आपसे बाहर रहता हो। जैसे ही मनुष्य अपने-आपको जरा-सा देखना चाहता है, जरा-सा संयमित करना चाहता है, बस, यह जानना चाहता है कि क्या हो रहा है तो सदा ही वह पीछेकी ओर हटनेके लिये, या अपने-आपको अंदर खींच लेनेके लिये, किसी वस्तुको भीतरकी ओर खींच लेनेके लिये बाध्य होता है जो सर्वदा वहां, सतहपर होती है। और यही वह सतही वस्तु है जो समस्त बाह्य संपर्कोंको ग्रहण करती और तुम्हें दूसरोंसे आनेवाले उसी तरहके प्रकंपनोंके संपर्कमें लाती है। यह लगभग तुम्हारे बाहर होता है।

यही है साधारण चेतनाका निरंतर बिखरना।

उदाहरणके लिये, एक क्रियाको ले लो, एक अंतःप्रेरणाको ले लो जो सत्ताकी गहराइयोंमेंसे चैत्य पुरुषसे आ रही है (क्योंकि अंतःप्रेरणा उन लोगोंके पास भी आती है जो अपने चैत्य पुरुषके विषयमें सचेतन नहीं होते), एक प्रकारकी अंतःप्रेरणा जो गहराइयोंसे आ रही है; हां, मनुष्य उसे अनुभव कर सके इसके लिये उसे ऊपरी सतहपर आनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। और जैसे-जैसे वह सतहकी ओर आती है वैसे-वैसे उन सभी प्रकारकी

वस्तुओंके साथ मिलती जाती है जिनका उसके साथ कोई संबंध नहीं, बल्कि जो उसका उपयोग करना चाहती हैं। उदाहरणार्थ, ठीक जिस तरह प्राणकी सभी कामनाएं और आवेग होते हैं जो, जैसे ही कोई शक्ति गहराई-से उठकर सतहपर आती है, उसे अपनी निजी संतुष्टिके लिये अधिकृत कर लेते हैं। अथवा, दूसरी ओर, कुछ लोग ऐसे होते हैं जो मनमें निवास करते हैं और अपने अनुभवको समझना और उसका मूल्यांकन करना, उसपर विचार करना चाहते हैं; तब मनकी बारी आ जाती है, वह इस अंतःप्रेरणा या इस शक्तिको तेजीसे अपने निजी लाभके लिये, अपनी निजी संतुष्टिके लिये हस्तगत कर लेता है जो ऊपर सतहपर आती है—और वह मिल जाती है, और उससे सब कुछ बिगड़ जाता है। और यह चीज निरंतर होती है; निरंतर सतही क्रियाएं गहराईसे आनेवाली अंतःप्रेरणामें घुस आती हैं और उसे विकृत कर देती हैं, उसे ढक देती, उसे दूषित कर देती, उसे पूर्ण रूपसे नष्ट कर देती हैं, उसे इस हदतक विकृत कर देती हैं कि फिर वह पहचानने लायक भी नहीं रह जाती।

ये सब बाहरी आवेग जब अंदरसे उठनेवाली अंतःप्रेरणाके संपर्कमें आते हैं तो रूपांतरित होनेके बदले, प्रत्येक वस्तुको नष्ट-भ्रष्ट क्यों कर देते हैं?

आह! क्षमा करो, यह एक दो-तरफा क्रिया है। और यह निर्भर करता है मात्राके ऊपर। भीतरसे आनेवाली अंतःप्रेरणा निस्संदेह कार्य करती है। यह बात नहीं कि वह पूरी तरहसे निगल ली जाती और नष्ट कर दी जाती है, ऐसी बात नहीं है। वह अवश्य कार्य कर सकती है, पर वह घुल-मिल जाती है, वह अपनी पवित्रता और मौलिक शक्ति खो देती है। परंतु फिर भी कुछ चीज बनी रहती है, और परिणाम निर्भर करता है शक्तियोंकी मात्राके ऊपर, और यह मात्रा विभिन्न व्यक्तियोंमें बहुत अलग-अलग होती है।

एक क्षण ऐसा आता है जब मनुष्य जान-बूझकर आंतरिक प्रेरणाको बुलाता है और उसकी अधीनता स्वीकार करता है, जब वह अंतःप्रेरणा प्रायः पूर्णतः विशुद्ध रूपमें अंदर प्रवेश करती है और भागवत इच्छाके अनुसार तुमसे कार्य कराती है।

मिलावटसे बचना असंभव नहीं है; बस, बात इतनी ही है कि सामान्य-तया ऐसा ही होता है। और इसका अनुपात विभिन्न व्यक्तियोंके अनुसार अत्यंत विभिन्न होता है। कुछ लोगोंमें, जब अंतरस्थ चैत्य पुरुष निर्णय करता है और एक शक्ति बाहर भेजता है तो यह बिलकुल प्रत्यक्ष होती

है, यह स्पष्ट रूपमें एक चैत्य अंतःप्रेरणा होती है। कभी-कभी मनुष्य एक प्रकारकी छायाको गुजरते हुए देख सकता है जो मन या प्राणसे आती है; परंतु ऐसी छायाएं महत्त्वहीन हस्तक्षेप होती हैं और चैत्य अंतःप्रेरणाके स्वरूपको तनिक भी बदल नहीं सकतीं, बशर्ते कि मनुष्य उन्हें हावी न होने दे।

इनमेंसे कोई भी चीज ऐसी नहीं जिसका प्रतिकार न किया जा सके, कारण, तब तो प्रगतिकी कोई आशा ही नहीं रह जायगी।

विगत बातचीतके बाद, जिसमें श्रीमाताजीने यह शिकायत की थी कि प्रायः हमारे पास मजेदार प्रश्न नहीं होते, शिष्योंने लिखित प्रश्न भेजना शुरू कर दिया। उनमेंसे एक व्यक्तिने जोरसे पढ़ा :

> **कहा गया है कि "अपनी अंतरात्माका अनुसरण करो और अपने मनका नहीं जो बाहरी रूपोंपर लपकता है . . .।" दैनिक जीवनमें इसका अभ्यास कैसे प्राप्त किया जाय ?**

क्यों ? आखिर समस्या क्या है ? इसमें कठिनाई क्या है ?

> **इस सलाहको, अपने मनका नहीं, अपनी आत्माका अनुसरण करनेके इस निर्देशको आचरणमें कैसे लाया जाय ?**

यह शुद्ध रूपमें व्यक्तिगत प्रश्न है।

पहली शर्त्त है कि अंतरात्मासे अंतःप्रेरणाएं प्राप्त की जायं — ठीक यही बात है जिसकी चर्चा हम अभी कर रहे थे — क्योंकि कोई यदि उन्हें प्राप्त ही न करे तो वह अपनी अंतरात्माका अनुसरण कैसे कर सकता है ? पहली शर्त्त है अपनी अंतरात्माके विषयमें थोड़ा-सा सचेतन होना और उसकी अंतःप्रेरणाओंको ग्रहण करना। तब, स्वभावतः, उसके बाद यह बात आती है कि उसे अपनी तर्क-बुद्धिकी बात माननेके बदले उसकी ही बात माननी चाहिये।

परंतु उसे कैसे किया जाय ? किस पद्धतिसे ? . . . वह एक नितांत व्यक्तिगत बात है। प्रत्येक व्यक्तिको अपनी निजी प्रक्रिया ढूंढ निकालनी होगी। सिद्धांत तो स्पष्ट है ही; यदि कोई उसका प्रयोग करना चाहता

है तो प्रत्येक व्यक्तिके लिये पद्धति अलग-अलग होगी। सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि किस हदतक मनुष्य अंतरात्मासे आनेवाली अंतः-प्रेरणाके बारेमें सज्ञान है, कितनी मात्रामें वह उसके साथ एकात्म हो चुका है।

अतएव, प्रत्येक व्यक्तिके लिये एक ही उपाय नहीं बताया जा सकता।

बस, हो गया ?

> **"जितना ही अधिक तुम देते हो, उतना ही अधिक तुम पाते हो," ऐसा कहा गया है। क्या यह बात भौतिक शक्तिपर भी लागू होती है? क्या मनुष्य ऐसा भौतिक कार्य अपने हाथमें ले सकता है जो उसकी क्षमतासे बाहरका प्रतीत होता है? और इस प्रकारका कार्य करते समय कैसा मनोभाव रखना चाहिये ?**

यदि कोई खर्च न करे तो वह कभी प्राप्त नहीं करेगा। अपनी वृद्धिके लिये, अपने विकासके लिये एक बच्चेके पास जो महान् शक्ति होती है वह है बेरोक खर्चकी शक्ति।

स्वभावतः ही, जब मनुष्य खर्च करता है, तो उसे फिरसे प्राप्त करना चाहिये और पुनः प्राप्त करनेके लिये उसके पास आवश्यक समय अवश्य होना चाहिये; परंतु बच्चा जो कुछ एक दिन नहीं कर सकता, दूसरे दिन कर लेता है। अतएव, तुम यदि उस सीमासे परे कभी न जाओ जहांतक तुम पहुंच चुके हो, तो तुम कभी प्रगति नहीं करोगे। यह बिलकुल स्पष्ट है कि जो लोग, उदाहरणार्थ, शारीरिक शिक्षणका अभ्यास करते हैं वे यदि प्रगति करते हैं तो उसका ठीक-ठीक कारण यह होता है कि वे जो कुछ कर सकते थे धीरे-धीरे उसका अतिक्रमण कर जाते हैं, उसके परे चले जाते हैं।

यह बस एक प्रकारके संतुलनका विषय है। और ग्रहण करनेका काल खर्च करनेके कालके अनुपातमें होना चाहिये।

परंतु कोई यदि उतनेसे ही चिपक जाय जितना कि वह एक विशेष समयपर कर सकता है...। सर्वप्रथम, यह असंभव है, क्योंकि यदि कोई प्रगति नहीं करता तो वह पीछे गिर जाता है। अतएव, मनुष्यको पहलेकी अपेक्षा थोड़ा अधिक करनेका थोड़ा-सा प्रयास सर्वदा करते रहना चाहिये। तब मनुष्य ऊपरकी ओर जानेके पथपर होता है। यदि कोई बहुत अधिक करनेसे डरता हो तो उसका फिरसे नीचे गिर आना और अपनी क्षमताओंको खो देना सुनिश्चित है।

मनुष्य एक दिन आगे या एक क्षण पहले जो कुछ कर चुका है उससे थोड़ा-सा अधिक, उससे जरा अच्छा करनेका सदा प्रयत्न करना चाहिये। हां, जितना अधिक वह अपने प्रयासको बढ़ाता है, उतना ही अधिक उसे अपनी ग्रहण करनेकी क्षमताको, ग्रहण करनेके सुअवसरको भी बढ़ाना चाहिये। कारण, उदाहरणस्वरूप, एकदम भौतिक दृष्टिकोणसे, यदि कोई अपनी मांसपेशियोंको विकसित करना चाहता है तो उसे एक क्रमवर्द्धमान प्रयास अवश्य करना चाहिये, अर्थात्, क्रमशः महत्तर और महत्तर प्रयत्न करना चाहिये, पर उसके साथ-ही-साथ अन्य आवश्यक चीजें भी करनी चाहिये : ग्रहण करनेकी क्षमता बढ़ानेके लिये, मालिश, जल-चिकित्सा आदि भी साथ-ही-साथ करते रहना चाहिये।

और विश्राम। वह विश्राम जो निश्चेतनाके अंदर डूब जाना नहीं है (जिससे तुम्हें ताजगीकी अपेक्षा कहीं अधिक थकावट महसूस होती है), बल्कि एक सचेतन विश्राम, एक प्रकारकी एकाग्रता जिसमें मनुष्य अपने-आपको खोलता है और आनेवाली शक्तियोंको, वैश्व शक्तियोंको आत्मसात् करता है।

शरीरकी संभावनाओंकी सीमाएं इतनी लचकदार हैं! जो लोग किसी व्यवस्थित और वैज्ञानिक प्रशिक्षणका, युक्तिसंगत, सुविवेचित पद्धतिका अनुसरण करते हैं, वे नितांत सिर चकरानेवाले परिणामोंको प्राप्त करते हैं। वे अपने शरीरसे ऐसे कार्य चाहते हैं जिन्हें स्वभावतः प्रशिक्षणके बिना करना एकदम असंभव होगा। और निश्चय ही, उन्हें धीरे-धीरे उसके परे चले जाना होगा जो वे कर सके थे, और ऐसा केवल पूर्णताकी दृष्टिसे ही नहीं, बल्कि बल-सामर्थ्यकी दृष्टिसे भी करना होगा। यदि उन्हें जो कुछ वे कर सकते हैं उससे अधिक करनेमें, अपनी शक्तिसे अधिक कार्य करनेसे भय लगता है तो वे कभी प्रगति नहीं करेंगे। बस, प्रशिक्षणके साथ-ही-साथ वह भी करना चाहिये जो थकावट दूर करनेके लिये आवश्यक हो। यही शारीरिक शिक्षणका सारा सिद्धांत है। और फिर मनुष्य विधिवत् प्रशिक्षित शरीरोंद्वारा संपन्न ऐसे कार्य देखता है जो एक अनभिज्ञ और अप्रशिक्षित व्यक्तिके लिये पूर्णतः विस्मयजनक होते हैं।

श्रीमाताजीको सतत स्मरण करनेके लिये क्या करना चाहिये? क्या उनके नामका जप करना चाहिये? क्या भगवान्‌के प्रति कृतज्ञ होना स्मरणका ही एक रूप है?

यह सब अच्छा है। और अन्य बहुत-सी चीजें अच्छी हैं। और

यह इस बातपर निर्भर है कि प्रत्येक व्यक्ति क्या कर सकता है।

यह जरा ज्यादा व्यक्तिगत प्रश्न है, है न?

यह प्रत्येक व्यक्तिपर निर्भर करता है, यह एक ही चीज है। यदि इसे साधारण सिद्धांत बना दिया जाय तो फिर इसका कोई अर्थ नहीं रह जायगा। याद रखनेके लिये, तुम्हें कभी भूलना नहीं चाहिये, बस इतना ही!

क्या अनुशासनका कोई समष्टिगत रूप हो सकता है जिसे मनुष्य स्वयं अपने ऊपर लागू करे?

परंतु बहुत बार ऐसा होता है कि लोग दल बनाते हैं और अपने लिये नियम-कानून बनाते हैं। वही ऐसा अनुशासन है जिसे मनुष्य स्वयं अपने ऊपर लागू करता है। सर्वदा ही ऐसा होता है। सभी समितियों, चाहे गुप्त हों या अन्य प्रकारकी, और दीक्षाके सभी दलोंने सर्वदा ही इस प्रकार कार्य किया है; वे नियम-कानून बनाते हैं और उन्हें स्वयं अपने ऊपर लगाते हैं, और उनका बड़ी कठोरतापूर्वक पालन करते हैं। और जब कोई शपथ लेनेके बाद, अनुशासनसे बाहर निकलना चाहता है, उसे भयानक दंडों, यहांतक कि एकदम सर्वनाशी परिणामोंका सामना करना पड़ता है। वास्तवमें यह बात संसारमें निरंतर घटित हो रही है।

हम उसकी उपयोगितापर बहस कर सकते हैं, वह एक दूसरी बात होगी। परंतु हर हालतमें, प्रश्न यह नहीं है कि "हम इसे कर सकते हैं या नहीं" — यह हो ही रहा है, यह एक ऐसी बात है जो अत्यंत प्राचीन युगोंसे होती आ रही है। मनुष्यने सर्वदा ही एक-न-एक ढंगसे दल बनानेकी और उनपर कायदे-कानून लादनेकी कोशिश की है।

और यदि वह कोई गुह्यवादी दल रहा है तो वे गुह्य नियम रहे हैं।

संभवतः वे उन लोगोंपर लादे जाते हैं जो दलमें प्रवेश करना चाहते हैं; तब क्या वे आत्मारोपित होते हैं?

परंतु मनुष्य दलके अंदर स्वेच्छापूर्वक प्रवेश करता है, और फलस्वरूप उन्हें स्वीकार करता है। साधारणतया उन दलोंमें सबसे पहले तुमसे कहा जाता है: "ये हैं इस दलके विधि-विधान, नियम-कानून, इन्हें तुम स्वीकार करते हो या नहीं?" यदि तुम इन्हें स्वीकार नहीं करते तो तुम प्रवेश नहीं करते; यदि तुम इन्हें स्वीकार करते हो तो तुम स्वयं अपने ऊपर

इन्हें लादते हो। ऐसे दलमें तुम्हारे ऊपर कोई जोर-जबर्दस्ती नहीं की जाती! यह चीज ठीक उस तरहकी नहीं है जैसे तुम जिस परिवारमें जन्मे हो उसकी परंपराके अधीन हो जाते हो। परंपरा बाहरसे आरोपित होती है। तुम एक परिवारमें उत्पन्न हुए हो और परंपराके कठोर पारिवारिक अनुरूपताके नियमोंके अधीन होते हो जो बाहरसे आरोपित होते हैं। कारण, लगभग सर्वत्र, जो जीव संसारमें लाया जाता है उसकी आज्ञा या उसकी स्वीकृति कभी नहीं ली जाती; तुम बलात् संसारमें लाये जाते हो, तुम्हारे ऊपर बलात् एक पारिपार्श्विक अवस्था, बलात् परिवेशकी परंपराके विधान लाद दिये जाते हैं, और निस्संदेह, हम आशा करते हैं, तुम यथासंभव — यथासंभव सर्वोत्तम रूपमें उनका उपयोग करते हो! परंतु जब वह मित्रोंका एक दल या कोई सोसायटी होती है, जबतक कि तुममें कोई व्यक्तिगत इच्छा ही नहीं होती और अन्य किसी व्यक्तिके द्वारा, जिसके तुम अनुगत होते हो, बहा नहीं लिये जाते, वास्तवमें तुम स्वयं ही वह व्यक्ति होते हो जो यह निर्णय करता है कि इन विधानोंको स्वीकार किया जाय या नहीं।

यह स्पष्ट है कि यह प्रश्न उस समय जरा अधिक सूक्ष्म बन जाता है जब किसी धर्मका प्रश्न होता है; क्योंकि वह बच्चेके पैदा होनेसे पूर्व ही उसपर लादे जानेका प्रश्न होता है। यदि बच्चा किसी धर्ममें पैदा होता है तो वह धर्म उसपर लद जाता है। स्पष्टतः ही सच्चे नियमोंके अनुसार, एक खास उम्र होती है जब बाह्य रूपमें, उस धर्मकी शिक्षा पा चुकनेके बाद जिसमें तुम पैदा हुए हो, तुम चुनाव करते हो कि उसमें रहना है या नहीं। परंतु बहुत थोड़े-से लोगोंमें ही व्यक्तिगत चुनाव करनेकी क्षमता होती है। जिस परिवार या परिवेशमें वे रहते हैं उसीकी प्रथाका अंधरूपसे अनुसरण करते हैं, क्योंकि प्रतिक्रिया करनेकी अपेक्षा ऐसा करना कहीं अधिक सुखद होता है; मनुष्य उसमें पैदा हुआ है और वास्तवमें देखा जाय तो लगभग जबर्दस्ती वह उस धर्मका पालन करता है। उसमेंसे बाहर निकलनेके लिये मनुष्यमें चरित्रके बहुत बड़े बल और चारित्रिक स्वतंत्रताका होना आवश्यक है, क्योंकि साधारणतया तुम्हें बहुत विद्रोह करके उससे बाहर निकलना होता है और उसकी बड़ी गंभीर प्रतिक्रिया तुम्हारे जीवनपर होती है।

२७ जून, १९५६

विगत सप्ताह मैंने तुम लोगोंसे जन्मके बारेमें बातचीत की थी: किस प्रकार अंतरात्मा शरीरमें प्रवेश करती है; और मैंने तुमसे कहा था कि लगभग प्रत्येक जीवनके लिये बहुत असंतोषजनक ढंगसे शरीर निर्मित होता है — इसके अपवाद इतने विरल होते हैं कि उनके विषयमें कुछ कहना मुश्किलसे संभव होता है।

मैंने तुम्हें बताया था कि इस मलिन जन्मके कारण मनुष्य ऐसी वस्तुओं-के एक पूरे भौतिक बोझके साथ आता है जिससे मनुष्यको — यदि वह सचमुचमें प्रगति करना चाहे — सामान्यतया मुक्त होना होगा और किसी-ने स्वयं मेरे ही वाक्यको उद्धृत किया है जो इस प्रकार है:

"तुम बलात् संसारमें लाये जाते हो, तुम्हारे ऊपर बलात् एक पारि-पार्थिवक अवस्था, बलात् परिवेशकी परंपराके विधान लाद दिये जाते हैं . . . ।"

और अब यह व्यक्ति, जिसने मुझे लिखा है, मुझसे पूछता है कि यह सब कौन करता है।

कहा जा सकता है कि, मैं बातको अधिक स्पष्ट कर सकती थी, पर मैंने समझा था कि मैं पर्याप्त रूपमें स्पष्ट हूं।

शरीर एक पुरुष और एक स्त्रीके द्वारा निर्मित होता है जो पिता और माता बनते हैं, और ये ही लोग हैं जिनके पास उस जीवसे, जिसे वे संसारमें लानेवाले हैं, यह पूछनेका कोई उपाय भी नहीं होता कि वह आना चाहता है या नहीं अथवा उसका आना उसकी भवि-तव्यताके साथ मेल खाता है या नहीं। और अपने द्वारा निर्मित इसी शरीरपर वे बलात्, आवश्यकताके वश, एक परंपरा, एक वातावरण, पीछे चलकर एक शिक्षा लाद देते हैं, ये सब उसके भावी विकासमें लगभग सर्वदा बाधाएं ही बनते हैं।

अतएव, मैंने यह कहा था और उसे दुहरा रही हूं (मैंने सोचा था कि मैं काफी स्पष्ट हूं), कि मैं भौतिक माता-पिता और भौतिक शरीरकी बात कह रही थी, उससे अधिक कुछ नहीं। और यह कहा था कि जो अंतरात्मा शरीर धारण करती है, वह चाहे विकासके पथपर हो अथवा पूर्णतः विकसित, उसे इस पाशव जन्मके द्वारा अपने ऊपर आरोपित परिस्थितियोंके विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है, संघर्ष इसलिये करना पड़ता है कि वह अपना सच्चा पथ पा ले और अपने निजी स्वरूप-को फिरसे पूर्णतः खोज निकाले। बस।

अब, यदि तुम्हारे पास और कोई बात पूछनेको हो... । किसीके पास कोई बात पूछनेके लिये नहीं है ?

> **प्यारी माताजी, क्या माता और पिताके लिये यह संभव है कि जब वे बच्चा पैदा करना चाहें तो वे जिस जीवको लाना चाहते हैं, उसकी मांग करें ?**

मांग ? उसके लिये उन्हें एक गुप्त ज्ञान प्राप्त होना चाहिये जो आम तौर-पर उन्हें नहीं प्राप्त होता। परंतु, जो हो, जो बात संभव है वह यह है कि सहजवृत्ति या कामनासे संचालित होकर एक पशुकी तरह और अधिकांश समय बिना चाहे ही यह कार्य करनेके बदले वे इसे इच्छापूर्वक करें, अभीप्साके साथ, अपने-आपको अभीप्साकी एक स्थितिमें और लगभग प्रार्थनाके भावमें रखकर करें ताकि जिस सत्ताको वे निर्मित करने जा रहे हैं वह एक ऐसी अंतरात्माके मूर्त्तिमान् होनेके लिये उपयुक्त हो जिसे वे उस आकारमें अवतरित होनेके लिये पुकार सकें। मैं ऐसे लोगोंको जानती थी (वे बहुत नहीं थे, ऐसी बात बार-बार नहीं होती, पर तो भी कुछको मैं जानती थी) जिन्होंने विशिष्ट परिस्थितियोंको चुना, अपने-आपको विशेष प्रकारकी एकाग्रता और ध्यान और अभीप्साके द्वारा तैयार किया तथा जिस शरीरको वे निर्मित कर रहे थे उसमें एक असाधारण जीवको उतार लानेका प्रयत्न किया।

प्राचीन कालके देशोंमें — और आज भी, कुछ देशोंमें — जो स्त्री गर्भवती होती थी उसे सौन्दर्य, सामंजस्य, शांति और सुख-सुविधाकी विशेष अवस्थाओंमें, पूर्णतः सुसमंजस भौतिक अवस्थाओंमें रखा जाता था, ताकि यथासंभव सर्वोत्तम अवस्थाओंमें बच्चेका निर्माण हो सके। स्पष्ट ही, ऐसा ही किया जाना चाहिये, क्योंकि यह चीज मानवीय संभावनाओं-की पहुंचके भीतर है। मानव प्राणी इतने विकसित हो चुके हैं कि ऐसी-चीज एकदम अपवाद रूप नहीं है। परंतु फिर भी यह एकदम असामान्य है, क्योंकि बहुत थोड़े-से लोग ही इस बातको सोचते हैं, जब कि ऐसे अनगिनत लोग हैं जो बिना चाहे भी बच्चे प्राप्त करते हैं।

बस, यही बात थी जो मैं कहना चाहती थी।

किसी अंतरात्माको पुकारना संभव है, पर मनुष्यको कम-से-कम स्वयं थोड़ा सचेतन होना चाहिये, और फिर सर्वोत्तम अवस्थाओंमें मनुष्य जो कुछ करता है उसे करनेकी इच्छा रखनी चाहिये। यह बहुत विरल है, पर है संभव।

माताजी, जब कोई शरीर बनता है तो क्या जो अंतरात्मा वहां अवतरित होती है वह उस शरीरमें उतरनेके लिये विवश होती है ?

मैं तुम्हारे प्रश्नको भली-भांति नहीं समझी।

शरीरका निर्माण पूर्णतः एक पुरुष और एक स्त्रीपर निर्भर करता है, परंतु जो अंतरात्मा बच्चेमें, जो शरीर निर्मित हुआ है उसमें अभिव्यक्त होती है, वह इस शरीरमें अभिव्यक्त होनेके लिये बाध्य होती है ?

तुम्हारा मतलब है कि क्या वह विभिन्न शरीरोंमेंसे चुनाव कर सकती है ?

हां।

सुनो, प्रत्येक चीजके बावजूद, दानवाकार मानव-समुदायमें, यह बात बहुत विरल है कि कोई सचेतन अंतरात्मा स्वेच्छापूर्वक शरीर ग्रहण करे। यह बहुत ही असाधारण बात है। मैं पहले ही तुमसे कह चुकी हूं कि जब कोई अंतरात्मा सज्ञान, पूर्णतः निर्मित होती है और शरीर ग्रहण करना चाहती है तो साधारणतः अपने चैत्य लोकसे किसी मिलती-जुलती चैत्य ज्योतिके लिये पृथ्वीके किसी विशेष स्थलकी ओर अभिमुख होती है। अपने पूर्व-जन्ममें ही, शरीर छोड़नेसे पूर्व, पार्थिव वातावरण छोड़नेसे पूर्व, सामान्यतः समाप्त होते हुए जीवनमें प्राप्त अनुभवके परिणामस्वरूप, अंतरात्मा अपने भावी जीवनकी अवस्थाओंका कम या अधिक रूपमें (पूर्ण ब्योरोंके साथ नहीं, बल्कि मोटे रूपमें) चुनाव करती है। परंतु ये असाधारण उदाहरण हैं। संभवतः यहां उपस्थित हम लोगोंके लिये इसकी चर्चा की जा सकती है, परंतु बहुसंख्यक लोगोंके लिये, मनुष्योंकी एक विशाल संख्याके लिये, यहांतक कि जो लोग शिक्षित हैं, उन लोगोंके लिये भी, इस बातकी चर्चा करना असंगत है। और तब जो आता है वह एक ऐसा चैत्य पुरुष होता है जो बननेकी स्थितिमें, न्यूनाधिक रूपमें निर्मित होता है, और स्फुलिंगसे लेकर निर्मितिके सभी स्तर होते हैं तथा अंतमें वही स्फुलिंग पूर्णतः निर्मित सत्ताके लिये एक नन्हीं-सी ज्योति बन जाता है, और इसमें हजारों वर्षोंसे अधिक समय लग जाता है। अंतरात्माके इस ऊर्ध्वारोहणमें

हजारों वर्ष लग जाते हैं जिसमें वह एक सचेतन सत्ता बन जाती है, उसका अपना निजी संकल्प होता है तथा अपनी पसंदका जीवन निर्धारित करनेमें वह सक्षम होती है।

तो, तुम एक ऐसी अंतरात्माकी बात पूछना चाहते हो जो कह सके: "नहीं, मैं इस शरीरको अस्वीकार करती हूं; मैं एक दूसरेकी खोजमें जा रही हूं"? . . . मैं नहीं कहती कि यह असंभव है — सब कुछ संभव है। सचमुच ऐसा होता है कि बहुत-से बालक मृत उत्पन्न होते हैं जिसका मतलब है कि उनके अंदर अवतरित होनेके लिये कोई अंतरात्मा नहीं थी। परंतु यह अन्य कारणोंसे भी हो सकता है; वैसा केवल कुनिर्माणके कारणोंसे भी हो सकता है; हम निश्चित रूपसे नहीं कह सकते। मैं नहीं कहती कि यह असंभव है, पर, सामान्यतया, जब कोई सचेतन और मुक्त जीव पृथ्वीपर फिरसे शरीर ग्रहण करनेका निर्णय करता है, अपने जन्मके पहलेसे ही वह उस शरीरपर काम करने लगता है। अतएव उन असुविधाओंको भी स्वीकार न करनेका कोई कारण उसके पास नहीं होता जो माता-पिताके अज्ञानके परिणामस्वरूप हो सकती हैं; क्योंकि उसने एक विशेष कारणसे उस स्थानको चुना है जो कोई अज्ञानमय कारण नहीं था: उसने वहां एक ज्योति देखी थी — वह केवल एक संभावनाकी ज्योति हो सकती थी, पर वहां एक ज्योति थी और यही कारण था कि वह वहां आया है। सो, यह कहना तो ठीक है कि: "आह! नहीं, मैं इसे नहीं चाहती", परंतु वह अपने पसंदके अनुसार दूसरा शरीर चुननेके लिये कहां जायगी? . . . यह हो सकता है; मैं नहीं कहती कि वह असंभव है, परंतु बहुत बार नहीं हो सकता। कारण, जब चैत्य लोकसे अंतरात्मा पृथ्वीकी ओर ताकती है और अपने अगले जन्मका स्थान चुनती है, तो वह काफी विवेक-विचारके साथ चुनती है ताकि वह कोई बिलकुल भद्दी भूल न कर बैठे।

ऐसा भी हुआ है कि अंतरात्माओंने जन्म ग्रहण किया और फिर शरीर छोड़ दिया। वे क्यों चली जाती हैं इसके कई कारण हैं। जो बच्चे बहुत छोटी उम्रमें, कुछ दिनों या कुछ सप्ताहोंके बाद, मर जाते हैं, वे संभवतः किसी ऐसे ही कारणसे मरते हैं। अधिकतर यह कहा जाता है कि उस अंतरात्माको अपने निर्माणको पूरा करनेके लिये बस, थोड़े-से अनुभवकी ही आवश्यकता थी, उसे वह अनुभव इन थोड़े-से सप्ताहोंमें मिल गया और उसने शरीर छोड़ दिया। सब कुछ संभव है। अंतरात्माओंका इतिहास सुनानेके लिये उतनी ही कहानियोंकी आवश्यकता होगी जितनी कहानियां मानवजातिका इतिहास सुनानेके लिये आवश्यक

होती हैं। कहनेका मतलब, वे असंख्य हैं और उदाहरण एक-दूसरेसे इतने भिन्न हैं जितने कि हो सकते हैं।

अतएव, मनमाने ढंगसे यह निर्णय करना कि: "यह बात ऐसी है, वैसी नहीं; बस यही होता है वह नहीं", यह बचकानी बात है। सब कुछ हो सकता है। कुछ ऐसे उदाहरण हैं जो औरोंकी अपेक्षा अधिक होते हैं, उससे एक सामान्य सिद्धांत बनाया जा सकता है; परंतु कोई यह कभी नहीं कह सकता : "यह संभव नहीं है, और यह बात सर्वदा इसी प्रकारकी या सर्वदा उसी प्रकारकी होती है।" यथार्थमें ये चीजें इस प्रकार नहीं होतीं।

परंतु किसी हालतमें — किसी भी हालतमें — यहांतक कि बहुत उत्तम प्रसंगोंमें भी, यहांतक कि जब अंतरात्मा सचेतन रूपसे आयी है, यहांतक कि जब उसने भौतिक शरीरके निर्माणमें ज्ञानपूर्वक भाग लिया है, फिर भी जबतक शरीरका निर्माण सामान्य पशूचित ढंगसे होता है, अंतरात्माको संघर्ष करना तथा उन सब चीजोंको सुधारना होगा जो इस मानवीय पशुता-से आती हैं।

अनिवार्यतः माता-पिता एक विशेष प्रकारसे बने होते हैं, वे विशेषतः स्वस्थ या अस्वस्थ होते हैं; और यदि सब बातोंको उनके उत्तम रूपमें लिया जाय तो भी उनके जन्मके, जिस वातावरणमें वे रह चुके हैं उसके, उनके निजी जीवनके परिणामस्वरूप उनकी अवचेतनामें और निश्चेतनामें भी परंपराओं, आदतों, रचनाओंका एक स्तूप होता है; और यदि वे असाधारण लोग हों तो भी, उनके अंदर यथार्थ चैत्य जीवनके एकदम विप-रीत बहुत सारी चीजें होती हैं — यहांतक कि उनमेंसे सर्वश्रेष्ठ लोगोंमें भी, अत्यंत सचेतन लोगोंमें भी ऐसा होता है। और इसके अतिरिक्त, बहुत सारी चीजें भविष्यमें आनेवाली होती हैं। यदि कोई अपने बच्चोंको शिक्षित करनेका बहुत अधिक कष्ट भी उठाता है तो भी बच्चे ऐसे सभी प्रकार-के लोगोंके संपर्कमें आते हैं जो उनके ऊपर एक प्रकारका प्रभाव डालते हैं, विशेषकर जब वे बिलकुल छोटे होते हैं तथा ये प्रभाव अवचेतनामें घुस जाते हैं जिनके साथ उन्हें पीछे चलकर संघर्ष करना पड़ता है। मैं कहती हूं : सर्वोत्तम उदाहरणोंमें भी, वर्तमान समयमें शरीर जिस ढंगसे निर्मित होता है उसके कारण तुम्हें ऐसी अनगिनत कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है जो कम या अधिक अवचेतनासे आती हैं, पर ऊपरी तलपर उठ जाती हैं और जिनके विरुद्ध तुम्हें संघर्ष करना पड़ता है और उसके बाद ही तुम पूरी तरह मुक्त हो सकते हो और सामान्य रूपमें विकसित हो सकते हो। बस, और कुछ?

(मौन)

अभी, फरवरीके अंतिम भागसे, मेरे पास इन विषयोंपर प्रचुर संख्यामें प्रश्न आये हैं।

अतिमानस कैसे कार्य करेगा? उसे ग्रहण करनेके लिये क्या करना चाहिये? किस रूपमें वह अभिव्यक्त होगा?

मैंने यथासंभव सर्वोत्तम रूपमें उत्तर दिया है। परंतु श्रीअरविंदकी पुस्तक 'वेद-रहस्य'के किसी पृष्ठपर एक टिप्पणी है और इस टिप्पणीमें उन्होंने इन प्रश्नोंका उत्तर दिया है। मैं बराबर लोगोंसे कहती हूं कि श्रीअरविंदने जो कुछ लिखा है उसे पढ़नेका यदि थोड़ा-सा कष्ट तुम लोग उठाओ तो तुम्हारे बहुत सारे प्रश्न निरर्थक हो जायंगे, क्योंकि श्रीअरविंदने उनका उत्तर पहले ही दे दिया है। फिर भी, बहुत संभव है कि लोगोंको न तो समय हो न धैर्य, न इच्छा हो न ही वह सब जो आवश्यक है, और वे नहीं पढ़ते। पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, वे, मैं समझती हूं, उदारतापूर्वक बांटी भी जाती हैं, पर थोड़े-से लोग ही ऐसे हैं जो उन्हें पढ़ते हैं। जो हो, श्रीअरविंदका उत्तर यहां दिया जा रहा है। मनन करनेकी कोशिश करो, और यदि तुम्हारे पास कोई पूछने लायक विशेष प्रश्न हो तो मैं उसका उत्तर दूंगी।

सुनो :

"एक सतत फैलाव और आत्म-परिपूर्णताके परिणामस्वरूप भागवत संकल्पको हमारे अंदर अतिमानसिक लोकका निर्माण या सर्जन करना है।"[1]

इसका तात्पर्य यह है कि अपने अंदर अतिमानसिक सत्ताको ग्रहण

---

[1]यह टिप्पणी श्रीअरविंदने ऋग्वेदके अग्नि-संबंधी चौथे सूक्त ("'भागवत संकल्प', 'पुरोहित', 'योद्धा,' और हमारी यात्राका 'नेता'") की व्याख्यामें दी है :

"हे जन्मोंको जाननेवाले अग्निदेव! अपने कर्मोंमें पूर्णता प्राप्त व्यक्ति, जिसके लिये तू उस दूसरे आनंदमय लोक*का निर्माण करता है, वह ऐसे परम आनंदमें पहुंच जाता है जहां उसके जीवनकी तेज गतियां, उसके ज्योतिके यूथ (प्रकाशके झुंड), उसकी आत्माके बच्चे और उसकी शक्तिकी सेनाएं आनंदसे निवास करती हैं।"

('वेद-रहस्य', उत्तरार्ध, पृ० ५३)

*श्रीअरविंदने इसी कथनके प्रसंगमें यह टिप्पणी दी है।

करने, व्यवहृत करने और गठित करनेकी, और फलतः एक अति-मानसिक जगत्‌की रचना करनेकी, आशा करनेके लिये, सर्वप्रथम, आवश्यकता यह है कि अपनी चेतनाको विस्तारित किया जाय, और सतत व्यक्तिगत प्रगति की जाय: ऐसा नहीं कि हठात् उड़ानें ली जायं, थोड़ी अभीप्सा हो, थोड़ा-सा प्रयास हो, और फिर निद्रामें डूबा जाय। बस, यही जीवकी सतत भावना, जीवका सतत संकल्प, जीवका सतत प्रयास, जीवका सतत सर्वोपरि कार्य होना चाहिये।

यदि तुम दिनमें पांच मिनट यह याद रखो कि अतिमानसिक शक्ति नामकी कोई चीज विश्वमें है और, अंततः, "वह यदि मेरे अंदर अभिव्यक्त हो तो अच्छा होगा", फिर बाकी सब समय तुम अन्य किसी वस्तुकी बात सोचो और अन्य कार्योंमें व्यस्त रहो तो इस बातकी अधिक संभावना नहीं कि वह (अतिमानसिक शक्ति) आयेगी और तुम्हारे अंदर गंभीरता-पूर्वक कार्य करेगी। श्रीअरविंद यह बात बिलकुल स्पष्ट और सुनिश्चित रूपमें कहते हैं। वह तुमसे यह नहीं कहते कि वास्तवमें तुम्हीं यह कार्य करोगे, वह कहते हैं कि भागवत संकल्प करेगा। अतएव तुम आकर यह न कहो: "आह! मैं, मैं नहीं कर सकता।" तुमसे उसे करनेके लिये नहीं कहा जाता। परंतु यह आवश्यक है कि तुम्हारी सत्तामें पर्याप्त रूपमें एक अभीप्सा और एक लगन हो ताकि सत्ताका प्रसारण, चेतनाका प्रसारण संभव हो सके। कारण, सच पूछो तो, प्रत्येक व्यक्ति छोटा, छोटा, छोटा, इतना छोटा है कि वहां अतिमानस-को प्रतिष्ठित करनेके लिये पर्याप्त स्थान नहीं है। वह इतना तंग है कि पहले ही वह समस्त तुच्छ सामान्य मानवीय क्रियाओंसे पूरी तरह भरा रहता है। अतिमानसकी क्रियाओंके लिये स्थान बनानेके लिये इसे बहुत अधिक विस्तारित करना होगा।

फिर प्रगतिके लिये अभीप्सा भी अवश्य होनी चाहिये: जो कुछ हम हैं, जैसे हम हैं, जो कुछ हम करते हैं, जो कुछ हम जानते या समझते हैं कि हम जानते हैं उससे संतुष्ट नहीं होना चाहिये; बल्कि कुछ अधिकके लिये, किसी अधिक अच्छी वस्तुके लिये, एक महत्तर ज्योति, एक विशालतर चेतना, एक सत्यतर सत्य और एक अधिक विश्वव्यापक शुभके लिये सतत अभीप्सा रखनी चाहिये। और इस सबके साथ-ही-साथ एक शुभेच्छा होनी चाहिये जो कभी कम नहीं होती।

ऐसा थोड़े दिनोंमें ही नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त, मैं समझती हूं कि इस दृष्टिकोणसे, मैंने सावधानियां बरती थीं और, जब मैंने यह घोषणा की थी कि पृथ्वीको अतिमानसिक

शक्ति ग्रहण करनेका अवसर दिया गया है ताकि वह अभिव्यक्त हो सके, इसका मतलब यह नहीं था कि वह अभिव्यक्ति तुरत प्रकट हो जायगी, और प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी प्रयासके, एकाएक अपने-आपको ज्योति और संभावनाओं और सिद्धिके शिखरपर पायगा। मैंने तुरत कहा था कि ऐसा नहीं होगा। मैंने यह भी कहा था कि इसमें काफी लंबा समय लग जायगा। परंतु फिर भी, लोग शिकायत करते हैं कि उसके आगमनसे चीजें अधिक आसान नहीं हुई हैं, यहांतक कि, कुछ विषयोंमें, बात अधिक कठिन हो गयी है। मुझे बहुत दुःख है, पर इस विषयमें मैं कुछ नहीं कर सकती। क्योंकि इसमें अतिमानसिक शक्तिका कोई दोष नहीं है, इसमें दोष उस तरीकेका है जिसमें उसे ग्रहण किया गया था। मैं ऐसे उदाहरण जानती हूं जिनमें सचमुच अभीप्सा सच्ची और सहयोगपूर्ण थी, और जहां बहुत-सी चीजें जो पहले बहुत कठिन प्रतीत होती थीं, तुरत अनंततः अधिक आसान हो गयी थीं।

परंतु, सर्वदा ही, इन दो चीजोंके बीच बहुत अधिक अंतर होता है: एक तो है एक प्रकारकी मानसिक उत्सुकता जो शब्दों और भावनाओंके साथ खेलती है और दूसरी है सत्ताकी सच्ची अभीप्सा जो इस चीजको सचमुच, यथार्थमें लाती है, यही चीज है जिसका, मुख्यतः, मूल्य है, अन्य किसी चीजका मूल्य, नहीं है — उसी अभीप्सा, उसी आंतरिक संकल्पका मूल्य है जिसके बिना किसी चीजका कोई मूल्य नहीं; सिवा उसके उस सिद्धिके; उसके अतिरिक्त कोई वस्तु मूल्यवान् नहीं है; उसके सिवा अस्तित्व-का दूसरा कोई कारण नहीं है, जीवनका दूसरा कोई कारण नहीं है।

यदि कोई अतिमानसको खुली आंखों देखना चाहे तो वह आवश्यक चीज है।

और ध्यान रखो कि मैं भौतिक रूपांतरकी बात नहीं कर रही, क्योंकि इसे सब लोग जानते हैं: रातों-रात ज्योतिर्मय, नमनीय होने, अपना वजन कम करने, अपने-आपको स्वच्छंदतापूर्वक स्थानांतरित कर सकने, एक ही समय एक दर्जन विभिन्न जगहोंपर प्रकट होने आदि-आदिकी आशा तुम मत करो...। नहीं, मैं विश्वास करती हूं कि अकस्मात् ऐसी बातों-की आशा न करनेका विचार-विवेक तुम्हारे अंदर है। उसे थोड़ा समय लगेगा।

फिर भी केवल चेतनाकी क्रिया, केवल एक प्रकारका आत्म-प्रभुत्व, अपने शरीरपर अधिकार, चीजोंका प्रत्यक्ष ज्ञान, उस धुंधली, अस्पष्ट दृष्टि-की जगह — जो केवल ऊपरी भ्रमोत्पादक और असत्य और इतने अधिक

पथराए हुए रूपोंको ही देखती है—तादात्म्य प्राप्त करने तथा स्पष्ट दर्शन करनेकी क्षमता आ सकती है। उस समय एक अधिक प्रत्यक्ष बोध, एक आंतरिक बोध अवश्य आना चाहिये और आना चाहिये शीघ्रतासे यदि कोई तैयार हो।

केवल इस भावनाका होना कि जिस हवाको हम सांसके साथ ले रहे हैं वह अधिक सजीव है, जो शक्ति-सामर्थ्य हमारे अंदर है वह अधिक स्थायी है इसका बोध हो सकता है। एक अंधे व्यक्तिकी तरह यह जाननेके लिये सर्वदा टटोलते रहनेकी जगह कि क्या करना चाहिये, एक सुस्पष्ट, यथार्थ, आंतरिक सूचना मिल सकती है: यह ऐसा है—वैसा नहीं: ऐसा ही है।

ये चीजें हैं जिन्हें मनुष्य तुरत प्राप्त कर सकता है यदि वह तैयार हो।

(मौन)

आज मेरे पास अन्य प्रश्न आये हैं जिनका उस विषयसे कोई संबंध नहीं जिसमें हम अभी लगे हैं, ये प्रश्न उतने ही पुराने हैं जितना पुराना यह जगत् है, इनका उत्तर मैं सैकड़ों बार पहले ही दे चुकी हूं, पर, फिर भी, ऐसा लगता है कि कोई बात अंदर नहीं घुसी है, क्योंकि वे फिरसे पूछे गये हैं:

बुरे विचार क्यों आते हैं?

क्या मैंने तुम्हें नहीं बताया है कि बुरे विचार क्यों आते हैं?... उतने ही कारणोंसे जितने कि बुरे विचार होते हैं! प्रत्येक अपने विशेष कारणसे आता है: वह आंतरिक मेलके कारण आ सकता है, वह तुम्हें परेशान करनेके लिये ही आ सकता है, वह इस कारण आ सकता है कि तुम उसे बुलाते हो, वह इस कारण आ सकता है कि तुम आक्रमणके लिये अपने-आपको खोल देते हो, उसके आनेके लिये एक साथ ये सभी कारण हो सकते हैं और इनसे भी बहुत अधिक कारण हो सकते हैं।

बुरे विचार इसलिये आते हैं कि तुम्हारे अंदर कहीं कोई अनुरूपता होती है; अन्यथा तुम किसी चीजको इस भांति गुजरते हुए तो देख सकते हो, पर वह तुम्हारे अंदर नहीं आयेगी। मैं समझती हूं कि प्रश्नका तात्पर्य है: तुम एकाएक कोई बुरी बात क्यों सोचने लगते हो।

क्योंकि बहुत भिन्न-भिन्न स्तर होते हैं। मैं पहले ही तुम्हें समझा चुकी हूं कि मानसिक वातावरण उस सार्वजनिक स्थानसे बहुत अधिक बुरा होता है जहां बहुत भीड़ होती है : असंख्य भावनाएं, सभी प्रकारके विचार और सभी आकार एक ऐसे जटिल समूहके अंदर आड़े-तिरछे आते-जाते हैं कि किसी चीजको ठीक-ठीक पकड़ पाना असंभव होता है। तुम्हारा मस्तक इसके बीचमें होता है, और उससे भी अधिक तुम्हारा मन : वह उस गड़बड़ीमें वैसे ही स्नान करता है जैसे कोई समुद्रमें स्नान करता है। और तब यह सब आता और जाता है, गुजरता है, मुड़ता है, धकियाता है, अंदर घुसता है, बाहर निकल जाता है...। तुम जिस मानसिक वातावरणमें रहते हो उसके विषयमें यदि सचेतन होते तो स्पष्ट ही वह पागल बनानेवाला लगता ! मेरी रायमें व्यक्तिगत मस्तिष्ककी सीमाएं एक छन्नेके रूपमें, मनुष्यके जीवनमें बहुत लंबे समयतक, बिलकुल आवश्यक होती हैं।

इस सबसे बाहर निकलने और मानसिक वातावरणमें, जैसा कि वह है, जैसा वह है वैसा देखते हुए, पूर्णतः निवास करनेमें समर्थ होनेके लिये (आनुषंगिक रूपसे, यही बात प्राणिक वातावरणकी भी है; वह शायद और भी अधिक गंदा है !), उसमें निवास करनेके लिये और वह जैसा है वैसा ही उसे देखनेके लिये मनुष्यको शक्तिशाली होना चाहिये, उसके पास एक बहुत दुरुस्त आंतरिक दिग्दर्शक यंत्र होना चाहिये। परंतु, जो हो, चाहे तुम उसे देखो या न देखो, चाहे तुम उसे अनुभव करो या न करो, वह एक तथ्य है, वह वैसा ही है। अतएव यह नहीं पूछा जा सकता कि बुरे विचार कहांसे आते हैं — वे सर्वत्र विद्यमान हैं। वे आते क्यों हैं ? — उन्हें कहां जाना चाहिये ? तुम तो ठीक उनके बीचमें ही उपस्थित हो !

जो चीज चेतनाके इस छन्नेको शासित करती है जो तुम्हें कुछ विचारोंके विषयमें सचेतन बनाता है और दूसरोंके विषयमें अचेतन, वह है तुम्हारा आंतरिक मनोभाव, तुम्हारी आंतरिक समानताएं, तुम्हारी आंतरिक आदतें (मैं मनकी चर्चा कर रही हूं, चैत्य पुरुषकी नहीं), वह है तुम्हारी शिक्षा, तुम्हारे मस्तिष्कका विकास आदि-आदि। वह एक प्रकारका छन्ना है जिसे तुम्हारे अहंने बनाया है, और कुछ विचार उसमेंसे छनकर निकल जाते हैं और दूसरे नहीं जाते — एकदम स्वाभाविक रूपमें। यही कारण है कि जिन विचारोंको तुम ग्रहण करते हो उनका स्वरूप तुम्हारे लिये इस बातका पर्याप्त रूपमें एक गंभीर चिह्न हो सकता है कि तुम्हारा चरित्र किस प्रकारका है — यह तुम्हारे लिये बिलकुल अवचेतन हो सकता है, क्योंकि मनुष्यको सचमुच अपने-आपको जाननेकी आदत नहीं

होती, परंतु यह तुम्हारे स्वभावकी सामान्य प्रवृत्तिका सूचक होता है। यदि हम इस बातको बहुत सीधे-सादे ढंगसे कहें तो तुम यदि, उदाहरणार्थ, किसी आशावादी व्यक्तिको लो तो हां, सामान्यतया आशावादी विचार उसके पास आयेंगे; एक निराशावादीके लिये साधारणतया निराशावादी विचार आयेंगे (मैं बहुत व्यापक रूपमें चर्चा कर रही हूं); एक विद्रोही स्वभावके व्यक्तिके पास विद्रोही विचार आयेंगे; और एक बहुत भेड़ जैसे व्यक्तिके पास भेड़ोचित विचार आयेंगे! यदि यह मान लें कि भेड़के भी विचार होते हैं! बस, यही है सामान्य यथार्थ स्थिति।

अब, यदि तुमने कुछ प्रगति करने तथा योग-मार्गमें प्रवेश करनेका निर्णय कर लिया हो तो फिर एक नया तत्त्व आ जाता है जो हस्तक्षेप करता है। जैसे ही तुम प्रगति करना चाहते हो, तत्काल तुम्हारे सामने, तुम्हारे अंदर और तुम्हारे चारों ओर विद्यमान प्रत्येक वस्तु जो प्रगति करना नहीं चाहती, प्रतिरोध करती है और वह प्रतिरोध स्वभावतः ही सभी प्रकारके मिलते-जुलते विचारोंके रूप ग्रहण कर लेता है।

उदाहरणके रूपमें मान लो, तुम भोजनकी आसक्तिके संबंधमें कोई प्रगति करना चाहते हो; तब अवश्य ही लगभग निरंतर तुम्हारे पास ऐसे विचार आयेंगे जो विशेष रूपसे भोजनमें रस लेनेवाले होंगे, जैसे, क्या खाना चाहिये, क्या नहीं खाना चाहिये, कैसे खाना चाहिये, कैसे नहीं खाना चाहिये; ये विचार तुम्हारे पास आयेंगे और तुम्हें एकदम स्वाभाविक प्रतीत होंगे। और जितना ही अधिक तुम अपने अंदर यह कहोगे: "ओह! मैं इन सब चीजोंसे कितना मुक्त होना चाहता हूं, मेरी प्रगतिके लिये कैसी बाधा हैं ये सब बातें", उतना ही अधिक वे आयेंगे, चुपचाप, जबतक कि तुम अपने अंदर वास्तवमें प्रगति नहीं कर लेते और चेतनाके एक ऐसे स्तरपर नहीं चढ़ जाते जहांसे तुम इन सब चीजोंको ऊपरसे देख सको और उन्हें **उनके स्थानपर** रख सको — यह स्थान विश्वके अंदर कोई बहुत बड़ा स्थान नहीं होता! बस यही बात है और समस्त वस्तुओंके लिये भी। फलतः, तुम्हारे कार्य और तुम्हारे सादृश्य लगभग विपरीत ढंगसे न केवल उन विचारोंके, जो तुम्हारी सत्ताके साथ सामंजस्य और सादृश्य रखते हैं बल्कि विरोधी विचारोंके साथ भी संपर्कमें लाते हैं। और यदि प्रारंभसे ही तुम विवेक करनेका मनोभाव रखनेकी सावधानी न बरतो तो तुम एक मानसिक युद्ध-क्षेत्रमें परिवर्तित हो जाओगे।

यदि तुम यह जानते हो कि उच्चतर स्तरपर, चिंतनशील मनके, जो कि साधारण भौतिक मन नहीं है, क्षेत्रमें कैसे ऊपर उठा जाता है तो तुम इस सब क्रीड़ाको और इस सब संघर्षको, इस सब द्वन्द्वको, इन सब विप-

रीतताओंको एक कौतूहलके रूपमें देख सकते हो जो तुम्हें स्पर्श नहीं करता या प्रभावित नहीं करता। यदि तुम एक पग और अधिक ऊंचे उठ जाओ और उस लक्ष्यकी ओर देखो जहां तुम जाना चाहते हो तो तुम्हारे पास क्रमशः वह विवेक-शक्ति आ जायगी जिससे तुम इन विचारोंको पहचान जाओगे जो तुम्हारी प्रगतिके लिये अनुकूल होते हैं और इन्हें तुम बनाये रखोगे और फिर उन विचारोंको पहचान जाओगे जो इस प्रगतिके विरोधी हैं और जो उसे हानि पहुंचाते और नष्ट कर देते हैं; और तुम्हें ऊपरसे ही उन्हें, शांतिपूर्वक, उनके द्वारा अन्य प्रकारसे प्रभावित हुए बिना, दूर हटा देनेकी शक्ति प्राप्त होगी। परंतु तुम यदि वहीं, उसी स्तरपर, इस अस्तव्यस्तता और द्वन्द्वके बीचमें बने ही रहो तो हां, तुम सिर-दर्द मोल लेनेका खतरा उठाओगे!

सबसे उत्तम बात है अपने-आपको किसी विशिष्ट कार्यमें संलग्न रखना जो तुम्हें विशेष रूपसे एकाग्र होनेके लिये बाध्य करे: अध्ययन, कार्य या शरीरके लिये कोई भौतिक कार्य जिसमें दत्तचित्त होनेकी आवश्यकता हो, एकदम कोई भी चीज जो तुम्हें उस कार्यपर एकाग्र होनेको विवश करे जिसे तुम कर रहे हो और तुम इन सब असंगत भ्रमणकारी विचारोंके शिकार न होओ। परंतु तुम्हें यदि वहीं बने रहने और उनकी ओर ताकते रहनेका दुर्भाग्य प्राप्त हो तो फिर, निश्चय ही, जैसा कि मैंने कहा है, तुम्हें सिर-दर्द हो जायगा। कारण, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका समाधान या तो व्यावहारिक जीवनमें घुसकर और किसी व्यावहारिक प्रयासपर एकाग्र होकर अथवा ऊपर उठकर और ऊपरसे इस समस्त विश्रृंखलतापर दृष्टि डालकर करना होगा ताकि इसके अंदर कोई व्यवस्था स्थापित की जा सके और इसे नियंत्रित किया जा सके।

परंतु हमें कभी उसी स्तरपर नहीं रहना चाहिये, वह शारीरिक और नैतिक दोनों प्रकारके स्वास्थ्यके लिये अनुपयुक्त स्थान है।

४ जुलाई, १९५६

प्यारी माताजी, कहा जाता है कि यदि कोई उल्कापात देखे और उसी क्षण किसी वस्तुकी अभीप्सा करे तो वह अभीप्सा उस वर्षके अंदर पूरी हो जाती है। क्या यह सच है?

क्या तुम जानते हो कि उसका मतलब क्या है? — अभीप्सा ठीक उसी समय स्पष्ट रूपमें उच्चारित होनी चाहिये जब उल्कापात दिखायी देता हो; और वह बहुत लंबे समयतक नहीं रहता, ठीक है? हां, तो यदि कोई अभीप्सा तारेके दिखायी देते-देते मनमें स्पष्ट रूप ले सके तो इसका तात्पर्य है कि वह वहां सर्वदा थी, उपस्थित थी, चेतनामें सबसे आगे थी (यह बात सामान्य चीजोंपर लागू नहीं होती, उनसे इसका कोई संबंध नहीं, इसका संबंध बस आध्यात्मिक अभीप्साके साथ है)। परंतु मुख्य बात यह है कि यदि तुम ठीक उसी मुहूर्त्त अपनी आध्यात्मिक अभीप्साको स्पष्ट रूपमें बोल सको तो इसका अर्थ है कि वह तुम्हारी चेतनाके सम्मुख भागमें है, कि चेतनामें उसीका प्राधान्य है। और, अनिवार्यतः, जिस चीजकी तुम्हारी चेतनामें प्रधानता होती है, वह बड़ी तेजीसे उपलब्ध हो सकती है।

मुझे यह प्रयोग करनेका अवसर प्राप्त हुआ था। ठीक-ठीक यही। जिस क्षण सितारा गिरा, ठीक उसी क्षण चेतनासे उछल पड़ा: "अपने शरीरके लिये भागवत एकत्व प्राप्त करना होगा।" बस, उसी मुहूर्त्त।

और वर्षके समाप्त होनेसे पहले ही, वह पूरा हो गया।

परंतु यह तारेके कारण नहीं हुआ! वह इस कारण हुआ कि मेरी सारी चेतनामें उसकी प्रधानता थी और मैं उसके सिवा और कोई बात नहीं सोचती थी, मैं केवल उसीको चाहती थी, केवल उसीका चिंतन करती थी, केवल उसीके लिये कार्य करती थी। अतएव, जिस कार्यमें साधारणतः समूचा जीवन लग जाता है (कहा जाता है कि इसमें कम-से-कम ३५ वर्ष लग जाते हैं!) — बारह महीने बीतनेसे पहले ही वह संपन्न हो गया था।

परंतु इसका कारण यह था कि मैं केवल उसीका चिंतन करती थी। और, चूंकि मैं केवल उसीका चिंतन करती थी इसलिये ठीक जिस समय तारा चमका मैं उसे शब्दोंमें व्यक्त कर सकी — केवल एक अस्पष्ट धारणा नहीं — इस भांति ठीक-ठीक शब्दोंमें प्रकट कर सकी: "भगवान्‌के साथ एकत्व प्राप्त करना होगा", आंतरिक भगवान्‌के साथ, वह चीज जो मनमें बराबर रहती है; ठीक वही चीज जो बराबर मनमें रहती है।

फलतः, प्रधान बात वह तारा नहीं है, बल्कि अभीप्सा है। तारा तो केवल एक बाहरी प्रमाणके जैसा है, और कुछ नहीं। परंतु तेजीसे उपलब्ध करनेके लिये उल्कापात देखना आवश्यक नहीं है! आवश्यक बात यह है कि सत्ताका संपूर्ण संकल्प एक बिंदुपर एकाग्र हो जाय।

(मौन)

(श्रीमाताजी लिखित प्रश्नोंका एक पुलिंदा दिखाती हैं)

जो कुछ यहां मेरे पास है वह बहुत मनोरंजक नहीं है। इनमें एक बहुत व्यावहारिक प्रश्न है जिसको पहले कई बार मैं तुम्हें समझा चुकी हूं, परंतु इसे शायद एक बार और समझाना अच्छा होगा। यह इस प्रकार है:

> **"जब शरीरमें कोई स्पष्टतः स्थानिक बीमारी हो तो नीरोग-कारी 'शक्ति'को ग्रहण करनेके लिये भौतिक चेतनाको उद्घाटित करनेका सबसे उत्तम उपाय क्या है?"**

इसके लिये (अन्य प्रत्येक वस्तुकी तरह ही इस क्षेत्रमें जिसे हम गुह्य-विद्याके "नाके" अथवा गुह्य-विद्याकी देहली कह सकते हैं), प्रत्येक व्यक्तिको अपनी निजी क्रिया खोज निकालनी चाहिये; क्योंकि प्रत्येकके लिये जो चीज अत्यंत फलदायक होती है वह है ऐसी पद्धति जिसके लिये वह न्यूनाधिक तैयार हो चुका है और जो उसके लिये सर्वाधिक परिचित है। अतएव, इसके लिये कोई सामान्य नियम बनाना बहुत कठिन है।

परंतु यह शायद साधारण प्रकारकी तैयारीकी अवस्था है। वह है, शरीरको यह समझनेके लिये विधिवत् अभ्यस्त बनाना कि यह केवल एक सत्यतर तथा गभीरतर सत्यकी बाह्य अभिव्यक्ति है, यह सत्यतर तथा गभीरतर सद्वस्तु ही उसकी भवितव्यताको शासित करती है—यद्यपि यह सामान्यतया उस विषयमें सज्ञान नहीं होता।

शरीरको सतत निरीक्षणों, अध्ययनों, समझदारियोंके[1] द्वारा, उसे उदाहरण दिखाकर, उसे उसी तरह समझाकर जिस तरह बच्चोंको समझाया जाता है, चाहे उसकी अपनी क्रियाओंको देखकर (पर सामान्यतया, इस बातमें, मनुष्य थोड़ा अधिक अंधा होता है!), अथवा दूसरोंके कार्योंका निरीक्षण करके तैयार किया जा सकता है। और फिर अधिक सामान्य रूपमें, तैयारीका यह कार्य मान्य अध्ययनोंपर, सुस्पष्ट तथ्योंपर आधारित होगा। उदाहरणार्थ, यह तथ्य कि: जब कुछ व्यक्ति बिलकुल एक जैसी परिस्थितियोंमें रखे जाते हैं तो उनमेंसे प्रत्येक व्यक्ति बहुत भिन्न प्रकार-

---

[1]शरीरके लिये, समझनेका मतलब है उदाहरणके संपर्कसे प्राप्त कार्यान्वितिकी क्षमताका होना। कारण, शरीरके लिये "समझने"का अर्थ है करनेमें समर्थ होना। (श्रीमाताजीकी टिप्पणी)

का प्रभाव अनुभव करता है। हम इससे भी आगे जा सकते हैं: किन्हीं प्रदत्त निश्चित परिस्थितियोंमें; निश्चित व्यक्तियोंका एक विशेष दल, बाह्यत: एकदम एक जैसी स्थितियोंमें, रहता है और, कुछ लोगोंके लिये परिणाम विनाशकारी होते हैं, जब कि दूसरे बिना किसी हानिके बच जाते हैं। . . . . . .

युद्धके समय ऐसे उदाहरणोंकी बहुत बड़ी संख्या अध्ययनके लिये उपलब्ध थी। महामारियोंमें भी यही बात होती है; ज्वार-तरंगों या भूकंपों या तूफानों जैसे प्राकृतिक विपर्ययोंमें भी यह बात होती है।

शरीर इन बातोंको समझता है यदि उसे ये चीजें दिखा दी जायं और इनकी व्याख्या कर दी जाय, जिस तरह कि किसी बच्चेको बातें समझायी जाती हैं: "देखो, यहां कोई भिन्न वस्तु है जिसने यहां काम किया था, केवल जड़, भौतिक तथ्य ही यहां अपने-आप मौजूद नहीं था।" और, जबतक कि कोई अशुभ इच्छा ही न हो, वह समझ जाता है। . .

. यह तैयारीके सिवा और कुछ नहीं है।

धीरे-धीरे, यदि तुम इस समझका उपयोग करो, तुम्हें अवश्य करना चाहिये, और शरीरके कोषोंमें चेतना भरनेका, साथ-ही-साथ दिव्य उपस्थितिके सत्यको भरनेका विधिवत् कार्य करना चाहिये। यह एक ऐसा कार्य है जिसमें समय लगता है, पर जो, यदि विधिपूर्वक और निरंतर किया जाय, तो परिणाम उत्पन्न करता है।

इस तरह तुमने भूमि तैयार कर ली है।

मान लो, किसी बीमारीके परिणामस्वरूप, किसी खास बिंदुपर किसी प्रकारका दर्द हो रहा है। उस समय सब कुछ निर्भर करेगा, जैसा कि प्रारंभमें ही मैंने कहा है, उस दृष्टिकोणपर जो तुम्हारे लिये अत्यंत परिचित है। परंतु हम एक दृष्टांत दे सकते हैं। तुम बीमार हो, बहुत बीमार हो; तुम बहुत अधिक कष्टमें हो, बहुत दु:ख भोग रहे हो।

पहली बात: अपने-आपसे ऐसा कहकर दर्दपर जोर मत दो कि: "ओह! कितना बीमार हूं मैं! ओह! यह व्यथा असहनीय है! ओह! यह दिन-पर-दिन और भी बुरी होती जा रही है, मैं कभी इसे सहन नहीं कर सकूंगा", आदि-आदि, इस प्रकारकी सभी बातें। तुम इस प्रकार जितना अधिक सोचते हो और इस प्रकार महसूस करते हो और जितना अधिक तुम्हारा ध्यान इस बातपर एकाग्र होता है, उतने ही अधिक अद्‌भुत ढंगसे तुम्हारी व्यथा बढ़ती जाती है।

अतएव, पहली बात: अपने-आपको पर्याप्त रूपमें संयमित करना ताकि तुम ऐसा न करो।

दूसरी बात : जैसा कि मैंने कहा है, यह निर्भर है तुम्हारी आदतोंपर। यदि तुम्हें पता है कि कैसे एकाग्र हुआ जाता, शांत-स्थिर हुआ जाता है और यदि तुम अपने अंदर एक विशेष प्रकारकी शांति ला सको — एक विशेष प्रकारकी (यह मानसिक शांति हो सकती है, यह प्राणिक शांति हो सकती है, यह चैत्य शांति हो सकती है; इनका अलग-अलग मूल्य और अलग-अलग गुण है, यह एक व्यक्तिगत प्रश्न है), तो तुम अपने अंदर एक शांतिकी स्थिति लानेकी कोशिश करो और उसे उपलब्ध करो अथवा शांतिकी एक अवस्थाके साथ सचेतन संबंध स्थापित करनेका प्रयास करो . . .। मान लो कि तुम्हें न्यूनाधिक आंशिक रूपमें सफलता मिल जाती है। फिर, यदि तुम उस शांतिको अपने अंदर खींच सको और उसे नीचे हृच्चक्रमें उतार सको (क्योंकि हम यहां आंतरिक स्थितियोंकी चर्चा नहीं कर रहे बल्कि तुम्हारे भौतिक शरीरकी चर्चा कर रहे हैं) और वहांसे उसे बहुत शांतिके साथ, मैं कह सकती हूं, बहुत धीरे-धीरे, पर बहुत आग्रहपूर्वक, उस स्थानपर ले जा सको जहांपर दर्द, कम या अधिक तेज, है और उसे वहां स्थापित कर सको तो यह बहुत अच्छा है।

फिर भी यह सर्वदा पर्याप्त नहीं होता।

परंतु तुम यदि इस क्रियाको विस्तारित करके एक प्रकारकी सुस्पष्ट मानसिक रचना (बिलकुल ठंडी नहीं, बल्कि थोड़ी जीवंत) जोड़ सको कि एकमात्र सद्वस्तु है दिव्य सद्वस्तु, और इस शरीरके सभी कोष इसी एक सद्वस्तुकी न्यूनाधिक विकृत अभिव्यक्ति हैं — कि एकमात्र एक ही सद्वस्तु है भगवान्, और हमारा शरीर इस एकमात्र सद्वस्तुकी एक कमोवेश भद्दी अभिव्यक्ति है — यदि अपनी अभीप्सा, अपनी एकाग्रताके द्वारा, मैं शरीरके कोषोंमें इस एकमेव सद्वस्तुकी चेतनाको भर दूं तो समस्त विकार निश्चित रूपसे बंद हो जायंगे।

यदि तुम उसके साथ, भगवत्कृपापर भरोसा रखते हुए पूर्ण समर्पणकी क्रिया जोड़ सको तो तुम्हारे कष्ट दूर होनेमें पांच मिनट भी नहीं लगेंगे, यदि तुम्हें मालूम हो कि इसे कैसे किया जाता है।

तुम प्रयास कर सकते हो और फिर भी सफल नहीं हो सकते। परंतु तुम्हें जानना होगा कि फिरसे और बार-बार कैसे प्रयत्न किया जाता है जबतक कि सफल नहीं हो जाते। परंतु तुम यदि एक ही साथ उन तीनों चीजोंको करो तो, हां, ऐसा कोई दर्द नहीं जो उसके सामने टिक सके।

बस फिर!

(मौन)

अब, दूसरा प्रश्न। यह उस विषयसे संबंधित है जिसकी चर्चा मैंने विगत सप्ताह चैत्य पुरुषके बारेमें की थी; मैंने कहा था कि चैत्य पुरुष अपने चैत्य लोकसे ताकता है, पृथ्वीपर नजर दौड़ाता है और उस स्थान-को खोजता है जहां वह अनुकूल परिस्थितियोंमें पुनर्जन्म ग्रहण कर सके। उस समय मैंने कहा था कि वह चैत्य लोकसे पृथ्वीकी ओर ताकता है ताकि वहां एक "मिलती-जुलती ज्योति" का पता लगाये।

कोई व्यक्ति मुझसे पूछता है कि "मिलती-जुलती ज्योति" से मेरा क्या मतलब है।

बिलकुल सीधे-साधे ढंगसे मेरा मतलब है चैत्य ज्योति। कारण, ऐसे लोग होते हैं जिनमें कम या अधिक जाग्रत् चैत्य होता है, और यह चैत्य, जो कम या अधिक जाग्रत् होता है, चैत्य पुरुषोंको चैत्य लोकसे दिखायी देता है। अतएव, जब वे कहीं एक ज्योति देखते हैं, वे उसे अपनी अभिव्यक्तिके लिये अनुकूल स्थान अनुभव करते हैं... (फिर वर्षा आरंभ हो जाती है)।

अब, मैं समझती हूं हम एक गीला ध्यान करने जा रहे हैं, मेरे बच्चो!

(एक शिष्यसे) "माइक'को हटा दो, ये बेचारी चीजें जो वर्षा नहीं पसंद करतीं।

(ध्यान)

११ जुलाई, १९५६

मुझे तीन प्रश्न मिले हैं, एक तो ऐसा है जिसके विषयमें कुछ काफी अप्रिय टिप्पणी करनेकी आवश्यकता होगी जिसे मैं तुम लोगोंके सम्मुख नहीं करना चाहती...। अब रहे अन्य दो जिनका उत्तर मैं शायद दे सकूंगी। एक प्रश्न है 'योग-समन्वय'के एक वाक्यके विषयमें जिसमें श्रीअरविंद चैत्य पुरुषकी ओर संकेत करते हुए यह कहते हैं कि वह आंतरिक सत्ता मांग करती है:

> "...उस सौंदर्यकी जो 'सनातन'का निरूपण करनेके अपने पुरोहित-पदपर प्रतिष्ठित है।"
>
> ('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० १७९)

मुझसे पूछा गया है कि इसका तात्पर्य क्या है।

सच पूछो तो, मैं नहीं समझती कि क्यों मुझसे इसकी व्याख्या पूछी गयी है: यह उस प्राचीन तापस-भावनाके कारण पूछी गयी है कि योगमें सौंदर्यके लिये कोई स्थान नहीं है अथवा इन शब्दोंके कारण कि "जो 'सनातन'-का निरूपण करनेके अपने पुरोहित-पदपर प्रतिष्ठित है।"

पहली स्थितिका जहांतक प्रश्न है, मैं समझती हूं कि मैंने पहले बहुत बार कहा और दुहराया है कि भौतिक जगत्‌में, समस्त वस्तुओंमें सौंदर्य ही वह वस्तु है जो भगवान्‌को सर्वोत्तम रूपमें अभिव्यक्त करती है। भौतिक जगत् आकारका जगत् है, और आकारकी पूर्णताको ही सौंदर्य कहते हैं। अतएव, मेरी रायमें फिरसे उन सब बातोंकी चर्चा करनेकी आवश्यकता नहीं। और, एक बार जब हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि भौतिक जगत्‌में सौंदर्य ही भगवान्‌की सर्वोत्तम और निकटतम अभिव्यक्ति है तो उसके विषयमें यह कहना स्वाभाविक है कि वह "पुरोहित" है जो 'शाश्वत'की व्याख्या करता, उसे उद्घाटित करता और अभिव्यक्त करता है। इसका प्रधान कार्य है समस्त अभिव्यक्त प्रकृतिको ठीक-ठीक 'शाश्वत'-के संपर्कमें रख देना — आकारकी पूर्णता और सामंजस्यके द्वारा तथा उस आदर्शके बोधके द्वारा जो तुम्हें किसी उच्चतर वस्तुकी ओर ऊपर उठा देता है। अतएव मैं समझती हूं कि यह बात "पुरोहित-पद" शब्दके व्यवहारको उचित सिद्ध करती है तथा प्रश्नको समझाती और हल करती है।

(मौन)

दूसरा प्रश्न उस वाक्यके विषयमें है जिसे मैंने (मेरी समझमें गत सप्ताह) उस समय कहा था जिस समय मैंने 'गुह्य-विद्याकी देहली'की चर्चा की थी। अतएव मुझसे इस गुह्य जगत्‌के विषयमें एक प्रश्न पूछा गया है जो साधारण भौतिक नेत्रोंसे अदृश्य रहता है। प्रश्नकर्त्ताने साधारण आंखों-से अदृश्य इन जगतोंमें रहनेवाली सत्ताओंका वृत्तांत देने और उनका स्पष्ट वर्णन करनेको कहा है।

मुझसे यह भी कहा गया है कि बहुत बार मैं प्रतिकूल सत्ताओंकी, अर्थात् विरोधी रचनाओंकी, उन नन्हीं-नन्हीं सत्ताओंकी चर्चा करती हूं जो मृत्युके बाद मनुष्योंकी सत्ताके विघटन (मृत्युके बाद प्राणमयी या मनो-मयी सत्ताके विघटन) से निर्मित होती हैं, पर मैंने उन महान् सत्ताओंके, उन ऐश्वर्यशाली सत्ताओं अथवा अनुकूल सत्ताओंके विषयमें कभी नहीं

बतलाया है जो क्रम-विकासमें सहायता करती हैं। मेरी समक्षमें मैंने इनके विषयमें बहुत बार चर्चा की है, पर फिर भी मुझसे उनका विवरण पुनः देनेको कहा गया है।

हां तो, गुह्य जगत् एकमात्र एकाकी क्षेत्र नहीं है जहां हर प्रकारकी खिचड़ी हो, जो महज इस कारण गुह्य बन जाता है कि हम उसे देख नहीं सकते। गुह्य जगत्में, हम शायद कह सकते हैं कि, विभिन्न स्तरोंकी, अधिकाधिक आकाशीय या सूक्ष्म लोकोंकी एक परंपरा है; जो हो, ऐसे लोकोंकी परंपरा है जो अपने स्वभावमें, हम जिस भौतिक जड़त्वको सामान्यतया देखते हैं उससे अधिकाधिक दूर होते जाते हैं। और इन लोकोंमेंसे प्रत्येक अपने-आपमें एक जगत् होता है जिसका अपना आकार होता है और जिसमें ऐसी सत्ताएं निवास करती हैं जिनकी घनता, हम कह सकते हैं कि, जिस क्षेत्रमें वे रहती हैं उसके अनुरूप होती हैं। ठीक जिस तरह हम इस भौतिक जगत्में उसी भौतिक तत्त्वसे बने होते हैं जिससे कि भौतिक जगत् बना है, उसी तरह प्राणमय जगत्में; मनोमय जगत्में अधिमानसिक जगत्में और अतिमानसिक जगत्में — और अन्य बहुतेरे, अन्य अगणित जगतोंमें — ऐसी सत्ताएं हैं जिनका आकार उसी द्रव्यसे बना होता है जिससे कि वह जगत् बना होता है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि तुम उस राज्यसे मिलते-जुलते अपनी सत्ताके भागके साथ सचेतन रूपमें उस जगत्में प्रवेश कर सको तो तुम वहां बिलकुल वास्तविक रूपमें घूम-फिर सकते हो जैसे स्थूल-भौतिक जगत्में घूमते हो।

और वहां, वहां उतनी ही अधिक, नहीं, उससे भी बहुत अधिक चीजें देखने और जाननेकी हैं जितनी कि हमारे इस बेचारे नन्हें-से स्थूल जगत्-में; जो इस अनंत परंपराके अंदर केवल एक क्षेत्रसे संबंध रखता है। इन क्षेत्रोंमें तुम्हें सभी प्रकारकी वस्तुएं मिलती हैं और तुम्हें उनका उतना ही गहरा, शायद उससे भी कहीं अधिक गहरा अध्ययन करनेकी आवश्यकता होती है जितना गहरा अध्ययन तुम भौतिक जगत्में करते हो ताकि तुम जान सको कि वहां क्या हो रहा है, और वहांकी सत्ताओंके साथ अपना संबंध बना सको।

यह स्पष्ट है कि जब मनुष्य, यदि ऐसा कहा जा सके, इस भौतिक जगत्से और आगे जाता है तो इन सत्ताओंका आकार और उनकी चेतना एक प्रकारकी पवित्रता, सुन्दरता और पूर्णतासे गठित होती है जो हमारे साधारण भौतिक आकारोंसे बहुत ऊंचे प्रकारकी होती है। केवल समीप-स्थ प्राणमय जगत्में, उस जगत्में जो मानों हमारे भौतिक जीवनके साथ घुल-मिल गया है (यद्यपि यह इस भौतिक जगत्से परे है और एक ऐसा

राज्य है जहां प्राणमय जगत् भौतिक जगत्के साथ बिलकुल ही घुला-मिला नहीं है), उस भौतिक प्राण-जगत्के विषयमें हम कह सकते हैं कि वह अपने कुछ रूपोंमें यहांकी वस्तुओंकी अपेक्षा और भी अधिक कुरूप है, क्योंकि वह एक प्रकारकी अशुभ इच्छासे भरा हुआ है जो चैत्य पुरुष-की उपस्थितिके द्वारा प्रभावित नहीं हुई है जो कि भौतिक जगत्में इस अशुभ इच्छाको सुधारती, शुद्ध करती, व्यवस्थित करती और नियंत्रित करती है। परंतु यह बिलकुल ही सीमित क्षेत्र है, और जैसे ही, मनुष्य इसके परे चला जाता है, ऐसी चीजें पा और देख सकता है जो मानव-जीवनके अनुकूल नहीं होतीं, ऐसी सत्ताएं देख सकता है जो मानवीय अस्तित्वके स्तरपर नहीं होतीं, बल्कि जिनका अपना सौंदर्य और अपनी भव्यता होती है, जिनके साथ मनुष्य अपना संबंध स्थापित कर सकता है जो बिलकुल सुखकर और यहांतक कि लाभदायी बन सकता है।

बस, जैसा कि मैं पहले ही कह चुकी हूं, पहलेसे इसकी दीक्षा पाये बिना, और सबसे बढ़कर अपनी प्रकृतिकी शुद्धिके बिना, इन क्षेत्रोंमें प्रवेश करनेका साहस करना बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। शुद्धिके बिना हमारी प्रकृति हमारी कामनाओं, हमारे आवेगों, अस्मिताओं, भयों और दुर्बलताओंके कारण बोझिल और विकृत होती है तथा ऐसी स्थितिमें वहां प्रवेश करनेमें बाधा उपस्थित करती है। इन क्रिया-कलापोंको प्रारंभ करने-से पहले मनुष्यको आत्म-शुद्धि करके और चेतनाको विस्तारित करके एक प्रकारकी पूरी तैयारी करनी पड़ती है और यह चीज एकदम अपरिहार्य है।

इन अदृश्य जगतोंके अंदर कुछ ऐसे क्षेत्र भी हैं जो मानवीय मनकी रचनाओंके परिणाम हैं। वहां हम जो कुछ चाहते हैं सब देख सकते हैं। वास्तवमें, मनुष्य वहां अधिकांश समय ठीक वही सब चीजें देखता है जिन्हें देखनेकी वह आशा करता है। वहां नरक हैं, स्वर्ग हैं, वहां शुद्धि-स्थल हैं। वहां विभिन्न धर्मों तथा उनकी परिकल्पनाओंसे मिलती-जुलती सभी प्रकारकी चीजें हैं। इन चीजोंका बस बहुत सापेक्षिक अस्तित्व है, पर वह सापेक्षिकता यहांकी स्थूल वस्तुओंकी सापेक्षिकताकी जैसी है; कहने-का मतलब, वहां जो जीव होता है उसके लिये वे चीजें पूर्ण रूपसे सत्य होती हैं और उनके प्रभाव भी बिलकुल यथार्थ होते हैं। इन वस्तुओंकी सत्यताके भ्रमसे बचनेके लिये मनुष्यको एक प्रकारकी आंतरिक मुक्ति, चेतनाकी विशालता तथा एक गभीरतर और उच्चतर सत्यके साथ संपर्क-की आवश्यकता होती है। यह चीज लगभग वैसी ही है जैसी कि यहां होती है। यहांपर मनुष्य अधिकतर यह मान बैठते हैं कि एकमात्र सद्वस्तु है भौतिक सद्वस्तु — वह सद्वस्तु जिसे हम छू सकें, देख सकें

— और उनके लिये, जो सब चीजें दीख नहीं सकतीं, छुई नहीं जा सकतीं, स्पर्श द्वारा महसूस नहीं की जा सकतीं, आखिर संदिग्ध ही होती हैं; हां, वहां कोई एकदम मिलती-जुलती चीज ही घटित होती है। जो लोग ठीक मृत्युके क्षण, किसी-न-किसी कारण, यह विश्वास कर बैठते हैं कि वे स्वर्ग जा रहे हैं अथवा शायद नरक जा रहे हैं, वे मृत्युके बाद अपने-आपको वहीं पाते हैं; और इनके लिये वह सचमुच एक स्वर्ग या नरक होता है। और उन्हें वहांसे बाहर निकालकर किसी अधिक सच्चे, अधिक यथार्थ स्थानमें ले जाना अत्यंत कठिन होता है।

अतएव इन सब जगतोंके, इन सब असंख्य जगतोंके बारेमें कुछ मिनटोंमें बताना कठिन है। यह एक ऐसा ज्ञान है जिसे प्राप्त करनेके लिये बहुत वर्षोंके जीवंत अनुभवकी, बिलकुल व्यवस्थित अनुभवकी आवश्यकता होती है, और यह अनुभव प्राप्त करनेके लिये, जैसा कि मैं कह चुकी हूं, एक आंतरिक तैयारीकी आवश्यकता होती है जो इसकी हानिसे बचनेके लिये एकदम अपरिहार्य है।

हम सबको अपने स्वप्नोंमें इन सब जगतोंके साथ थोड़ा-सा संपर्क (बहुत आंशिक, बहुत छिछला संपर्क) प्राप्त करनेका अवसर मिलता है। और स्वयं स्वप्नोंका अध्ययन करनेके लिये बहुत समय और सावधानीकी आवश्यकता होती है, और इसके द्वारा अदृश्य जगतोंके गहरे अध्ययनकी तैयारी हो सकती है।

मैं समझती हूं कि आजकी रात इस विषयमें हम इतना ही सफलतापूर्वक कह सकते हैं।

(मौन)

अंतिम प्रश्न उस व्यक्तिका है जो समझता है कि मैंने कुछ हलके हृदयसे वादे किये हैं और, आखिर, मैंने अपने वचनको पूरा नहीं किया है! ... शायद मैंने मनुष्यजातिसे उससे ज्यादा आशा की थी जितना देनेमें वह समर्थ थी — उस विषयमें मैं कुछ नहीं जानती। संभवतः यह विशुद्धतः एक छिछली धारणा है।

मैंने कमोबेश यह कहा था कि जो लोग यहां आश्रममें हैं वे अतिमानसके अवतरणके विषयमें जानेंगे (उस विषयमें वे मुझे यह दोष नहीं दे सकते कि मैंने उन्हें उसके आनेसे पहले सूचना नहीं दी। मैंने उसे गूढ़ नहीं बनाया था!) और उसमें भाग बटायेंगे — निस्संदेह, मैंने उसमें भाग बटानेसे रोका नहीं है! इसके विपरीत, मैं समझती हूं कि मैंने प्रत्येक

व्यक्तिको खुले रहने और उसे ग्रहण करनेके लिये, और उससे लाभ उठानेकी कोशिश करनेके लिये प्रोत्साहित किया था।

और इसीलिये मैंने कहा था: "उस मुहूर्तसे रूपान्तरकारिणी कृपा-शक्ति अत्यंत फलप्रद ढंगसे विकीर्ण होगी।" अवश्य ही, मैं चुनौती देती हूं कि कोई भी व्यक्ति इससे विपरीत बात बताये!

परंतु यहांसे बात जरा और बढ़ना शुरू करती है...और मैंने कहा था: "और सौभाग्यवश अभीप्सुओंके लिये यह शुभ भविष्य (मैं नहीं समझती कि मैंने इसी ढंगसे कहा था, पर उससे कुछ नहीं आता-जाता) उनके लिये यह शुभ भविष्य उन सभी बाधाओंके बावजूद मूर्त रूप ग्रहण करेगा जिन्हें असंस्कृत मानव-प्रकृति इसके विरुद्ध खड़ा कर सकती है।" मैं अब भी यह आशा बताये हूं कि यह बात ऐसी ही होगी!

परंतु अब वह व्यक्ति, जो शायद जरा अधीर है, मुझसे यह कहता है: "बहुत सारे साधकोंके जीवनमें कठिनाइयां क्यों बढ़ गयी हैं?" (श्री माताजी वह कागज जोरसे मेजके ऊपर पटक देती हैं)। कौन कहता है कि इसका कारण यह नहीं है कि तुम (अब) अधिक सचेतन हो गये हो! कि तुम्हारी सभी कठिनाइयां पहलेसे विद्यमान थीं, केवल तुम जानते नहीं थे?...यदि तुम अधिक स्पष्टतासे देखते हो और ऐसी चीजें देखते हो जो बहुत सुहावनी नहीं हैं तो यह अतिमानसका दोष नहीं है, यह तुम्हारा दोष है! वह तुम्हें एक प्रकाश, एक आईना देता है जिसमें तुम अपने-आपको पहलेकी अपेक्षा अधिक अच्छे ढंगसे देख सकते हो, और तुम थोड़ा-सा घबड़ा गये हो क्योंकि यह चित्र सर्वदा बहुत सुहावना नहीं होता? परंतु मैं क्या कर सकती हूं?

और यह व्यक्ति अंतमें पूछता है: "क्या अतिमानसिक शक्ति उन समस्त बाधाओंके बावजूद यहां कार्य नहीं कर रही है जिन्हें असंस्कृत मानव-प्रकृति इसके विरुद्ध खड़ा करती है?" सचमुच, मैं आशा करती हूं कि यह कार्य कर रही है! क्योंकि अन्यथा, इस संबंधमें कुछ भी नहीं किया जा सकेगा, जगत् कभी भी सुसंस्कृत नहीं होगा। परंतु मैंने तुम्हें समझा दिया है कि यह तुम्हें क्यों अधिक कठिन प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि तुम अब कुछ अधिक सचेतन हो गये हो और उन चीजोंको देखते हो जिन्हें पहले नहीं देखते थे।

इसके अलावा एक और भी कारण है। जो 'शक्ति' कार्य कर रही है वह जब अधिक शक्तिशाली, अधिक आग्रहशील होती है तो स्वभावतः ही जो शक्ति बाधा देती है वह भी उतने ही प्रबल रूपमें विरोध करती है। और यदि (बस यहीं मुझे एक ऐसी बात कहनी पड़ेगी जो बहुत रुचिकर

नहीं होगी), यदि अपनी कठिनाइयों, अपनी छोटी-छोटी असुविधाओं, अपनी तुच्छ बेचैनियों, अपने "बड़े-बड़े" दोषोंके द्वारा सम्मोहित होनेके बदले, यदि इन सारी चीजोंसे सम्मोहित होनेके बदले, तुम दूसरे पक्षको देखनेकी कोशिश करते, यह देखनेकी चेष्टा करते कि कहांतक अतिमानसिक शक्ति अधिक प्रबल, भागवत कृपा-शक्ति अधिक सक्रिय, दिव्य सहायता अधिक ठोस हो गयी है, एक शब्दमें, यदि तुम थोड़ा कम अहंमन्य होते और अपने-आपपर कम एकाग्र होते तथा तुम्हारी दर्शन-शक्ति थोड़ी अधिक विशाल होती जिसमें तुम उन वस्तुओंको भी सम्मिलित कर सकते जो व्यक्तिगत रूपमें तुम्हारे साथ संबंध नहीं रखतीं तो शायद इस समस्याके बारेमें तुम्हारा दृष्टिकोण बदल जाता।

हां, तो बस यही चीज है जिसे करनेका परामर्श मैं तुम्हें दे रही हूं, और फिर जब तुम मेरे बताये हुए उपायके अनुसार कोशिश कर लोगे तब बादमें हम इस विषयकी चर्चा करेंगे। वह उपाय है: अपने विषयमें इतना अधिक मत सोचो।

बस यही है समस्या जिसमें तुम्हें बहुत रस है, परंतु निश्चय ही यही सबसे अधिक रसप्रद नहीं है।

१८ जुलाई, १९५६

> **मैं एक व्याख्या चाहती हूं, प्रिय माताजी। 'प्रार्थना और ध्यान' पुस्तकमें एक वाक्य है: "और सभी क्षण झूठे सपनोंकी तरह विलीन हो रहे हैं।"**
>
> (१९ जनवरी, १९१७)

वह एक अनुभव है। तुम जानते हो कि झूठा स्वप्न क्या होता है? ... मैंने "स्वप्न" शब्दको रातके स्वप्नोंके अर्थमें नहीं लिया था; मैंने स्वप्न शब्दको किसी ऐसी वस्तुके अर्थमें लिया है जिसे मनुष्य अपनी सत्ताके सर्वोत्तम तथा अत्यंत स्पष्ट-दर्शी भागमें निर्मित करता है, वह एक ऐसी वस्तु होती है जो एक आदर्श है जिसे मनुष्य सिद्ध होता हुआ देखना चाहता है, ऐसी चीज जो समस्त सृष्ट वस्तुओंसे अधिक ऊंची, अधिक सुन्दर, अधिक उदात्त, अधिक विस्मयजनक होती है। हमारी चेतनाके अंदर

कहींपर कल्पनाकी या सृजन करनेकी एक शक्ति है और हम कोई चीज निर्मित करते हैं ताकि वह संसिद्ध हो सके।

और फिर, किसी-न-किसी कारणसे, वह चीज संसिद्ध नहीं होती। या तो इसलिये कि संसार तैयार नहीं था या शायद वह रचना ही पर्याप्त रूपमें शक्तिशाली नहीं थी, पर वह संसिद्ध नहीं होती। और इसलिये क्षण बीत जाते हैं, निष्फल, अनुर्वर — बेकार, व्यर्थ, निस्सार — होते हैं, वे विलीन होते-से प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनका कोई परिणाम या कोई उपयोगिता नहीं होती।

और इसलिये मैंने कहा: "और सभी क्षण झूठे सपनोंकी तरह विलीन हो रहे हैं।"

(मौन)

मेरे पास दो प्रश्न आये हैं। एक तो है 'योग-समन्वय'के एक परिच्छेदके विषयमें जिसमें कहा गया है (श्रीमाताजी अपनी पुस्तक उठाती हैं):

> "कारण, वैयक्तिक प्रेमके पीछे, इसके अल्प मानवीय रूपसे ढका हुआ, एक रहस्य छुपा है जिसे मन पकड़ नहीं पाता। वह भगवान्‌के शरीरका रहस्य है, 'अनंत'के गुह्य रूपका मर्म है, जिसके पास हम हृदयके हर्षोन्माद तथा शुद्ध और उदात्त संवेदनकी तीव्रताके द्वारा ही पहुंच सकते हैं। इसका आकर्षण, जो दिव्य वंशी-बजैयाकी पुकार और 'सर्वसुन्दर'की मोहक प्रेरणा है, गुह्य प्रेम एवं स्पृहाके द्वारा ही हमें प्राप्त हो सकता है तथा हमें अधिकृत कर सकता है। यह प्रेम एवं स्पृहा अंतमें 'रूप' तथा 'रूपातीत'को एक कर देती है, 'आत्मा' तथा 'जड़-तत्त्व'को अभिन्न कर देती है। इसी एकत्वको 'प्रेमगत' भावना यहां 'अज्ञान'के अंधकारमें खोज रही है और इसीको वह तब प्राप्त भी कर लेती है जब वैयक्तिक मानवी प्रेम स्थूल जगत्‌में प्रकट हुए अंतर्यामी भगवान्‌के प्रेममें परिवर्तित हो जाता है।"
>
> ('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० १८४)

यह बात हमें कृष्ण और राधाके प्रतीकपर ले आती है।

कृष्ण वह दिव्य पुरुष हैं जिनको श्रीअरविंद यहां दिव्य वंशी-बजैया

कहते हैं, अर्थात्, अंतर्यामी और विश्वव्यापी भगवान् कहते हैं जो परम आकर्षण शक्ति हैं; और जीव, चैत्य व्यक्तित्व, यहां जिसे राधा कहा गया है, वंशी-बजैयाकी पुकारका उत्तर देता है। अतएव आज संध्या समय इसी राधा-चेतनाके विषयमें कुछ कहनेको मुझसे कहा गया है, अर्थात्, मूलतः उस तरीकेपर कहनेको कहा गया है जिससे व्यक्तिगत जीव भगवान्के आह्वानका उत्तर देता है।

सौभाग्यकी बात है कि ठीक-ठीक यही चीज श्रीअरविन्दने इस अध्यायमें लिखी है जिसे हमने अभी पढ़ा है। वास्तवमें यही है वह क्षमता जिससे मनुष्य एकमेव भागवत उपस्थितिके साथ तादात्म्य प्राप्त करके उस दिव्य उपस्थितिके प्रति संपूर्ण आत्म-दानके द्वारा सभी वस्तुओंमें विद्यमान आनंदको प्राप्त करता है। अतएव मैं नहीं समझती कि मैं इससे अधिक कुछ कहूंगी; जो कुछ मैं कह सकूंगी वह बस इस अनुभवकी परिपूर्णताका एक सीमित अथवा ह्रसित रूप ही होगा।

(कुछ देर चुप रहनेके बाद) इस चेतनामें प्रत्येक चीजको सतत आनंदमें परिवर्तित कर देनेकी सामर्थ्य होती है; क्योंकि वस्तुओंको उनके बेमेल बाह्य रूपोंमें देखनेकी जगह मनुष्य सर्वत्र केवल दिव्य उपस्थितिको, दिव्य संकल्प-शक्ति तथा भगवत्कृपाको देखता है; और प्रत्येक घटना, प्रत्येक तत्त्व, प्रत्येक परिस्थिति, प्रत्येक रूप एक ऐसे ढंगमें, ब्योरेमें बदल जाती है जिसके द्वारा मनुष्य अधिक घनिष्ठ और गभीर रूपमें भगवान्के अधिक समीप पहुंच सकता है। विरोध विलीन हो जाते हैं, कुरूपताएं विनष्ट हो जाती हैं; उसके बाद रह जाता है एक ऐसे प्रेमके अंदर दिव्य उपस्थितिका एकमात्र जाज्वल्यमान रूप जो सभी वस्तुओंमें चमक रहा है।

यह स्पष्ट है कि व्यावहारिक दृष्टिकोणसे मनुष्यको एक स्थिर और अचल-अटल उच्चतापर बने रहनेमें सक्षम होना चाहिये ताकि वह बहुत कुछ दुःखदायी परिणामोंसे स्पृष्ट हुए बिना उस स्थितिमें बना रहे। संभवतः यही कारण है कि जो लोग इस स्थितिमें रहना चाहते थे वे संसार-से विलग हो जाते थे और प्रकृति माताके द्वारा विश्वव्यापी स्पर्श प्राप्त करते थे......। मैं, मनुष्योंके प्रति कठोर होनेकी इच्छा न रखते हुए भी, यह अवश्य कहूंगी कि मानव-प्राणियोंके द्वारा घिरे रहनेकी अपेक्षा पेड़-पौधों, फूलों और यहांतक कि पशुओंके बीच रहकर चेतनाकी इस स्थितिको उपलब्ध करना अनंतगुना अधिक आसान है। यह अधिक आसान है पर अनिवार्य नहीं है। और यदि हम चाहें कि वह स्थिति यथार्थमें सर्वांगपूर्ण हो तो हमें उसे प्रत्येक क्षण, एकदम किसी भी व्यक्ति और किसी भी वस्तु-के सम्मुख, बनाये रखनेमें समर्थ होना होगा।

इस प्रकारकी अनगिनत गाथाएं या कहानियां प्रचलित हैं, जैसे प्रह्लाद'की कहानी जिसका सिनेमा अभी हालमें हमने देखा था, ऐसी कहानियां प्रचलित हैं जो चेतनाकी इस स्थितिको प्रकट करती हैं। और मुझे पूरा विश्वास ही नहीं है, बल्कि बिलकुल ठोस अनुभव भी प्राप्त हुआ है कि यदि किसी खतरेके या शत्रुके या किसी बुरी इच्छाके सम्मुख इस अवस्थामें बने रह सको और सभी वस्तुओंमें भगवान्‌को देख सको तो हां, उस खतरेका कोई प्रभाव नहीं होगा, बुरी इच्छा तुम्हारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकेगी, और शत्रु या तो परिवर्तित हो जायगा अथवा भाग खड़ा होगा। यह बात बिलकुल निश्चित है।

परंतु एक छोटी-सी बात मैं और जोड़ देना चाहूंगी जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। तुम्हें इस स्थिति या चेतनाको किसी मतलबसे पानेका प्रयास नहीं करना चाहिये, इसे इसलिये पानेकी चेष्टा करो कि यह एक संरक्षण है अथवा एक साहाय्य। तुम्हें इसे सच्चाईके साथ, सहजभावसे और निरंतर बनाये रखना चाहिये; यह तुम्हारी सत्ताका एक सामान्य, स्वाभाविक, प्रयासहीन तरीका होना चाहिये। तब यह स्थिति फलदायी होगी। परंतु तुम यदि कोई विशेष परिणाम प्राप्त करनेकी भावनाके साथ इस क्रियाका जरा-सा भी अनुकरण करनेकी कोशिश करोगे तो उसका कोई फल नहीं होगा। वह परिणाम बिलकुल ही नहीं प्राप्त होगा। और तब तुम अपने अज्ञानके वश शायद यह कहोगे : "ओह ! परंतु मुझसे कहा गया था, लेकिन

'हिन्दू पुराणोंके अनुसार प्रह्लाद राजा हिरण्यकशिपुका बेटा था जो कि भगवान् विष्णुका प्रचंड शत्रु था। राजाने अपने राज्यभरमें विष्णुकी पूजाकी मनाही कर दी थी, और जब उसने सुना कि उसका लड़का प्रह्लाद उसीके राजमहलमें उस देवताकी पूजा कर रहा है तो उसने अपने पुत्रको सांपोंके सामने फेंक दिया, परंतु उन्होंने उसे नहीं डसा, फिर उसने उसे एक पहाड़के शिखरपरसे समुद्रमें फेंकवा दिया, परंतु आश्चर्यजनक ढंगसे सागर उसे वापस लाया। क्रुद्ध राजाने जब अपने पुत्रसे पूछा कि किसने उसे बचाया तो बालकने उत्तर दिया : "विष्णु सर्वत्र विद्यमान हैं, सांपोंमें और सागरमें. . . . ।" यह ध्यान देने योग्य बात है कि स्वयं राजाको किन्हीं ऋषियोंके शापके कारण विष्णुके स्वर्गसे निकाल दिया गया था और ऋषियोंने उससे यह चुनाव करनेको कहा था कि तीन जन्म विष्णुका शत्रु बनकर पृथ्वीपर रहोगे या दस जन्म विष्णुका भक्त बनकर। और राजाने छोटे पथको ही पसंद किया था।

यह तो ऐसा नहीं है!" उसका कारण यह है कि तुम्हारे अंदर कहींपर कोई असच्चाई विद्यमान थी।

अन्यथा, यदि तुम वास्तवमें सच्चे होओ, अर्थात्, यदि यह एक सर्वांगपूर्ण और स्वाभाविक अनुभव हो तो यह सर्व-शक्तिमान होगा। यदि किसीकी आंखोंमें तुम ताको और वहां सहजभावसे भागवत उपस्थितिको विद्यमान देखो तो बुरी-से-बुरी क्रियाएं विलीन हो जायंगी, बुरी-से-बुरी बाधाएं दूर हो जायंगी; और एक अनंत हर्षकी ज्योति बल उठेगी, कभी-कभी दूसरे व्यक्तिमें और अपने अंदर भी। यदि अन्य व्यक्तिमें उसकी अशुभ इच्छाके अंदर ठीक एक नन्हीं-सी दरार होनेकी तनिक भी संभावना हो या हो जाय तो वह ज्योति चमक उठती है।

प्यारी माताजी, राधाके विषयमें, सभी वैष्णव कहानियोंमें (और बहुत-सी रहस्यवादी कहानियोंमें), सर्वदा आंसुओं और वेदनाका वर्णन होता है: "वह रोयी और भगवान् नहीं आये...। भगवान्ने उसे पीड़ा पहुंचायी...।" इसका क्या अर्थ है? वह तो सर्वांगपूर्ण पवित्रता थीं, फिर क्यों...?

वह, वह ठीक पथकी बात है! वह चीज तब होती है जब मनुष्य पथपर ही होता है, जब कि वह लक्ष्यपर नहीं पहुंचा होता। उन लोगोंमें यह बात है, वे इस बातपर बहुत अधिक जोर देते हैं, क्योंकि......क्योंकि वे मानवीय पथको लंबा करना चाहते हैं, महज इस कारण कि वे इस मानवीय मार्गका आनंद लेते हैं और, जैसा कि मैंने तुम्हें बताया था, यदि तुम जीवनमें रहना चाहते हो, जीवनके साथ संपर्क रखना चाहते हो तो अनुभवके अंदर एक प्रकारकी सापेक्षता बनी रहती है। वे इसे इस भांति चाहते हैं, — वे भगवान्के साथ झगड़ना चाहते हैं, वे विरह-वेदनाको महसूस करना चाहते हैं, ये चीजें उन्हें सुख प्रदान करती हैं! कारण, वे मानवीय चेतनामें बने रहते हैं और वहीं बने रहना चाहते हैं। जिस क्षण पूर्ण तादात्म्य प्राप्त हो जाता है, यह सब विलीन हो जाता है। अतएव, यह ऐसी बात है मानों मनुष्य नाटकके सुखसे वंचित हो जाता हो! मानों यह कोई ऐसी चीज हो जो जीवनसे चली गयी हो, अर्थात् उसकी भ्रम-भ्रांति। उन्हें अभी भी भ्रम-भ्रांतिकी एक पर्याप्त मात्राकी आवश्यकता होती है; वे परम सत्यके अंदर निर्विघ्न प्रवेश नहीं कर सकते।

वास्तवमें, विरहकी अनुभूति तुम्हारे अंदर न बनी रहे इसके लिये यह आवश्यक है कि तुम्हें अपने अंदर पूर्ण तादात्म्यकी उपलब्धि हो जाय; और

एक बार जब यह पूर्ण तादात्म्य उपलब्ध हो जाता है तो फिर कहानी खतम हो जाती है, फिर कहनेको और कुछ नहीं रह जाता।

इसी कारण यह कहा जाता है कि यदि संसारको, यदि सृष्टिको भगवान्‌के साथ अपना पूर्ण तादात्म्य प्राप्त हो जाय तो फिर कोई सृष्टि रह ही नहीं जायगी। यदि तुम इस पूर्ण तादात्म्यको प्राप्त कर लो जिसमें विभेदकी कोई संभावना ही न रह जाय और यदि समूचा विश्व इस पूर्ण तादात्म्यको प्राप्त कर ले जिसमें विभेदकी कोई संभावना ही न हो तो फिर उसके बाद कोई विश्व ही न रह जायगा। फिर तो वह प्रलयमें वापस लौट जाना होगा।

अतएव समाधान है आनंदको प्राप्त करना, इस लीलाके अंदर ही, इस आदान-प्रदानमें ही जिसमें हम देते भी हैं और पाते भी हैं, जिसमें हम दो प्रतीत होते हैं; और यही कारण है कि वे द्वैतको बनाये रखते हैं।

नहीं तो, तादात्म्यके अंदर, तादात्म्यके सिवा और कुछ नहीं रहता। यदि तादात्म्य पूर्ण और सर्वांगीण हो तो फिर विषय-रूपमें दृष्टिगोचर करनेके लिये कोई चीज रह ही नहीं जायगी।

परंतु प्रेमकी कहानी सुनाते समय मैंने कहींपर यह बात कही है। मैं समझती हूं कि इस विभेदपर किसीने ध्यान नहीं दिया। (ओह! मैं नहीं कह सकती), संभवतः बहुत थोड़े-से लोगोंने इस विभेदपर ध्यान दिया है। मैंने कहा था कि यह तादात्म्यके आनंदके भीतरसे आरंभ होता है, और सृष्टिके समूचे चक्रको पूरा करनेके बाद यह एकत्वके आनंदमें परिसमाप्त होता है।[1] हां, सुनो, यदि यह चक्र न होता तो एकत्वका आनंद भी कभी न होता, तब केवल तादात्म्यका आनंद ही रहा होता। यदि कोई चक्र ही न होता तो फिर कोई एकत्व भी न होता।

यह शायद थोड़ी सूक्ष्म बात है, पर यह एक तथ्य है; और संभवतः

---

[1]पीछे, किसीने माताजीसे पूछा: "भला यह "यह" क्या वस्तु है? विश्व है?" इसके उत्तरमें माताजीने कहा: 'मैंने जान-बूझकर "यह" कहा है, ताकि बात बिलकुल स्पष्ट न हो। मैं "सृष्टि" शब्द पसंद नहीं करती; इससे तुरत एक विशिष्ट सृष्टिकी धारणा उत्पन्न हो जाती है जो मानों शून्यसे निकली हो — परंतु वह तो स्वयं 'वही' है! और विश्व वह चीज नहीं है "जो प्रारंभ होती है"; विश्व तो पहले ही आरंभ हो चुका है। इसे भला कैसे कहा जाय? सच पूछो तो विश्व वह चीज नहीं है जो गतिका उपक्रम करती है! और यदि कोई यह कहे कि भगवान्‌ने विश्वका प्रारंभ किया तो यह भी मिथ्या है। ये सब इतने अधिक बंधे-बंधाये विचार हैं! यदि मैं

ठीक इसीलिये इस समूचे चक्रकी सृष्टि की गयी थी कि तादात्म्यका आनंद, मैं कह सकती हूं, एकत्वके आनंदमें पहुंचकर अपनी संपूर्णता और परिपूर्त्ति प्राप्त कर सके।

परंतु, यदि पूर्ण तादात्म्य प्राप्त हो तो फिर वहां कोई एकत्व नहीं हो सकता, एकत्वकी भावना नहीं रहती, क्योंकि फिर निश्चित रूपसे उसका मतलब होता है कि वह (एकत्व) पूर्ण तादात्म्यसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है। सच पूछो तो पूर्ण एकत्व हो सकता है पर कोई पूर्ण तादात्म्य नहीं हो सकता।

शब्दोंके द्वारा और अपने मस्तिष्कके द्वारा इसे समझनेका प्रयत्न मत करो, क्योंकि ये दो शब्द एकदम भिन्न-भिन्न अनुभवोंको व्यक्त करते हैं। और फिर भी परिणाम एक ही है, पर एक तो उस सबसे भरपूर है जो दूसरेमें नहीं था, उसमें संपूर्ण अनुभवका — संपूर्ण विराट् अनुभवका ऐश्वर्य भरा है।

यदि एकत्वका अनुभव सचेतन रूपमें प्राप्त होता है, तो फिर कुछ योगियोंमें सामान्य लोगोंकी तरह सभी प्रकारके भावावेग क्यों बने रहते हैं; वे रोते और विलाप करते हैं?

ऐसा शायद इसलिये होता है कि एकत्व निरंतर नहीं बना रहता।

परंतु राधा तो अपनी अभीप्सामें सच्ची हैं।

कहूं : "भगवान्‌ने विश्वको आरंभ किया", तो हम तुरत एक सव्यक्तिक भगवान्‌को देखते हैं जो विश्वका आरंभ करनेका निर्णय करते हैं—पर बात ऐसी नहीं है!

'मैंने वह बात 'प्रेम'के विषयमें, 'प्रेम'की अभिव्यक्तिके बारेमें कही थी जो कि परात्पर आनंद है। श्रीअरविन्दने भी यही कहा है : सत् और असत्‌के परे एक चीज है जो है, जो परम प्रेमके रूपमें अभिव्यक्त होती है, और जो युगपत् सत् और असत् है। और 'उस वस्तु'की प्रथम अभिव्यक्ति है तादात्म्यका आनंद — यथार्थतः स्वयं तादात्म्य ही अपने-आपको आनंदके रूपमें जानता है, और फिर, यह समस्त अभिव्यक्ति और 'प्रेम'द्वारा गृहीत समस्त रूपोंका चक्कर काटकर अंतमें मिलनद्वारा प्राप्त 'एकत्व'में वापस आ जाता है और यह चीज उस आनंदमें मिलनका आनंद जोड़ देती है, जो, यदि यह चक्कर न काटा गया होता तो कभी अस्तित्वमें न आता।'

यदि मुझसे पूछो तो मैं समझती हूं कि यह सब केवल साहित्य है, मेरे बच्चो! पर जो हो, यह निश्चय ही इसलिये है कि मानव-जीवन अभी जैसा है, उसका एक कलात्मक चित्र तुम्हारे सामने प्रस्तुत किया जाय!

वैष्णव धर्म इसीपर आधारित है।

परंतु ये लोग प्राण-जगत्‌में निवास करते हैं और उसे पसंद करते हैं। ओह! हम उस विषयमें बात नहीं कर सकते, क्योंकि. . . .।

अच्छा! मेरे पास एक दूसरा प्रश्न है, बहुत छोटा प्रश्न है, पर रोचकतासे खाली नहीं है।

यह प्रश्न किसी ऐसे व्यक्तिका है जो 'अतिमानस'को ग्रहण करनेके लिये अपने-आपको तैयार करनेका प्रयत्न कर रहा है, और इस तैयारीमें अन्य चीजोंके साथ-साथ आते हैं प्रार्थना और ध्यान। और फिर उसमें वह चिन्तनशीलता है जो निश्छल है और जिसे प्रकट करनेका साहस बहुत थोड़े लोगोंमें होता है। वह प्रश्न इस प्रकार है:

> **"मैं बड़े उत्साह और तीव्रताके साथ ध्यान और प्रार्थना करना आरंभ करता हूं, मेरी अभीप्सा गहरी होती है और मेरी प्रार्थना भक्तिसे भरी होती है; और फिर, कुछ समयके बाद (कभी तो शीघ्र ही और कभी देरसे), अभीप्सा यंत्रवत् और प्रार्थना शुद्ध शाब्दिक बन जाती है। मुझे क्या करना चाहिये?**

यह कोई व्यक्तिगत स्थिति नहीं है, बिलकुल सार्वजनीन है। मैं पहले ही यह बात कई बार कह चुकी हूं (पर फिर भी, चलते-चलाते ही कही थी) कि जो लोग रोज घंटों ध्यान करनेका दिखावा करते हैं और सारा दिन प्रार्थनामें बिताते हैं, मुझे ऐसा लगता है कि तीन-चौथाई समयतक वह पूर्णत: यंत्रवत् ही चलता है; कहनेका मतलब, उसमें तनिक भी सच्चाई नहीं रह जाती। कारण, मानव-प्रकृति ऐसी चीजके लिये नहीं बनी है और मानव-मन उस ढंगसे नहीं निर्मित हुआ है।

एकाग्र होने और ध्यान करनेके लिये मनुष्यको एक प्रकारकी कसरत करनी चाहिये जिसे मैं एकाग्रताका "मानसिक मांसपेशी-निर्माण" कह सकती हूं। निश्चय ही मनुष्यको प्रयास करना होगा — जैसे कि मनुष्य, उदाहरणार्थ, वजन उठानेके लिये अपनी मांसपेशियोंसे प्रयास करता है — यदि तुम चाहो कि तुम्हारी एकाग्रता सच्ची हो, नकली न हो।

यही बात प्रार्थनाके आवेगकी है : एकाएक एक लौ जल उठती है, तुम एक उत्साहपूर्ण आवेग, एक महान् तीव्रता महसूस करते हो और उसे शब्दोंमें व्यक्त करते हो जो, सच पूछो तो, सहज-स्फूर्त होना चाहिये। इसे सीधे हृदयसे, तीव्रताके साथ, मस्तिष्कमेंसे गुजरे बिना आना चाहिये। वही है प्रार्थना। यदि वे तुम्हारे मस्तिष्कमें धक्कम-धक्का करनेवाले केवल शब्द हों तो फिर वह कोई प्रार्थना बिलकुल नहीं रह जाती। हां, यदि तुम आगमें अधिक ईंधन न डालो तो कुछ समय बाद वह बुझ जाती है। यदि तुम अपनी मांसपेशियोंको विश्राम करनेका समय न दो, यदि तुम अपनी गतिविधियोंको कम न करो तो तुम्हारी मांसपेशियां श्रम करनेकी क्षमता खो देंगी। अतएव यह बिलकुल स्वाभाविक है, और यहांतक कि अनिवार्य है, कि कुछ खास समयके बाद क्रियाकी तीव्रता नष्ट हो जाती है। स्वभावतः, जो वजन उठानेका आदी है वह उसकी अपेक्षा जिसने कभी भार नहीं उठाया अधिक देरतक उठाए रह सकता है। बस, वही बात है; जिसे एकाग्र होनेका अभ्यास है वह उस व्यक्तिकी अपेक्षा बहुत अधिक देरतक एकाग्र हो सकता है जिसे उसका अभ्यास नहीं है। परंतु प्रत्येक व्यक्तिके लिये एक क्षण आता है जब उसे बंद कर देना पड़ता है, विश्राम करना पड़ता है ताकि फिर दुबारा आरंभ किया जाय। परिणामतः, चाहे तुरत हो या कुछ क्षण बाद हो या कई घंटों बाद हो, यदि क्रिया यंत्रवत् बन जाती है तो इसका मतलब है कि तुमने ढील दे दी है और अब तुम्हें यह बहाना करनेकी आवश्यकता नहीं कि तुम ध्यान कर रहे हो। उससे अधिक अच्छा यह है कि तब कोई उपयोगी कार्य किया जाय।

उदाहरणार्थ, यदि तुम मानसिक तनावको संतुलित करनेके लिये थोड़ी-सी कसरत करनेका इन्तजाम न कर सको तो तुम कुछ पढ़ सकते या जो कुछ तुम्हारे साथ हुआ था उसे लिखनेकी कोशिश कर सकते हो, तुम कुछ चीजें शब्दोंमें व्यक्त कर सकते हो। तो वह चीज एक प्रकारकी विश्रांति, आवश्यक विश्रांति उत्पन्न करती है। परंतु ध्यानका लंबा समय केवल सापेक्षिक महत्त्व रखता है; उसकी लंबाई महज यह सूचित करती है कि तुम्हें उस क्रियाका कितना अधिक अभ्यास है।

निस्संदेह, ध्यानका काल बहुत अधिक बढ़ सकता है, पर सर्वदा ही उसकी एक सीमा होती है; और जब वह सीमा आ जाती है तो मनुष्यको बंद कर देना चाहिये, बस यही बात है। यह कोई कपट नहीं है, यह अक्षमता है। कपट तो वह है जब तुम ध्यान न करते हुए भी ध्यान

करनेका दिखावा करते हो, अथवा उन बहुतेरे लोगोंकी तरह प्रार्थना करते हो जो मंदिर या चर्चमें आकर धार्मिक विधियोंका पालन करते और अपनी प्रार्थनाएं उसी प्रकार दुहराते हैं जैसे कोई कम या अधिक कंठस्थ पाठको दुहराता है। तब वह न तो कोई प्रार्थना होती है और न ध्यान, वह महज एक प्रकारका प्रदर्शन होता है। वह बात मजेदार नहीं है।

कुछ क्षण पहले आपने कहा कि यदि तुम स्वाभाविक रूपसे अपने शत्रुके अंदर भगवान्‌को देखो तो वह शत्रु परिवर्तित हो जाता है; कहा है न?

आवश्यक रूपसे नहीं! मैंने कहा : या तो वह परिवर्तित हो जायगा या भाग जायगा। मैंने यह नहीं कहा कि वह सर्वदा परिवर्तित हो जायगा! मैंने कहा : यदि उसकी अशुभ इच्छाके अंदर अत्यंत नन्हीं-सी दरार भी होगी तो वह चीज प्रवेश कर जायगी; और तब वह एकाएक परिवर्तित हो सकता है, या कम-से-कम कार्य करनेमें असमर्थ हो जायगा। परंतु वह चीज यदि न हो तो हां, वह भाग जायगा। परंतु वह कुछ भी कर नही सकेगा। मेरा जोर इस बातपर है कि वह कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं होगा; और यदि वह कुछ कर पाये तो यह इस बातका सूचक है कि चेतनाकी जिस स्थितिमें तुम उस समय थे वह पर्याप्त रूपमें शुद्ध और पूर्ण नहीं थी।

तब भला भगवान्‌के इतने सारे शत्रु क्यों हैं, जब कि भगवान् अपने-आपको अपने शत्रुओंमें देख सकते हैं?

मैं तुम्हारे प्रश्नको पूरी तरह नहीं समझ सकी।

भगवान्‌के इतने सारे शत्रु क्यों हैं?

भगवान्‌के इतने सारे शत्रु?

ये विरोधी शक्तियां।

परंतु इतने सारे पूर्णतः अचेतन मनुष्य क्यों हैं? मुझे तो यह और भी अधिक

आश्चर्यजनक प्रतीत होता है! क्योंकि यह बिलकुल सरल रूपमें अचेतनताका एक कार्य है: भगवान्‌का शत्रु होना अचेतन होनेके सिवा और कुछ नहीं है।

> **(एक अध्यापक) उसके कहनेका मतलब यह है कि उन सबको परिवर्तित हो जाना चाहिये था क्योंकि भगवान् अपने-आपको उनमें देख सकते हैं...।**

परंतु क्षमा करना, भगवान् कहां? मैं तुम्हारा तर्क नहीं समझ रही हूं।

> **जब कोई आदमी भगवान्‌का शत्रु हो...**

परंतु आखिर, मान लो कि लाखोंमें कोई एक आदमी है जिसने अपने अंदर इस चेतनाको उपलब्ध किया है। यह संभव है कि वह अपने इर्द-गिर्द के लोगोंपर प्रभाव रखता है—और फिर भी मैंने यह सावधानी बरती थी और कहा था कि इस स्थितिके पूर्णतः संसिद्ध होनेके लिये, सामान्यतया एकांतमें रहनेकी आवश्यकता होती है, अन्यथा संसारमें बहुत अधिक विरोधी वस्तुएं हैं, बहुत सारी कठोर भौतिक आवश्यकताएं हैं जो इसका विरोध करती हैं ताकि तुम उस स्थितिको उसकी चरम पूर्णतामें प्राप्त न कर सको। परंतु तुम यदि उसे एकदम पूर्ण रूपमें उपलब्ध कर लो तो तुम्हारे चारों ओरकी प्रत्येक वस्तु अवश्य ही दिव्य बन जायगी।

और इसलिये? मैं तुम्हारा तर्क भी नहीं समझ रही हूं।

> **(अध्यापक) वह भगवान्‌को प्रत्यक्ष रूप दे रहा था और सोच रहा था: जब कोई भगवान्‌का शत्रु है तो वह एक दिव्य रूपका शत्रु है, और यह दिव्य रूप अपने शत्रुके अंदर भगवान्‌को देखता है, फलतः शत्रु अवश्यमेव रूपांतरित हो जायगा।**

ना, मैं अभी भी इसे ठीक पकड़ नहीं पायी!

> **(दूसरा शिष्य) प्रिय माताजी, यह बिलकुल सही तो है पर ऐसी बात कहीं है नहीं! (हंसी) वह जो कुछ कह रहा है वैसा कहीं नहीं है।**

नहीं, मैं स्वीकार करती हूं कि मैं तुम्हारी बात बिलकुल नही समझ रही हूं, न उसकी, न तुम्हारी, न तुम्हारी! (हंसी) हे भगवान्! तुम सब क्या कहना चाहते हो!

जब कोई व्यक्ति भगवान्‌का शत्रु है तो वह किस चीजका शत्रु है?

ओह!...वह निर्भर करता है संपूर्णतः प्रत्येक व्यक्तिपर। सामान्यतया मनुष्य भगवान्-संबंधी अपनी निजी भावनाका शत्रु होता है, और यही कारण है कि ऐसा कहा जाता है कि बहुधा सबसे बड़ा भक्त वह होता है जो भगवान्‌को अस्वीकार करता है। कारण, यदि उसके भीतर यह दृढ़ विश्वास न हो कि भगवान्‌का अस्तित्व है तो वह कभी उनको अस्वीकार करनेका कष्ट नहीं उठायेगा। और यह चीज और भी अधिक प्रबल होती है जब कोई व्यक्ति भगवान्‌से घृणा करता है, क्योंकि, यदि उसकी सत्ताके अंदर कहींपर अत्यंत गहराईमें भगवान्‌के अस्तित्वके विषयमें दृढ़ निश्चय न हो तो वह भला उनसे घृणा कैसे कर सकता है?

इस बातको यहां भारतमें एक रूपकके रूपमें प्रकट किया गया है; यहां ऐसे लोगोंकी बहुत-सी कहानियां प्रचलित हैं जिन्होंने भागवत सद्-वस्तुके साथ एकात्म होना चाहा और भगवान्‌का शत्रु बनना पसंद किया, क्योंकि शत्रुका पथ भक्तके पथकी अपेक्षा अधिक सीधा है। ये कहानियां यहां बहुत प्रसिद्ध हैं, सभी प्राचीन आख्यान और भारतीय पुराण इसकी चर्चा करते हैं। हां, यह बात महज इस तथ्यको प्रकट करती है कि जिस व्यक्तिने कभी इस समस्याको अपने सामने नहीं रखा है और भगवान्‌के अस्तित्वके विषयमें कभी थोड़ा भी विचार नहीं किया है वह निश्चय ही उस व्यक्तिकी अपेक्षा भगवान्‌से अधिक दूर है जो उनसे घृणा करता या उनको अस्वीकार करता है। कारण, मनुष्य उस वस्तुको कभी अस्वीकार नहीं कर सकता जिसके विषयमें उसने कभी विचार न किया हो।

जब कोई व्यक्ति यह कहता या लिखता है: "मैं घोषणा करता हूं, मैं विश्वास दिलाता हूं, मेरे सभी अनुभव यह सिद्ध करते हैं कि भगवान् नामकी कोई वस्तु नहीं है, इस तरहकी किसी वस्तुका अस्तित्व नहीं है, यह महज मनुष्यकी एक कल्पना है, मनुष्यकी सृष्टि है...", तो इसका मतलब है कि वह इस समस्यापर अनेक बार विचार कर चुका है और उसके अंदरकी कोई चीज इस समस्यामें बहुत अधिक रस लेती है।

और जब कोई व्यक्ति भगवान्‌से बहुत घृणा करता है तो वहां यह

बात और भी अधिक स्पष्ट होती है : मनुष्य किसी भ्रम-भ्रांतिका शत्रु नहीं हो सकता।

अतएव (उस शिष्यको संबोधित करते हुए) तुम्हारा प्रश्न बिलकुल नहीं ठहरता। कारण, संभवत:, अंततोगत्वा, यह भी मिलनका एक रूप है जिसका अपना आनंद हो सकता है। कभी-कभी हम लोग एक हलके स्वरमें कहते हैं : "मेरा घनिष्ठ शत्रु", और यह शायद एकदम गलत नहीं है। कदाचित् अज्ञानकी अपेक्षा घृणाके अंदर कहीं अधिक घनिष्ठता है। मनुष्य जिस चीजको नहीं जानता उसकी अपेक्षा जिस चीजसे वह घृणा करता है उसके अधिक नजदीक होता है।

इसका यह अर्थ नहीं कि मैं घृणाका समर्थन करती हूं! मैं ऐसी बात नहीं कह रही हूं, बल्कि बहुत बार ऐसा हुआ है कि मैंने एक पूर्णत: अचेतन और जड़ स्थितिकी अपेक्षा क्रोध और घृणाकी दृष्टि या अभिव्यक्तिके अंदर कहीं अधिक प्रेम देखा है। वह विकृत, विरूप, भ्रष्ट होता है, हम उसे जो मर्जी कह लें, पर वहां कोई चीज जीवंत होती है, वहां एक लौ होती है।

स्पष्ट ही, अचेतनता और अचलताके अंदर भी, पत्थरके पूर्ण तमस्— बाह्यत:—के अंदर भी, हमें एक चमचमाती ज्योति, भागवत उपस्थितिकी ज्योति मिल सकती है। परंतु, तब, वह वह स्थिति होगी जिसकी हम अभी-अभी चर्चा कर रहे थे : हम उन्हें सर्वत्र देखते हैं, सर्वत्र उनसे मिलते हैं, और एक इतने बहुविध और अद्भुत-सामंजस्यपूर्ण ढंगसे देखते और मिलते हैं कि ये सब कठिनाइयां विलीन हो जाती हैं।

(मौन)

सच पूछो तो, व्यावहारिक ढंगसे, इस समस्याको इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता था। यदि भगवान्ने अपनी सृष्टिको क्रमवर्द्धनशील नहीं बनाया होता तो एकदम प्रारंभसे ही एक सुन्दर, अचल और अपरिवर्तनशील स्थिति विद्यमान होती। परंतु जिस क्षण...। मैं कैसे उसको समझाऊं मैं नहीं जानती। चूंकि विश्वको प्रगतिशील होना था, ठीक इसीलिये पूर्ण तादात्म्यंको, इस तादात्म्यके आनंदको, इस तादात्म्यकी पूर्ण चेतनाको आवश्यक रूपसे ढक देना पड़ा, अन्यथा कोई भी वस्तु कभी भी सचल न हुई होती।

हम एक स्थिर विश्वकी कल्पना कर सकते हैं। हम एक ऐसी वस्तुकी कल्पना कर सकते हैं जो "संपूर्ण एक समान और एक ही कालमें"

हो। अर्थात् वहां कोई काल नहीं है, केवल एक प्रकारका प्रत्यक्ष दर्शन है—पर क्रमशः खिलना नहीं है जिसमें वस्तुएं एक विशिष्ट छन्दोमय गतिके साथ, एकके-बाद-एक क्रमशः अभिव्यक्त होती हों; अर्थात् वहां एक ही समयमें, एक ही साथ सभी वस्तुएं अभिव्यक्त हों। उस समय सभी वस्तुएं एक आनंदपूर्ण स्थितिमें होंगी और वहां ऐसा कोई विश्व नहीं होगा जैसा कि हम अभी देखते हैं, वहां क्रमशः प्राकटयके तत्त्वका अभाव होगा जो उस वस्तुका निर्माण करता है जिसमें हम इस समय रह रहे हैं।

परंतु एक बार जब हम इस सिद्धांतको स्वीकार कर लेते हैं कि विश्व क्रमवर्द्धनशील है, प्राकटच क्रमशः होता है, तो प्रत्येक वस्तुको एक साथ और एक ही जैसा देखनेके बदले, हमारा देखना भी क्रमवर्द्धनशील होता है, तब प्रत्येक वस्तु उसके अंदर होती है। और तब आवश्यक रूपसे, भावी परिपूर्णता जो कुछ पहले था उससे उच्चतर किसी वस्तुके रूपमें अनुभूत होगी। जिस उपलब्धिकी ओर जाना आवश्यक है वह अवश्य ही पहलेकी प्राप्त उपलब्धिसे अधिक श्रेष्ठ प्रतीत होगी।

और यह बात प्रत्येक चीजके लिये दरवाजा खोल देती है। सभी संभावनाओंका द्वार खुल जाता है।

श्रीअरविंदने प्रायः ही यह बात कही है; जो वस्तु एक विशेष कालमें विश्वके अंदर सुन्दर, शुभ, यहांतक कि पूर्ण, और अद्‌भुत तथा दिव्य प्रतीत होती थी वह अब वैसी नहीं प्रतीत हो सकती। और, जो कुछ हमें इस समय सुन्दर, अद्‌भुत, दिव्य और पूर्ण प्रतीत होता है, वह कुछ समय बाद धुंधला मालूम होगा। और इसी भांति, जो देवता एक विशेष कालमें सर्वशक्तिमान थे वे उन देवताओंकी अपेक्षा निम्नतर स्तरके हो जायेंगे जो कि भविष्यमें अभिव्यक्त होंगे।

और यह इस बातका चिह्न है कि विश्व प्रगतिशील है।

यह बात कही जा चुकी है, यह बार-बार कही जा चुकी है, पर, जब कभी उन सब महान् युगोंकी चर्चा होती है तो मनुष्य यह नहीं समझते, ठीक है न, कि हम उस वैश्व प्रगतिको मानवीय माप-दण्डके अनुसार घटा देते हैं।

यही कारण है कि जब कोई उस स्थितिमें प्रवेश करता है जिसमें कि सब कुछ मानों पूर्णतः दिव्य प्रतीत होता है तो वह अवश्य ही उसके साथ-ही-साथ वैश्व गतिके बाहर चला जाता है। यही चीज है जिसे बुद्ध और शंकर जैसे लोगोंने समझा था। उन्होंने अपने निजी ढंगसे यह व्यक्त किया था कि यदि कोई उस स्थितिको प्राप्त कर ले जिसमें प्रत्येक वस्तु तुम्हें पूर्णतः दिव्य अथवा पूर्णतः पूर्ण प्रतीत होती है तो तुम निश्चित रूपसे वैश्व

गतिधारासे बाहर चले जाते हो और 'अनभिव्यक्त'के अंदर प्रवेश कर जाते हो।

यह बिलकुल सही है। यह बात ऐसी ही है।

वे लोग पूरी तरह जीवनसे, जैसा कि वह था उससे, असंतुष्ट थे और इस बातकी उन्हें तनिक भी आशा नहीं थी कि वह इससे अच्छा हो सकता है; अतएव उनके लिये यही आदर्श-समाधान था। मैं इसे पलायन कहती हूं परंतु फिर भी...। यह इतना आसान नहीं है! परंतु उनके लिये यही आदर्श समाधान था—एक हदतक, क्योंकि... संभवतः उसके बाद एक और पग आगे बढ़ाया जा सकता है।

परंतु यह एक तथ्य है। यदि कोई विश्वमें बना रहना चाहे तो उसे प्रगतिके सिद्धांतको अवश्य स्वीकार करना होगा, क्योंकि यह एक प्रगतिशील विश्व है। यदि तुम कोई निष्क्रिय पूर्णता प्राप्त करना चाहते हो तो तुम बलात् विश्वसे बाहर फेंक दिये जाओगे, कारण, तब तुम्हारा उसके मूल-तत्त्वके साथ कोई संबंध नहीं रहेगा।

यह एक प्रकारका चुनाव है।

श्रीअरविंद बहुधा यह कहा करते थे: "जो लोग बाहर निकल जानेका चुनाव करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि वे उसके साथ-ही-साथ उस चेतनाको भी खो देंगे जिससे वे अपने चुनावके लिये अपने-आपको बधाई दे सकते!" वे यह बात भूल जाते हैं।

२५ जुलाई, १९५६

> "यह कहा जा सकता है कि दिव्य प्रेम और पूजाके पूर्ण कर्ममें तीन अवयव होते हैं जो एक ही अखंड अवयवीकी अभिव्यक्तियां होते हैं,—कर्ममें भगवान्‌की क्रियात्मक पूजा, कर्मके बाह्य रूपमें किसी दिव्य दृष्टि और जिज्ञासाको या भगवान्‌के साथके किसी संबंधको प्रकट करनेवाला पूजा-प्रतीक, और तीसरा हृदय, अंतरात्मा और आत्मामें एकत्व या एकत्वानुभूतिके लिये आंतरिक परानुरक्ति और अतिस्पृहा।"
>
> ('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० १८७)

मैं इसके प्रथम दो अंशोंको अच्छी तरह नहीं समझ पाया।

कर्मका एक विशुद्ध भौतिक रूप, पूजा-पद्धतियोंके उन रूपोंके जैसा एक रूप होता है जिनमें कोई विशेष भाव-भंगिमा, कोई विशेष क्रिया पूजा-भावको अभिव्यक्त करनेके लिये व्यवहृत होती है। वह शुद्ध रूपमें भौतिक होती है, उदाहरणार्थ, धूपबत्ती जलाना, पूजा-सामग्रीको सजाकर रखना, यहांतक कि मंदिरकी देख-भाल करना, मूर्त्तिको सजाना आदि ये सब विशुद्ध भौतिक कार्य।

दूसरा भाग होता है एक प्रकारका मानसिक पूजा-भाव जो कर्मको प्रतीक बना देता है। तब मनुष्य धूपबत्ती जलानेसे ही संतुष्ट नहीं हो जाता, बल्कि धूपबत्ती जलाते समय वह उसे प्रतीकात्मक बना देता है जो, उदाहरणार्थ, शरीरमें जलती हुई अभीप्साका अथवा आत्म-विलोपनके लिये, अग्निके शुद्धीकरणके लिये किये गये आत्म-दानका प्रतीक होता है। कहनेका मतलब, पहले तो कर्म होता है, फिर इस कर्मका प्रतीक, और जो कुछ किया जाता है उसकी प्रतीकात्मक समझ होती है।

और अंतमें, इन दोनोंके पीछे, एकत्वकी अभीप्सा होती है; कि यह सब, ये कर्म तथा इनके साथ संयुक्त प्रतीक भगवान्‌के क्रमशः अधिकाधिक समीप जाने तथा अपने-आपको उनके साथ युक्त होनेके उपयुक्त बनानेके साधन मात्र बनें।

अतएव, कर्मको पूर्ण बनानेके लिये ये तीन चीजें अवश्य होनी चाहिये: अर्थात् कोई शुद्ध भौतिक वस्तु, कोई मानसिक वस्तु, और कोई चैत्य वस्तु, चैत्य अभीप्सा। यदि तीनोंमेंसे बाकी दोनोंके बिना कोई एक वस्तु हो तो वह कर्म अपूर्ण होगा। सामान्यतया बहुत विरल प्रसंगोंमें ही ये तीनों सचेतन रूपमें संयुक्त होते हैं। ये उन्हीं प्राणियोंमें पायी जाती हैं जो अपनी सच्चाई और आत्म-दानमें असामान्य होते हैं। उन लोगोंकी संपूर्ण सत्ता, अपने सभी भागोंमें, उस कर्ममें भाग लेती है।

(मौन)

(श्रीमाताजी लिखित प्रश्नोंका एक बंडल दिखाती हैं।)

हां तो, एक समय था जब हमें प्रश्न ढूंढनेमें थोड़ी कठिनाई होती थी; अब हम दूसरे छोरपर पहुंच गये हैं! मेरे पास इतने प्रश्न हैं कि यदि उन सबका उत्तर देना हो तो हम लोग कम-से-कम आधी राततक व्यस्त रह सकते हैं! अतएव मुझे बाध्य होकर चुनाव करना पड़ रहा है...।

यहां एक प्रश्न है जो एक साथ ही बहुत सामान्य और बहुत व्यावहारिक है और मुझे बिलकुल उपयुक्त प्रतीत होता है।

मैंने (बहुत अधिक बार, मुझे कहना ही होगा) यह देखा है कि तुम लोगोंमेंसे अधिकतर मैं जो कुछ कहती हूं उसे नहीं सुनते, यहांतक कि बहुत बार एक प्रश्नका मैं बहुत ब्योरेके साथ उत्तर देती हूं और तुरत उसके बाद ही तुममेंसे कोई-न-कोई मुझसे ठीक-ठीक वही प्रश्न पूछ बैठता है, मानों मैंने उससे पूर्व कुछ नहीं कहा था! और इस बातकी व्याख्या दी जा सकती है: प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने विचारमें बंद रहता है, जैसा कि बहुत बार, मैं समझती हूं, तुम स्कूलमें करनेके अभ्यासी हो जहां तुम स्वयं अपने-आप अपना पाठ दुहराते हो यदि तुम सावधान और परिश्रमी हो, और जो कुछ अध्यापक पूछता है और दूसरे छात्र उत्तर देते हैं उसे नहीं सुनते, तो इस तरह श्रेणीमें अकेले न होनेके लाभका तीन-चौथाई भाग खो देते हो। यहां, बात कहीं अधिक गंभीर है, क्योंकि मैं कभी किसी एक व्यक्तिको, व्यक्तिगत रूपसे उत्तर नहीं देती, मैं प्रत्येक व्यक्तिके उससे लाभ उठानेके लिये उत्तर देती हूं और यदि, सुननेके बदले, तुम वही सोचना जारी रखो जो तुम्हारे मस्तिष्कमें है तो यह स्पष्ट है कि तुम कुछ सीखनेके सुअवसरको खो देते हो। बस, यही है पहली बात। यदि तुम यहां हो तो, हां, सबसे पहले सुनो, और किसी बातके बारेमें मत सोचो...। परंतु उतना ही पर्याप्त नहीं है, यह तो बस प्रारंभ मात्र है: वास्तवमें सुननेका एक अच्छा तरीका है और सुनने-के बहुत-से बुरे तरीके हैं।

मैं नहीं जानती कि तुम लोगोंमें कुछ लोग संगीतके प्रेमी हैं या नहीं जो यह जानना चाहते हों कि उसे कैसे सुनना चाहिये। यदि तुम संगीत सुनना चाहो तो तुम्हें अपने मस्तकमें पूर्ण नीरवता पैदा करनी चाहिये, एक भी विचारको न तो स्वीकार करना चाहिये और न उसका अनुसरण करना चाहिये, पूर्णतः एकाग्र हो जाना चाहिये, एक प्रकारके पर्देके जैसा बन जाना चाहिये जो, बिना हिले-डुले या शोर किये, संगीतके स्पंदनको ग्रहण करता है। यही एकमात्र पथ है, दूसरा कोई पथ नहीं है, संगीत सुनने और उसे समझनेका एकमात्र पथ यही है, यदि तुम अपने चिंतनकी क्रियाओं और तरंगोंको जरा भी अपने अंदर आने दो तो संगीतका सारा मूल्य ही खो दोगे। और ध्यान दो, जो शिक्षा बिल-कुल साधारण, भौतिक प्रकारकी नहीं है बल्कि अपने अंदर किसी अधिक गहरी चीजको खोलनेकी मांग करती है उसे समझनेके लिये नीरवताकी आवश्यकता और भी अधिक है। यदि जो कुछ तुमसे कहा जाता

है उसे सुननेके स्थानपर तुम विचारपर उछल-कूद आरंभ कर दो ताकि तुम दूसरा प्रश्न पूछ सको अथवा यहांतक कि अधिक समझनेके झूठे बहानेके वश कथित विषयपर तर्क-वितर्क करो तो जो कुछ तुमसे कहा गया है वह धुएंकी तरह कोई प्रभाव छोड़े बिना निकल जायगा।

उसी तरह, जब तुम्हें कोई अनुभव होता है, तुम्हें अनुभवके समय, यह जाननेकी कोशिश कभी नहीं करनी चाहिये कि वह क्या है, क्योंकि वैसा करनेपर वह तुरत विलीन हो जाता है अथवा वह विकृत हो जाता है और उसकी पवित्रता नष्ट हो जाती है। ठीक उसी तरह, यदि तुम चाहो कि कोई आध्यात्मिक शिक्षा तुम्हारे अंदर प्रवेश करे तो तुम्हें अपने मस्तकमें पूर्ण रूपसे **अचल-अटल** बने रहना चाहिये, एक आईनेकी तरह स्थिर बने रहना चाहिये जो ज्योतिकी किरणको केवल प्रतिबिंबित ही नहीं करता बल्कि अपने अंदर समा लेता है; उसे अपने अंदर घुसने देता और भीतर गहराईमें चले जाने देता है, ताकि तुम्हारी चेतनाकी गहराई-मेंसे वह, एक-न-एक दिन, ज्ञानके रूपमें फूट निकले।

यदि तुम ऐसा नहीं करते तो तुम अपना समय नष्ट कर रहे हो, और, इस सौदेमें मेरा भी समय नष्ट कर रहे हो। यह एक प्रमाणित तथ्य है। मैं समझती थी कि मैं यह बात तुम्हें पहले भी कई बार कह चुकी हूं, परंतु फिर भी, शायद बहुत स्पष्ट रूपमें मैंने नहीं कहा था। यदि तुम यहां आते हो तो **नीरवतामें सुननेकी** मंशासे आओ। फिर क्या होता है यह तुम पीछे समझोगे; इस नीरव मनोभावके प्रभावको बादमें समझोगे। परंतु अभी एकमात्र कार्य तुम्हें यह करना है कि तुम ऐसे (संकेत) बन जाओ, नीरव, अचल-अटल, सतर्क, एकाग्र।

बस इतना ही।

दूसरा प्रश्न अपेक्षया बाह्य ढंगका है। परंतु वह एकदम आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि उसका संबंध हमारी खेल-कूदकी शिक्षाके साथ है और फिर, सामान्यतः, उस मनोवैज्ञानिक आधारके साथ है जिसपर यहां-की हमारी क्रियावली आधारित है। इन बातोंको श्रीअरविंदने लिखा है और मैंने भी बहुत बार लिखा है, बहुत बार तुम लोगोंको इन्हें सम-झाया है, परंतु सचमुच मुझे दुःख है कि मुझे यह कहनेके लिये बाध्य होना पड़ रहा है कि वह सब तुम्हारी चेतनामें घुसा नहीं है।

तुम लोग जो कुछ महसूस करते और जो कुछ करते हो उसके विरुद्ध मैं युद्ध छेड़ना नहीं चाहती, परन्तु मैं यह चाहूंगी कि तुम लोग कम-से-कम यह समझो कि यहां जैसा हो रहा है वह **क्यों** हो रहा है; न कि तुम उसके बदले किसी विपरीतगामी उत्तेजनाके वशीभूत हो जाओ और

तुम उसका अनुसरण करो जो इस बहाने सर्वत्र किया जा रहा है कि वास्तवमें "इसी तरह" ये चीजें की जाती हैं, इस बहाने किया जा रहा है कि तुम्हारे माता-पिता और दादा-परदादा, तुम्हारे सगे-संबंधी और मित्र, और तुम्हारे मित्रोंके दादा-परदादा, जो-जो (आश्रमसे) बाहर रहते हैं वे सब इसी ढंगसे ये चीजें करते हैं, और इसीको स्वाभाविक तरीका समझो।

मैं इस तथ्यका खंडन नहीं करती, इस अर्थमें कि प्रकृति माताने एक विशेष उद्देश्य और विशिष्ट प्रयोजनोंसे मनुष्योंकी सृष्टि की थी, और अपने प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिये उसने मानव-प्राणियोंको उत्पन्न किया है और उन्हें विशेष प्रकारकी आदतें भी दी हैं और विशेष कार्य भी। फलस्वरूप, यदि तुम "स्वाभाविक" बातोंकी चर्चा करो तो मैं तुमसे यह नहीं कह सकती कि यह "स्वाभाविक" नहीं है, क्योंकि वही प्रकृति माताका तरीका है। पर फिर भी, मैं समझती हूं कि मैंने तुम्हें बताया है —एक बार नहीं बल्कि कई बार, और श्रीअरविंदने भी यह बात लिखी है, एक बार नहीं बल्कि अनेक बार— कि हम यहां इसलिये नहीं हैं कि जो कुछ अन्यत्र किया जाता है उसीका पुनरारंभ करें, उसे ही चिरस्थायी बनायें और उसीको जारी रखें। और हमने इस तथ्यको विशेष रूपसे अपनी शिक्षा-पद्धतिमें ठोस रूप प्रदान किया है; परंतु मुझे कहना होगा, किसीको चोट पहुंचाये बिना, कि जो लोग बहुत अधिक जीवन बिताकर आते हैं, जिन लोगोंके पीछे एक बहुत भारी अतीत विद्यमान है, उन्हें अपने मनोभाव और दृष्टिकोणको तुरंत बदलनेमें कठिनाई हो सकती है, परंतु तुम यदि बहुत छोटे-छोटे बच्चोंको लो जिन्हें अभीतक बहुत अधिक बिगाड़ा नहीं गया है (वे बराबर ही बिगाड़ दिये जाते हैं), परंतु जिन्हें साधारण शिक्षा, परिवारकी भावनाओं, माता-पिताकी परंपरा आदिके द्वारा अभीतक बहुत अधिक नहीं बिगाड़ा गया है, उनके अंदर चेतनाको समुचित पथपर मोड़ देने तथा एक ठोस और यथार्थ परिणाम पानेकी संभावना है।

सच पूछा जाय तो हमें किसी बातकी शिकायत नहीं है, क्योंकि हमें इस बातके ज्वलंत प्रमाण प्राप्त हैं कि यदि कोई जाने कि इसे कैसे किया जाता है तो जो कुछ हम कहते हैं उसे करना संभव है।

हमारा कहना यह है कि एक ही परिस्थितियोंमें, एक ही प्रकारकी शिक्षा और एक ही प्रकारकी संभावनाओंके होनेपर, हम जिन्हें पुरुष और स्त्रियां कहते हैं उनके बीच, कोई कटा-छंटा, अपरिवर्तनीय और अनिवार्य विभेद करनेका कोई कारण नहीं। हमारे लिये सभी मानव-प्राणी एक

ही आत्माकी अभिव्यक्ति हैं। यह सच है, जैसा कि मैंने आरंभमें ही कहा था, कि प्रकृति माताने अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति तथा अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये अपनी अभिव्यक्तियोंमें विभेद किया है, परंतु हमारी आवश्यकताएं और प्रयोजन यदि दूसरे प्रकारके हों और हम प्रकृति माता-द्वारा मनोनीत भौतिक प्रयोजनोंको ही अंतिम और अकाट्य न स्वीकार करें तो फिर हम दूसरी धारामें चेतनाको विकसित करनेका प्रयत्न कर सकते हैं।

दुर्भाग्यवश, एक बातको हमने लक्ष्य किया है। जैसे-जैसे वर्ष बीतते हैं और छोटी लड़कियां बड़ी लड़कियां हो उठती हैं, एकाएक हम देखते हैं कि वे यह याद रखना आरंभ कर देती हैं कि वे लड़कियां हैं, उन्हें खूबसूरत होना चाहिये, आकर्षक लगना चाहिये, एक विशेष ढंगसे कपड़े पहनने चाहियें, ध्यान आकर्षित करनेके लिये थोड़ा हाव-भाव भी करना चाहिये — और हमारे कार्यका सारा परिणाम ही भूमिसात् हो जाता है।

कुछ ऐसी हैं (नियमके अपवाद सर्वदा होते ही हैं) जिन्होंने समझा है और जो संसिद्ध करनेकी चेष्टा करती हैं। परंतु उनकी पृष्ठभूमिमें भी इस प्रकारका थोड़ा-सा संतोष बना रहता है कि हम एकदम "दूसरी लड़कियोंकी तरह" नहीं हैं, हम वैसा करनेमें समर्थ हैं जैसा कि दूसरी लड़कियां नहीं कर सकतीं, और यह बात स्पष्ट रूपमें देखी जा सके इसके लिये, हां, वे दूसरी लड़कियोंके साथ अपनी तुलना अवश्य करती हैं!

अतएव यह ठीक-ठीक वही अवसर है जिसके विषयमें अभी-अभी मैंने तुमसे चर्चा की है। तुममेंसे एक व्यक्तिने एक प्रश्न पूछा है जिसने एक दूसरा प्रश्न उठा दिया है, और मैं आशा करती हूं कि यदि मैं एक बार और पूरे ब्योरेके साथ, यथार्थ तथ्यपर बल देते हुए, तुम्हारे सामने व्याख्या कर दूं तो शायद हम लोग एक बार फिर आरंभ करने तथा अधिक पूर्ण और अधिक स्पष्ट रूपमें कोई चीज संसिद्ध करनेमें समर्थ हो जायंगे।

अब हम एकदम भौतिक वस्तुओंपर उतर आयें: किसी व्यक्तिने व्यायाम-प्रतियोगिताओं (एथ्लेटिक्स)में बहुत सफलतापूर्वक कार्य किया है और एक चीजमें वह प्रथम आया है। वह व्यक्ति एक बालिका है। और, आह! उसमें अच्छे ढंगसे करनेकी संतुष्टिके साथ-साथ इस बातकी भी थोड़ी संतुष्टि थी कि उसने दूसरोंसे अधिक अच्छा किया है, और उसने आकर पूछा :

स्त्रियोंके कीर्तिमानकी घोषणा क्यों नहीं की जाती ?

हमने, मैं समझती हूं, बारंबार कहा और दुहराया है कि यहां कोई "स्त्रियों"-

का और कोई "पुरुषों"का कीर्तिमान नहीं है। यहां केवल दलके कीर्तिमान हैं। यहांपर हरित दल (कई हरित दल) हैं, लाल दल, भूरा दल, नीला दल, खाकी दल और सफेद दल है। तुम मुझसे कह सकते हो कि इनमेंसे कुछ तो एकमात्र पुरुषों या स्त्रियोंके दल हैं। मैं इसका उत्तर अभी अपनी कही हुई बातके साथ दूंगी कि जबतक कोई यहां बहुत छोटी उम्रमें नहीं आता, उसके लिये अपनी आदतोंको बदलना कठिन है, और यही बात है जिसने इस पृथक्त्वको आवश्यक बना दिया है — पर यह कोई आदर्श वस्तु नहीं है। और यदि हम शानके साथ यह घोषणा करनेकी आदत बना लें कि "इस बहुत विशिष्ट लड़कीने ऐसा काम किया है जिसे कोई दूसरी लड़की पहले नहीं कर सकी थी", तो ओह! हम कितने गिर जायेंगे! इस बातका बिना विचार किये कि यह चीज मिथ्याभिमानको प्रोत्साहित करती है (जो कि अच्छा नहीं है), यह इस बातका एक विवरण भी है कि यह बात इसलिये असाधारण है कि **वह एक लड़की है**; संप्रति यह बिलकुल ही कोई असाधारण बात नहीं है कि वह एक लड़की है : यह असाधारण इस कारण है कि उस (लड़की)ने बहुत अच्छा किया है और वहां बहुत-से लड़के हैं जिन्होंने उतना अच्छा नहीं किया। परंतु कोई यदि इस सुन्दर तथ्यको उस कार्यके साथ तुलना करके बढ़ा-चढ़ा देना चाहे जिसे दूसरी लड़कियोंने उतने अच्छे रूपमें नहीं किया है तो यह चीज शोचनीय बन जाती है।

सो, यह प्रश्न मेरे पास लाया गया था। मैं समझती हूं कि उस व्यक्तिको वही उत्तर दिया गया है जो मैंने अभी तुम्हें बताया है, कि यहां केवल दलोंके कीर्तिमान रखे जाते हैं। और स्त्रियों और पुरुषोंके कीर्तिमान नहीं रखे जाते।

परंतु बात इतनी ही नहीं है। मुझे बताया गया है कि एक दूसरा प्रश्न भी एक बार नहीं, प्रत्युत सैकड़ों बार पूछा जा रहा है, विशेषकर उन लोगोंके द्वारा जो बाहरी जगत्‌की समस्त भावनाओंको साथ लेकर यहां आते हैं; प्रश्न है:

> "तुम लोगोंने लड़कों और लड़कियोंके लिये शारीरिक शिक्षणका एक ही कार्यक्रम क्यों रखा है?"

कुछ लोग ऐसे हैं जो इसे एक कलंक समझते हैं; कुछ लोग इसे भौतिक, पार्थिव दृष्टिकोणसे एक भयंकर भूल समझते हैं। "लड़कियोंके साथ एक विशेष ढंगसे तथा लड़कोंसे एकदम भिन्न प्रकारसे क्यों नहीं व्यवहार किया

जाता? . . ." फिर वह महान् तर्क: ". . . **जैसे कि सर्वत्र किया जाता है।**"

आह! धन्यवाद! तब हमने आश्रम क्यों बनाया है? हमने शिक्षा-केंद्र क्यों खोला है? यदि सर्वत्र एक जैसी ही चीजें की जाती हैं, हमें उन्हें दुह-रानेकी कोई आवश्यकता नहीं है, हम दूसरोंकी अपेक्षा अधिक अच्छे रूपमें उन्हें नहीं कर सकेंगे।

और जब वे मेरे सामने इस तर्कको उपस्थित करते हैं, वे ऐसी कोई बात मुझसे नहीं कह सकते जो मुझे पूरी तरहसे मूर्खतापूर्ण न प्रतीत हो। यह सर्वत्र किया जाता है? बस, यही इसे न करनेका ठीक कारण है; क्योंकि हम यदि वही करें जो दूसरे करते हैं तो कुछ करनेका कष्ट उठानेसे एकदम कोई लाभ नहीं। हम तो यथार्थमें संसारके अंदर कोई ऐसी चीज समाविष्ट करना चाहते हैं जो वहां नहीं है; पर हम यदि संसारके सभी अभ्यासोंको, संसारकी सभी अभिरुचियोंको, संसारकी सभी संरचनाओंको बनाये रखें तो मैं नहीं समझती कि हम पुरानी लीकको छोड़कर कैसे बाहर निकल सकते हैं और कोई नवीन चीज कर सकते हैं।

मेरे बच्चो! मैं तुमसे कह चुकी हूं, हर स्वरमें, हर ढंगसे इसे दुहरा चुकी हूं: यदि तुम वास्तवमें यहां रहनेका लाभ उठाना चाहते हो तो एक ऐसी नयी दृष्टिसे और एक ऐसी नयी समझसे वस्तुओंको देखने और उन्हें समझनेका प्रयत्न करो जो किसी उच्चतर वस्तुपर, किसी गभीरतर, विशाल-तर वस्तुपर, किसी सत्यतर वस्तुपर, किसी ऐसी वस्तुपर आधारित हों जो अभी यहां नहीं है पर एक दिन होगी। और चूंकि हम इस भविष्यको निर्मित करना चाहते हैं, इसीलिये हमने यह विशेष स्थिति ग्रहण की है।

मैं तुम्हें बता दूं कि अपनी स्थितिके याथार्थ्य तथा उसके सत्यके प्रमाण, एकदम स्थूल प्रमाण हमारे पास हैं, पर. . . . वे स्थायी नहीं हैं। क्यों? क्योंकि साधारण चेतनामें वापस गिर जाना अत्यंत आसान है, और सीढ़ीके सिरेपर सर्वदा खड़े रहने और वहां ऊपरसे संसारकी ओर नजर दौड़ानेकी कोशिश करनेसे अधिक कठिन और कुछ नहीं है।

हम प्रकृतिकी आज्ञाओंका अनुसरण करना **नहीं** चाहते, चाहे इन आज्ञाओं-के पीछे उनके अनुवर्तनका लाखों वर्षोंका अभ्यास भी क्यों न विद्यमान हो। और एक बात निश्चित है, जब प्रकृति परिवर्त्तित होनेवाली वस्तुओंके रास्तेमें आड़े खड़ी होती है तो उसका तर्क होता है: "ऐसा सर्वदासे होता आया है।" मैं दावेके साथ कहती हूं कि यह सच नहीं है। चाहे वह इसे पसंद करे या न करे, वस्तुएं बदलती हैं, और एक दिन

आवेश जब यह कहा जायेगा: "ओह! हां, एक समय था जब यह वैसा था, पर अब यह उससे भिन्न है।"

बस, कुछ समयके लिये, ऐसे ढंगसे जो श्रद्धा और विश्वाससे अब भी संबंध रखता है, इतना-सा मान लो कि हम इस परिवर्तनको ले आनेकी प्रक्रियामें हैं और हम एक ऐसे बिंदुपर आ गये हैं जहां वस्तुएं एक नया मोड़ और एक नयी दिशा लेने जा रही हैं। तुमसे महज इतना ही मांगा जाता है कि तुम बस थोड़ा-सा विश्वास और भरोसा बनाये रखो और पथ-प्रदर्शनको स्वीकार करो। अन्यथा, ध्यान दो, तुम यहां रहनेका लाभ खो दोगे। बस, इतना ही! और तुम उन्हीं कमजोरियों और उन्हीं आदतोंके साथ वापस चले जाओगे जिन्हें लोग उस जीवनमें देखते हैं जैसा कि इस स्थानसे बाहर है। बस, यही बात है।

तुम सब (लड़कियां) समझती हो मैं थोड़ी कड़ी, थोड़ी कठोर हूं, और आखिरकार मुझे संतुष्ट करना उतना आसान नहीं है! यही कारण है कि तुम बालोंमें अथवा पीछे लटकती पूंछोंमें सुन्दर पतला-सा गुलाबी फीता बांधती हो। मैं, संभवतः थोड़ी निष्ठुरतापूर्वक, कहती हूं: "तुम हास्यास्पद दीखती हो!" क्योंकि तुम समझती हो कि तुम बहुत सुन्दर दीखती हो, पर वास्तवमें इससे तुम हास्यास्पद बन जाती हो। यदि तुम बाहर संसार-में जाना चाहती हो और वहां वैसे ही निवास करना चाहती हो जैसे कि लड़कियां संसारमें निवास करती हैं, और फिर अपने-आपको रूप-रंग देना चाहती हो ताकि दूसरे मोहित हों क्योंकि वही तुम्हारी एकमात्र सुरक्षा और एकमात्र अस्त्र है — ध्यान आकर्षित करना और लुभाना, और अत्यंत सुन्दर, अत्यंत सम्मोहक होना, तो तुम वैसा करनेके लिये बिलकुल स्वतंत्र हो, उससे मेरा कोई सरोकार नहीं। परंतु, निस्संदेह, वह सब यहां करना हास्यास्पद है। यह हास्यास्पद है और इससे तुम भी अपने-आपको उस स्तरपर ले आती हो जो सुखद नहीं है।

स्वभावतः ही तुम यह सब "पुरुष वर्ग" के सामने कहनेके लिये मुझे दोषी ठहरा सकती हो। परंतु मैं इस हास्यास्पदतामें उसे भी शामिल करती हूं, क्योंकि यदि वह वैसा ही न सोचता जैसा कि वह सोचता है, यदि वह वैसा ही अनुभव न करता जैसा कि वह अनुभव करता है और वैसा ही कार्य न करता जैसा कि वह करता है तो तुम सब बहुत दिन पहले ही इन तुच्छ बचकानी मनोवृत्तियोंसे ऊब गयी होतीं। बस।

अब, मैं जो कुछ कहना चाहती थी वह कह चुकी हूं। मैं समझती हूं यह आजके लिये पर्याप्त है, है न? तुम लोगोंने सचमुच अपना पूरा पावना पा लिया है!

इस वार्तालापके साथ हम श्रीमाताजीकी पुस्तिका 'नारी जीवन'मेंसे कुछ उद्धरण प्रकाशित कर रहे हैं। ये स्त्रियोंकी खेल-कूदकी शिक्षासे संबंधित प्रश्नोंके उत्तर हैं। यह पुस्तिका निम्नांकित शब्दोंसे प्रारंभ होती है:

भगवान्‌के लिये, क्या तुम यह नहीं भूल सकते कि तुम एक लड़की हो अथवा एक लड़का, और एक मानव-प्राणी बननेकी कोशिश नहीं कर सकते!

शारीरिक शिक्षणके दृष्टिकोणसे, एक लड़कीका क्या आदर्श है?

मैं नहीं समझती कि क्यों लड़कियोंके शारीरिक शिक्षणके लिये कोई एक विशेष आदर्श होना चाहिये और लड़कोंके प्रशिक्षणके लिये दूसरा।

शारीरिक शिक्षणका उद्देश्य है मानव-शरीरकी सभी संभावनाओंको — सामंजस्य, शक्ति-सामर्थ्य, नमनीयता, कुशलता, सहनशीलताकी संभावनाओंको विकसित करना और इसके अंग-प्रत्यंगों तथा इन्द्रियोंकी क्रियाओंपर अपना प्रभुत्व बढ़ाना ताकि शरीर सचेतन संकल्पके हाथोंका एक पूर्ण यंत्र बन जाय। यह कार्यक्रम सभी मानव-प्राणियोंके लिये एक समान उत्तम है; लड़कियोंके लिये कोई दूसरा कार्यक्रम चाहनेका कोई कारण नहीं।

नवीन जीवनमें पुरुष और स्त्रियां कौन-सा पार्ट अदा करेंगे? उनके बीच क्या संबंध होंगे?

दोनोंके बीच विभेद क्यों किया जाय? वे दोनों ही मानव-प्राणी हैं जो, लिंग, जाति, मत-मतांतर और राष्ट्रीयताके प्रश्नोंसे ऊपर उठकर, दिव्य कर्मके उपयुक्त यंत्र बननेकी कोशिश करते हैं। वे सभी एक ही अनंत भगवती माताकी संतान हैं तथा एक और शाश्वत भगवान्‌की प्राप्तिके अभीप्सु हैं।

एक स्त्रीके लिये शारीरिक सौंदर्यका आदर्श क्या है?

विभिन्न अंग-प्रत्यंगोंके अनुपातोंमें पूर्ण समस्वरता, नमनीयता और शक्ति-

ऐश्वर्य, श्री और शक्ति, कोमलता, सहनशीलता तथा, सर्वोपरि अत्यंत सुंदर स्वास्थ्य, जो अपरिवर्तनशील, अविकारी हो, जो विशुद्ध आत्माका, भगवानपर सहर्ष विश्वासका एवं भागवत कृपापर अटल श्रद्धाका परिणाम होता है।

पुस्तिका निम्नांकित शब्दोंके साथ समाप्त होती है :

अंतमें एक शब्द और:

मैंने ये बातें तुमसे इसलिये कही हैं कि तुम्हें इन्हें सुननेकी आवश्यकता थी। परंतु इनके सहारे कोई अकाट्य सिद्धांत मत बनाओ, क्योंकि वह उनका सारा सत्य हड़प जाता है।

१ अगस्त, १९५६

प्यारी माताजी ! क्या दुर्गा और कालीकी पूजाका कोई आध्यात्मिक मूल्य है ?

यह इस बातपर निर्भर करता है कि कौन पूजा करता है।

बास्तवमें आध्यात्मिक मूल्यके लिये यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है। योगकी सर्वांगपूर्णता तथा संपूर्ण सत्यके लिये महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अपनी अभीप्साको किसी एक या दूसरे आकारतक सीमित न कर दिया जाय। परंतु आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे, पूजाका उद्देश्य चाहे जो भी हो, यदि पूजाकी क्रिया पूर्णतः सच्ची हो, यदि आत्म-दान सर्वांगीण और निःशेष हो, आध्यात्मिक परिणाम वही एक हो सकता है; कारण, चाहे जो भी वस्तु तुम ग्रहण करते हो, उसके द्वारा (कभी-कभी उसके होते हुए, उसके बावजूद) तुम सर्वदा अपने आत्म-निवेदनकी सच्चाईकी मात्रा और अनुपातमें परात्पर सद्वस्तुतक पहुंच जाते हो।

यही कारण है कि सर्वदा यह कहा जाता है कि इससे कुछ आता-जाता नहीं कि भगवान्‌के किस रूपकी तुम आराधना करते हो अथवा यहांतक कि किसको तुम अपना पथ-प्रदर्शक चुनते हो, यदि तुम्हारा

आत्म-दान पूर्ण है और तुम संपूर्णतः सच्चे हो तो आध्यात्मिक लक्ष्यको प्राप्त करना तुम्हारे लिये **सुनिश्चित** है।

परंतु जहांपर वांछित परिणाम वही नहीं है, बल्कि जब तुम पूर्णयोगकी सिद्धि प्राप्त करना चाहते हो, तब तुम्हें किसी भी तरह, यहांतक कि अपने आत्म-निवेदनके पथसे भी अपने-आपको सीमित नहीं करना चाहिये . . .। केवल, ये दोनों बहुत अलग-अलग वस्तुएं हैं।

आध्यात्मिक उपलब्धिको जिस रूपमें पुराने समयमें समझा जाता था, जैसा कि उसे अब भी सामान्यतया समझा जाता है, वह है किसी-न-किसी प्रकारसे, चाहे अपने अंदर अथवा किसी-न-किसी आकारके द्वारा, परात्परके साथ एकत्व प्राप्त करना; यह है परात्परके अंदर, परमके अंदर तुम्हारी सत्ताका विलयन, इस विलयनमें तुम्हारे व्यक्तित्वका लगभग तिरोधान[1]। यह, तुम जिसे अपने-आपको दे देना चाहते हो, उस वस्तुके चुनावकी अपेक्षा पूर्णतः निर्भर करता है तुम्हारे आत्म-दानकी सच्चाई तथा परिपूर्णतापर। कारण . . . तुम्हारी अभीप्साकी सच्चाई ही तुम्हें सभी सीमा-बंधनोंके पार ले जायेगी और परात्परको खोज निकालेगी, क्योंकि तुम स्वयं अपने अंदर उन्हें वहन करते हो।

चाहे तुम उन्हें बाहर खोजो, चाहे तुम उन्हें अंदर खोजो, चाहे तुम उन्हें किसी रूपमें या बिना रूपके खोजो, यदि तुम्हारी अभीप्सा

---

[1]पीछे एक शिष्यने श्रीमाताजीसे पूछा: "आपने 'लगभग' क्यों कहा ? तो क्या वह तिरोधान पूर्ण नहीं होता ?" इसके उत्तरमें श्रीमाताजीने कहा; 'कहींपर, मैं समझती हूं "आत्मपरिपूर्णताके योग" में, जो लोग परात्परमें विलीन हो जाना चाहते हैं उनके विषयमें, श्रीअरविंद कहते हैं या यों कहें कि संकेत करते हैं कि ऐसा **नहीं किया जा सकता**, क्योंकि परात्पर प्रभु इसे अन्य प्रकारसे चाहते हैं। परंतु श्रीअरविंद, इसे स्पष्ट कहे बिना, कहते हैं, यह सरसरी तौरपर दिया गया एक संकेत-मात्र है। भाव यह है कि सत् और असत्के परे, पूर्ण शीर्षपर आवश्यक रूपसे व्यक्तित्वका एक आकार होता है (जिसे एक **मौलिक** आकार कहा जा सकता है), जो 'एकतम'का अब प्रतिरोध नहीं करता, यहांतक कि उस 'एकतम'से पृथक् होता है, पर बिना किसी पृथक्त्वके 'एकतम'-में सन्निहित होता है। परंतु हमारे पास जो शब्द हैं उनका कुछ अर्थ नहीं। और हमें एक बचकानी व्याख्या देनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। यही कारण है कि मैंने "लगभग" कहा था।'

पर्याप्त रूपमें सच्ची है और तुम्हारा संकल्प पर्याप्त रूपमें सच्चा है तो तुम्हारा लक्ष्यपर पहुंचना निश्चित है।

परंतु तुम यदि परिपूरक क्रिया करना चाहो जिसकी चर्चा श्रीअरविंद करते हैं, अर्थात्, तुम अपने अंदर इस एकत्वको उपलब्ध करनेके बाद बाह्य चेतना और जगत्‌में वापस आ जाओ तथा इस बाह्य चेतना और जगत्‌को रूपांतरित करना चाहो तो ऐसी स्थितिमें तुम अपनेको किसी भी भांति सीमित नहीं कर सकते, क्योंकि तब तुम अपना कार्य पूरा करनेमें समर्थ ही नहीं होगे।

मुख्यतया, तुम्हें भगवान्‌के साथ इस एकत्वको सभी आकारोंमें, सभी भावोंमें, प्रत्येक ढंगसे जिसका व्यवहार उन्हें प्राप्त करनेके लिये किया जा चुका है, उपलब्ध करनेमें समर्थ होना होगा। और फिर तुम्हें उसके भी परे चले जाना होगा और एक नया मार्ग ढूंढ़ निकालना होगा।

अतएव, सबसे पहली बात जो तुम्हारे विचारमें सुस्पष्ट होनी चाहिये (और यह सबसे अधिक महत्त्वकी बात है) वह है: तुम्हें पूर्णयोगको अन्य आध्यात्मिक उपलब्धियोंके साथ उलझाना नहीं चाहिये; वे उपलब्धियां बहुत ऊंची हो सकती हैं पर वे एक बहुत सीमित क्षेत्रको अंतर्भूत करती हैं, क्योंकि उनकी क्रिया केवल गहराईमें ही होती है।

तुम अपनी अभीप्साके द्वारा एक छिद्र बना सकते हो और चाहे किसी वस्तुके द्वारा गहराईमें क्रिया कर सकते हो। सब कुछ निर्भर करता है तुम्हारी अभीप्साकी तीव्रता और सच्चाईपर (सच्चाईपर, कहनेका मतलब, इस बातपर कि कितनी हदतक तुम्हारा आत्म-दान पूर्ण, सर्वांगीण, विशुद्ध है)। परंतु यह बात उस आकारपर नहीं निर्भर करती जिसे तुमने चुना है: अवश्य ही पीछे जाकर यह देखनेके लिये कि वहां क्या है तुम्हें उसको पार करनेके लिये विवश होना होगा।

परंतु तुम यदि अपने स्वभाव और अपनी सत्ताको रूपांतरित करना चाहते हो, और तुम यदि एक नवीन जगत्‌की सृष्टिमें हाथ बंटाना चाहते हो तो फिर यह अभीप्सा, यह तीक्ष्ण और सीधी नोक अब पर्याप्त नहीं है। तुम्हें प्रत्येक वस्तुको आवेष्टित कर लेना होगा और प्रत्येक वस्तुको अपनी चेतनाके अंदर ले लेना होगा।

स्वभावतः ही यह बात बहुत अधिक कठिन है।

श्रीमां, "मानव प्रकृतिका यह दिव्य तत्त्व" क्या चीज है जो अपनी आध्यात्मिक तृप्तिकी पूर्णताके लिये सदैव प्रतीककी अपेक्षा रखती है?

क्या ?

जो एक आकारकी, एक आकारमें रूपांतरणकी मांग करती है।

ओह! जो कि आज मैंने अभी तुम्हारे सामने पढ़ा है?[1]

यह सत्ताका ठीक-ठीक वही भाग है जो अमूर्त विचारसे तथा जीवनसे पलायन करने और उससे किनाराकशी करनेसे एवं वह जैसा है वैसा ही उसे छोड़ देनेसे संतुष्ट नहीं होता। वास्तवमें सत्ताका यही भाग है जो

---

[1] किसी भी पूजा-विधिमें प्रतीक, अर्थपूर्ण विधि-विधान या अभिव्यंजक प्रतिमा केवल गतिशील और समृद्धिवर्द्धक सौंदर्यात्मक तत्त्व ही नहीं होती, अपितु एक ऐसा भौतिक साधन भी होती है जिससे मानव-प्राणी अपने हृदयके भाव और अभीप्साको बाहरी तौरपर सुनिश्चित, पुष्ट तथा क्रियाशील बनाने लगता है। क्योंकि, यद्यपि आध्यात्मिक अभीप्साके बिना पूजा निरर्थक और वृथा है, तथापि अभीप्सा भी कर्म और रूपके बिना एक शरीररहित शक्ति होती है और जीवनके लिये पूरी तरह फलप्रद नहीं होती। परंतु दुर्भाग्यवश मानव-जीवनगत सभी रूपोंका यही अंत बदा है कि वे स्थिर आकारमें बंधकर निरे लोकाचारात्मक और, परिणामतः, निर्जीव हो जाते हैं। यद्यपि पूजा-पद्धति तथा रूप अपनी शक्तिको उस मनुष्यके लिये सदैव सुरक्षित रखते हैं जो उनके आशयमें अब भी पैठ सकता है, तथापि अधिकतर लोग विधि-विधानको यांत्रिक रीति-रस्मके रूपमें तथा प्रतीकको निर्जीव चिह्नके रूपमें बरतने लगते हैं। यह चीज धर्मकी आत्माका हनन कर डालती है, इसलिये अंतमें पूजा-विधि और रूपको बदलना या बिलकुल छोड़ देना पड़ता है। यहांतक कि कुछ ऐसे लोग भी पाये जाते हैं जिनकी दृष्टिमें समस्त पूजा-विधि और रूप इसी कारण संदिग्ध और सदोष होते हैं; किंतु ऐसे तो विरले ही होते हैं जो बाह्य प्रतीकोंकी सहायताको एकदम छोड़ सकते हैं। और फिर, मानव-प्रकृतिका एक दिव्य तत्त्व-विशेष भी अपनी आध्यात्मिक तृप्तिकी पूर्णताके लिये सदैव इनकी अपेक्षा रखता है। सदा ही प्रतीक वहींतक युक्तियुक्त होता है जहांतक वह यथार्थ एवं सत्य-शिव-सुन्दर होता है, और कोई यहांतक भी कह सकता है कि जो आध्यात्मिक चेतना रसग्राही या भावुक तत्त्वसे सर्वथा रहित होती है वह पूर्ण रूपमें या कम-से-कम सर्वांगीण रूपमें आध्यात्मिक नहीं होती। आध्यात्मिक जीवनमें कर्मका आधार आध्यात्मिक चेतना होती है जो नित्य-स्थायिनी और नवस्फूर्तिदायिनी है, अपनेको नित नये रूपोंमें प्रकट करनेको

सर्वांगीण होना चाहता है, सर्वांगीण रूपसे रूपांतरित होना चाहता है अथवा किसी भी प्रकार आंतरिक उपासनामें सर्वांग रूपसे भाग लेना चाहता है।

प्रत्येक सामान्य जनमें इस बातका प्रयोजन, इस बातकी आवश्यकता—चरम आवश्यकता—होती है कि वह आंतरिक रूपमें जो कुछ अनुभव करता और जो कुछ चाहता है उसे वह एक भौतिक आकारमें अनूदित करे। जो लोग आत्मानुभव प्राप्त करनेके लिये जीवनसे सर्वदा दूर भागनेकी इच्छा करते हैं उन्हें मैं विकृत और अपूर्ण समझती हूं। और वस्तुतः ये लोग साधारणतया दुर्बल स्वभावके होते हैं। परंतु जिन लोगोंमें बल-सामर्थ्य, शक्ति और एक प्रकारकी स्वस्थ साम्यावस्था होती है, वे अपनी आध्यात्मिक उपलब्धिको भौतिक रूपमें संसिद्ध करनेकी एक ऐकांतिक आवश्यकता महसूस करते हैं। वे बादलोंमें या ऐसे जगतोंमें चले जानेसे संतुष्ट नहीं होते जहां अब आकारोंका कोई अस्तित्व नहीं होता। वे चाहते हैं कि उनकी भौतिक चेतना और उनका शरीरतक उनके आंतरिक अनुभवमें हिस्सा बंटाये।

अब, यह कहा जा सकता है कि किसी धर्मको, जैसा कि वह बना-बनाया मिल गया है, अंगीकार करने या उसका अनुसरण करने या उसमें भाग लेनेकी आवश्यकता बहुत कुछ मानव-प्राणियोंमें विद्यमान "दल-प्रवृत्ति"-से उत्पन्न होती है। प्रत्येक व्यक्तिके लिये यथार्थ वस्तु होगी उस उपासना-पद्धति या धर्म-संप्रदायको खोज निकालना जो उसका अपना है और सहज-स्वाभाविक तथा व्यक्तिगत रूपसे भगवान्‌के साथ उसके अपने विशिष्ट संबंधको व्यक्त करता है; वही होगी आदर्श अवस्था।

किसी धर्मको इसलिये अपनाना कि उसी धर्ममें जन्म हुआ है अथवा इसलिये कि हम जिन लोगोंको प्यार करते और जिनपर विश्वास करते हैं वे लोग उसी धर्मका पालन करते हैं अथवा इसलिये कि जब हम किसी एक विशेष स्थानपर जाते हैं जहां दूसरे प्रार्थना करते और पूजा करते हैं

प्रेरित होती है अथवा सदैव किसी रूपके सत्यको आत्माके प्रवाहके द्वारा पुनः नूतन कर सकती है। अपनेको इस प्रकार प्रकट करके हरएक कामको आत्माके किसी सत्यका जीवंत प्रतीक बनाना ही इसकी सर्जनशील दृष्टि और प्रेरणाका वास्तविक स्वभाव है। इसी भावसे आत्मजिज्ञासुको जीवन-के साथ बरतना होगा, उसका रूप बदलना होगा तथा उसे उसके सारतत्त्व-में महिमान्वित करना होगा।

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० १८८)

तो हमें अपनी निजी प्रार्थना तथा पूजामें सहायता मिलती प्रतीत होती है, यह किसी बहुत प्रबल स्वभावका परिचायक नहीं है। मैं कहूंगी कि यह तो एक कमजोरीका अथवा हर हालतमें मौलिकताके अभावका चिह्न है।

परंतु आंतरिक अभीप्सा और आराधनाको अपने भौतिक जीवनके रूपोंमें बदल देना बिलकुल न्यायसंगत है, और यह उस मनुष्यके कार्यसे बहुत अधिक सच्चा कार्य है जो अपनेको दो भागोंमें बांट देता है, बिलकुल यंत्र-वत् तथा मामूली ढंगसे भौतिक जीवन यापन करता है तथा, जब उसके लिये संभव होता है, जब उसे समय मिलता है अथवा जब यह उसके अनुकूल होता है, स्वयं अपने अंदर घुस जाता है, भौतिक जीवन तथा भौतिक चेतनासे बाहर निकल आता है और अपने आध्यात्मिक आनंदोंको प्राप्त करनेके लिये सुदूर ऊंचाइयोंपर चला जाता है।

जो व्यक्ति अपने भौतिक जीवनको अपनी उच्चतम अभीप्साकी अभि-व्यक्ति बनानेकी कोशिश करता है वह अवश्यमेव उस व्यक्तिकी अपेक्षा अधिक उदात्त, अधिक उन्नत और अधिक सच्चा है जो अपनेको यह कह-कर दो भागोंमें बांट देता है कि बाहरी जीवनका कोई महत्व नहीं है और यह कभी परिवर्त्तित नहीं होगा और इसे उसी रूपमें स्वीकार करना होगा जैसा कि यह है और यथार्थमें मात्र आंतरिक मनोभाव ही मूल्यवान् है।

(मौन)

प्रश्नोंकी मेरी फाइल बढ़ती जा रही है! और मुझे कहना ही होगा कि वे सब एक समान मजेदार नहीं हैं; पर फिर भी, जिन लोगोंने पूछे हैं उनकी संतुष्टिके लिये मैं शायद उनमेंसे दो-एकको ले सकती हूं।

सर्वप्रथम, कुछ व्यक्तियोंने प्रश्नोंपर सही किये बिना उन्हें मेरे पास भेजनेकी आदत डाल ली है, इस भयसे कि मैं कहीं उस व्यक्तिका परिचय न दे दूं जिसने वह प्रश्न भेजा है! मैं कभी परिचय नहीं दूंगी, तुम विश्वास रख सकते हो; और यदि मैं कोई अप्रिय टिप्पणी भी करूं तो कोई भी यह नहीं जानेगा कि वह किसके लिये है! (हंसी)

एक दूसरी बात भी है। तुममेंसे कुछ लोग फ्रेंच भाषामें प्रश्न करने-का कष्ट नहीं उठाते। चूंकि मैंने खुले रूपमें तुम्हें यह चेतावनी नहीं दी है कि मैं केवल फ्रेंच भाषामें पूछे गये प्रश्नोंका ही उत्तर दूंगी, मैंने इस समयके लिये उनमेंसे दो-एकका अनुवाद कर लिया है; परंतु भविष्यमें, यदि तुम चाहते हो कि मैं तुम्हारे प्रश्नोंपर विचार करूं तो तुम्हें उन्हें फ्रेंच भाषामें ही व्यक्त करना चाहिये। यदि उनमें बहुत-सी भूलें भी हों तो

उससे कुछ आता-जाता नहीं, मैं उन्हें सुधार लूंगी!

यह रहा एक प्रश्न जो अंग्रेजीमें पूछा गया है, और जिसका उत्तर बहुत छोटा है। मुझसे पूछा गया है:

आध्यात्मिक जीवनकी तैयारी करनेके लिये किस मौलिक गुणका विकास करना चाहिये?

इसे मैंने बहुत बार बतलाया है, परंतु यह उसे दुहरानेका एक सुअवसर है। वह है **सच्चाई**।

एक ऐसी सच्चाई जो पूर्ण और पक्की बन जानी चाहिये, क्योंकि आध्यात्मिक पथमें एकमात्र सच्चाई ही तुम्हारी संरक्षिका है। यदि तुम सच्चे नहीं हो तो निश्चित रूपसे अगले ही पगपर गिरकर अपना सिर फोड़ लोगे। सभी प्रकारकी शक्तियां, संकल्प, प्रभाव, सत्ताएं उपस्थित रहती और इस ताकमें रहती हैं कि उस सच्चाईके अंदर अत्यंत छोटी-सी भी दरार हो जाय, और वे तुरंत उस छिद्रके रास्ते भीतर घुस आती हैं तथा तुम्हें अस्त-व्यस्त अवस्थामें फेंकना शुरू कर देती हैं।

फलस्वरूप, कोई भी चीज करने, कोई भी चीज आरंभ करने, कोई भी चीज करनेकी कोशिश करनेसे पहले, **सबसे पहले** इस विषयमें निस्संदिग्ध हो जाओ कि तुम केवल उतने ही सच्चे नहीं हो जितने कि तुम हो सकते हो, बल्कि उससे भी अधिक बननेकी इच्छा रखते हो।

कारण, बस वही तुम्हारा संरक्षण है।

क्या इस प्रारंभिक गुणके विकासका यह प्रयास सामूहिक भी हो सकता है?

निश्चय ही हो सकता है। और यही चीज थी जिसका प्रयत्न दीर्घकालसे पहले विभिन्न दीक्षा-संप्रदायोंमें किया जाता था। यहांतक कि आज भी, कम या अधिक गुप्त संस्थाओंमें अथवा बहुत छोटे दलोंमें, समूह पर्याप्त रूपमें संयुक्त होने तथा एक ऐसा परिणाम पानेके लिये पर्याप्त रूपमें पूर्ण सामूहिक प्रयास करनेकी चेष्टा करता है जो व्यक्तिगत परिणामकी जगह एक समष्टिगत परिणाम हो।

परंतु स्वभावतः ही, यह बात समस्याको भयानक रूपमें जटिल बना देती है...। प्रत्येक बार जब वे एकत्र होते हैं, वे एक समष्टिगत सत्ता पैदा करनेकी कोशिश करते हैं; परंतु किसी गुणको समष्टिगत रूपमें

प्राप्त करनेके लिये एक विकट प्रयासकी आवश्यकता होती है। परंतु यह असंभव नहीं है।

(मौन)

एक दूसरा प्रश्न है जो थोड़ा अधिक सूक्ष्म है, पर मुझे लगता है कि यह विशेष रूपमें मजेदार है...। कोई पूछता है, भगवान्‌की चाहकी, भगवान्‌के साथ मिलनकी सच्ची तीव्रता क्या चीज है। और फिर यह व्यक्ति कहता है कि उसने अपने अंदर अभीप्साके, विशेषकर भगवान्‌की प्राप्तिकी अभीप्साकी तीव्रताके दो विभिन्न प्रकार देखे हैं: इनमेंसे एकमें एक प्रकार-की वेदना होती है जो तेज दर्दकी तरह होती है; दूसरेमें एक प्रकारकी आतुरता होती है, पर उसके साथ-ही-साथ एक प्रकारका महान् हर्ष भी होता है।

यह निरीक्षण बिलकुल सही है।

और वह प्रश्न इस प्रकार है:

> **"हम वेदनाके साथ मिली-जुली तीव्रता कब अनुभव करते हैं और हर्षसे भरी हुई तीव्रता कब अनुभव करते हैं?"**

मैं नहीं जानती कि तुम लोगोंमेंसे कइयोंको या बहुतोंको इसी प्रकारका अनुभव हुआ है या नहीं, पर यह बहुत सत्य है, यह अनुभव, बहुत स्वाभाविक है। और इसका उत्तर बहुत सरल है।

जैसे ही चैत्य चेतनाकी उपस्थिति अभीप्साके साथ संयुक्त हो जाती है, उसकी तीव्रता बिलकुल ही एक भिन्न स्वरूप ग्रहण कर लेती है मानों वह किसी अवर्णनीय हर्षके एकदम सार-तत्त्वसे भर गयी हो। यह हर्ष एक ऐसी वस्तु है जो बाकी सभी चीजोंमें विद्यमान रहती है। अभीप्साका बाहरी आकार चाहे जो कुछ भी हो, उसके सामने चाहे जो भी कठि-नाइयां और बाधाएं हों, यह आनन्द वहां विद्यमान होता है मानों वह प्रत्येक वस्तुमें भरा हुआ हो, और वह आनन्द हर चीजके बावजूद तुम्हें आगे बढ़ा ले जाता है।

यह चैत्य उपस्थितिका सुनिश्चित चिह्न है। कहनेका तात्पर्य, तुमने अपनी चैत्य चेतनाके साथ एक प्रकारका कम या अधिक पूर्ण, कम या अधिक अविच्छिन्न संपर्क स्थापित कर लिया है, परंतु उस मुहूर्त्तमें, चैत्य पुरुष, चैत्य चेतना ही वह वस्तु होती है जो तुम्हारी अभीप्सामें भर जाती

है, उसे उसका सच्चा मूल-तत्त्व प्रदान करती है और यही चीज है जो आनन्दमें रूपांतरित हो जाती है।

जब यह चीज वहां नहीं होती, तब अभीप्सा सत्ताके विभिन्न भागोंसे आ सकती है; वह मुख्यतः मनसे अथवा मुख्यतः प्राणसे यहांतक कि शरीर-से, आ सकती है, अथवा वह इन तीनोंसे एक साथ आ सकती है — वह सभी प्रकारके संयोगोंसे आ सकती है। पर सामान्यतया, वहां तीव्रताके होनेके लिये, प्राणका विद्यमान होना जरूरी है। प्राण ही तीव्रता प्रदान करता है; और चूंकि यह प्राण उसके साथ ही अधिकांश कठिनाइयों, बाधाओं, विपरीतताओंका भी स्थान है, इसलिये अभीप्साकी तीव्रता और कठिनाईकी तीव्रताके बीचका संघर्ष इस वेदनाको उत्पन्न करता है।

यह कोई कारण नहीं कि मनुष्य अभीप्सा करना बंद कर दे।

तुम्हें इस वेदनाके कारणको जानना होगा, समझना होगा। और फिर, यदि तुम अपनी अभीप्सामें एक और तत्त्व, अर्थात् भागवत कृपा-शक्तिपर विश्वास, भागवत प्रत्युत्तरपर विश्वास जोड़ सको तो वह सभी संभव वेदनाओंको पूरी शक्तिसे मिटा देती है और तुम बिना किसी तकलीफ या भयके अभीप्सा कर सकते हो।

यह बात हमें एक और बातपर ले जाती है जो स्पष्ट रूपमें कोई प्रश्न नहीं है, बल्कि एक व्याख्या करने, टीका करने अथवा एक प्रश्नको विकसित करनेके लिये एक अनुरोध है। यह निश्चित रूपमें भागवत कृपाके विषयमें है।

मैंने कहींपर कहा है, अथवा लिखा है, कि भागवत कृपा-शक्तिपर तुम्हारा श्रद्धा-विश्वास चाहे जितना भी अधिक क्यों न हो, उसे सभी परि-स्थितियोंमें, प्रत्येक क्षण, जीवनकी प्रत्येक स्थितिमें कार्य करते हुए देखने-की तुम्हारी क्षमता चाहे जितनी भी महान् क्यों न हो, तुम यह समझनेमें कभी सफल नहीं होगे कि इसकी क्रिया कितनी असामान्यतया विशाल-विराट् होती है और कितनी यथार्थ और सुनिश्चित रूपमें यह क्रिया संपन्न होती है; तुम यह पकड़नेमें कभी सक्षम नहीं होगे कि किस हदतक कृपा-शक्ति प्रत्येक चीज करती है, प्रत्येक चीजके पीछे रहती है, प्रत्येक चीज सुसंगठित करती और प्रत्येक चीजका परिचालन करती है ताकि दिव्य संसिद्धिकी ओर आगे बढ़नेकी गति संसारकी परिस्थितियोंको देखते हुए यथासंभव क्षिप्र, पूर्ण, सर्वांगीण और सुसमंजस हो सके।

ज्यों ही तुम इसके संपर्कमें आ जाते हो, कालके अंदर कोई ऐसा क्षण, देशके अंदर कोई ऐसा स्थल नहीं रह जाता जो भागवत कृपा-शक्तिके इस सतत कार्यको, कृपा-शक्तिके इस अविच्छिन्न हस्तक्षेपको जाज्वल्यमान्

रूपमें तुम्हें नहीं दिखाता। और एक बार जब तुम इसे देख लेते हो, तुम अनुभव करते हो कि तुम कभी इसके लायक नहीं हो, तुम्हें कभी इसे भूलना नहीं चाहिये, कभी डरना नहीं चाहिये, कभी कोई वेदना, पश्चात्ताप, विघ्न-बाधा . . . यहांतक कि कोई दुःख-कष्ट नहीं अनुभव करना चाहिये। यदि कोई इस कृपा-शक्तिके साथ युक्त हो, यदि कोई इसे सर्वत्र देखे तो वह परमोल्लास, सर्वशक्तिमत्ता, अनंत आनंदका जीवन यापन करना आरंभ कर देगा।

और यही होगा दिव्य कर्ममें सर्वोत्तम संभव सहयोग।

८ अगस्त, १९५६

प्यारी माताजी, श्रीअरविंद लिखते हैं: "अपने भीतर चैत्य अग्निको जलाये रखना होगा जिसमें सब कुछ भगवान्‌के नामके साथ होम किया जाता है।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध)

क्या चैत्य अग्नि सदा प्रज्वलित नहीं रहती?

वह सर्वदा प्रज्वलित नहीं रहती।

तो फिर उसे कैसे प्रज्वलित किया जाय?

अभीप्साके द्वारा।

प्रगति करनेके संकल्पके द्वारा, पूर्णता-प्राप्तिकी उत्कंठाके द्वारा।

सबसे बढ़कर, प्रगति करनेका और अपने-आपको शुद्ध करनेका संकल्प ही उस अग्निको प्रज्वलित करता है; प्रगतिका संकल्प ही। जिन लोगोंमें प्रबल संकल्प-शक्ति होती है, वे जब इसे आध्यात्मिक प्रगति और शुद्धिकी ओर मोड़ते हैं तो उनके अंदर वह अग्नि अपने-आप प्रज्वलित हो उठती है।

और प्रत्येक दोषको जिसे तुम सुधारना चाहते हो या प्रत्येक प्रगतिको जिसे तुम करना चाहते हो, — यदि उस सबको तुम अग्निमें झोंक देते हो तो वह एक नयी तीव्रताके साथ जल उठती है। यह कोई निरा रूपक

नहीं है, यह सूक्ष्म-भौतिक जगत्‌का एक तथ्य है। तुम उस लौकी गर्मीको अनुभव कर सकते हो, तुम सूक्ष्म-भौतिक जगत्‌में उस लौकी ज्योतिको देख सकते हो। और, जब तुम्हारी प्रकृतिमें कोई ऐसी चीज होती है जो तुम्हें आगे बढ़नेसे रोकती है और तुम उसे उस अग्निमें झोंक देते हो तो वह जलना आरंभ कर देती है और लौ अधिक तेज हो जाती है।

"कारण, भक्ति अपने-आपको कर्ममें मूर्त्त करके न केवल अपने मार्गको विशाल, समृद्ध और शक्तिशाली बनाती है, बल्कि इस जगत्‌के अंदर कर्मोंके कठोरतर पथमें हर्ष तथा प्रेमका दिव्य रसमय तत्त्व भी ले आती है जिसका प्रायः प्रारंभमें अभाव होता है। क्योंकि आरंभमें केवल तपोमय आध्यात्मिक संकल्प ही संघर्ष-मय उन्नतिकारी प्रयासके साथ एक सीधी चढ़ाई चढ़ता है और हृदय अभी या तो प्रसुप्त होता है या मूक रहनेको बाध्य होता है। यदि दिव्य प्रेमकी भावना प्रवेश पा सके तो पथकी कठोरता कम हो जायगी, तनाव हलका हो जायगा, कठिनाई तथा संघर्षके गर्भमें भी माधुर्य एवं हर्ष उपस्थित होगा।"

(वही, पृ० १८९-१९०)

जब मनुष्य कठिनाईमें होता है तो वह माधुर्य और हर्षको कैसे अनुभव कर सकता है?

यथार्थतः, जब कठिनाई आहंकारिक या व्यक्तिगत होती है और यदि तुम उसे अर्पित कर देते हो तथा उसे पवित्रीकरणकी इस अग्निमें होम देते हो तो तुरंत तुम प्रगतिका आनंद अनुभव करते हो। यदि तुम इसे सच्चाईके साथ करो तो तत्काल आनंदका एक फौवारा फूट पड़ता है।

स्पष्ट ही, यही चीज है जिसे हताश होने और रोने-धोनेके बदले हमें करना चाहिये। यदि तुम इसे पूजा-रूपमें चढ़ा दो और सच्चाईके साथ रूपांतर और पवित्रीकरणके लिये अभीप्सा करो तो तुरत ही तुम अपने हृदयकी गहराईमें हर्षका फौवारा अनुभव करोगे। यदि कठिनाई एक बहुत बड़ा दुःख हो तो भी तुम यह कार्य बड़ी सफलताके साथ कर सकते हो। तब तुम अनुभव करोगे कि उस दुःखके पीछे, चाहे वह जितना भी तीव्र क्यों न हो, एक दिव्य आनंद विद्यमान है।

(मौन)

बस, इतना ही?

(श्रीमाताजी लिखित प्रश्नोंका एक पुलिन्दा दिखाती हैं) मेरा बस्ता धीरे-धीरे मोटा हो रहा है! मेरे पास इतने अधिक प्रश्न आ रहे हैं कि उनका मैं उत्तर नहीं दे सकती...। एकका, जो बहुत व्यावहारिक है, मैं पहले उत्तर दूंगी, क्योंकि वह जल्दीसे समाप्त हो जायगा। इसके अलावा, यह एक ऐसा प्रश्न है जो बहुत बार पूछा जा चुका है, और शायद मैं इसका उत्तर कई बार पहले दे चुकी हूं। पर फिर भी, इसे फिरसे कहना सदा ही अच्छा है।

> **सचेतन गुह्य शक्तियोंके हुए बिना क्या किसी व्यक्तिको बहुत दूरसे कठिनाई या खतरेके समय सहायता या संरक्षण देना संभव है? यदि हां, तो उसकी व्यावहारिक प्रक्रिया क्या है?**

फिर एक उप-प्रश्न है:

> **विचार क्या कर सकता है?**

मैं यहां गुह्य प्रक्रियाओंकी बात बिलकुल नहीं कहने जा रही; यद्यपि, सच पूछा जाय तो, जो कुछ अदृश्य जगत्में होता है वह सब, परिभाषाके अनुसार गुह्य होता है। पर फिर भी, व्यावहारिक दृष्टिसे, इसकी दो प्रक्रियाएं हैं जो एक-दूसरीको बहिष्कृत नहीं करतीं बल्कि पूर्ण बनाती हैं, पर जिनका व्यवहार अपनी रुचिके अनुसार अलग-अलग किया जा सकता है।

स्पष्ट ही, विचार एक साधनका एक अंग है, एक काफी महत्त्वपूर्ण अंग है। मैं पहले कई बार तुम्हें बता चुकी हूं कि यदि कोई स्पष्ट रूपमें और सशक्त रूपसे विचार करे तो वह एक मानसिक रचनाका निर्माण करता है, और प्रत्येक मानसिक रचना अपने निर्मातासे स्वतंत्र एक सत्ता होती है, जिसका अपना निजी जीवन होता है और जो मानसिक जगत्में अपनी संसिद्धि प्राप्त करनेकी प्रवृत्ति रखती है (मेरा मतलब यह नहीं है कि तुम अपनी रचनाको अपनी भौतिक आंखोंसे देखते हो, पर वह मानसिक जगत्में विद्यमान होती है, उसका अपना निजी, विशिष्ट स्वतंत्र अस्तित्व होता है।) यदि तुमने किसी निश्चित उद्देश्यसे कोई रचना बनायी है तो वह सारा जीवन ही इस उद्देश्यकी सिद्धिमें लगा रहेगा। फलस्वरूप, यदि तुम किसीकी दूरसे सहायता करना चाहते हो तो

तुम जिस प्रकारकी सहायता देना चाहते हो और जो परिणाम पाना चाहते हो, बस उसकी रचना बहुत स्पष्ट, बहुत यथार्थ और प्रबल रूपमें तुम्हें करनी होगी। उसका अपना प्रभाव उत्पन्न होगा ही। मैं यह नहीं कह सकती कि वह रचना सर्वशक्तिमान होगी, कारण मानसिक जगत् इस प्रकारकी अनगिनत रचनाओंसे भरा होता है और स्वभावतः ही वे एक-दूसरेके साथ टक्कर खातीं और विरोध करती हैं; अतः सबसे अधिक बल-शाली और अत्यंत हठी रचनाएं ही सबसे अधिक लाभ उठायेंगी।

अब, वह वस्तु कौन-सी है जो मानसिक रचनाओंको बल और स्थायित्व प्रदान करती है? — वह है भावावेग और संकल्प। यदि तुम्हें यह पता हो कि अपनी मानसिक रचनाके साथ किस प्रकार किसी भावावेग, अनुराग, कारुण्य, प्रेमको, और किसी तीव्र संकल्प, किसी क्रिया-शक्तिको जोड़ा जाता है तो उसे सफलता पानेका बहुत बड़ा अवसर प्राप्त होगा। यही है पहली प्रक्रिया। यह उन सभी लोगोंकी पहुंचके भीतर है जो यह जानते हैं कि कैसे सोचा जाता है, और उन लोगोंकी पहुंचके भीतर तो और भी अधिक है जो यह जानते हैं कि कैसे प्रेम किया जाता है। पर, जैसा कि मैं कह चुकी हूं, शक्ति सीमित है और इस जगत्में एक बहुत बड़ी प्रतिद्वन्द्विता है।

अतएव, यदि किसीमें बिलकुल ही कोई ज्ञान न हो पर भागवत कृपा-शक्तिपर भरोसा हो, यदि उसमें यह श्रद्धा हो कि इस जगत्में भागवत कृपा-शक्ति जैसी कोई वस्तु है, और यह कोई वस्तु किसी प्रार्थना, किसी अभीप्सा, किसी पुकारका उत्तर दे सकती है, तो, अपनी मानसिक रचना बनानेके बाद, यदि कोई इसे कृपा-शक्तिको अर्पित कर दे और उस शक्तिमें अपना विश्वास रखे, उससे हस्तक्षेप करनेकी याचना करे और यह विश्वास बनाये रखे कि वह हस्तक्षेप करेगी तो निस्संदेह उसे सफलता पानेका अवसर मिलेगा।

कोशिश करो, और तुम स्पष्ट रूपमें उसका परिणाम देखोगे।

परंतु, माताजी, जब मनुष्य कृपा-शक्तिके हस्तक्षेप करनेके लिये सच्चाईके साथ प्रार्थना करता है तो क्या वह किसी विशेष परि-णामकी आशा नहीं करता?

क्षमा करना, यह निर्भर करता है प्रार्थनाकी भावनापर। यदि कोई कृपा-शक्ति या भगवान्‌को महज पुकारता है और अपने-आपको उसके हाथों-में सौंप देता है तो वह किसी विशिष्ट परिणामकी आशा नहीं करता।

किसी विशिष्ट परिणामकी आशा करनेके लिये मनुष्यको अपनी प्रार्थनाका निर्माण करना होगा, कोई चीज मांगनी होगी। यदि तुम्हारे अंदर भागवत कृपा-शक्तिके लिये केवल एक महान् अभीप्सा है और तुम उसका आवाहन करते हो, उससे कोई भी निश्चित वस्तु मांगे बिना, उससे अनुनय-विनय करते हो तो उस समय तुम नहीं, स्वयं कृपा-शक्ति ही यह चुनाव करेगी कि वह तुम्हारे लिये क्या करे।

वह तो और भी अच्छा है, है न?

आह! वह, वह तो दूसरा प्रश्न है।

स्पष्ट ही, वह शायद अपने ढंगकी उच्चतर वस्तु होगी। परंतु, फिर भी, यदि हम कोई निश्चित वस्तु चाहते हैं तो यह कहीं अधिक अच्छा है कि उसे व्यक्त रूप दिया जाय। यदि कृपा-शक्तिको पुकारनेका कोई विशेष कारण हो तो यह अधिक अच्छा है कि उसे ठीक-ठीक और स्पष्ट रूपमें व्यक्त किया जाय।

निस्संदेह, यदि कोई पूर्ण समर्पणकी स्थितिमें हो और अपने-आपको संपूर्ण रूपमें दे दे, यदि कोई अपने-आपको सिर्फ कृपा-शक्तिके हाथों अर्पित कर दे और वह जो चाहे वही उसे करने दे तो वह बहुत अच्छा है। परंतु उसके बाद उसे यह न सोचना चाहिये कि वह क्या करती है! मनुष्यको उससे यह नहीं कहना चाहिये: "ओह! मैंने यह चीज पानेके विचारसे वैसा किया था," क्योंकि यदि कोई वास्तवमें कोई चीज प्राप्त करनेकी भावना रखता हो तो यह कहीं अधिक अच्छा है कि उसे पूर्ण सच्चाईके साथ, सरल ढंगसे, ठीक जैसी वह चीज दिखती है, व्यक्त किया जाय। उसके बाद, यह चुनाव करना कृपा-शक्तिका कार्य है कि वह उसे करेगी या वह उसे नहीं करेगी; पर हर हालतमें मनुष्य जो कुछ चाहता है उसको उसे स्पष्ट रूपमें आकार देना ही होगा। और इसमें कोई हर्ज नहीं है।

यह बात उस समय अनुचित हो जाती है जब कि प्रार्थना स्वीकृत नहीं होती और मनुष्य विद्रोह कर बैठता है। तब स्वभावतः ही वह बात बुरी हो जाती है। वास्तवमें उस समय मनुष्यको यह समझना चाहिये कि जो कामना उसमें है वह, अथवा उसकी अभीप्सा बहुत प्रदीप्त नहीं रही होगी और संभवतः उसने कोई ऐसी चीज मांगी होगी जो उसके लिये एकदम अच्छी नहीं थी। तब, उस समय उसे थोड़ा समझदार होना चाहिये और महज यह कहना चाहिये: "अच्छा, तेरी ही इच्छा

पूर्ण हो।" परंतु जब मनुष्यमें कोई आंतरिक बोध हो और कोई आंतरिक अभिरुचि हो, तो उसे मूर्त्त रूप देनेमें कोई हर्ज नहीं है। यह बहुत स्वाभाविक क्रिया है।

उदाहरणार्थ, यदि किसीने मूर्खता कर दी है अथवा कोई भूल कर दी है और वह सचमुच, सच्चाईके साथ यह चाहता है कि फिर उसे कभी न करे तो हां, मैं उसके लिये याचना करनेमें कोई हानि नहीं देखती। और वास्तवमें, यदि कोई सच्चाईके साथ, सच्ची आंतरिक सच्चाईके साथ, उसके लिये प्रार्थना करे तो इस बातकी बहुत संभावना है कि वह मंजूर हो जायगी।

तुम्हें यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि भगवान् तुम्हारा विरोध करना चाहते हैं। वह इसे बिलकुल नहीं चाहते! तुम्हारे लिये क्या अच्छा है, यह वह तुमसे अधिक अच्छे रूपमें देख सकते हैं; परंतु यथार्थमें जब यह एकदम अनिवार्य हो जाता है केवल तभी वह तुम्हारी अभीप्सा-का विरोध करते हैं। अन्यथा वह सर्वदा मांगी हुई वस्तु देनेके लिये तैयार रहते हैं।

बस पर्याप्त है?

(मौन)

यहां तीन उद्धरण हैं जिन्हें समझाने या जिनकी व्याख्या करनेके लिये मुझसे कहा गया है। इनमेंसे अंतिम एक प्रकारसे उसी बातसे संबंधित है जिसकी हम अभी चर्चा कर रहे थे। उसीसे मैं आरंभ कर रही हूं:

> "यदि कोई इस **कृपा-शक्तिके** साथ युक्त हो, यदि कोई इसे सर्वत्र देखे तो वह परमोल्लास, सर्वशक्तिमत्ता, अनंत आनंदका जीवन यापन करना आरंभ कर देगा। और वही होगा दिव्य कर्ममें सर्वोत्तम संभव सहयोग।"

(१ अगस्त, १९५६ की वार्ता)

पहली अवस्था बहुत आसानीसे नहीं प्राप्त होती। वह जीवनमें सचेतन विकास, सतत निरीक्षण और अविच्छिन्न अनुभवका परिणाम होती है। मैं पहले कई बार यह बात तुम लोगोंसे कह चुकी हूं। जब तुम एक विशेष प्रकारकी परिस्थितियोंके बीच होते हो और कुछ घटनाएं घटती हैं तो बहुधा ये घटनाएं तुम्हारी इच्छाका या जो कुछ तुम्हें सर्वोत्तम

प्रतीत होता है उसका प्रतिरोध करती हैं, और बहुधा तुम इसके लिये दुःखी होते हो और अपने-आपसे छोटी वस्तुओं और बड़ी वस्तुओंके लिये भी कहते हो: "आह! यदि यह ऐसा या वैसा हुआ होता तो कितना अच्छा होता" ...। उसके बाद वर्ष-पर-वर्ष निकल जाते हैं, घटनाओं-पर-घटनाएं होती हैं; तुम प्रगति करते हो, अधिक सचेतन बन जाते हो, पहलेसे अच्छा समझने लगते हो, और जब तुम पीछेकी ओर ताकते हो, तुम देखते हो—पहले तो अचंभेके साथ, फिर बादमें एक मुस्कानके साथ—कि जो प्रसिद्ध परिस्थितियां तुम्हें बिलकुल अनर्थपूर्ण और प्रतिकूल प्रतीत हुई थीं वे ही ठीक-ठीक वे सर्वोत्तम चीजें थीं जो, उस समय तुम्हें जैसी उन्नति करनी थी उसे करानेके लिये, तुम्हारे साथ हो सकती थीं। और यदि तुम जरा भी विज्ञ होओ तो तुम अपने-आपसे कहते हो: "सचमुच भगवान्‌की कृपा अनंत है।"

अतएव, जब इस प्रकारकी चीज अनेक बार तुम्हारे साथ हो चुकती है, तो तुम यह समझना आरंभ कर देते हो कि मनुष्यकी अंधता और भ्रामक बाह्य रूपके बावजूद यथार्थमें भगवत्कृपा ही वह चीज है जो सर्वत्र कार्य कर रही है, जिससे कि प्रत्येक मुहूर्त्त उन स्थितियोंमें जिनमें कि यह संसार उस मुहूर्त्तमें होता है सर्वोत्तम संभवनीय वस्तु ही होती है। चूंकि हमारी दृष्टि सीमित है अथवा इसलिये भी कि हम अपनी ही निजी अभिरुचियोंके द्वारा अंध बने होते हैं, हम यह नहीं देख पाते कि चीजें इस प्रकारकी हैं।

परंतु मनुष्य जब इसे देखना आरंभ करता है तो वह उन आश्चर्यों-मेंसे एक आश्चर्यको स्वीकार करता है जिनका वर्णन कोई चीज नहीं कर सकती। क्योंकि बाह्य रूपोंके पीछे मनुष्य इस कृपा-शक्तिको देखता है—जो अनंत, आश्चर्यमय, सर्वशक्तिशाली है—जो सब कुछ जानती है, सब कुछ व्यवस्थित करती है, सब कुछ संगठित करती है, और हमें—हम उसे चाहें या नहीं; हम उसे जानें या नहीं—परात्पर लक्ष्यकी ओर अर्थात् भगवान्‌के साथ एकत्व-प्राप्तिकी ओर, परम देवके ज्ञान और उनके साथ एकत्वकी ओर ले जाती है।

तब मनुष्य भगवत्कृपाके कार्य और उसकी उपस्थितिके अंदर आनंदसे, आश्चर्यसे भरपूर जीवन यापन करता है और एक अद्भुत शक्ति-सामर्थ्य-का अनुभव करता है तथा उसके साथ-ही-साथ उसमें उसके प्रति एक ऐसा भरोसा होता है जो इतना शांत-स्थिर, इतना पूर्ण होता है कि कोई चीज अब उसे हिला-डुला नहीं सकती।

और जब मनुष्य पूर्ण ग्रहणशीलता तथा पूर्ण अनुरक्तिकी इस स्थितिमें

होता है, वह उस हदतक भागवत कार्यके पीछे संसारके प्रतिरोधको कम कर देता है; फलतः, वही है वह सर्वोपरि सहयोग जिसे मनुष्य भगवान्-के कार्यमें दे सकता है। मनुष्य तब समझता है कि भगवान् क्या चाहते हैं, और अपनी समूची चेतनाके साथ उनकी इच्छाका अनुसरण करता है।

१५ अगस्त, १९५६

"यहीं हमारे अंतःस्थ निगूढ़ चैत्य पुरुषका यज्ञके अग्रणीके रूपमें आविर्भाव अत्यंत महत्त्व रखता है। यह अंतरतम पुरुष ही कर्ममें आत्माका पूर्ण बल तथा प्रतीकमें सार-तत्त्व ला सकता है। यही प्रतीककी सनातन नूतनता, सत्यता और सुन्दरताका विश्वास दिला सकता है, तब भी जब कि आध्यात्मिक चेतना अपूर्ण होती है; यह उसे मृत रूप या दूषित तथा दूषक जादू-टोना बन जानेसे बचा सकता है। यही कर्मके लिये प्रतीककी शक्ति-को इसके आशयके सहित सुरक्षित रख सकता है। हमारी सत्ताके अन्य सभी अंग — मन, प्राण-शक्ति, भौतिक या शारी-रिक चेतना — इतने अधिक 'अविद्या'के वशमें हैं कि ये विश्वस्त यंत्र नहीं हो सकते, किसी पथ-प्रदर्शक या निर्भ्रांत आवेगके स्रोत बनना तो और भी दूरकी बात है। इन अंगों या शक्तियोंके प्रेरक भाव और कर्मका बहुत बड़ा भाग सर्वदा प्रकृतिके पुराने नियम, धोखा देनेवाली मीठी गोलियों तथा रुचिकर निम्न गतियोंसे ही चिपटा रहता है। ये उन वाणियों और शक्तियोंका, जो हमें अपनी ओर पुकारती हैं और प्रेरित करती हैं कि हम अपनेको अतिक्रांत करके महत्तर सत्ता तथा विशालतर प्रकृतिमें रूपांतरित कर दें, अनिच्छा, धमकी या विद्रोह या बाधक जड़ताके द्वारा सामना करती हैं। इनके अधिकतर भागका प्रत्युत्तर या तो विरोध-रूप होता है अथवा मर्यादित या समयानुकूल स्वीकृति-रूप। यदि ये पुकारके पीछे चलती भी हैं तो भी, जान-बूझकर नहीं तो यांत्रिक अभ्यासवश, ये आध्यात्मिक क्रियाके अंदर अपनी स्वभावगत दुर्बलताएं तथा

भ्रांतियां ले आनेमें लग जाती हैं। प्रतिक्षण ही ये आंतरात्मिक तथा आध्यात्मिक प्रभावोंसे स्वार्थपूर्ण लाभ उठानेके लिये प्रेरित होती हैं। उन प्रभावोंसे हमारे भीतर जो बल, हर्ष या प्रकाश आता है उसे ये निम्नतर प्राणिक हेतुके लिये प्रयुक्त करती हुई पकड़ी जा सकती हैं। बादमें, जब जिज्ञासु विश्वातीत, विश्वव्यापी या अंतर्यामी भागवत प्रेमकी ओर खुल जाता है तब भी, यदि वह इसे जीवनके अंदर उंडेलनेका यत्न करता है, तो उसे इन निम्नतर प्रकृति-शक्तियोंके अंधकार तथा विकार पैदा करनेवाले बलका सामना करना पड़ता है। सदैव ये गड्ढोंकी ओर घसीटती हैं, उस उच्चतर तीव्रतामें अपने पतनकारी तत्त्व डाल देती हैं, उतरती हुई शक्तिको अपने लिये तथा अपने स्वार्थोंके लिये पकड़ लेनेकी चेष्टा करती हैं और इसे कामना तथा अहंकारका एक बढ़ा-चढ़ा मानसिक, प्राणिक या भौतिक साधन बनाकर पतित कर डालती हैं। भागवत प्रेम तो सत्य और प्रकाशके एक नये स्वर्ग तथा नये संसारकी सृष्टि करनेवाला प्रेम है, किंतु ये उलटे उसीको यहां बन्दी बना लेना चाहती हैं, इसलिये कि वह पुराने संसारकी दलदलपर सोनेका मुलम्मा चढ़ानेके लिये और भावोद्दीपक प्राणिक कल्पना तथा मानसिक आदर्शभूत मनोरथ-सृष्टिके पुराने मलिन मिथ्या आकाशोंको अपने नीले-गुलाबी रंगसे रंगनेके लिये एक बड़ी भारी अनुमति तथा गौरवप्रद एवं उन्नायक बल बनकर रहे। यदि ऐसा मिथ्याकरण होने दिया गया तो उच्चतर प्रकाश, बल और आनंद लौट जायेंगे और हम निम्नतम अवस्थामें पतित हो जायेंगे; अथवा हमारी उपलब्धि एक अरक्षित पड़ाव और मिश्रणतक ही सीमित रहेगी या वह एक हीनतर हर्षावेगसे ढक जायगी, यहांतक कि उसमें डूब ही जायगी, पर वह हर्षावेग सच्चा आनंद नहीं होगा। यही कारण है कि भागवत प्रेम समस्त सृष्टिका हृदय और सभी उद्धारक तथा सर्जक शक्तियोंमें अत्यंत बलशाली होता हुआ भी पार्थिव जीवनमें बहुत ही कम सामने उपस्थित, सबसे कम सफल रक्षक एवं सबसे कम सर्जक रहा है। मानव-प्रकृति इसे इसकी शुद्धावस्थामें सहन करनेमें असमर्थ रही है, कारण यही है कि यह सभी दिव्य बलोंमें सर्वाधिक प्रबल, पवित्र, विरल और तीव्र है। जो थोड़ा-सा ग्रहण किया जा सकता था उसे भी तुरंत बिगाड़कर प्राणगत

अतिशय पुष्पाडंबर, दुर्बल धार्मिक या नैतिक भावुकता, प्रफुल्ल मन या उत्तेजना-कलुषित जीवन-आवेगके ऐंद्रिय या यहांतक कि लंपट प्रेम-संबंधी गुह्यवादका रूप दे दिया गया है। जो 'गुह्य-ज्वाला' अपनी होम-शिखाओंसे संसारका नव-निर्माण कर सकती है, यह विकृत प्रेम उसे आश्रय देनेमें असमर्थ है और इस कमीकी पूर्ति उक्त मिथ्याचारोंसे की गयी है। केवल अंतरतम हृत्पुरुष ही अनावृत और अपनी पूरी शक्तिके साथ उदित होकर हमारी जीवन-यात्राके यज्ञको इन गर्त्तजालोंमेंसे अक्षत ले चल सकता है। प्रतिक्षण यह मन और प्राणके असत्योंको पकड़ता है, उनकी पोल खोलता तथा उन्हें हटाता है, दिव्य प्रेम एवं आनंदके सत्यको दृढ़तापूर्वक अधिकृत करता है और उसे मनकी उमंगोंके उत्तेजनसे तथा मार्गभ्रष्ट करनेवाली प्राण-शक्तिके अंध उत्साहसे पृथक् करता है। परंतु मन, प्राण और स्थूल सत्तामें जो भी चीजें अपने अंतःसारकी दृष्टिसे सत्य हैं उन सबका यह उद्धार करता है और उन्हें तबतक यात्रामें अपने संग लिये चलता है जबतक कि वे भावनामें नवीन तथा आकृतिमें उदात्त होकर शिखरोंपर आरोहण करती चल सकती हैं।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, पृ० १९१-१९२)

यह उन सब प्रश्नोंका अत्यंत शक्तिशाली, पूर्णतम तथा सत्यतम उत्तर है जिसे इतने सारे लोग अपने मस्तिष्कमें रखते तो हैं पर पूछनेका साहस नहीं करते।

लोग दिव्य संरक्षणकी क्षमतापर; दिव्य पथकी सुनिश्चिततापर संदेह करते हैं, क्योंकि कुछ लोग पथभ्रष्ट हो जाते हैं। और अपनी अहंता-में लोग अपने-आपसे वह बात नहीं कहते जिसे मैंने अभी इस शामको तुम्हारे सामने पढ़ा है, और उसके स्थानपर वे भयसे थरथराते हैं, जो कि सभी बड़ी या छोटी विपत्तियोंका कारण है, जो उन सभी लोगोंको चेतावनी देती है जो पर्याप्त रूपमें शुद्ध और सच्चे होनेकी आवश्यक सावधानी बरते बिना योगके पथका अनुसरण करते हैं।

कोई संरक्षण, कोई कृपा-शक्ति उन लोगोंकी रक्षा नहीं कर सकती जो अनिवार्य शुद्धीकरणको अस्वीकार करते हैं।

और मैं इतना और जोड़ दूंगी: कि भय एक प्रकारकी अपवित्रता है; सबसे बड़ी अपवित्रताओंमेंसे एक है, उनमेंसे एक जो उन भगवद्विरोधी शक्तियोंके अत्यंत प्रत्यक्ष परिणाम होती हैं जो पृथ्वीपर भागवत कार्यको

नष्ट कर देना चाहती हैं; और जो लोग सचमुच योग करना चाहते हैं उनका सबसे पहला कर्तव्य है अपनी सारी शक्ति, सारी सच्चाई तथा जितनी सहिष्णुता वे धारण कर सकें उस सबके साथ अपनी चेतनामेंसे भय-की छायातकको निकाल फेंकना, मार्गपर चलनेके लिये हमें निर्भय होना होगा, और कभी उस क्षुद्र, तुच्छ, दुर्बल, निकृष्ट, अपनी ही ओर पीठ फेर देनेके भावको, जो कि भय है, प्रश्रय नहीं देना होगा।

एक अदम्य साहस, एक पूर्ण निष्ठा और एक आत्मदान जो इतना सच्चा हो कि मनुष्य न तो हिसाब लगाये न मोल-तोल करे, पानेकी भावनासे न दे, संरक्षण पानेकी भावनासे निर्भरशील न हो — ऐसी श्रद्धा न रखे जो प्रमाण मांगती हो — बस, यही चीज पथपर चलनेके लिये अनिवार्य है, और बस यही चीज है जो वास्तवमें तुम्हें सभी खतरोंमें सुरक्षा प्रदान कर सकती है।

(मौन)

तुम्हारे पास कोई प्रश्न है, है?

> **प्यारी माताजी, हम दर्शन-दिनोंपर[1] एक अलग-सा वातावरण क्यों अनुभव करते हैं? हमें इन दिनोंपर कैसे आचरण करना चाहिये?**

अलग? तुम यही पूछ रहे हो न! ... यह कम या अधिक अंधकारपूर्ण और विजातीय तत्त्वोंका आक्रमण होता है, वे, संभवतः, शुभेच्छाके साथ आ सकते हैं; पर वे प्रायः पूर्ण अज्ञान ले आते हैं और उसे संपूर्ण रूपसे यहां वातावरणमें फेंक देते हैं; और फिर स्वभावतः ही, यदि कोई जरा भी उस ओर खुला होता है जो कि हो रहा होता है, वह इस परिवर्द्धित अज्ञानके बोझके नीचे अपनेको कुचला हुआ अनुभव करता है।

मेरा मतलब यह नहीं है कि यहां कोई अज्ञान नहीं है! पर फिर भी,

---

[1]दर्शन-दिवसोंपर दर्शनार्थियों और शिष्योंको श्रीमाताजी (और पहले श्रीअरविंद) के सामनेसे एक-एक करके गुजरने दिया जाता था ताकि उनकी आध्यात्मिक सहायता सीधे प्राप्त कर सकें। १५ अगस्त, श्री अरविंदका जन्म-दिवस, वर्षके चार दर्शनोंमेंसे एक दर्शन-दिवस है। इस वर्ष (१९५६) विशेषकर दर्शनार्थियोंकी संख्या बहुत बड़ी थी।

मात्रा थोड़ी भिन्न है। यहां, बिलकुल वैसी ही, एक प्रकारकी चेतनाके परिचालन निरंतर, दिन-रात, दृश्य रूपमें, अदृश्य रूपमें चल रहे हैं; और कोई इसे चाहे या न चाहे, सब चीजोंके बावजूद मनुष्य इसे अपने अंदर ग्रहण करता है और कुछ कालके बाद वह कार्य करती है।

जब थोड़ेसे लोग आते हैं तो कुछ चीज बदलती है, पर वह परिवर्तन इतना अधिक नहीं होता जिससे कि कोई दुःख अनुभव हो; परंतु जब इस प्रकारकी भीड़ आती है, एकाएक टूट पड़ती है, तब समूचा स्तर तुरत नीचे गिर जाता है, और यदि मनुष्य अपने अंदर घुस जानेमें तथा अपने मस्तकको इन डुबानेवाली तरंगोंसे, अज्ञानकी इस गर्क करनेवाली बाढ़से ऊपर बनाये रखनेमें समर्थ न हो, यदि कोई अपना सिर इससे ऊपर न उठा सके तो, हां, वह बहुत बेचैनी अनुभव करता है।

नहीं, माताजी, वह आनंदका वातावरण होता है

तुम्हारे लिये वह आनंदका वातावरण होता है?

हां, माताजी।

तब वह बिलकुल व्यक्तिगत बात है, मेरे बच्चे। यह विशुद्ध रूपमें कोई व्यक्तिगत चीज है। और तुम्हें उसे बनाये रखनेमें सक्षम होना चाहिये।

वह अनुभव इसलिये आता है कि उस समय तुम्हारे अंदर स्मृतियां जाग्रत होती हैं, एक प्रकारकी एकाग्रता आती है। शायद जिसे तुम आनंद कहते हो वह कोई प्राणिक हर्ष हो सकता है, क्या तुम ऐसा नहीं समझते? क्या वह एक प्रकारकी उत्तेजनाकी स्थिति नहीं होती? तुम यह आनंद कब अनुभव करते हो?

आज, दर्शनके बाद।

मैं समझती हूं कि यह वही चीज है जो उन लोगोंके साथ होती है जो अपने जन्मदिनपर अधिक ग्रहणशील होते हैं अथवा जिन्हें अपनी ग्रहणशीलता जगानेके लिये किसी विशेष घटनाको याद करनेकी जरूरत होती है।

उन दिनों जब श्रीअरविंद दर्शन दिया करते थे, दर्शन देनेसे पहले, सर्वदा ही कुछ शक्तियोंकी या उस विशिष्ट अनुभूतिकी एकाग्रता या घनीकरण

होता था जिसे वह लोगोंको देना चाहते थे। और इसलिये प्रत्येक दर्शन एक पग आगे बढ़ना था; प्रत्येक बार कोई चीज जुड़ जाती थी। परंतु यह उस समय होता था जब कि दर्शनार्थियोंकी संख्या बहुत सीमित होती थी। यह सब दूसरे ढंगसे व्यवस्थित होता था; और यह आवश्यक तैयारी-का एक अंग था।

परंतु यह विशिष्ट एकाग्रता, अब, अन्य समयोंपर होती है, न कि विशेषतः दर्शन-दिनोंपर। और यह पहलेसे बहुत अधिक बार होता है दूसरे प्रकारके अवसरोंपर, अन्य परिस्थितियोंके अधीन। यह क्रिया बहुत अधिक तेज हो गयी है, गति बढ़ गयी है; अवस्थाएं एकके बाद एक बहुत तीव्रतासे आती हैं। और संभवतः उसका अनुसरण करना अधिक कठिन हो गया है; बहरहाल, यदि कोई अनुसरण करनेकी परवा नहीं करता तो वह पहलेकी अपेक्षा अधिक जल्द पीछे छूट जाता है; उसे लगता है कि उसे देर हो गयी है अथवा वह छोड़ दिया गया है। सारी चीजें शीघ्रता-के साथ बदलती हैं।

और मुझे कहना ही होगा कि इन दर्शन-दिवसोंका, लोगोंकी इस सब भीड़के बावजूद, आंतरिक (अर्थात् आश्रमके लिये,' आंतरिक) प्रगतिकी दृष्टिसे उतना अधिक लाभ नहीं होता जितना कि बाहरकी ओर फैलाव-के लिये होता है। इन दिवसोंकी उपयोगिता कुछ भिन्न प्रकारकी है; यह उपयोगिता, सर्वोपरि, अधिक दूरतक जानेके लिये, एक विशालतर क्षेत्र अधिगत करने तथा अधिक सुदूर बिन्दुओंतक पहुंचनेके लिये है। परंतु एकाग्रता कम होती है और एक बड़ी भीड़की यह असुविधा होती है जो थी तो बराबर ही पर जो इन विगत वर्षोंमें प्रारंभकी अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गयी है। प्रारंभमें ऐसी भीड़ नहीं होती थी; और संभवतः भीड़ भी थोड़ी भिन्न प्रकारकी होती थी।

अतएव जिस हर्षकी तुम बात कर रहे थे वह एक प्रकारकी उत्तेजना अथवा एक अधिक तीव्र या अधिक सक्रिय जीवनका अनुभव होगा; परंतु वह यथार्थमें कोई महत्तर 'उपस्थिति' नहीं है। मनुष्य संभवतः अपने-आपको एक अधिक ग्रहणशील स्थितिमें ला देता है जिसमें वह अधिक ग्रहण करता है, पर वहां 'उपस्थिति' की कोई घनता नहीं होती (जहां-तक कि मैं जानती हूं)।

इसलिये तुम्हें स्वयं अपने अंदर ही उसका कारण खोजना होगा और इस हर्षको बनाये रखनेका उपाय भी।

परंतु, श्रीमाताजी, आप प्रत्येक दर्शन-दिवसपर जो संदेश दिया

करती हैं उसका क्या अर्थ होता है? उदाहरणार्थ, आज आपने उस फूलका चित्र दिया है जिसका आध्यात्मिक अर्थ है अति-मानसिक अभिव्यक्ति।[1]

हां, जैसा कि मैंने अभी कहा है, यह संदेश हजारों प्रतियोंके द्वारा सारे संसारमें फैल जाता है। यह उस वस्तुका बाह्यीकरण है, यह प्रभावको फैलानेका, संदेशको फैलानेका, दूर-दूरतक पहुंचानेका एक तरीका है। दर्शन-संदेशमें कही गयी प्रत्येक चीज **पहलेसे** सुचिंतित, प्रमाणित और परीक्षित होती है। और दर्शन-दिवसको वह दी जाती है। पहले परी-क्षण किया जाता है, फिर उसे सार्वजनिक रूपसे घोषित किया जाता है। पहली क्रिया होती है व्यक्तिगत विकासकी; दर्शनोत्सवोंपर वह चीज सर्वत्र फैल जाती है।

श्रीअरविंदने सर्वदा ही दो गतियोंकी चर्चा की है: व्यक्तिका निर्माण ताकि वह व्यक्तिगत रूपसे लक्ष्यतक पहुंचनेमें समर्थ हो, और जगत्‌की तैयारी... प्रगति, ऐसा कह सकते हैं कि, समष्टिकी अवस्थाके द्वारा न तो एकदम पीछे रोक ली जाती है, न ही उससे सहायता पाती है, पर वह (स्थिति) दोनोंके बीच एक प्रकारका संतुलन उत्पन्न करती है। वैयक्तिक गति सर्वदा ही बहुत अधिक तीव्र और अधिक पैनी होती है; वह बहुत आगे, बहुत गहराईमें और अधिक तेजीसे जाती है। समष्टिगत गति एक प्रकारकी नींव बनती है जो एक साथ ही नियंत्रित करने और अवलंब देनेका कार्य करती है। और वास्तवमें इन दोनों गतियोंके बीच संतुलन रहना आवश्यक है। अतएव, मनुष्य जितने ही अधिक वेगसे व्यक्तिगत रूपसे आगे बढ़ता है, उतना ही अधिक इस समष्टिगत आधारको फैलाने और सुदृढ़ बनानेका प्रयास आवश्यक होता है।

माताजी, क्या इस दिन, १५ अगस्तका कोई गुह्य (या साधारण) अर्थ है? कारण, इतिहासमें, इस दिन महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटीं।

तुम्हारा ठीक-ठीक आशय क्या है? १५ अगस्त श्रीअरविंदका जन्मदिवस

---

[1]एक बड़ा गेंदके आकारका फूल जो सफेद, लाल और सुनहरे पराग-केसरोंसे बना हुआ एक गेंदके जैसा होता है।

है। परिणामतः, पार्थिव जीवनमें, भौतिक दृष्टिकोणसे, इस तिथिका बहुत बड़ा महत्त्व है। और तब?

१५ अगस्तको अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटीं...?

कौन? भारतकी स्वाधीनता? इसी कारण भारतकी स्वाधीनता १५ अगस्तको प्राप्त हुई? और इसीलिये, तुम्हें यह बतानेकी आवश्यकता है कि यह क्यों हुआ, क्या तुम स्वयं इसका पता नहीं लगा सकते? इसे कहनेकी आवश्यकता है? मैं समझती हूं श्रीअरविंदने जो संदेश दिया था उसमें इसे लिखा भी है, नहीं लिखा है? क्या उन्होंने यह नहीं बताया है?[1]

(मौन)

हां, यह ठीक-ठीक यही बात है...।

आज, मेरे हाथमें एक ऐसा 'ग्रीटिंग कार्ड' आया जैसा कि लोग (दुर्गा) पूजाके अवसरपर या नये वर्षपर या अन्य ऐसे ही त्योहारोंपर भेजते हैं; और इस कार्डपर कुछ इस प्रकार लिखा था (मुझे ठीक-ठीक शब्द नहीं मालूम) पर कम-से-कम वह कुछ इस प्रकार था "अपने राष्ट्रके इस स्मरणीय जन्मदिवसपर अभिनंदन।" इसे एक ऐसे व्यक्तिने भेजा था जिसने, मैं समझती हूं, बहुत दिन पहले अपनेको श्रीअरविंदका शिष्य घोषित किया था...। यह मुझे एक ऐसा महापातक प्रतीत हुआ जिसे करनेमें एकमात्र मानवीय मूढ़ता ही समर्थ होती है। यदि उसने यह कहा होता : "श्रीअरविंदके इस स्मरणीय जन्मदिवस तथा इसके स्वाभाविक परिणाम, राष्ट्रके जन्म-दिवसपर", तो वह बिलकुल ठीक हुआ होता। परंतु फिर भी महत्त्वपूर्ण बात छोड़ दी गयी थी और दूसरीका उल्लेख था, जो बिलकुल सहज रूपमें एक परिणाम है, एक स्वाभाविक फल है : इसे ऐसा ही होना था, यह अन्यथा नहीं हो सकता था।

परंतु लोग सर्वदा इसी ढंगसे, गलत तरीकेसे सोचते हैं। सर्वदा ही। वे परिणामको ही कारण मान लेते हैं, वे परिणामको महत्त्व प्रदान करते हैं और कारणको भूल जाते हैं।

---

[1]श्रीमाताजी उस संदेशकी ओर संकेत करती हैं जो श्रीअरविंदने १५ अगस्त, १९४७को दिया था। हम इस वार्तालापके परिशिष्टमें उसे पूरा-का-पूरा प्रकाशित कर रहे हैं।

और, बस यही कारण है कि संसार सिर नीचे और पांव हवामें रखकर चलता है। बिलकुल स्पष्ट रूपमें, इसका दूसरा कोई कारण नहीं है।

(मौन)

मेरे पास यहां प्रश्नोंका एक बहुत बड़ा अंबार है। फिर भी आज एक और प्रश्न मेरे पास आया है। यह प्रश्न शायद एक ऐसी समस्याको उठाता है जो संसारके लिये सबसे कठिन है। अतएव मैं यह बिलकुल नहीं समझती कि, ठीक इस दर्शन-वातावरणमें, ऐसी समस्याको छूना उचित है या नहीं। परंतु यह बहुत मजेदार है। हम एक पूर्णतः संतोषजनक समाधान पाना चाहेंगे, क्योंकि तब हमें तुरत-फुरत वह चाभी मिल जायगी जो अंतिम दरवाजेको खोल देती है।

मनुष्यने जब-जब विश्व-जीवनकी समस्याका कोई समाधान पाना चाहा है तब-तब उसने दो संभव मनोभावोंके सम्मुख अपनेको उपस्थित पाया है। व्यावहारिक दृष्टिकोणसे यह कहा जा सकता है कि चूंकि विश्व है और वैसा ही है जैसा कि है, अतः सबसे अधिक समझदारीकी बात यह है कि उसे उसी रूपमें लिया जाय, और यदि कोई उससे संतुष्ट नहीं है तो, हां, उसे अधिक अच्छा बनानेकी कोशिश की जाय। परंतु कोई यदि इस पूर्णतः व्यावहारिक मनोभावको ग्रहण करे तो भी यह समस्या बनी रहती है कि "किस प्रकार उसे अधिक अच्छा बनाया जाय? और फिर एक बार मनुष्यके सामने वह बात उपस्थित हो जाती है जिसे हल करना असंभव प्रतीत होता है। यही बात है, फिर:

भागवत इच्छा (और उसे अभिव्यक्त करनेवाली भागवत-कृपा) सर्वशक्तिमान है और कोई ऐसी वस्तु संसारमें नहीं रह सकती जो इस भागवत इच्छा तथा इसे व्यक्त करनेवाली 'कृपा-शक्ति'की अभिव्यक्ति न हो...। सो, न्यायसंगत मनोभाव (वह मनोभाव जिसका इतना ठीक-ठीक वर्णन उस छोटी-सी पुस्तकमें किया गया है जिसे मैं, आजकल, हर शुक्रवारको तुम्हारे सामने पढ़ा करती हूं और जिसका नाम है 'ब्रू वी"[1]) पूर्ण शांति, सर्वांगीण समर्पण, समस्त प्रयास और समस्त व्यक्तिगत संकल्पका परिवर्तन, भागवत 'संकल्प'के प्रति आत्मदान और अपने द्वारा उसे कार्य करने देनेकी अनुमति।

---

[1] 'आंरी बोरेलद्वारा लिखित एक उपन्यास जो 'लाओ-त्स' के दर्शनशास्त्रपर आधारित है।

ध्यान दो, यह बात बिलकुल आसान नहीं है, यह उतनी सरल नहीं है जितनी दिखायी देती है। परंतु फिर भी, यदि कोई सच्चाईके साथ यह मनोभाव ग्रहण करे तो यह निश्चित है कि तुरत एक पूर्ण आंतरिक शांति, एक विशुद्ध आनंद प्राप्त हो जाता है, और तुम्हारे जीवनमें कुछ भी क्यों न घटे, तुम उससे पूरी तरह अछूते रहते हो। बस, व्यक्तिगत मुक्तिके लिये सर्वदा इसी बातकी सलाह दी गयी है; और मैं सरसरी तौरपर यह टिप्पणी कर सकती हूं कि इस छोटी-सी पुस्तकमें, जो काफी सुन्दर भी है और बहुत अच्छे ढंगसे लिखी गयी है, महात्माने जिस समर्पणकी बात कही है उसकी स्थितिकी तुलना उस समुद्रसे करते हैं जो स्थिर, नीलवर्ण, शान्तिपूर्ण, विशाल है, जो एक गभीर शक्तिसे चालित होता है, जब आवश्यकता होती है तो उमड़ पड़ता है, जब आवश्यकता होती है तो शांत हो जाता है — निस्संदेह, यह एक आदर्श वर्णन है। परंतु कोई व्यावहारिक तथा किंचित् तटस्थ मन तुरत तुमसे कहता है: "अच्छा, हां, परंतु समुद्रमें झंझावात भी उठते हैं, उसमें भयंकर तूफान भी आते हैं, उसमें ज्वार-भाटा भी होते हैं; जलमग्न द्वीप भी होते हैं। और, इसलिये वह शायद भगवान्का दूसरा पहलू है, पर वह शांति नहीं लाता, कम-से-कम महात्माद्वारा वर्णित तरीकेसे नहीं। ऐसी स्थितियोंमें शांति पानेके लिये मनुष्यको चेतनाकी एक दूसरी ही स्थितिमें रहना होगा, उसे समुद्रके साथ अपनी तुलना नहीं करनी होगी!" अतएव समस्या फिर एक बार सामने आ जाती है।

श्रीअरविंदने इन सब बातोंपर 'दिव्य जीवन' ग्रंथमें विचार-विमर्श किया है, और वह हमसे कहते हैं कि एक क्रमवर्द्धमान विकासके सुनिश्चित लक्षण दिखायी देते हैं। क्रमविकास स्वभावतः एक लक्ष्यकी ओर जाता है, और यदि यह एक क्रमोन्नत क्रमविकास है तो हम यह विचार कर सकते हैं कि सब कुछ भागवत कृपा-शक्ति और संकल्प-शक्तिकी अभिव्यक्ति है, पर साथ ही सब कुछ वैसा नहीं है जैसा कि उसे होना चाहिये। प्रत्येक वस्तु भागवत संकल्प-शक्तिके अनुरूप है, पर प्रत्येक वस्तु वैसी नहीं है जैसी होनी चाहिये, अन्यथा वस्तुएं आगे न बढ़तीं।

और यहां हम फिर समस्याके सम्मुख उपस्थित होते हैं।

जो प्रश्न मुझसे पूछा गया है वह है:

> **"अब, जब कि 'अतिमानस' पृथ्वीपर अभिव्यक्त हो गया है, स्वभावतः इसका तात्पर्य यह होगा कि भागवत कृपा-शक्ति सर्व-शक्तिमान है", और मुझसे पूछा गया है कि "क्या यह सच है?"**

भागवत कृपा-शक्ति सदा-सर्वदा सर्वशक्तिमान रही है।

और फिर भी यदि हम इस जगत्‌की तुलना, जैसा कि यह है, उस न्यूनाधिक आदर्श जगत्‌के साथ करें जिसकी कल्पना हम अपनी अन्त-चेतनामें जाकर करते हैं जिसे हम अधिक दिव्य कहते हैं, तो यह कैसे होता है कि भागवत कृपाके सर्व-शक्तिमान होते हुए यह उसके समान अच्छा नहीं होता।

ऐसा लगता है कि जो कुछ होना चाहिये उसका दर्शन जो कुछ हो चुका है उससे बहुत अधिक आगे चला जाता है — और बस यही चीज सारी समस्याको उत्पन्न करती है...। मनुष्य सिद्धिको बहुत आगे (अथवा बहुत ऊपर) देखता है, शायद ठीक अगले कदमके रूपमें नहीं, पर फिर भी उस रूपमें देखता है जो एक दिन होगा; और फिर जैसे ही वह इसे देखता है वह अपने-आपसे कहता है: "परंतु यह परिकल्पना जो कुछ अभी संसिद्ध हुआ है उससे अधिक दिव्य है; फलस्वरूप, यदि भागवत 'कृपा' सर्व-शक्तिमान है तो इसे तुरत संसिद्ध हो जाना चाहिये।" (मैं इस समय समस्याओंको ऐसे ढंगसे देख रही हूं जैसे या लगभग जैसे — मेरे ख्यालसे — कोई मानवीय मन इसे देखेगा, ताकि मैं स्वयं इसकी जांच कर सकूं और इसे समझ सकूं।)

परंतु किस वस्तुको मनुष्य एक सर्व-शक्तिमान कृपा-शक्ति कहता है? मैं किसी साधारण मनकी कल्पनाओंकी चर्चा करना नहीं चाहती जिसके लिये सर्व-शक्तिमान कृपा-शक्ति वह है जो उस चीजको तुरत-फुरत संसिद्ध कर देगी जो उसकी पसंदके अनुसार या उसके विश्वासके अनुसार यथार्थ वस्तु है; मैं उसकी चर्चा नहीं कर रही हूं, हम इस बालोचित स्थितिका परित्याग कर सकते हैं। परंतु हम यदि यह मान लें कि किसी व्यक्तिको एक गभीरतर, उच्चतर दर्शन प्राप्त है, उसे एक ऐसे आदर्श जगत्‌की एक प्रकारकी आंतरिक धारणा प्राप्त है जहांसे हमें बहुत आघात पहुंचानेवाली सभी चीजें विलीन हो जायंगी; तब भी वास्तवमें हमारे सम्मुख एक समस्या रह जाती है जिसका समाधान नहीं मिलता।

यह बहुत साधारण मनोंके लिये एक अति-सरल और अत्यंत बचकाना रूप ले लेती है: या तो भागवत संकल्प-शक्ति हमारे लिये एक अचिंत्य वस्तु है (जो कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है!), अचिंत्य तथा लगभग राक्षसी है यदि वह वस्तुओंको वैसा होने देती है जैसी कि वे हैं, यदि वह वस्तुओंको वैसा ही चाहती है जैसी कि वे हैं, और नहीं तो ... भागवत कृपा शक्तिहीन है।

वह — मैं तुम्हें चेतावनी देती हूं ताकि तुम अपनेको जालमें फंसनेसे बचानेके लिये सावधान रहो, वह शैतानकी बहुत बड़ी दलील है। वह

मनको मेघाच्छन्न करने और विद्रोहको भड़कानेके लिये इसका प्रयोग करता है; परंतु वास्तवमें, यह अच्छी तरह सोच-समझकर तैयार किया गया जाल है।

फिर उन लोगोंका नंबर आता है जो कहते हैं: "चूंकि तुम 'अज्ञानमें' हो इसीलिये इस प्रकार देखते हो; अपनी चेतनाको बदल दो, भागवत 'चैतन्य'के साथ संपर्क स्थापित करो और तुम दूसरे रूपमें देखोगे।" यह पूरी तरह सही है। मैं अभी तुम लोगोंसे कह रही थी, और मैं दुहरा रही हूं कि यदि तुम 'अज्ञान'से बाहर निकल सको और दिव्य 'सद्वस्तु'के साथ जरा-सा भी एकत्व प्राप्त कर लो तो तुम एक आनंदमय जीवन बिताओगे जिसमें प्रत्येक चीज अद्‌भुत, अलौकिक है, और जहां सभी वस्तुओंमें भागवत कृपा अभिव्यक्त होती है। फलस्वरूप, तुमने अपने-आप समस्याको हल कर लिया है, बशर्त्ते कि तुम उस स्थितिमें सदैव बने रह सको जो बहुत आसान बात नहीं है। परंतु फिर भी यह संभव है। परंतु वह स्थिति तुम्हें जगत्‌से बाहर खींच लाती है, जागतिक जीवनमें भाग लेनेसे तुम्हें रोकती है और सबसे बढ़कर, यदि प्रत्येक चीजको उस ढंगसे परिवर्त्तित करना हो तो, मैं समझती हूं, संसारके सभी तत्त्वोंको उस प्रकार रूपांतरित करनेके लिये एक शाश्वत काल भी पर्याप्त नहीं होगा।

और समस्या फिर उपस्थित हो जाती है। तुम इसे चाहे जिस ढंगसे, चाहे जिस तरीकेसे क्यों न लो, यह फिर उपस्थित हो जायगी।

एक समाधान है।

इसपर विचार करो, हम किसी और समय इसके बारेमें चर्चा करेंगे। लो, मैं चाहूंगी कि तुम एक प्रयत्न करो। कारण, इससे सहायता मिलेगी, क्योंकि यह मानवीय चेतनामें उठनेवाला एक प्रकारका द्वन्द्व है जो निरंतर उठता रहता है। यह एक ऐसा द्वन्द्व है जो ठोस कार्यके विरुद्ध उठनेवाले सभी विरोधोंकी रचना करता है। यही वह द्वन्द्व है जिसके कारण लोग (मैं उन लोगोंके भी विषयमें कह रही हूं जो इस क्षेत्रमें सबसे अधिक प्रबुद्ध हैं) सर्वदा भौतिक, जड़-सृष्टिसंहार और आध्यात्मिक जीवनको एक मान लेते हैं, क्योंकि उनके लिये पलायन करनेका एकमात्र यही उपाय है: "आओ, भौतिक सत्तासे दूर भाग जायं, हम समस्यासे छुट्टी पा जायंगे", कारण, उस स्थितिमें रहनेके लिये जिसमें वह समस्या और फिर कभी उपस्थित न हो, मनुष्यको जीवनसे बाहर चला जाना चाहिये — उनके मतानुसार।

एक समाधान है।

उसकी चर्चा अगली बार होगी।

श्रीमाताजी क्लास समाप्त होनेके बाद जब आश्रम वापस आयीं तो उन्होंने निम्नांकित टिप्पणी की :

आज शामको मैंनें समाधान बता दिया। मैंने बिना बोले, क्लासमें दो बार बताया।

क्या इस समाधानका कोई संबंध १५ अगस्तकी तारीखके साथ है? क्या 'फीस्ट ऑफ असम्पशन्' (कैथोलिक चर्चका एक त्योहार) और श्रीअरविंदकी जन्मतिथिके बीच कोई संबंध है?

हां, और उन्होंने अपने-आप भी यह कहा है। कुमारी मेरीका 'असम्पशन्' (सशरीर स्वर्गारोहण) स्वयं 'जड़-तत्त्व'का दिव्य बन जाना है। और अंतिम अवतारका यही लक्ष्य है।

परिशिष्ट

१५ अगस्त, १९४७[1]

१५ अगस्त, १९४७ स्वाधीन भारतका जन्मदिन है। यह दिन भारतके लिये पुराने युगकी समाप्ति और नये प्रभातके उदयको सूचित करता है। परंतु, हम एक स्वाधीन राष्ट्रके रूपमें अपने जीवन और कार्योंके द्वारा इसे ऐसा महत्त्वपूर्ण दिन भी बना सकते हैं जो संपूर्ण जगत्के लिये, सारी मानव-जातिके राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक भविष्यके लिये एक नवयुग लानेवाला सिद्ध हो।

१५ अगस्त मेरा अपना जन्मदिन है और स्वभावतः ही यह मेरे लिये प्रसन्नताकी बात है कि इस दिनने इतना विशाल अर्थ तथा महत्त्व प्राप्त कर लिया है। परंतु इसके भारतीय स्वाधीनता-दिवस भी हो जानेको मैं कोई आकस्मिक संयोग नहीं मानता, बल्कि यह मानता हूं कि जिस

---

[1]इस संदेशको ऑल इंडिया रेडियो, त्रिचिनापल्लीसे १४ अगस्त, १९४७ को, भारतकी स्वतंत्रतासे पूर्वकी संध्या-वेलामें प्रसारित किया गया था।

कार्यको लेकर मैंने अपना जीवन आरंभ किया था, उसको मेरा पथप्रदर्शन करनेवाली भागवत शक्तिने इस तरह मंजूर कर लिया है और उसपर अपनी मुहर भी लगा दी है और यह कार्य पूर्ण रूपसे सफल होना आरंभ हो गया है। निस्संदेह, आजके दिन मैं प्रायः उन सभी जागतिक आंदोलनोंको, जिन्हें मैंने अपने जीवन-कालमें ही सफल देखनेकी आशा की थी, यद्यपि उस समय वे अव्यावहारिक स्वप्न जैसे ही दिखायी देते थे,—सफल होते हुए या अपनी सफलताके मार्गपर जाते हुए देख सकता हूं। इन सभी आंदोलनोंमें स्वाधीन भारत एक बड़ा पार्ट अच्छी तरह अदा कर सकता है और एक प्रमुख स्थान ग्रहण कर सकता है।

इन स्वप्नोंमें पहला था एक क्रांतिकारी आन्दोलन जो स्वाधीन और एकीभूत भारतको जन्म दे। भारत आज स्वाधीन हो गया है, पर उसने एकता नहीं प्राप्त की है। एक समय प्रायः ऐसा ही दिखता था मानों अपने स्वाधीन होनेकी प्रक्रियामें ही वह फिरसे उस पृथक्-पृथक् राज्योंकी अव्यवस्थापूर्ण स्थितिमें जा गिरेगा जो ब्रिटिश विजयसे पहले विद्यमान थी। परंतु सौभाग्यसे अब ऐसी संभावना हो गयी है कि यह संकट टल जायगा और भले पूर्ण न सही पर एक विशाल तथा शक्तिशाली एकत्व अवश्य स्थापित हो जायगा। विधान-परिषदकी दूरदर्शितापूर्ण प्रबल नीतिने इस बातको संभव बना दिया है कि दलित वर्गोंकी समस्या बिना फूट-फुटावके हल हो जायगी। परंतु हिंदुओं और मुसलमानोंका पुराना सांप्रदायिक भेद अब देशमें स्थायी राजनीतिक विभाजनके रूपमें सुदृढ़ हो गया दीखता है। यह आशा करनी चाहिये कि इस तय किये गये विभाजनको पत्थरकी लकीर न मानकर या एक कामचलाऊ अस्थायी उपायसे बढ़कर और कुछ न माना जायगा। क्योंकि, यदि यह कायम रहे तो भारत भयानक रूपसे दुर्बल, यहांतक कि अपंग हो सकता है: गृहकलहका होना सदा ही संभव हो सकता है, यहांतक कि एक नये आक्रमण और विदेशी विजयकी भी संभावना उत्पन्न हो सकती है। भारतकी आंतरिक उन्नति और समृद्धि रुक सकती है, राष्ट्रोंके बीच उसकी स्थिति दुर्बल हो सकती है, उसका भविष्य कुण्ठित अथवा व्यर्थतक हो सकता है। यह नहीं होना चाहिये; देशका विभाजन अवश्य दूर होना चाहिये। हम आशा करें कि यह कार्य स्वाभाविक रूपमें हो जायगा, न केवल शांति और मेल-मिलापकी, बल्कि मिल-जुलकर काम करनेकी आवश्यकताको अधिकाधिक स्वीकार करनेसे, मिल-जुलकर काम करनेके अभ्यास तथा उस उद्देश्यके लिये साधनोंको उत्पन्न करनेसे संपन्न होगा। इस प्रकार अंतमें एकता चाहे किसी भी रूपमें आ सकती है — उसके ठीक-ठीक रूपका व्यावहारिक महत्त्व भले ही हो, पर

कोई प्रधान महत्व नहीं है। परंतु चाहे किसी भी उपायसे हो, चाहे किसी भी प्रकारसे हो, विभाजन अवश्य दूर होना चाहिये; एकता अवश्य स्थापित होनी चाहिये और स्थापित होगी ही, क्योंकि भारतके भविष्यकी महानताके लिये यह आवश्यक है।

दूसरा स्वप्न था एशियाकी जातियोंका पुनरुत्थान तथा स्वातंत्र्य और मानव-सभ्यताकी प्रगतिके कार्यमें एशियाका जो महान् स्थान पहले था उसी स्थानपर उसका लौट आना। एशिया जग गया है; उसमें बड़े-बड़े भाग अब बिलकुल स्वतंत्र हो गये हैं या इस समय बंधनमुक्त हो रहे हैं; इसके अन्य भाग जो अभी परतंत्र या अंशतः परतंत्र हैं, वे भी चाहे कैसे भी संघर्ष-मेंसे गुजरते हुए स्वतंत्रताकी ओर बढ़ रहे हैं। बस, अब थोड़ा-सा ही काम और करनेको बाकी है और वह आज या कल संपन्न हो जायगा। यहां भी भारतको अपना पार्ट अदा करना है और उसने सामर्थ्य और योग्यताके साथ उसे अदा करना आरंभ कर दिया है, जो अब यह सूचित करने लगा है कि भारतकी संभावनाओंका परिमाण क्या है और वह राष्ट्रोंकी सभामें कौन-सा स्थान ग्रहण कर सकता है।

तीसरा स्वप्न था एक विश्व-संघ जो समस्त मानव-जातिके लिये एक सुन्दर-तर, उज्ज्वलतर और महत्तर जीवनका बाहरी आधार निर्मित करे। मानव-संसारका वह एकीकरण प्रगतिके पथपर है; एक अधूरा प्रारंभ संगठित किया गया है पर वह बड़ी भारी कठिनाइयोंके विरुद्ध संघर्ष कर रहा है। किंतु उसमें एक वेग है और वह अनिवार्य रूपसे बढ़ता चला जायगा और विजयी होगा। इस कार्यमें भी भारतवर्षने प्रमुख भाग लेना आरंभ कर दिया है, और यदि वह उस विशालतर राजनीतिज्ञताका विकास कर सके जो वर्त-मान तथ्यों और तात्कालिक संभावनाओंसे सीमित नहीं होती, बल्कि भविष्य-को देख लेती और उसे अधिक निकट लाती है, तो भारतकी उपस्थिति मंद एवं भीरुतापूर्ण विकास और द्रुत एवं साहसपूर्ण विकासमें जो महान् भेद है, उसे प्रदर्शित कर सकती है। जो कार्य किया जा रहा है उसमें महान् विपत्ति आ सकती है और वह उसमें बाधा डाल सकती है या उसे नष्ट कर सकती है, किंतु फिर भी अंतिम परिणाम सुनिश्चित है। क्योंकि, एकी-करण 'प्रगति'की एक आवश्यकता है, अनिवार्य गति है। इसकी आवश्य-कता राष्ट्रोंके लिये भी सुस्पष्ट है; क्योंकि इसके बिना छोटे-छोटे राष्ट्रोंकी स्वाधीनता किसी भी क्षण खतरेमें पड़ सकती है और बड़े तथा शक्तिशाली राष्ट्रोंका भी जीवन अरक्षित हो सकता है। इसलिये इस एकीकरणमें ही सबका हित है और केवल मानवीय निःशक्तता तथा मूर्खतापूर्ण स्वार्थपरता ही इसे रोक सकती है; परंतु ये भी प्रकृतिकी आवश्यकता और भगवान्‌के

संकल्पके विरुद्ध हमेशा नहीं ठहर सकतीं। परंतु एक बाहरी आधार ही पर्याप्त नहीं है; अंतर्राष्ट्रीय भाव और दृष्टिकोण भी अवश्य विकसित होना चाहिये, अंतर्राष्ट्रीय पद्धतियां तथा संस्थाएं भी अवश्य प्रादुर्भूत होनी चाहिये, शायद इस प्रकारकी प्रगतियां पैदा हों, जैसे कि दो या अनेक देशोंका एक संग नागरिक होना, संस्कृतियोंका आपसमें ऐच्छिक दान-प्रतिदान या उनका स्वेच्छापूर्वक घुलना-मिलना। राष्ट्रीयता तब अपने-आपको चरितार्थ कर चुकी होगी और अपनी युद्ध-प्रियताको छोड़ चुकी होगी और तब वह ऐसी चीजोंको आत्मसंरक्षण तथा अपनी दृष्टिकी अखंडतासे असंगत नहीं अनुभव करेगी। एकत्वकी एक नयी भावना मनुष्य-जातिपर आधिपत्य जमा लेगी।

चौथा स्वप्न, संसारको भारतका आध्यात्मिक दान पहलेसे ही प्रारंभ हो चुका है। भारतकी आध्यात्मिकता यूरोप और अमेरिकामें नित्य बढ़ती हुई मात्रामें प्रवेश कर रही है। यह आंदोलन बढ़ेगा; वर्त्तमान कालकी विपदाओं-के बीच अधिकाधिक लोगोंकी आंखें आशाके साथ भारतकी ओर मुड़ रही हैं और न केवल उसकी शिक्षाओंका अपितु उसकी आंतरात्मिक और आध्यात्मिक साधनाका भी उत्तरोत्तर आश्रय लिया जा रहा है।

अंतिम स्वप्न था क्रमविकासमें अगला कदम जो मनुष्यको उच्चतर और विशालतर चेतनामें उठा ले जायगा और उन समस्याओंका हल करना प्रारंभ कर देगा जिन समस्याओंने मनुष्यको तमीसे हैरान-परेशान कर रखा है जबसे कि उसने वैयक्तिक पूर्णता और पूर्ण समाजके विषयमें सोचना-विचारना सबसे पहले शुरू किया था। यह अमीतक एक व्यक्तिगत आशा और विचार, एक आदर्श मात्र है जिसने भारत और पश्चिम दोनों जगह दूरदर्शी विचारोंको वशमें करना शुरू कर दिया है। इस मार्गकी कठिनाइयां प्रयास-के किसी भी अन्य क्षेत्रकी अपेक्षा बहुत अधिक जबर्दस्त हैं, परंतु कठिनाइयां जीती जानेके लिये ही बनी थीं और यदि 'दिव्य परम इच्छाशक्ति'का अस्तित्व है तो वे अवश्य जीती जायंगी। यहां भी, यदि इस विकासको घटित होना है तो, चूंकि यह आत्मा और आंतर चेतनाकी अभिवृद्धिद्वारा ही होगा, इसका प्रारंभ भारतवर्ष ही कर सकता है और यद्यपि इसका क्षेत्र सार्वभौम होगा, तथापि केंद्रीय आंदोलन भारत ही करेगा।

ये ही हैं वे भाव और भावनाएं जिनको मैं भारतीय स्वाधीनताकी इस तिथिके साथ संबद्ध करता हूं; आया ये आशाएं ठीक सिद्ध होंगी या किस हदतक सिद्ध होंगी, यह बात नये और स्वाधीन भारतपर निर्भर करती है।

— श्रीअरविन्द

२२ अगस्त, १९५६

प्यारी माताजी, श्रीअरविंद किस चीजको "मुक्त मनका स्वर्ग" कहते हैं?

मुक्त मनका स्वर्ग? यह एक प्रकारकी प्रतीकात्मक तुलना है। जब मन मुक्त हो जाता है, वह स्वर्गीय ऊंचाइयोंपर ऊपर उठ जाता है। ये क्षेत्र जो मनसे अधिक ऊंचे हैं उनकी तुलना श्रीअरविंद पृथ्वीसे ऊपरके आसमान-के साथ करते हैं; साधारण मनकी तुलनामें ये स्वर्गीय हैं।

बस, इतना पर्याप्त है?

(मौन)

एक व्यक्तिने मुझसे समाधि (जिसे भारतमें समाधि कहते हैं) के विषयमें, — अर्थात्, जब कोई ऐसी स्थितिमें चला जाता या प्रवेश कर जाता है जिसकी कोई सज्ञान स्मृति जगनेके बाद नहीं रहती — एक प्रश्न पूछा है:

"क्या समाधिकी यह अवस्था प्रगतिका कोई चिह्न है?"

प्राचीन कालमें इसे बहुत ऊंची स्थिति माना जाता था। यहांतक कि इसे एक महान् सिद्धिका चिह्न माना जाता था, और जो लोग योग करना या साधना करना चाहते थे वे सर्वदा इस प्रकारकी स्थितिमें प्रवेश करने-की चेष्टा करते थे। इस स्थितिके विषयमें सभी प्रकारकी अद्‌भुत बातें कही गयी हैं — तुम इसके विषयमें जो कुछ कहना चाहो वह सब कह सकते हो, कारण, यथार्थ रूपमें, तुम्हें बिलकुल याद नहीं रहता! और जिन लोगोंने इसमें प्रवेश किया है वे यह बतानेमें असमर्थ हैं कि उनके साथ क्या हुआ। अतएव, मनुष्य जो चाहे कह सकता है।

प्रसंगवशात् मैं तुम्हें यह बता दूं कि सब प्रकारके तथाकथित आध्या-त्मिक साहित्यमें मैंने सर्वदा समाधिकी इस स्थितिके बारेमें 'आश्चर्यजनक' बातें पढ़ी थीं; और संयोग ऐसा है कि मुझे इसका अनुभव कभी नहीं हुआ। अतएव मैं यह नहीं समझ सकी कि यह निम्नतर स्थितिका लक्षण है या नहीं। और जब मैं यहां आयी, मैंने श्रीअरविंदसे सर्वप्रथम जो प्रश्न किये उनमें एक यह था: "समाधिके, समाधिकी उस अवस्थाके

बारेमें आपके क्या विचार हैं जिसके बारेमें मनुष्यको कुछ याद नहीं रहता ? मनुष्य एक ऐसी अवस्थामें प्रवेश कर जाता है जो आनंदपूर्ण प्रतीत होती है, परंतु जब वह उससे बाहर आता है, उसे बिलकुल पता नहीं होता कि क्या हुआ था।" तब उन्होंने मेरी ओर ताका, देखा कि मेरा मतलब क्या है और मुझसे कहा : "यह बिलकुल अचेतनता है।" मैंने उनसे इसकी व्याख्या चाही, मैंने कहा : "क्या ?" उन्होंने मुझसे कहा : "हां, जिसे समाधि कहते हैं उसमें लोग तब प्रवेश करते हैं जब वे अपनी चेतन सत्तासे बाहर चले जाते हैं और अपनी सत्ताके एक ऐसे भागमें प्रवेश करते हैं जो पूर्णतः अचेतन होता है, अथवा वह एक ऐसा क्षेत्र होता है जहां उन्हें उससे मिलती-जुलती चेतना नहीं प्राप्त होती — वे अपनी चेतनाके क्षेत्रसे परे चले जाते हैं और एक ऐसे राज्यमें पहुंच जाते हैं जहां वे सचेतन नहीं रहते। वे एक निर्वैयक्तिक स्थितिमें चले जाते हैं, अर्थात्, एक ऐसी अवस्थामें चले जाते हैं जहां वे अचेतन होते हैं; और यही कारण है कि स्वभावतः उन्हें कुछ याद नहीं रहता, क्योंकि वे किसी चीजके विषयमें सज्ञान नहीं थे।"[1] अतएव इस बातसे मुझे आश्वासन मिला और मैंने कहा : "अच्छा, यह अनुभव मुझे कभी नहीं हुआ।" उन्होंने उत्तर दिया : "और मुझे भी नहीं !" (हंसी)

और उस समयसे, जब लोग मुझसे समाधिके विषयमें बात करते हैं तो मैं उनसे कहती हूं : "अच्छा, तुम अपने आंतरिक व्यक्तित्वका विकास करनेकी कोशिश करो और तुम ठीक इन्हीं क्षेत्रोंमें पूर्ण चेतनाके साथ प्रवेश करनेमें समर्थ होगे और, समस्त चेतना खोये बिना तथा अनुभूतिके स्थानमें शून्यभावके साथ वापस आये बिना, उच्चतम क्षेत्रोंके संपर्कका हर्ष प्राप्त करोगे।"

अतएव यही है उस व्यक्तिको मेरा उत्तर जिसने पूछा है कि समाधि प्रगतिका चिह्न है या नहीं। प्रगतिका चिह्न यह है कि तुम्हारे अंदर कोई

---

[1]इस वार्त्तालापके प्रकाशनके समय श्रीमाताजीने निम्नांकित व्याख्या जोड़ दी : "कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो ऐसे लोकोंमें घुसते हैं जहां वे सचेतन रहते हैं, पर इस सचेतन स्थिति और उनकी सामान्य जाग्रत् चेतनाके बीच एक व्यवधान होता है : जाग्रत् स्थिति और इस गभीरतर स्थितिके बीच उनके व्यक्तित्वका अस्तित्व नहीं होता; अतएव वापस आते समय वे भूल जाते हैं। जो चेतना उन्हें वहां प्राप्त थी उसे यहांकी चेतनामें वे नहीं ला पाते, क्योंकि दोनोंके बीच एक विच्छेद है। अवश्य ही एक गुह्य साधना ऐसी है जो मध्यवर्ती क्षेत्रोंको निर्मित करती है ताकि मनुष्य वहांकी चीजोंकी स्मृति बनाये रख सके।"

अचेतनता न रहे, तुम समाधिमें गये बिना उन्हीं क्षेत्रोंमें ऊपर जा सकते हो।

परंतु शब्दोंमें एक प्रकारकी अस्पष्टता है।

जब तुम अपनी सत्ताका **एक अंश** छोड़ देते हो (उदाहरणार्थ, जब तुम सर्वथा सचेतन रूपमें प्राण-जगत्‌में प्रवेश करते हो), तुम्हारा शरीर, अचेतनावस्थामें प्रवेश कर सकता है, पर वह समाधि नहीं है बल्कि वह स्थिति है जिसे तन्द्रा या मूर्च्छाकी अवस्था कह सकते हैं। जब यह अवस्था अपनी ऊंचाईपर होती है तो वह मूर्च्छाकी अवस्था होती है, क्योंकि सत्ताका जो भाग शरीरको सजीव बनाता है वह उससे बाहर चला जाता है, इसलिये शरीर अधमरा-सा होता है; अर्थात्, उसकी प्राण-शक्ति बहुत अधिक कम हो जाती है और उसकी क्रियाएं प्रायः विलुप्त हो जाती हैं: हृदय धीमा हो जाता है और उसकी गतिको समझना मुश्किल होता है और श्वास-प्रश्वासकी गतिको भी पकड़ना कठिन होता है। बस, यही चीज है जो सच्ची समाधि है। परंतु तुम, सारे समय, प्राण-जगत्‌में पूरी तरह सचेतन रहते हो। और यहांतक कि एक विशेष साधनाके द्वारा, जो निस्संदेह न तो आसान है और न खतरेसे खाली, तुम ऐसी व्यवस्था कर सकते हो कि जो अल्पतम शक्ति तुम अपने शरीरमें छोड़ देते हो वह उसे **स्वतंत्र रूपसे** सचेतन बनाये रखे। एक प्रकारकी व्यवस्था करके (जैसा कि मैंने कहा है, यह आसान नहीं है), पूर्णतया विधिवत् व्यवस्था करके, मनुष्य ऐसा प्रबंध कर सकता है कि शरीर गति करनेकी अपनी स्वतंत्रताको बनाये रखे, यहांतक कि उस समय भी जब कि मनुष्य पूर्ण रूपमें शरीरसे बाहर निकल गया हो। और बस, इसी तरह समाधिकी प्रायः पूर्ण अवस्थामें भी मनुष्य बोल सकता और वह सब बता सकता है जो कि शरीरसे बाहर निकला हुआ सत्ताका भाग देखता और करता है ...। परंतु इसके लिये मनुष्यको साधन-पथपर काफी अधिक आगे बढ़ा हुआ होना चाहिये।

हमें एक ऐसी स्थितिके सहज-स्वाभाविक तथा अनैच्छिक उदाहरण मिलते हैं जो ठीक इस जैसी नहीं, पर इससे बहुत मिलती-जुलती होती है। वे स्वप्नाचरणकी स्थितियोंके उदाहरण हैं, अर्थात्, जब तुम गभीर निद्रामें होते हो और प्राण-पुरुष तुम्हारे शरीरसे बाहर चला जाता है, शरीर उस भागकी, प्राणिक भागकी इच्छा और कार्यका अनुगमन सहजभावसे करता है। बस, चूंकि वह किसी इच्छित कार्य तथा किसी नियमित, क्रमवर्द्धमान शिक्षणका परिणाम नहीं होता, वह स्थिति वांछनीय नहीं होती, क्योंकि वह सत्ताके अंदर विश्रृंखला उत्पन्न कर सकती है। परंतु मैंने अभी जो कुछ कहा है उसका यह एक दृष्टांत है, एक ऐसे शरीरका दृष्टांत है जो

तीन-चौथाई भाग निद्रित होनेपर, सत्ताके उस भागका अनुगमन कर सकता जो बाहर चला गया है, और जो स्वयं, पूर्णतः जाग्रत् तथा बिलकुल सचेतन है वही निस्संदेह सच्ची समाधि है।

मैंने पहले भी कई बार तुमसे कहा है कि जब कोई इस गुह्य साधनाकी अधीनता स्वीकार करता है तो वह अपने भौतिक शरीरको छोड़कर प्राण-जगत्में जाने, बिलकुल सचेतन रूपमें इधर-उधर घूमने और एकदम ज्ञानपूर्वक वहां क्रिया करनेमें सफल हो सकता है; तब अपनी प्राण-सत्ताको सोया छोड़कर मानसिक रूपसे बाहर जाने, पूरी सचेतनताके साथ और एक समान संबंधोंके साथ (क्योंकि मानसिक जगत्का मानसिक सत्ताके साथ संबंध है जैसे कि भौतिक जगत्का भौतिक सत्ताके साथ संबंध है) मानसिक जगत्में कार्य करने और रहने आदि-आदिमें क्रमशः तथा एक नियमित साधनाके द्वारा सफल हो सकता है। मैं एक महिलासे परिचित थी जिन्होंने अपनेको इस प्रकार प्रशिक्षित कर लिया था, जिनमें बहुत आश्चर्यजनक व्यक्तिगत क्षमताएं थीं, जो अपनी सत्ताकी सभी स्थितियोंमें सचेतन रहती थीं और जो बारह बार अपने शरीरसे बाहर जानेमें समर्थ थीं, अर्थात् जो क्रमशः बारह शरीरोंसे निकलकर अंतमें व्यक्तिगत चेतनाके शिखरपर पहुंच जाती थीं जिसे 'निराकार' की देहली कहा जा सकता है। उन्हें प्रत्येक चीज याद रहती थी और वह पूरे ब्योरेके साथ सब बातें बताती थीं। वह एक अंगरेज महिला थीं; मैंने अंगरेजीसे एक पुस्तकका अनुवाद भी किया था जिसमें उस सबका वर्णन था जिसे उन्होंने इन सब लोकोंमें देखा और किया था।

यह स्पष्ट ही अपनी सत्तापर प्राप्त एक महान् प्रभुत्वका चिह्न है, और सज्ञान विकासकी एक उच्च अवस्थापर पहुंच जानेका लक्षण है। यह उस दूसरे अनुभवके लगभग एकदम विपरीत है जिसमें मनुष्य एक ऐसी स्थितिमें प्रवेश करनेके लिये अपनी चेतनासे बाहर निकल जाता है जिसमें वह सचेतन नहीं रह जाता, यह मानों एकदम विपरीत अवस्था है।

(मौन)

यह बात मुझे एक ऐसी चीजपर ले जाती है जो एक सुझाव और एक सलाह दोनों है।

अभी हालमें हमने ऐसे परिच्छेद 'योग-समन्वय'में पढ़े हैं और 'दिव्य जीवन'से अनूदित किये हैं जिनमें श्रीअरविंद उन लोगोंको ब्योरे, व्याख्याएं और परामर्श देते हैं जो साधना करते तथा ऐसे अनुभव प्राप्त करनेका

प्रयास करते हैं जो कभी-कभी उनकी चेतनाकी स्थितिके लिये अत्यंत प्रबल होते हैं, और जिनके बिलकुल दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम होते हैं। इस विषय-पर मैंने एक आलोचनात्मक टिप्पणी की थी, और मुझसे अपनी टिप्पणीको समझानेके लिये कहा गया है। मैंने कहा था :

"हमें सर्वदा अपने अनुभवकी अपेक्षा अधिक उच्च होना चाहिये।"

. . . .

मेरा मतलब यह है :

अनुभवका स्वरूप, शक्ति और चमत्कार चाहे जो भी क्यों न हो, उससे तुम्हें इस हदतक अभिभूत नहीं हो जाना चाहिये कि वह तुम्हारी समूची सत्तापर राज्य करने लगे और तुम अपना संतुलन तथा युक्तिसंगत और शांत-स्थिर मनोभावके साथ संपर्क ही खो दो। कहनेका तात्पर्य, जब तुम, चाहे जिस किसी उपायसे, एक ऐसी शक्ति या चेतनाके संपर्कमें आओ जो तुम्हारी चेतनाको अतिक्रांत करती हो तो, इस चेतना या शक्तिद्वारा पूर्णतः अधिकृत होनेके बदले, तुम्हें सर्वदा यह याद रखनेमें सक्षम होना चाहिये कि यह तो दूसरोंकी हजारों-लाखों अनुभूतियोंमेंसे केवल **एक** अनुभूति है, और फलतः, इसमें कोई निरपेक्षता नहीं है, यह सापेक्ष है। इसका कोई विशेष मूल्य नहीं कि यह कितनी सुन्दर है, तुम अधिक अच्छी अनुभूतियां प्राप्त कर सकते हो और प्राप्त करनी ही चाहिये। वह चाहे जितनी असाधारण क्यों न हो, उससे अधिक अद्‌भुत अनुभूतियां हैं; वह चाहे जितनी ऊंची क्यों न हो, तुम भविष्यमें हमेशा और अधिक ऊंचाईपर उठ सकते हो। अतएव अपना दिमाग खोनेके बदले मनुष्य उस अनुभव-को अपने विकासकी शृंखलाके अंदर रख देता है और एक स्वस्थ भौतिक संतुलन बनाये रखता है ताकि वह साधारण जीवनके साथ सापेक्षताका बोध न खो दे। इस तरीकेमें कोई खतरा नहीं है।

उपाय? ...जो मनुष्य इसे करना जानता है उसे यह सर्वदा बहुत आसान मालूम होगा, परंतु जो इसे नहीं जानता उसके लिये शायद यह थोड़ा...थोड़ा घबड़ा देनेवाला है।

इसका एक उपाय है।

वह है उस भगवत्कृपाके प्रति पूर्ण आत्म-दानकी भावनाको कभी न खोना जो परात्पर भगवान्‌की अभिव्यक्ति है। जब मनुष्य अपने-आपको दे देता है, अपने-आपको सौंप देता है, पूर्ण रूपसे उसीपर निर्भर करता है जो ऊपर है, समस्त सृष्टिके परे है, और जब, अनुभूतिसे कोई व्यक्ति-गत लाभ उठानेकी चेष्टा करनेके स्थानपर, वह उसे भागवत कृपाको अर्पण कर देता है और यह जानता है कि वास्तवमें उसीसे अनुभव आता

है और उसीको अनुभवका परिणाम वापस दे देना चाहिये, तब मनुष्य बिलकुल सुरक्षित हो जाता है।

दूसरे शब्दोंमें : कोई महत्वाकांक्षा, कोई मिथ्याभिमान, कोई अहंकार नहीं होना चाहिये। सच्चा आत्मदान, सच्ची विनम्रता होनी चाहिये, और तब मनुष्य सभी खतरोंसे सुरक्षित हो जाता है। बस, यही बात है; यही वह चीज है जिसे मैं अपने अनुभवसे अधिक ऊंचा होना कहती हूं।

अब. किसीके पास कोई प्रश्न है?

(मौन)

(कीड़ोंकी घटा छा गयी है) यह हमें ऊंचाइयोंसे नीचे खींचे ला रही है! (हंसी) मैं समझती हूं कि बत्ती बुझा देना और कीड़ोंसे छुट्टी पा लेना बहुत समझदारीकी बात होगी ...। तुम लोग नींदकी गोदमें तो नहीं चले जाओगे, जाओगे?

एक बात है जो कुछ दिन पहले मुझसे पूछी गयी थी और जिसका उत्तर मैंने अभीतक नहीं दिया है। वह यह है। मैंने कहींपर लिखा है:

> **"प्रत्येक सत्ताके निरपेक्ष स्वरूपका भगवान्‌के साथ अपना एक निराला संबंध तथा अभिव्यक्तिमें भगवान्‌को व्यक्त करनेका अपना निराला ढंग होता है।"**

यह वही चीज है जिसे यहां, भारतमें, सत्ताका सत्य या सत्ताका विधान, सत्ताका धर्म कहा जाता है; व्यक्तित्वका केंद्र और कारण कहा जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने अंदर अपने सत्यको वहन करता है, एक ऐसा सत्य जो निराला होता है, जो पूरी तरह उसका अपना है और जिसे अपने जीवनमें उसे व्यक्त करना चाहिये। अब, यह सत्य है क्या? यही प्रश्न मुझसे पूछा गया है:

> **"सत्ताका यह सत्य क्या है, और यह किस प्रकार बाहरी भौतिक जीवनमें रूपांतरित किया जाता है?"**

यह इस प्रकार रूपांतरित होता है : प्रत्येक व्यक्तिगत सत्ताका परात्पर प्रभु, दिव्य मूल-स्रोतके साथ, तत्‌के साथ, जो कि समस्त सृष्टिके परे

है, एक प्रत्यक्ष और अनन्य संबंध होता है। बस, इसी अनन्य संबंधको हमें अपने जीवनमें, भगवत्-संबंधी सत्ताकी एक अनूठी विधिके द्वारा व्यक्त करना चाहिये। परिणामतः हरएक प्रत्यक्ष रूपमें तथा एकांतिक भावसे भगवान्‌से संबंधित है — मनुष्यका जो संबंध भगवान्‌के साथ है वह अनूठा और अनन्य है। उसीके कारण, जब तुम ग्रहणशील स्थितिमें होते हो; तुम भगवान्‌से ग्रहण करते हो; इस संबंधकी **पूर्णावस्थाको** प्राप्त करना तुम्हारे लिये **संभव** है, और यह न तो हिस्सा बंटाना है, न कोई अंश और न पुनरावृत्ति। यह एक एकांत भाव और अनन्यभावसे वह संबंध है जो हरएक भगवान्‌के साथ रख सकता है। अतएव, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे, भगवान्‌के साथ यह प्रत्यक्ष संबंध बनाये रखनेमें मनुष्य **एकदम अकेला** होता है।

मनुष्य परात्पर प्रभुके साथ एकदम अकेला होता है।[1]

मनुष्यका जो संबंध उनके साथ होता है वह कभी दूसरेके संबंधके जैसा, ठीक-ठीक एक-जैसा नहीं होगा। कोई दो ऐसे नहीं हैं जो एक समान हों और इसलिये **कोई चीज**, दूसरेको देनेके लिये, तुमसे नहीं छीनी जा सकती, **कोई चीज**, दूसरेको देनेके लिये, तुमसे वापस नहीं ली जा सकती। और यदि यह संबंध सृष्टिसे विलुप्त हो जाय तो यह सृष्टि वास्तवमें विलुप्त हो जायगी — जो असंभव है।

और इसका मतलब यह है कि यदि कोई अपनी सत्ताके सत्यमें निवास करे तो वह सृष्टिका एक अपरिहार्य अंग है। स्वभावतः ही मेरा आशय यह नहीं है कि यदि कोई उसी तरह रहता है जैसा कि वह **विश्वास करता है** कि उसे रहना चाहिये, बल्कि मैं कह रही हूं कि यदि कोई अपनी सत्ताके सत्यके अनुसार रहता है; यदि, विकासके द्वारा कोई अपनी सत्ताके सत्यके साथ संपर्क स्थापित करनेमें सफल होता है तो वह तुरत भगवान्‌के साथ एक निराला और अनन्य संबंध प्राप्त कर लेता है, जिसका कोई जोड़ नहीं होता।

हां, यही बात है।

और स्वभावतः, अपने व्यक्तित्वका सत्य होनेके कारण, इसी चीजको तुम्हें अपने जीवनमें अभिव्यक्त करना चाहिये।

---

[1]यह वाक्य श्रीमाताजीने १३ मई, १९६२ को जोड़ा था।

२९ अगस्त, १९५६

मैं समझती हूं कि तुममेंसे अधिकतर हर शुक्रवारको 'वू वी'[1] पुस्तकका पाठ सुननेके लिये आते हैं। यदि तुमने अच्छी तरह सुना है तो तुम्हें याद होगा कि उसमें "स्वतःचालित" होनेके विषयमें कुछ बातें कही गयी हैं, और यह कहा गया है कि किस प्रकार सच्चा जीवन जीनेका यथार्थ तरीका है स्वतःचालित बनकर जीना।

लाओ-त्स जिसे स्वतःचालित कहते हैं वह है : व्यक्तिगत इच्छा-शक्ति (मानसिक, प्राणिक या भौतिक इच्छा-शक्ति)के द्वारा चालित होनेके बदले समस्त बाहरी प्रयास बंद कर देना और अपने-आपको, जिसे चीनी लोग, 'ताओ' कहते हैं, जिसे वे "परमात्मा" (या ईश्वर या परात्पर तत्त्व या सभी वस्तुओंका मूल-स्रोत या सृजनात्मक सत्य, निस्संदेह, भगवान् तथा प्राप्तव्य लक्ष्यसे संबंधित सभी प्रकारके संभव मानवीय धारणाओं) के समान मानते हैं, उसके द्वारा परिचालित और शासित होने देना।

स्वतःचालित होनेका अर्थ है सोचने-विचारने, संगठित करने, निर्णय करने तथा व्यक्तिगत इच्छा-शक्तिके द्वारा उपलब्ध करनेका कोई प्रयास करनेकी इच्छा न करना।

मैं तुम्हें यह समझानेके लिये कि सच्चा स्वतःचालन क्या चीज है, दो उदाहरण देने जा रही हूं। पहला, तुम सब निस्संदेह रूपसे इसे जानते हो, उस समयसे प्रारंभ होता है जब श्रीअरविंदने सन् १९१४ में 'आर्य'[2] लिखना आरंभ किया था। वह न तो कोई मानसिक ज्ञान था और न कोई मानसिक सृष्टि ही जिसे उन्होंने शब्दोंमें उतारा : उन्होंने अपना मन नीरव बना लिया और टाइपराइटरके सामने बैठ गये, और जो कुछ लिखा जाना था वह सब, ऊपरसे, उच्चतर लोकोंसे, नीचे

---

[1]'वू वी' एक फ्रेंच उपन्यास है जो लाओ-त्सके दर्शनपर आधारित है और जिसके लेखक हैं आंरी बोरेल।

[2]'आर्य' पत्रिकामें छः वर्षों (१९१४-१९२०) में, श्रीअरविंदने अपने रचित अधिकांश ग्रंथोंको संग-संग प्रकाशित किया, जिनमेंसे कुछ प्रमुख ग्रंथोंके नाम हैं: दिव्य जीवन, योग-समन्वय, मानव-चक्र, मानव एकताका आदर्श, गीता-प्रबंध, वेद-रहस्य, भावी-काव्य, भारतीय संस्कृतिके आधार आदि।

उतरा, बिलकुल तैयार, और उन्हें केवल टाइपराइटरके ऊपर अपनी अंगुलियां चलानी होती थीं और वह लिखा जाता था। बस, मानसिक निश्चल-नीरवताकी इसी स्थितिमें, जो ऊपरसे ज्ञानको (और अभिव्यंजनाको भी) प्रवाहित होने देती है, उन्होंने पूरा 'आर्य' लिखा जिसमें प्रति मास छपे हुए चौसठ पृष्ठ होते थे। यही कारण था कि वह इसे लिख सके, क्योंकि, यदि यह मानसिक रचनाका कोई कार्य होता तो ऐसा करना बिलकुल असंभव होता।

बस, यही सच्चा मानसिक स्वतःचालन है।

और यदि कोई इस बातको थोड़ा और आगे बढ़ाये तो उसे पहलेसे कभी यह सोचना और निश्चित करना नहीं चाहिये कि मुझे क्या कहना या लिखना चाहिये। बस, उसमें यह सामर्थ्य होनी चाहिये कि वह अपने मन-को निश्चल-नीरव बना दे, उसे एक पात्रकी तरह उच्चतर चैतन्यकी ओर घुमा दे और जो कुछ ऊपरसे आये उसे मानसिक नीरवताके अंदर अभिव्यक्त करता रहे। बस, यही होगा यथार्थ स्वतःचालन।

स्वभावतः, यह आसान नहीं है, यह तैयारीकी मांग करता है।

और यदि कोई कर्मके क्षेत्रमें उतरता है तो यह और भी अधिक कठिन होता है; कारण, सामान्यतया, यदि कोई किसी मौलिक ढंगसे कार्य करना चाहता है तो साधारण तौरपर उसे पहलेसे यह सोच-विचार लेना होता है कि वह क्या करना चाहता है और उसे करनेसे पहले उसकी योजना बना लेनी होती है, नहीं तो वह सभी प्रकारकी कामनाओं और आवेगोंके द्वारा इधर-उधर उछाला जा सकता है और यह बात उस अंतः-प्रेरणासे बहुत दूर होगी जिसकी चर्चा 'वू वी' में की गयी है; ये सब महज निम्नतर प्रकृतिकी गतियां होंगी जो तुम्हें कार्यमें प्रवृत्त करती हैं। इसलिये, जबतक मनुष्य चीनी महात्माद्वारा कथित ज्ञान तथा अनासक्तिकी स्थितिको नहीं प्राप्त हो जाता, जिसका वर्णन इस कहानीमें है, यह कहीं अधिक अच्छा है कि वह अपने दैनिक कर्मोंमें स्वतःचालित न हो, क्योंकि तब वह सब प्रकारके अत्यंत अव्यवस्थित आवेगों तथा प्रभावोंका खिलौना बननेका खतरा उठायेगा।

परंतु एक बार जब मनुष्य योगमें प्रवेश करता है और योग करना चाहता है, यह बहुत जरूरी होता है कि वह अपनी निजी मानसिक रचनाओंका खिलौना न बने। यदि मनुष्य अपनी अनुभूतियोंपर विश्वास करना चाहे तो उसे इस बातकी बहुत अधिक सावधानी बरतनी चाहिये कि वह जो अनुभूतियां पाना चाहता है, उनके विषयमें जो भावना बनाता है, उनके जिस रूपकी वह अपेक्षा करता है या देखनेकी आशा करता

है उन सबकी धारणा अपने अंदर न बनाये। क्योंकि, मानसिक रचना, जैसा कि मैंने बहुत बार कहा है, एक सच्ची रचना, एक सच्ची सृष्टि होती है, और तुम अपनी भावनाके द्वारा ऐसे रूपोंका सृजन करते हो जो कुछ-कुछ तुमसे स्वतंत्र होते हैं और तुम्हारे पास इस प्रकार वापस आते हैं मानों बाहरसे आये हों और तुम्हें अनुभूतियां होनेकी धारणा प्रदान करते हैं। परंतु ये अनुभूतियां, जो या तो इच्छित या अन्वेषित या पूर्वदृष्ट होती हैं, स्वतःस्फूर्त्त अनुभूतियां नहीं होतीं और भ्रम-भ्रांतियां होनेके — कभी-कभी तो विपत्तिजनक भ्रांतियां होनेके — खतरेमें डालती हैं।

अतएव, जब कोई किसी मानसिक साधनाका अनुसरण करता हो तो उसे इस बातमें विशेष रूपसे सावधान रहना चाहिये कि पहलेसे किन्हीं अनुभूतियोंकी कल्पना या उन्हें पानेकी इच्छा न करे, क्योंकि इस तरह वह अपने लिये इन अनुभूतियोंका भ्रम पैदा कर सकता है। योगके क्षेत्रमें, यह बहुत अटल और कठोर सहज-स्वाभाविकता पूर्णतः अपरिहार्य है।

उसके लिये स्वभावतः, मनुष्यमें कोई महत्त्वाकांक्षा या कामना नहीं होनी चाहिये, और न अत्यधिक कल्पना-शक्ति होनी चाहिये, और न वह चीज जिसे मैं "आध्यात्मिक रोमानियत" कहती हूं अर्थात्, चमत्कारपूर्ण वस्तुओंके लिये शौक — मनुष्य यदि निर्भय होकर पथपर अग्रसर होनेके विषयमें निस्संदिग्ध होना चाहे तो उसे बड़ी सावधानीके साथ इन सब चीजोंको निर्मूल कर देना चाहिये।

अब, इस प्रारंभिक स्पष्टीकरणके बाद, जो कुछ मैंने लिखा है और जिसकी व्याख्या करनेके लिये मुझसे कहा गया है उसे मैं तुम्हारे सामने पढ़ने जा रही हूं। ये सूत्र हैं और संभवतः व्याख्याकी मांग करते हैं। अभी जिन बातोंकी मैं तुम्हारे सामने चर्चा कर रही थी शायद उन्हींको पढ़नेके कारण अंतःप्रेरित होकर मैंने इन्हें लिखा था। परंतु यह सब और चीजोंसे बढ़कर एक व्यक्तिगत अनुभवकी अभिव्यंजना थी :

"दिव्य होनेके लिये मनुष्यको सहज-स्फूर्त्त होना चाहिये।"

इसी बातको अभी-अभी मैंने तुम्हें समझाया है। तब प्रश्न उठता है : सहज-स्फूर्त्त कैसे हुआ जाय ?

"सहज-स्फूर्त्त होनेके लिये मनुष्यको पूर्णतः सरल होना चाहिये।"

और पूर्णतः सरल कैसे हुआ जाय?

"पूर्णतः सरल होनेके लिये मनुष्यको संपूर्ण रूपमें सच्चा होना चाहिये।"

और अब, संपूर्ण रूपसे सच्चा होनेका तात्पर्य क्या है?

"संपूर्ण रूपमें सच्चा होनेका तात्पर्य है हमारी सत्तामें कोई विभाजन, कोई विरोध न हो।"

यदि तुम ऐसे टुकड़ोंसे बने हो जो केवल एक-दूसरेसे भिन्न ही नहीं, वरन् बहुधा एक-दूसरेके विरोधी हैं, तो ये टुकड़े तुम्हारी सत्तामें अवश्यमेव एक विभाजन उत्पन्न करते हैं। उदाहरणार्थ, तुम्हारे अंदर एक भाग ऐसा है जो दिव्य जीवनके लिये, भगवान्को जानने, उनके साथ युक्त होने, पूर्णतः उन्हें जीवनमें उतारनेके लिये अभीप्सा करता है, और फिर तुम्हारा एक दूसरा भाग है जिसमें आसक्तियां, कामनाएं (जिन्हें वह "आवश्यकताएं" कहता है) हैं और जो न केवल इन चीजोंको पानेकी चेष्टा करता है बल्कि जब ये चीजें उसे नहीं मिलतीं तो एकदम विक्षुब्ध हो उठता है। दूसरे प्रकारके विरोध भी हैं, पर यह विरोध अत्यंत स्पष्ट है। दूसरे हैं, जैसे, मनुष्य भगवान्के प्रति पूरी तरह समर्पण करना, उनकी इच्छा और उनके पथ-प्रदर्शनके प्रति पूर्ण रूपमें अपनेको उत्सर्ग कर देना चाहता है, और उसके साथ-ही-साथ, जब अनुभव आते हैं (यह इस पथपर होनेवाला एक आम अनुभव है जब मनुष्य सच्चे रूपमें अपने-आपको भगवान्के प्रति अर्पित करनेका प्रयत्न करता है), ऐसा लगता है कि हम कुछ नहीं हैं, हम कुछ नहीं कर सकते, यहांतक कि भगवान्के बाहर हमारा कोई अस्तित्व नहीं है; अर्थात्, यदि वह न होते तो हमारा अस्तित्व ही न होता और हम कुछ नहीं कर पाते, हम बिलकुल कुछ न हो पाते...। यह अनुभव स्वाभाविक रूपमें एक सहायकके रूपमें पूर्ण आत्म-दानके पथपर आता है, परंतु हमारी सत्ताका एक भाग ऐसा है जो, जब यह अनुभव आता है, तो भयानक रूपसे विद्रोह कर बैठता है और कहता है: "परंतु क्षमा कीजिये! मैं बने रहनेका आग्रह करता हूं, मैं कुछ होनेका आग्रह करता हूं, मैं स्वयं करना चाहता हूं, मैं एक व्यक्तित्व बनाये रखना चाहता हूं।" और स्वभावतः जो कुछ पहलेने किया था उस सबको दूसरा नष्ट कर देता है।

ये सब असाधारण बातें नहीं हैं, ऐसा बहुत बार होता है। सत्ताके ऐसे विरोधोंके अनगिनत उदाहरण मैं तुम्हें दे सकती हूं : जब एक भाग एक पग आगे बढ़ानेकी कोशिश करता है तो दूसरा आता है और सब कुछ तहस-नहस कर देता है। अतएव मनुष्यको सब समय फिरसे आरंभ करना पड़ता है, और प्रत्येक बार सब कुछ तहस-नहस हो जाता है। यही कारण है कि मनुष्यको सच्चाईके इस कार्यको अवश्य करना चाहिये और जब मनुष्य अपनी सत्तामें किसी ऐसे भागको देखे जो दूसरी ओर खींचता है तो सावधानीके साथ उस भागको पकड़ लेना चाहिये, उसे उसी तरह शिक्षा देनी चाहिये जैसे किसी बच्चेको सिखाया जाता है और उसे केंद्रीय भागके साथ सुसमंजस बनाना चाहिये। यही है सच्चाईका कार्य और यह अपरिहार्य है।

और स्वभावतः, जब सत्ताकी सभी इच्छाओंके बीच एकता, मेल-मिलाप, सामंजस्य स्थापित हो जाता है तो एक ऐसी सत्ता प्राप्त हो सकती है जो सरल, साफ और अपनी क्रिया और प्रवृत्तियोंमें एक जैसी हो। जब समूची सत्ता केवल एक ही केंद्रीय भावके इर्द-गिर्द एकत्रित हो जाती है तभी मनुष्य सहज-स्फूर्त हो सकता है। कारण, यदि, तुम्हारे अंदर कोई ऐसी चीज है जो भगवान्‌की ओर मुड़ी हुई है और अंतःप्रेरणा और सहज-आवेगकी प्रतीक्षा करती है, और उसके साथ-ही-साथ सत्ताका एक दूसरा भाग है जो अपने निजी प्रयोजन सिद्ध करना चाहता है तथा अपनी निजी कामनाओंको संसिद्ध करनेके लिये कार्य करता है, तब मनुष्य यह नहीं जानता कि वह कहां खड़ा है, और वह इस विषयमें निस्संदिग्ध नहीं हो सकता कि अब क्या होनेवाला है, क्योंकि, एक भाग, दूसरा जो करना चाहता है उसे न केवल बिगाड़ सकता है बल्कि पूरी तरह खंडित कर सकता है।

और, निश्चय ही, 'वू वी' में जो कुछ कहा गया है उसके साथ सुसमंजस होनेके लिये, क्या आवश्यक है और क्या किया जाना चाहिये यह सब बहुत साफ तौरपर देख लेनेके बाद, यह सुझाव दिया गया है कि इस कार्यक्रमको संसिद्ध करनेके लिये न तो उग्रताका प्रयोग करना चाहिये और न अत्यधिक उत्साहका, क्योंकि उत्साहकी अधिकता उस शांति और समता और स्थिरताके लिये बाधक है जो व्यक्तिके द्वारा अपने-आपको अभिव्यक्त करनेमें दिव्य चैतन्यके लिये आवश्यक हैं। और इस सबका निष्कर्ष यह है :

साम्यावस्था अनिवार्य है, जो पथ सावधानतापूर्वक विपरीत चरमावस्थाओंसे बचता है वह अनिवार्य है, अत्यधिक जल्दबाजी खतरनाक है, अधैर्य आगे बढ़नेसे तुम्हें रोकता है; और साथ-ही-साथ, तामसिकता तुम्हारे पैरोंमें बेड़ियां डालती है।

अतएव सभी चीजोंके लिये वास्तवमें मध्यम मार्ग (मज्झम निकाय) ही, जैसा कि बुद्धने इसे नाम दिया था, सबसे उत्तम है।

(मौन)

यहां दो और प्रश्न हैं जो उपर्युक्त विषयके स्वाभाविक परिणाम हैं। पहला प्रश्न यह है:

इन शब्दोंसे आपका क्या मतलब है: "जब तुम किसी कठिनाईमें होओ तो अपने-आपको विस्तारित कर दो ?"

मैं स्वभावतः योगके मार्गमें आनेवाली कठिनाइयोंके बारेमें, दुर्बोध्यता, परिसीमाओं, विघ्न-बाधाओं जैसी चीजोंके बारेमें कह रही हूं जो तुम्हें आगे बढ़नेसे रोकती हैं। और जब मैं यह कहती हूं कि "अपने-आपको विस्तारित करो", तो मेरा मतलब होता है कि अपनी चेतनाको विस्तारित करो।

कठिनाइयां सर्वदा अहंभावसे आती हैं, अर्थात्, परिस्थितियों, घटनाओं और अपने इर्द-गिर्दके लोगोंके प्रति, तुम्हारे जीवनकी अवस्थाओंके प्रति जो तुम्हारी कम या अधिक अहंभावजन्य व्यक्तिगत प्रतिक्रिया होती है उससे उठती हैं। वे एक प्रकारके घोंघेमें बंद होनेकी भावनासे भी आते हैं जो तुम्हारी चेतनाको उच्चतर तथा विशालतर सत्योंके साथ युक्त होनेसे रोकती हैं।

मनुष्य बड़े मजेसे सोच सकता है कि वह विशाल होना चाहता है, विश्वव्यापी होना चाहता है, सब कुछ भगवान्‌का ही व्यक्त रूप है, हमारे अंदर कोई अहं-भाव नहीं होना चाहिये — मनुष्य सभी प्रकारकी बातें सोच सकता है — पर वह अनिवार्यतः कोई समाधान नहीं है, क्योंकि बहुत बार मनुष्य जानता है कि उसे क्या करना चाहिये, और फिर भी वह, किसी-न-किसी कारणवश, उसे नहीं करता। परंतु यदि, जब तुम्हारे सामने कोई दुःख, कष्ट, विद्रोह, दर्द या असहायताकी कोई भावना उपस्थित होती है— चाहे वह जो कुछ हो, सभी चीजें जो मार्गमें तुम्हारे सामने आती हैं और यथार्थतः तुम्हारी कठिनाइयां होती हैं — यदि तुम भौतिक रूपमें, अर्थात् अपने शरीरकी चेतनामें, अपने-आपको विस्तारित करनेकी, हम कह सकते हैं कि, अपने-आपको खोलनेकी भावना बना सको (तुम्हें लगता है मानों तुम पूरी तरह तहिया दिये गये हो, कपड़ेके उस टुकड़ेकी तरह तह-पर-तह लगी है जो तहा दिया गया है और फिर तहा दिया और फिर तहा

दिया गया हो), सो, यदि तुम्हें ऐसा अनुभव होता हो कि जो चीज तुम्हें पकड़े हुए है और तुम्हारा गला घोंट रही है और तुम्हें पीड़ा पहुंचा रही है अथवा तुम्हारी गतिविधिको बेकार कर रही है वह एक बहुत घने रूपमें, बहुत कड़े रूपमें, लपेटे हुए कपड़ेकी जैसी अथवा एक बहुत अच्छी तरह बंधे हुए, बहुत अच्छी तरह पैक किये हुए पार्सलकी जैसी है, और तुम धीरे-धीरे एक-के-बाद-एक, सभी तहोंको खोलते हो, अपने-आपको ठीक उसी तरह फैला देते हो जैसे कोई कपड़ेके एक टुकड़े या कागजके एक तावकी तह खोलता और उसे सपाट फैला देता है, उसी तरह मनुष्य चित लेट जाता है और अपनेको बहुत चौड़ा, जितना चौड़ा बनाना संभव हो उतना चौड़ा, बना देता है, जितनी दूरतक संभव हो उतनी दूरतक फैला देता है, उस चीजके प्रति पूर्ण निष्क्रियताके एक भावके साथ अपनेको खोल देता और फैला देता है जिसे मैं "ज्योतिका मुखमंडल" कहती हूं: अपनी कठिनाईकी ओर पीठ फेरकर, उसके ऊपर दुहरा होकर नहीं; मानों उसे अपने व्यक्ति-रूपके अंदर बंद करके नहीं, बल्कि, उसके विपरीत, जितना संभव हो उतना, जितने पूर्ण रूपमें किया जा सके उतने पूर्ण रूपमें, अपने-आपको खोलकर, कठिनाईको 'ज्योति'के सम्मुख रखकर — उस 'ज्योति'के सम्मुख जो ऊपरसे आती है — यदि तुम उसे सभी क्षेत्रों-में करो, और यदि मानसिक रूपमें उसे करनेमें तुम सफल न भी होओ (क्योंकि यह कभी-कभी कठिन होता है), यदि तुम इसे **भौतिक रूपमें** लगभग अत्यंत स्थूल रूपमें करनेकी कल्पना कर सको तो हां, जब तुम अपने-आपको खोलना और अपने-आपको फैलाना पूरा कर लोगे, तुम देखोगे कि कठिनाईका तीन-चौथाई भाग गायब हो गया है। और फिर 'ज्योति'के प्रति ग्रहणशीलताका तनिक-सा कार्य हो जाय तो अंतिम चौथाई भी विलीन हो जायगा।

अपने विचारके द्वारा कठिनाईके साथ संघर्ष करनेकी अपेक्षा ऐसा करना बहुत अधिक आसान है, क्योंकि तुम यदि अपने साथ तर्क-वितर्क करना आरंभ करो तो तुम्हें पक्ष और विपक्षमें ऐसी युक्तियां मिलेंगी जो इतनी विश्वासदायिनी होंगी कि किसी उच्चतर ज्योतिके बिना उनसे बाहर निकलना बिलकुल असंभव होगा। उस समय, तुम कठिनाईके साथ संघर्ष मत करो, अपने-आपको यकीन दिलानेकी चेष्टा मत करो, आह ! बस ज्योतिके अंदर अपने-आपको फैला दो, मानों तुम धूपमें बालूके ऊपर चित लेट गये हो। और तुम ज्योतिको अपना काम करने दो। बस, इतना ही पर्याप्त है।

(मौन)

और यह रहा दूसरा प्रश्न:

अपने-आपको भूल जानेका सबसे आसान तरीका क्या है?

स्वभावत: यह निर्भर करता है प्रत्येक व्यक्तिपर; प्रत्येक व्यक्तिका अपने-आपको भूलनेका उसका अपना विशिष्ट तरीका है जो उसके लिये सर्वोत्तम है। परंतु स्पष्ट ही एक काफी सामान्य पद्धति है जिसका प्रयोग विभिन्न रूपोंमें किया जा सकता है : वह है किसी अन्य चीजमें व्यस्त हो जाना। अपने विषयमें व्यस्त होनेके बदले मनुष्य किसी अन्य व्यक्तिके विषयमें, या दूसरोंके साथ या किसी कार्यमें या किसी दिलचस्प क्रिया-कलापमें संलग्न हो सकता है जिसमें एकाग्रताकी आवश्यकता होती है।

और यह फिर भी वही बात है: स्वयं अपने ऊपर दोहरा हो जाने और अपने विषयमें चिंतन करने अथवा संसारकी अत्यंत बहुमूल्य वस्तुकी तरह मानों अपने-आपको ही लाड़-प्यार करनेके बदले, यदि मनुष्य अपने-आपको खोल सके, और अन्य किसी वस्तुमें व्यस्त हो जाय, ऐसी वस्तुमें जो बिलकुल उसका अपना स्वरूप न हो, तो फिर वही आत्म-विस्मरणका सबसे सरल और सबसे तेज तरीका है।

बहुत-से दूसरे तरीके हैं पर यह तरीका हर व्यक्तिकी पहुंचके अंदर है। अतएव, बस इतना ही पर्याप्त है, मेरे बच्चो।

अब, अगर इस विषयमें अथवा किसी दूसरे विषयमें तुम्हारे पास कुछ कहनेको न हो तो हम चुप रह सकते हैं।

५ सितंबर, १९५६

"अंधेरी और मलिन जड़ताका तत्त्व इसकी जड़में है; शरीर और इसकी आवश्यकताओं तथा कामनाओंके कारण सभी मनुष्य क्षुद्र मन, तुच्छ तृष्णाओं और उमंगोंसे, छोटी-छोटी व्यर्थकी चेष्टाओं, आवश्यकताओं, चिंताओं, व्यग्रताओं तथा सुख-दु:खोंकी निरर्थक आवृत्तिसे बंधे हुए हैं। ये सब चीजें अपनेसे परे किसी चीजकी ओर नहीं ले जातीं और इनपर एक ऐसे अज्ञानकी छाप लगी हुई है जिसे अपने 'क्यों' और 'किधर'का कुछ पता

नहीं है। यह जड़, स्थूल मन अपने छोटे पार्थिव देवोंके अतिरिक्त और किसी देवत्वमें विश्वास नहीं करता; यह संभवतः और भी अधिक सुख-सुविधा तथा सुप्रबंधकी आकांक्षा करता है, पर ऊर्ध्वगति और आध्यात्मिक मुक्तिकी याचना नहीं करता। सत्ताके केंद्रमें हमारी एक अधिक रसिक और बलवत्तर 'जीवनेच्छा'से भेंट होती है, पर यह एक अंधी राक्षसी एवं विकृत 'आत्मा' होती है और ठीक उन्हीं तत्त्वोंमें मजा लेती है जो जीवनको आयासमय संघर्ष तथा दुःखदायी कलह बना डालते हैं। यह मानवीय या पैशाचिक कामनाकी आत्मा है जो भड़कीले रंग, उच्छृंखल काव्य तथा शुभ-अशुभ, हर्ष-शोक, प्रकाश-अंधकार, मादक हर्ष और कटु यंत्रणाके एक मिश्रित प्रवाहके उग्र दुःखांत या उद्दीपक गीति-नाटकमें आसक्त रहती है। यह इन चीजोंसे प्यार करती है और इन्हें अधिकाधिक पाना चाहती है, अथवा, जब यह दुःख भोगती तथा इसके विरुद्ध चिल्लाती भी है तब भी यह और कोई चीज स्वीकार नहीं कर सकती और न ही उसमें रस ले सकती है। यह उच्चतर वस्तुओंसे घृणा और विद्रोह करती है और अपने आवेशमें ऐसी किसी भी दिव्यतर शक्तिको कुचल देना, चीर डालना या गला घोंटकर मार देना चाहती है जो जीवनको शुद्ध, उज्ज्वल तथा सुखी बनाने तथा उस उत्तेजक मिश्रणकी तीक्ष्ण सुराको इसके अधरोंसे छीननेका प्रस्ताव रखनेका दुस्साहस करती है। एक और 'जीवनेच्छा' भी है जो एक उत्थापक आदर्शात्मक 'मन' का अनुसरण करनेको उद्यत होती है तथा उसके इस प्रस्तावसे आकृष्ट हो जाती है कि जीवनमेंसे कुछ सामंजस्य, सौंदर्य, प्रकाश तथा उत्कृष्टतर व्यवस्थाका रस ले लेना चाहिये; परंतु यह प्राणिक प्रकृतिका एक बहुत छोटा-सा भाग है और अपने अधिक उग्र या अंधतर एवं मूढ़तर साथियोंसे सहज ही अभिभूत हो सकती है। यह 'मन' की पुकारसे अधिक ऊंची किसी पुकारका तबतक आसानीसे साथ नहीं देती जबतक वह पुकार अपना नाश आप ही नहीं कर लेती, जैसा कि धर्म प्रायः ही करता है, यह नाश वह अपनी मांगको उन अवस्थाओंतक कम कर लेनेसे करती है जिन्हें हमारी अंध प्राणिक प्रकृति अधिक अच्छी तरहसे समझ सके। आध्यात्मिक जिज्ञासु अपने अंदर इन सब शक्तियोंसे सचेतन हो जाता है तथा इन्हें अपने चारों ओर सब जगह

अनुभव करता है। उसे इनके साथ निरंतर संघर्ष तथा युद्ध करना पड़ता है, ताकि वह इनके चंगुलसे छुटकारा पा सके तथा इन्होंने उसकी सत्ता एवं पारिपार्श्विक मानव-सत्तापर जो चिर-रक्षित आधिपत्य जमा रखा है उससे इन्हें च्युत कर सके। यह कठिनाई एक बड़ी भारी कठिनाई है; क्योंकि उनका अधिकार अत्यंत दृढ़ है, स्पष्ट रूपसे अदम्य है, यहांतक कि यह इस तिरस्कारपूर्ण उक्तिको सत्य सिद्ध करता है कि मानव-प्रकृति कुत्तेकी दुमके समान है। इसे आचार-शास्त्र, धर्म, तर्क-बुद्धि या अन्य किसी उद्धारक पुरुषार्थके बलसे चाहे कितना भी सीधा करनेका यत्न क्यों न करो, यह अंतमें सदा ही विश्व-प्रकृतिकी कुटिल वक्रावस्थामें पुनः-पुनः लौट आती है। इस अत्यंत विक्षुब्ध 'जीवनेच्छा'का बल तथा चंगुल इतना दृढ़ है, इसकी वासनाओं तथा भ्रांतियोंका संकट इतना महान् है, इसके आक्रमणका आवेश या इसके विघ्नोंकी कष्टकर बाधा इतनी सूक्ष्म-आग्रहशील या दृढ़-विद्रोही है तथा 'द्युलोक'के ठेठ द्वारोंतक ऐसी अड़ी रहती है कि संत और योगी भी इसके षड्यंत्र या इसके बलात्कारके विरुद्ध खड़े होनेके लिये अपनी मुक्त पवित्रता या अपने अभ्यस्त आत्म-प्रभुत्वपर भरोसा नहीं कर सकते।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, शताब्दि संस्करण, पृ० १९६-७)

(लंबे मौनके बाद) मुझे ऐसा लगता है कि जब मनुष्य वस्तुओंको इस ढंगसे देखना आरंभ करता है, जब वे वैसी प्रतीत होती हैं जैसा कि यहां उनका वर्णन किया गया है, तुम समाधानके समीप, बहुत समीप पहुंच जाते हो।

इस संबंधमें सबसे बुरी बात यह है कि साधारणतया संपूर्ण जड़-भौतिक सत्य ही एकमात्र सत्य प्रतीत होता है, और दूसरी प्रत्येक वस्तु जो वह नहीं है एकदम गौण प्रतीत होती है। और शासन करने, पथ दिखाने, जीवनको व्यवस्थित करने, बाकी सब कुछके ऊपर आधिपत्य जमानेका उस जड़-भौतिक चेतनाका "अधिकार" इस हदतक समर्थित होता है कि यदि कोई इस परम पवित्र अधिकारपर हाथ लगानेका प्रयत्न करता है तो वह आधा पागल या अत्यंत खतरनाक व्यक्ति समझा जाता है...। मुझे ऐसा लगता है कि जीवनको उस रूपमें देखने-समझनेके लिये जिस रूपमें श्रीअरविंदने यहां उसका वर्णन किया है, मनुष्यको अभी बहुत लंबा पथ पार करना होगा। मुझे पूरा विश्वास है कि यदि कोई उसे वैसा

अनुभव करे, उसे उसी भांति देखे, जैसा कि उन्होंने उसका वर्णन किया है, तो वह समाधानके बहुत-बहुत समीप है।

केवल उच्च प्रकृतिवाले लोग ही, ऐसे लोग ही जिन्हें एक उच्चतर सत्यके साथ, दिव्य चेतनाकी किसी चीजके साथ पहलेसे ही संपर्क प्राप्त हो चुका है, वे ही ऐसे हैं जो पार्थिव जीवनको इस प्रकार अनुभव करते हैं। और जब कोई बाहरी चेतनाकी इन सब कमजोरियों और मूढ़ताओं-के बारेमें, तथाकथित भौतिक ज्ञान एवं तथाकथित भौतिक नियमों, शरीरकी तथाकथित आवश्यकताओं, अपने प्रयोजनोंकी "सत्यता"के इन सब मिथ्या-त्वोंके बारेमें इतनी पूरी तरह सचेतन हो सकता है; यदि कोई यह देखना आरंभ कर देता है कि यह सब कितना अधिक मिथ्या, मूर्खतापूर्ण, भ्रमात्मक, अंधकारपूर्ण और निकम्मा है तो वह सचमुच समाधानके बहुत नजदीक होता है।

यही धारणा मुझे उस समय हुई थी जब मैं इसे पढ़ रही थी। अपने आस-पासके लोगोंके साधारण वातावरणकी तुलनामें मुझे ऐसा लगा था कि इस ढंगसे वस्तुओंको देखनेके लिये मनुष्यको एक बहुत ऊंचे शिखरपर पहले ही अरोहण कर चुकना चाहिये, और वह मनुष्य मुक्तिके दरवाजेपर होगा। और चूंकि मैंने इसे इतने प्रबल रूपमें अनुभव किया इसलिये तुम लोगोंसे कहनेकी इच्छा हुई।

यदि कोई इस परिच्छेदको पुनः पढ़ सके और इसकी वास्तविकता और इसके पूर्ण सत्यके विषयमें विश्वस्त हो सके तो हां, यह स्वयं एक महान् पग है।

(मौन)

किसीके पास कोई प्रश्न पूछनेको नहीं है?... मेरे पास कुछ हैं (श्रीमाताजी प्रश्नोंका एक बंडल दिखाती हैं), परंतु ऐसा लगता है कि ये किसी दूसरे जगत्‌से संबंध रखते हैं।

कुछ समय पहले किसीने मुझसे यह प्रश्न पूछा था:

पृथ्वीपर 'अतिमानस'का प्रभाव क्या होगा?

संभवतः पहले प्रभावोंमेंसे एक यह होगा कि उसके कारण मनुष्य पृथ्वीकी वस्तुओंको इसी ढंगसे देखने लगेंगे, जैसा कि मैंने अभी-अभी तुम्हारे सामने पढ़ा है।

और फिर दूसरा प्रश्न है जिसका उत्तर मैं समझती हूं कि अबतक दे चुकी हूं, क्योंकि मैंने तुम्हें यह तुरत बताया था कि अतिमानसिक अभिव्यक्तिके प्रभावोंके दृश्य और मूर्त होनेमें, प्रत्येक व्यक्तिके लिये गोचर होनेमें, शायद हजारों वर्ष लग जायेंगे; परंतु फिर भी मैं समझती हूं कि ये भावनाएं मानवीय चेतनाके लिये खिजानेवाली हैं, क्योंकि एक तो उसमें अल्प-स्थायित्वकी भावना है और उसके कारण एक प्रकारकी अधीरता है। अतएव मुझसे पूछा गया है:

> **जो 'अतिमानस' जड़-'प्रकृति'के अंदर अंतर्निहित है उसके बाहरी चेतनाके अंदर प्रकट होने तथा दृष्टिगोचर परिणाम प्राप्त करनेमें लंबा समय लग जायेगा?**

यह निर्भर करता है चेतनाकी उस स्थितिपर जिसमें रहते हुए मनुष्य उत्तर देता है, क्योंकि...। मानवीय चेतनाके लिये, मैं समझती हूं, स्पष्ट ही इसमें एक बहुत लंबा समय लग जायगा। दूसरी चेतनाके लिये यह अपेक्षया अधिक शीघ्र होगा, और फिर एक और चेतनाके लिये तो यह संपन्न ही हो गया है। यह एक संसिद्ध तथ्य है। परंतु इसके संबंधमें सचेतन होनेके लिये मनुष्यको साधारण भौतिक चेतनासे भिन्न चेतनाकी दूसरी स्थितिमें प्रवेश पानेमें समर्थ होना होगा।

श्रीअरविंदने सत्य-मन, सत्य-प्राण और सत्य-शरीर अथवा सूक्ष्म शरीरकी चर्चा की है (मेरा ख्याल है कि मैंने इसे तुम्हें पढ़कर सुनाया है, मैं समझती हूं कि यह 'योग-समन्वय' पुस्तकमें है) और यह कहा है कि वे साधारण मन, प्राण और शरीरके साथ-साथ रहते हैं तथा विशेष अवस्थाओंमें मनुष्य उनके संपर्कमें आ सकता है, और तब जो कुछ वास्तवमें है और वस्तुओंका जो बाह्य रूप है उनके बीचके भेदको समझने लगता है।

खैर, विकसित चेतनाके लिये, अतिमानस सूक्ष्म-भौतिक लोकके किसी क्षेत्रमें कहींपर अबतक संसिद्ध हो चुका है, यह अब वहां विद्यमान है, दृष्टिगोचर, ठोस रूपमें, और आकारों तथा क्रियाओंमें अभिव्यक्त होता है। और जब कोई इस क्षेत्रके साथ समस्वर हो जाता है, जब कोई वहां निवास करता है, उसे यह बहुत प्रबल अनुभव होता है कि इस जगत्को मानों घनीभूत करना पर्याप्त होगा ताकि वह सबको दिखायी दे सके। उसके बाद बस रोचक बात यह होगी कि मनुष्य इस आंतरिक दर्शन-शक्तिको विकसित कर ले जो अबतक अभिव्यक्त अतिमानसिक सत्यके साथ

संपर्क करा दे जो केवल उसके साथ संबंध स्थापित करनेवाली उपयुक्त इंद्रियोंके अभावके कारण ढका हुआ है।

यह संभव है कि जो लोग अपने स्वप्नोंके विषयमें सचेतन होते हैं, उन्हें नये प्रकारके ऐसे स्वप्न आयें जो उन्हें उस जगत्के संपर्कमें ला दें, क्योंकि जिन लोगोंके अंदर उससे मिलती-जुलती इंद्रियां हैं उन सब लोगोंकी सूक्ष्म-भौतिक सत्ताके लिये उस जगत्में प्रवेश करना सुगम है। और आवश्यक रूपसे, वहां बाहरी जड़-तत्त्वपर इस भौतिक स्तरका एक सूक्ष्म प्रभाव रहता है, यदि कोई वहांसे आनेवाले प्रभावोंको ग्रहण करनेके लिये तैयार हो और उन्हें अपनी चेतनामें प्रवेश करने दे। तो बस, इतना काफी है।

अब, अगर किसीके पास पूछनेके लिये प्रश्न नहीं है तो, अच्छा, हम चुप रहेंगे।

कुछ कहनेको है, वहां, उस ओर? (श्रीमाताजी एक शिष्यकी ओर देखती हैं) ओह! वह तो जलते अंगारोंपर बैठा है।

श्रीमां, यह सब समझ जानेके बाद भी मनुष्य समाधान पानेके लिये फिरसे निम्नतर मनके पास वापस जाता है।

समझ जानेके बाद, मनुष्य उन्हीं पुरानी भूलोंमें जा गिरता है?...यह तो दुःखकी बात है!

और प्रतिदिन।

प्रतिदिन! क्यों, यह तो और भी दुःखकी बात है! और इसलिये, तुम कौन-सा उपाय बताते हो?

मैं तो उपाय पूछ रहा हूं।

ओह! तुम मुझसे पूछ रहे हो! क्यों, मुझे तो ऐसा लगता है जब किसीने वस्तुओंको इस प्रकार देख लिया है हां, यदि किसीमें पर्याप्त संवेदनशीलता है तो वह उन्हें उसके बाद वैसी ही नहीं रहने दे सकता जैसी कि वे हैं। यह समझ लेनेके बाद कि वे सब चीजें किस हदतक पतनकारी हैं जब मनुष्य उन्हें वैसा ही रहने दे तो इसका मतलब यह है कि वह वास्तवमें पूर्णतः चैतन्य-शून्य अवश्य होगा।

हां, एक और बात है जिसे मैंने देखा है और जो मुझे बराबर ही

आश्चर्यमें डालती रही है। जिन चीजोंको मनुष्य अस्वीकार्य समझता है उन्हें अपनी चेतना तथा प्रकृतिसे बाहर फेंक देना मुझे सदा ही बिलकुल साधारण, सरल, लगभग प्रारंभिक काम मालूम होता रहा है। जिस क्षण मनुष्य जान जाता है, जिस क्षण वह उन्हें उस रूपमें देखता है जैसी वे हैं और उन्हें नहीं चाहता, तो मुझे यह बात बिलकुल, निस्संदेह लगभग शिशुतुल्य सरल प्रतीत होती है। परंतु मैंने अधिकांश प्रसंगोंमें — लगभग सभी प्रसंगोंमें यह देखा है कि जब मैं किसी व्यक्तिसे वस्तुओंका वैसा ही वर्णन करती हूं जैसी वे हैं, जब मैं उस परिस्थितिका सच्चा चित्र उसके सामने रखती हूं जिसमें वह है अथवा किसी गति-विधिके स्वरूपका, वह जिस वस्तुका प्रतिनिधित्व करती है उसका चित्र रखती हूं, और जब मैं उसे बलपूर्वक व्यक्त करती हूं, ताकि, मेरे मतानुसार, उसमें तुरत वह प्रतिक्रिया हो जिसे मैं स्वाभाविक समझती हूं और वह कह उठे : "आह ! यदि यह चीज ऐसी है तो फिर मैं इसे नहीं चाहता !" और लगभग प्रत्येक बार मैं अपने सामने एक ऐसी चीज देखती हूं जो टूट जाती है और मुझसे कहती है : "आह ! आप प्रोत्साहन नहीं दे रहीं !" मैं स्वीकार करती हूं कि यह चीज मुझे बिलकुल निस्सहाय स्थितिमें छोड़ देती है। तो, देखना ही पर्याप्त नहीं है? यह जानना कि अमुक बातोंको नहीं होना चाहिये, पर्याप्त नहीं है? उसे एक ऐसे प्रकारकी आंतरिक उत्तेजना, सक्रिय शक्ति देनी चाहिये जिससे तुम उस मूलको ऐसे ढंगसे त्याग दो कि वह फिर वापस न आ सके !

परंतु किसी मूल-भ्रांतिमें पुनः वापस आ जाना जिसे मनुष्य जानता है कि वह एक मूल है, किसी मूलको फिरसे दुहराना जिसे मनुष्य जानता है कि वह एक मूल है, मुझे बड़ा अजीब लगता है ! एक दीर्घ कालसे — हां, कम-से-कम सापेक्षिक रूपमें मानवीय पैमानेके अनुसार — एक दीर्घ कालसे मैं इस पृथ्वीपर हूं और अभीतक मैं इसे समझनेमें सफल नहीं हुई हूं। मुझे लगता है — यह मुझे असंभव लगता है। अशुद्ध विचार, अशुद्ध आवेग, भीतरी और बाहरी मिथ्यात्व, वे चीजें जो कुत्सित, निम्न हैं उन्हें जबतक मनुष्य अज्ञानके वश — अज्ञान तो संसारमें है ही — करता है या ये चीजें उसके अंदर होती हैं, तो हम समझ सकते हैं, मनुष्य उन्हें करनेका आदी है; यह अज्ञान है, मनुष्य यह नहीं जानता कि यह अन्य प्रकारका होना चाहिये। परंतु जिस मुहूर्त्त ज्ञान आ जाता है, प्रकाश आ जाता है, जिस क्षण मनुष्य उस वस्तुको वैसी ही देख लेता है जैसी कि वह है, फिर भला वह दुबारा उसे कैसे आरंभ कर सकता है? यह बात मैं नहीं समझती !

फिर किस चीजसे मनुष्य बना है? क्या वह चिथड़ोंसे बना है? मैं नहीं जानती मनुष्य किस चीजसे बना है, जिलेटीनसे बना है?...इसे समझाया नहीं जा सकता। परंतु उसमें कोई प्रेरणा नहीं है, कोई संकल्प नहीं है, उसमें कुछ नहीं है? उसमें कोई आंतरिक क्रिया-शक्ति नहीं है?

मनुष्य भगवत्कृपाका दुरुपयोग करता है!

ओहो! मोलस्क प्राणीकी तरह!

परंतु भगवत्कृपा तो यहां विद्यमान है, वह सर्वदा यहां विद्यमान है, वह बस इतना चाहती है कि उसे सहायता करने दी जाय — मनुष्य उसे कार्य नहीं करने देता।

और कोई चीज नहीं, बस यह भावना कि: "ओह! मैं नहीं कर सकता!"; बस, उसे कार्य न करने देनेके लिये इतना पर्याप्त है।

भला इस विचारको कैसे स्वीकार किया जाय कि मनुष्य नहीं कर सकता? मनुष्य नहीं जानता — हां, उसे मनुष्य नहीं भी जान सकता — पर जब एक बार वह जान जाता है, तब सब समाप्त!

फिर भी...।

१२ सितंबर, १९५६

प्यारी माताजी! क्या किसीको प्रश्न पूछनेका अधिकार है, यदि वह आपकी कही बातके अनुसार अभ्यास न करता हो?

मनुष्यको सर्वदा कोई कार्य करनेका अधिकार है! (हंसी) मनुष्य जो भी प्रश्न पूछना चाहे पूछ सकता है। परंतु अभ्यास? प्रधानतया यह प्रत्येक व्यक्तिके ऊपर निर्भर है कि वह चुनाव करे, ठीक है न? — वह अभ्यास करना चाहता है या नहीं, वह इसे उपयोगी समझता है या नहीं। वह एक ऐसी चीज है जो लादी नहीं जा सकती; उसे स्वेच्छापूर्वक करना होगा। परंतु मनुष्य सर्वदा प्रश्न तो पूछ ही सकता है।

खैर, मैं एक प्रश्न पूछ रही हूं: "लोग अभ्यास क्यों नहीं करते?"

तुम जानते हो, मेरे बच्चे, वे क्यों अभ्यास नहीं करते? (माताजी बारी-बारीसे दूसरोंसे पूछती हैं) और तुम? और तुम? ... वाह! तुम जानते हो, तुम?

शायद इस कारण कि मनुष्य आलसी है!

यह निश्चय ही एक प्रधान कारण है। और इसलिये मनुष्य सुन्दर-सुन्दर कारणोंसे अपने आलस्यको छिपाता है; पहला कारण यह है जो कहता है: "मैं नहीं कर सकता, मैं नहीं जानता" या फिर: "मैंने कोशिश की है और सफल नहीं हुआ" या फिर: "मैं नहीं जानता कि कहांसे आरंभ करूं!" कोई भी कारण, ठीक है न? सबसे पहला जो तुम्हारे पास आता है। अथवा, सचमुच, मनुष्य इस कारण अभ्यास नहीं करता कि वह उसे प्रयत्न करनेके योग्य नहीं समझता — यह भी आलस्यका अंग है, वह अत्यधिक प्रयासकी मांग करता है! परंतु मनुष्य प्रयासके बिना रह नहीं सकता! यदि वह कोई प्रयास करना अस्वीकार कर दे तो वह अपने पैरोंपर खड़ा होने या चलने या यहांतक कि खाने-में भी समर्थ नहीं होगा।

मैं समझती हूं कि मनुष्य सबसे पहले इस कारण अभ्यास नहीं करता कि उसमें इतनी पर्याप्त ठोस सत्यता नहीं होती कि वह जीवनकी अन्य वस्तुओंपर अधिकार कर सके; कारण प्रयास अपने परिणामकी तुलनामें असंगत प्रतीत होता है। परंतु इस प्रकारका प्रयास केवल एक प्रारंभ होता है: एक बार जब मनुष्य अंदर पैठ जाता है, तब वही बात नहीं रह जाती।

(उस बच्चेकी ओर मुड़कर) तो, अपना प्रश्न पूछो, यदि तुम अभ्यास नहीं भी करते!

नहीं, मेरे पास कोई प्रश्न नहीं है, प्यारी मां!

ओह! तुम्हारा प्रश्न केवल यही था! तुमने कहना चाहा था: "क्या प्रश्न पूछना और जो कुछ कहा जाता है उसमेंसे किसी चीजका अभ्यास न करना ईमानदारी है?"

हां, माताजी।

हां!

(एक शिष्य) अभीतक हम लोगोंमें यह पुरानी लीक बनी हुई है कि कोई काम करनेके लिये हमारे ऊपर दबावकी आवश्यकता होती है। अपने बचपनसे ही कार्य करनेके लिये हम मजबूर किये जाते रहे हैं। यहां बात ठीक उसके विपरीत है।

मजबूर? ओह! तो मनुष्य तबतक कोई काम नहीं करता जबतक वह मजबूर नहीं किया जाता! परंतु जो चीज मजबूरीके कारण की जाती है उसका कोई मूल्य नहीं होता।

बस, इतना ही है? तुम्हारे पास कोई प्रश्न नहीं है, तुम्हारे पास? ... मेरे पास बहुत हैं पर वे या तो बहुत विशेष प्रकारके हैं या बहुत सामान्य! अथवा, यथार्थतः, वे केवल उन्हीं लोगोंके लिये दिलचस्प हैं जो अभ्यास करनेके लिये उत्सुक हैं।

तुम क्या सुनना चाहते हो? ... (मौन) कुछ नहीं, देखो, तुम कहते हो कुछ नहीं। ठीक है, यह बहुत अच्छा है, मैं कुछ नहीं कहूंगी!

(एक बालक) हमारे अंदर प्रगति करनेकी इच्छा जगानेके लिये कोई बात।

(ध्यान)

१९ सितंबर, १९५६

प्यारी माताजी, मैं इसे अच्छी तरह नहीं समझ पाया ... "'संकल्प', 'बल', और 'शक्ति' 'प्राण-शक्ति'के सहजात तत्त्व हैं, इस कारण प्राण ठीक कहता है कि 'ज्ञान' और 'प्रेम' ही सर्वोच्च नहीं हैं, और वह ठीक ही किसी ऐसी चीजकी तृप्तिके लिये प्रेरित होता है जो अपेक्षाकृत अत्यधिक विचार-शून्य, दुर्दान्त और भयानक होते हुए भी भगवान् तथा 'परब्रह्म' की प्राप्तिके लिये अपने ही वीरतापूर्ण और उत्साहपूर्ण ढंगसे साहस कर सकती है।

'प्रेम' और 'ज्ञान' ही भगवान्‌के एकमात्र पहलू नहीं हैं, उनका एक पहलू 'शक्ति' का भी है।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, शताब्दि संस्करण पृ० २००)

तुम कौन-सी बात नहीं समझ पाये ?

श्रीअरविंद कहते हैं कि प्राण-भाग, प्राण-पुरुष सबसे बड़ी बाधा है, क्योंकि वह पुनरुद्धार-वंचित है और उसे रूपांतरित करनेकी संभावना भी तभी होगी जब वह पूरी तरह 'प्रेम' और 'ज्ञान'को समर्पित होगा; परंतु इसका सर्वप्रधान गुण चूंकि शक्ति, स्फूर्त्ति, बल-वीर्य है, यह सत्ताके अन्य भागोंके अधीन होना पसंद नहीं करता और यह बात उसके अधीनता स्वीकार न करनेको उचित सिद्ध करती है, क्योंकि वे गुण अपने सार-तत्व-में उतने ही ऊंचे हैं जितने कि दूसरे गुण। यही कारण है कि उसमें न तो वही शक्ति बनी रहती है और न वही क्षमताएं, क्योंकि वह विकसित नहीं होता, वह समर्पित नहीं होता, और यही चीज है जो कठिनाई उत्पन्न करती है : वह अधीनता नहीं स्वीकार करता क्योंकि उसमें यह शक्ति है, और यह शक्ति व्यवहृत नहीं हो सकती क्योंकि वह समर्पित नहीं है। सो, इस कठिनाईसे कैसे बाहर निकला जाय ? यदि प्राण समर्पित हो तो यह एक बहुत शक्तिशाली सहायक होगा, अत्यंत उपयोगी होगा, वह सारी प्रक्रियाको बहुत अधिक तेजीसे आगे बढ़ायेगा। परंतु चूंकि वह अपनी निजी शक्ति-सामर्थ्यको जानता है, वह दूसरोंके अधीन होना अस्वीकार करता है; और चूंकि वह अधीन होना स्वीकार नहीं करता, उसकी शक्ति व्यवहार्य नहीं होती। तब, क्या किया जाय ? श्रीअरविंद समस्याका वर्णन करते हैं (वह बादमें इसका समाधान करेंगे; यदि हम पढ़ना जारी रखें तो कुछ देर बाद वह हमें बतायेंगे कि कैसे इस समस्या-को हल किया जा सकता है), पर वह चीज पहले बता रहे हैं जिससे हम परिस्थितिको ठीक-ठीक समझ सकें।

यदि प्राण बिना किन्हीं सुनिश्चित गुणोंके कोई मामूली सत्ता होता तो उसके अधीनता स्वीकार करनेमें कोई कठिनाई न होती, परंतु वह एकदम अनुपयोगी होता। परंतु इसके विपरीत, प्राण तो ऊर्जा और शक्तिका — सभी शक्ति-सामर्थ्योंका एक प्रकारका किला है। फिर भी सामान्यतया यह शक्ति विपथगामिनी होती है; यह बिलकुल ही भगवान्‌की सेवामें निरत नहीं होती, यह प्राणकी अपनी तुष्टिके लिये उसकी अपनी सेवामें नियुक्त होती है। अतएव, जबतक इस तरहकी है इसका उपयोग नहीं किया जा सकता।

उसे यह समझना ही होगा कि यह ऊर्जा और शक्ति जिसे वह अपने अंदर अनुभव करता है तबतक उपयोगी नहीं बन सकती जबतक कि वह पृथ्वीपर होनेवाली संसिद्धिकी भागवत योजनाके साथ पूर्ण समस्वरता नहीं प्राप्त कर लेता। यदि वह इसे समझ जाता है, वह शांत-स्थिर हो जाता है और अपना नाम मानों सत्ताकी संपूर्णताकी सूचीमें लिखने देता है, तब वह अपनी पूरी शक्ति तथा पूरा महत्त्व प्राप्त कर लेता है। अन्यथा, निकम्मा होता है। और साधारण तौरपर, उसकी सारी क्रियाएं ऐसी क्रियाएं होती हैं जो सब चीजोंको जटिल बना देती हैं और उनकी सरलता, उनकी पवित्रता, बहुधा उनकी सुन्दरता, और उनकी प्रभावशालिता नष्ट कर देती है, क्योंकि प्राणकी क्रिया अंधी, अज्ञानपूर्ण और बहुत अहंकारपूर्ण होती है।

प्यारी माताजी, क्या भागवत लोक चैत्य पुरुषका लोक होता है?

वह चैत्य पुरुषके लोकसे अधिक ऊंचा है। चैत्य पुरुष मानों भगवान्‌का वाहन है, वह भगवान्‌को अपने अंदर धारण करता है, वह भगवान्‌का आवास है, पर भगवान् उससे अधिक ऊपर हैं। कारण चैत्य पुरुष भागवत अभिव्यक्तिका केवल एक रूप है।

क्या 'अतिमानस' भी चैत्य पुरुष नहीं है?

'अतिमानस' भी चैत्य पुरुषसे बहुत अधिक ऊपर है।

श्रीअरविंद जिसे 'अतिमानस' कहते हैं वह तत्त्व या दिव्य तत्त्व है जो अब विश्वकी लीलामें प्रवेश करने आ रहा है। वह इसे 'अतिमानस' कहते हैं क्योंकि यह मनके बाद आ रहा है, कहनेका मतलब, यह परात्पर दिव्य तत्त्वकी एक नयी अभिव्यक्ति है। और यह चैत्यके साथ उसी भांति संबंधित है जैसे भगवान् चैत्यके साथ संबंधित थे, अर्थात्, चैत्य पुरुष वह निवास, मंदिर, वाहन, सब कुछ है जिसे भगवान्‌को बाह्य रूपमें अभिव्यक्त करना होगा। परंतु यह केवल अपने सार-रूपमें दिव्य है न कि अपने संपूर्ण रूपमें। यह भगवान्‌की बाह्य अभिव्यक्तिका एक प्रकार है, भगवान्‌की तुलनामें बाह्य प्रकार अर्थात् पार्थिव प्रकार है।

बस, काफी है? और कुछ नहीं?

हम भौतिक चेतनासे बाहर कैसे निकल सकते हैं जो हमें सब समय और ऐकांतिक रूपसे भौतिक परिस्थितियोंके साथ व्यस्त रखती है?

इसके बहुत सारे उपाय हैं।

कुछ बौद्धिक उपाय हैं, ऐसे उपाय हैं जिन्हें भावुकतामय, कलात्मक उपाय और आध्यात्मिक उपाय कह सकते हैं। और साधारणतया, प्रत्येक व्यक्तिके लिये वही उपाय ग्रहण करना अधिक अच्छा है जो उसके लिये सबसे अधिक आसान हो, क्योंकि यदि कोई सीधे सबसे अधिक कठिन उपायसे आरंभ करना चाहे तो वह बिलकुल कहीं नहीं पहुंचता। और यहां हम सर्वदा बस उसी एक चीजपर वापस आ जायंगे जिसका वर्णन श्रीअरविंद 'योग-समन्वय' पुस्तकमें करते हैं: यह ज्ञानका मार्ग है या भक्तिका मार्ग है या कर्मका मार्ग है। परंतु कर्मका मार्ग निश्चित रूपसे वह मार्ग है जो तुम्हें भौतिक जीवनमें बनाये रखता है और उसीमें अपनी मुक्तिकी खोज कराता है; और संभवतः यही सब साधनोंमें सबसे अधिक प्रभावशाली साधन है, पर अत्यंत कठिन भी है।

अधिकतर अभीप्सुओंके लिये ध्यान, एकाग्रता, भौतिक जीवनसे निवृत्ति, भौतिक क्रियाओंके त्यागका मार्ग निश्चय ही कर्म-मार्गसे अधिक आसान है। परंतु वे भौतिक चेतनाको, उसे कभी भी परिवर्तित किये बिना, वैसी ही छोड़ देते हैं जैसी कि वह है, और जबतक कि कोई साधु या संन्यासी ही न बन जाय जो समस्त सक्रिय जीवनसे बाहर चला जाता है और सतत एकाग्रता या ध्यानमें बना रहता है, मनुष्य बिलकुल कुछ नहीं प्राप्त करता। कहनेका तात्पर्य, सत्ताका कोई संपूर्ण भाग कभी रूपांतरित नहीं होता। और उनके लिये समाधान यह बिलकुल नहीं है कि वह रूपांतरित हो जाय, समाधान तो बस यह है कि उसे त्याग दिया जाय, जितनी जल्दी संभव हो उतनी जल्दी अपने शरीरसे बाहर निकला जाय। बस, इसी रूपमें प्राचीन कालमें योगकी कल्पना की गयी थी, क्योंकि, स्पष्ट ही, ऐसा करना बहुत अधिक आसान है। परंतु यह वह चीज नहीं है जिसे हम चाहते हैं।

हम जो कुछ चाहते हैं वह है भौतिक चेतनाका रूपांतर, न कि उसका परित्याग।

और इसलिये, ऐसी हालतमें, श्रीअरविंदने जिस चीजको अत्यंत सीधे और अत्यंत पूर्ण साधनके रूपमें ग्राह्य बताया है वह है भगवान्‌के प्रति समर्पण — एक ऐसा समर्पण जो अधिकाधिक पूर्ण बनाया गया हो, क्रमशः

जिसने भौतिक चेतना और भौतिक क्रियाओंको समाविष्ट कर लिया हो। और यदि कोई ऐसा करनेमें सफल हो तो भौतिक एक बाधा बननेके बदले एक सहाय बन जाता है।

इस वाक्यका क्या मतलब है: "अंतरात्माके आंतरिक बलके साथ जीवनकी ओर ताको और परिस्थितियोंके स्वामी बनो?"

यह ठीक-ठीक उस पद्धतिके विपरीत है- जिसमें संपूर्ण भौतिक चेतना तथा समस्त भौतिक घटनाओंका त्याग कर दिया जाता है। "जीवनकी ओर ताको"का मतलब है: उसकी ओर अपनी पीठ न फेरो! तात्पर्य, जीवनसे दूर भागनेके बदले वह जैसा है उसका सामना करो, और अपनी सहायताके लिये आंतरिक चैत्य शक्तिको पुकारो — बस, यही है जिसे श्रीअरविंद "अंतरात्माका आंतरिक बल", आंतरिक चैत्य शक्ति कहते हैं — और इस चैत्य चेतनाकी सहायतासे अपनेको परिस्थितियोंसे ऊपर उठाओ और उनपर प्रभुत्व स्थापित करो। कहनेका तात्पर्य, जो कुछ आता है उसकी वश्यता स्वीकार करने तथा उसके समस्त परिणामोंको भोगनेके बदले मनुष्य परिस्थितियोंसे ऊपर उठ जाता है और ऐसी चीजोंकी तरह उन्हें गुजर जाने देता है जो अब उसे स्पर्श नहीं करती तथा उसकी चेतनाको नुकसान नहीं पहुंचाती। बस, यही इसका तात्पर्य है।

यह कहा जाता है कि: "भागवत प्रेमके विषयमें सज्ञान होनेके लिये अन्य सभी प्रेमोंका त्याग कर देना पड़ता है।" अन्य प्रेमों-को, जो इतने हठपूर्वक (हंसी) चिपके रहते हैं और आसानीसे हमें नहीं छोड़ते, त्याग देनेका सर्वोत्तम उपाय क्या है?

परीक्षण करना, आह!

परीक्षण करना, यह देखना कि उसके पीछे क्या है, बाह्य रूपपर ही ठहर न जाना, बाहरी रूपसे ही संतुष्ट न हो जाना, उस तत्त्वकी खोज करना जो इस प्रेमके पीछे विद्यमान है, और तबतक तृप्त न होना जबतक कि मनुष्य इस मनोभावके स्वयं मूलको ही न पा जाय। फिर तो बाहरी रूप अपने-आप छिन्न-भिन्न हो जायगा और तुम्हारा संपर्क भागवत प्रेमके साथ हो जायगा जो समस्त वस्तुओंके पीछे विद्यमान है।

यही है सर्वोत्तम उपाय।

दूसरेको पानेके लिये एकसे छुटकारा पानेकी इच्छा करना बहुत कठिन

है। यह लगभग असंभव है। कारण, मानव-प्रकृति इतनी सीमित, विरोधोंसे इतनी भरी हुई है और अपनी क्रियाओंमें इतनी अनन्य है कि अगर कोई प्रेमको, उसके निम्नतर रूप अर्थात् मानव-प्रेमको, जैसा कि लोग उसे अनुभव करते हैं, त्यागना चाहे, यदि उसे त्यागनेका आंतरिक प्रयत्न करे तो साधारणतः वह प्रेमको अनुभव करनेकी सारी क्षमताको ही छोड़ बैठता है और पत्थर जैसा बन जाता है। और तब कभी-कभी अपने अंदर प्रेमको ग्रहण करने और अभिव्यक्त करनेकी क्षमताको फिरसे जगानेके लिये उसे वर्षों या शताब्दियों प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

फलतः सर्वोत्तम पथ यह है कि जब प्रेम आये, चाहे जिस किसी रूपमें वह आये, उसे भेदनेकी कोशिश की जाय और उसके बाह्य रूपके भीतर पैठकर उस दिव्य तत्त्वको खोजा जाय जो उसके पीछे है और जिसके कारण उसकी सत्ता है। स्वभावतः, यह जालों और कठिनाइयोंसे भरा हुआ है, पर यह है अधिक फलदायी। मतलब, प्रेम करना बंद करनेके स्थानपर, चूंकि मनुष्य गलत रूपमें प्रेम करता है, उसे गलत रूपमें प्रेम करना बंद करना होगा और अच्छे ढंगसे प्रेम करनेकी इच्छा करनी होगी।

उदाहरणार्थ, मानव-सत्ताओंके बीचका प्रेम, अपने सभी रूपोंमें; अपने बच्चोंके लिये माता-पिताका, माता-पिताके प्रति बच्चोंका, भाइयों और बहनोंका, मित्रों और प्रेमियोंका प्रेम पूरी तरह अज्ञान, स्वार्थपरता और दूसरे दोषोंसे जो मनुष्यकी सामान्य कमियां हैं, दूषित होता है; अतएव पूरी तरह प्रेम करना बंद कर देनेकी जगह — जो, बहुत कठिन भी है जैसा कि श्रीअरविंद कहते हैं; जो महज हृदयको सुखा देगा और उससे कोई लाभ नहीं होगा — हमें यह सीखना होगा कि किस प्रकार अधिक अच्छे रूपमें प्रेम किया जाता है: भक्तिके साथ, आत्म-दान, आत्म-त्यागके साथ प्रेम करना, और संघर्ष करना, स्वयं प्रेमके विरुद्ध नहीं, बल्कि उसके विकृत रूपोंके विरुद्ध: स्वयं अपने लिये ही झपटनेके, आसक्ति, अधिकार, ईर्ष्याके सभी रूपोंके विरुद्ध, और समस्त भावनाओंके विरुद्ध, जो इन मुख्य वस्तुओंके साथ लगी रहती हैं। अधिकार करने और आधिपत्य जमानेकी कामना न करना; और अपनी इच्छा, अपनी सनकें और अपनी कामनाएं लादनेकी चाह न करना; लेनेकी, पानेकी इच्छा नहीं, बल्कि देनेकी इच्छा करना: दूसरेके प्रत्युत्तरपर आग्रह न करना, वरन् अपने निजी प्रेमसे ही संतुष्ट रहना; अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और सुखकी तथा अपनी व्यक्तिगत कामनाकी पूर्त्तिकी चेष्टा न करना, बल्कि अपना प्रेम और स्नेह देनेसे ही तृप्त रहना; और प्रत्युत्तरकी मांग न करना। मात्र प्रेम करनेसे ही प्रसन्न रहना, उससे अधिक कुछ नहीं।

यदि कोई ऐसा करे तो वह एक बहुत बड़ा कदम उठाता है और वह, इस मनोभावके द्वारा धीरे-धीरे, स्वयं इस भावनाके अंदर ही और आगे बढ़ सकता है, और एक दिन यह अनुभव प्राप्त कर सकता है कि प्रेम कोई व्यक्तिगत वस्तु नहीं है; प्रेम एक विश्वव्यापी दिव्य भावना है जो तुम्हारे अंदर कम या अधिक उत्तम ढंगसे अभिव्यक्त होती है, पर जो अपने सार-तत्त्वमें एक दिव्य वस्तु है।

पहला पग है स्वार्थी होना बंद कर देना। प्रत्येक व्यक्तिके लिये यही बात है, केवल उन लोगोंके लिये ही नहीं जो योग करना चाहते हैं बल्कि उन लोगोंके लिये भी जो साधारण जीवनमें हैं: यदि कोई यह जानना चाहे कि कैसे प्रेम करना चाहिये तो उसे सबसे पहले अपने-आपसे प्रेम नहीं करना चाहिये, और सबसे बढ़कर स्वार्थपरताके साथ प्रेम नहीं करना चाहिये; बदलेमें कोई चीज जबर्दस्ती वसूल किये बिना अपने प्रेम-पात्रके प्रति अपने-आपको अर्पण कर देना चाहिये। यह अपने-आपसे ऊपर उठनेके लिये और ऐसा जीवन यापन करनेके लिये प्रारंभिक साधना है जो पूरी तरह स्थूल नहीं है।

योग करनेके लिये हम इसके साथ कोई और चीज जोड़ सकते हैं; वह है, जैसा कि मैंने आरंभमें कहा है, प्रेमके इस सीमित तथा मानवीय रूपको भेदकर उस दिव्य प्रेमके तत्त्वको खोज निकालनेका संकल्प जो इसके पीछे विद्यमान है। तब इसका परिणाम पाना सुनिश्चित हो जाता है। यह अपना हृदय सुखा देनेकी अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा है। यह संभवतः थोड़ा अधिक कठिन है पर प्रत्येक दृष्टिसे यह अधिक अच्छा है, क्योंकि इस प्रकार, अहंकारपूर्ण ढंगसे दूसरोंको तकलीफ पहुंचानेके बदले, हां, हम उन्हें उनकी गति-विधिमें शांत-स्थिर छोड़ सकते हैं और अपनी इच्छा दूसरोंपर लादे बिना स्वयं अपनेको रूपांतरित करनेका प्रयत्न कर सकते हैं, यह साधारण जीवनमें भी किसी उच्चतर तथा अधिक सामंजस्यपूर्ण वस्तुकी ओर एक पग आगे बढ़ाना है।

२६ सितंबर, १९५६

"जीवनके सभी या अधिकतर कर्म आज इस कामनामय आत्मासे प्रचालित या कलुषित हैं अथवा वे ऐसे प्रतीत होते हैं। जो

कर्म नैतिक या धार्मिक हैं, जो परार्थवाद, परोपकार, आत्म-बलिदान एवं स्वार्थत्यागका जामा पहने हैं वे भी इसीके तैयार किये ताने-बानेसे बुने हुए हैं। यह कामनामय आत्मा एक अहमात्मक एवं विभाजक आत्मा है और इसकी सभी सहज-प्रेरणाएं भेदमूलक अहंस्थापनके लिये होती हैं। यह खुल्लम-खुल्ला या न्यूनाधिक चमकीले पर्दोंकी आड़में अपनी ही वृद्धिके लिये, अपने स्वत्व एवं उपभोग तथा विजय और साम्राज्यके लिये सदा ही जोर लगाती रहती है।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, शताब्दि संस्करण, पृ० २०१)

प्यारी माताजी! "कामना-पुरुष" क्या चीज है?

यह वह चीज है जिसके कारण तुम जीते, काम करते और चलते-फिरते हो।

आत्माके लिये फ्रेंच भाषामें जो शब्द है "आम" (âme) वह एक ऐसे शब्दसे निकला है जिसका अर्थ है "संजीवित करना"। यह वह चीज है जो शरीरको जीवन प्रदान करती है। यदि यह चीज तुम्हारे अंदर न हो तो तुम निश्चेष्ट जड़-तत्त्व बन जाओगे, पत्थरों या पेड़-पौधोंकी जैसी कोई चीज बन जाओगे जो पूरी तरह जड़ तो नहीं होगी पर पौधे जैसी होगी।

कुछ लोग कहते हैं कि कामनाओंके बिना, अर्थात् इस कामना-पुरुषके बिना, कभी कोई प्रगति न होती...। साधारण जीवनके लिये यह एक बड़ी उपयोगी वस्तु है पर जब कोई योग करनेका, भगवान्‌को प्राप्त करनेका निश्चय करता है, यह थोड़ा बोझिल होता है।

(मौन)

बस?

जब हम 'वितरण'[1] के समय आपके पास आते हैं तो कभी-कभी

---

[1]सन् १९५८ तक श्रीमाताजी प्रतिदिन शामको खेलके मैदानमें ("क्लास" के दिनोंके सिवा) मूंगफलियां या मिठाइयां बांटा करती थीं जो एक प्रकार-का प्रतीक था। उससे सभी शिष्योंको, यदि वे चाहते, एकके बाद एक, उनके पास जानेका मौका मिलता था ताकि वे प्रत्यक्षतः उनकी आध्यात्मिक सहायता प्राप्त कर सकें।

हम अपनेको मुक्त और प्रसन्न अनुभव करते हैं, परंतु कभी-कभी हम कुछ नहीं अनुभव करते, हम खाली-खाली अनुभव करते हैं। इससे क्या सूचित होता है?

जब मनुष्य प्रसन्न होता है तो उसका मतलब होता है वह खुला हुआ है और 'शक्ति'को ग्रहण करता है; जब वह कुछ नहीं अनुभव करता तो इसका अर्थ है कि वह बंद है।

परंतु कौन-सी चीज तुम्हें खोलती या बंद करती है? प्रत्येक व्यक्तिके लिये वह अलग-अलग होती है। यह बहुत-सी बातोंपर निर्भर है। तुमने अपने भीतर इस अंतरपर ध्यान नहीं दिया है कि यह किसी बाहरी परिस्थितिपर निर्भर करता है अथवा तुम्हारे भीतरकी किसी वस्तुपर — यह ध्यान नहीं दिया है?

हां, दिया है।

हां। आह! बहुत अच्छा।

कई अलग-अलग कारण हैं जिससे मनुष्य कभी-कभी तो अधिक सजीव, शक्ति और हर्षसे अधिक भरपूर अनुभव करता है...[1]। साधारणतया, साधारण जीवनमें, ऐसे लोग होते हैं जो, स्वयं अपनी गठनके, जिस तरीकेसे वे बने हुए हैं उसके कारण ही, प्रकृतिके साथ एक प्रकारका सामंजस्य बनाये रखते हैं, मानों वे उसी ताल-छंदके साथ श्वास लेते हों, और ये लोग सामान्यतया सर्वदा हर्षयुक्त; आनंदपूर्ण रहते हैं; वे जो कुछ करते हैं सबमें सफल होते हैं, वे बहुत सारे दु:ख-कष्टों तथा विपत्तियोंसे बच जाते हैं, निस्संदेह जीवन और प्रकृतिके ताल-स्वरके साथ उन्हें समस्वरता प्राप्त होती है। और फिर, ऐसे दिन होते हैं जब मनुष्य भागवत चेतनाके जो कार्यरत होती है, भागवत कृपा-शक्तिके संपर्कमें होता है, और तब प्रत्येक वस्तुपर इस दिव्य उपस्थितिकी आभा, रंग चढ़ा होता है, और जो वस्तुएं मामूली तौरपर तुम्हें नीरस और अरुचिकर प्रतीत होती हैं वे सुहावनी, सुखप्रद, आकर्षक और ज्ञान-दायिनी बन जाती हैं — प्रत्येक वस्तु जीवंत होती और स्पंदित होती है, और आशा तथा शक्तिसे भरपूर होती है। सो, जब मनुष्य उसकी ओर खुला होता है, वह अपनेको अधिक शक्तिशाली, अधिक मुक्त, अधिक सुखी तथा स्फूर्तिसे पूर्ण अनुभव करता है; और प्रत्येक वस्तु एक अर्थ रखती है। तब मनुष्य समझने लगता है कि वस्तुएं जैसी हैं वैसी

ही क्यों हैं और वह विश्वव्यापी गति-विधिमें भाग लेने लगता है।

कुछ दूसरे मुहूर्त्त ऐसे होते हैं जब, किसी-न-किसी कारणसे, मनुष्य तमसाच्छन्न अथवा अवरुद्ध अथवा एक छिद्रके अंदर निक्षिप्त होता है और इसलिये कुछ अनुभव नहीं करता एवं सभी वस्तुएं अपना रस, अपना मूल्य खो देती हैं; मनुष्य काठके एक चलते-फिरते टुकड़ेकी भांति मारा-मारा फिरता है।

अब, यदि कोई अपने चैत्य पुरुषके साथ सचेतन रूपमें युक्त होनेमें सफल हो तो वह सर्वदा ग्रहणशीलता, आंतरिक हर्ष, स्फूर्ति, प्रगति तथा दिव्य उपस्थितिके साथ प्राप्त एकत्वकी इस स्थितिमें रह सकता है। और जब कोई उसके संपर्कमें होता है, तो वह उसे सर्वत्र, सभी वस्तुओंमें देखता है, तथा सभी वस्तुएं अपना यथार्थ अर्थ ग्रहण कर लेती हैं।

यह किस चीजपर निर्भर है?... एक आंतरिक ताल-छंदपर। संभवतः एक प्रकारकी कृपापर। हर हालतमें किसी ऐसी चीजकी ग्रहणशीलतापर जो तुमसे परे है।

माताजी, जब कोई सुविकसित अंतरात्मा शरीर धारण करती है तो क्या उसे इस कामना-पुरुषको रूपांतरित करनेमें कम कठिनाई होती है?

इसका मतलब...?

महान् आत्माओंको कम कठिनाइयां होती हैं?

ऐसा नहीं कहा जा सकता।

सिद्धांततः बात ऐसी है, पर यथार्थमें, जितना ही अधिक व्यक्तित्व गठित होता है, यह मिथ्या कामना-पुरुष उतना ही अधिक प्रबल होता है। जिन लोगोंमें एक सुनिर्मित, भली-भांति समन्वित व्यक्तित्व होता है जो आत्मनिर्भर, अपने आस-पासकी परिस्थितियोंपर कम-से-कम अवलंबित होता है, उन्हें दिव्य उपस्थितिके साथ संपर्क प्राप्त करनेमें दूसरोंकी अपेक्षा बहुत अधिक कठिनाई होती है, क्योंकि उन्हें एक बहुत सुसमंजस, बहुत व्यवस्थित पृथक् जीवन प्राप्त होता है जो सामान्यतया अपने-आपमें पर्याप्त होता है। हमें सर्वदा ही, यदि हम ऐसा कह सकें, एक बहुत सजीव, बहुत सुनिर्मित व्यक्तित्वको परिवर्तित करनेमें किसी ऐसे व्यक्तिकी अपेक्षा बहुत अधिक कठिनाई महसूस होती है जो,

उदाहरणार्थ, शुभेच्छासे तो परिपूर्ण होता है पर फिर भी सभी प्रकारके प्रभावोंकी ओर खुला होता है। जब कोई व्यक्तित्व बहुत प्रबल रूपमें निर्मित होता है और उसे अपने निजी वैयक्तिकताका, अपने पृथक् अस्तित्वका बोध होता है तो उसके लिये यह सोचना कि वह दिव्य शक्तिके एक यंत्रके सिवा और कुछ नहीं है, उस व्यक्तिकी अपेक्षा अत्यधिक कठिन होता है जो अपनेको थोड़ा-सा तरल, इस प्रकार (संकेत) अनुभव करता है, बहुत सुनिश्चित नहीं अनुभव करता, जिसमें कोई ठीक-ठीक सीमाएं नहीं हैं, जो भली-भांति गठित व्यक्तित्व नहीं है; वह तो बहुत आसानीसे समझ जाता है कि अपने-आपमें वह कुछ नहीं है और उसकी अपनी शक्ति-से भिन्न कोई दूसरी शक्ति उससे कार्य कराती है। अतएव, तुम यह नहीं कह सकते कि किसी सुविकसित आत्माको कम कठिनाइयां होती हैं। यह बात व्यक्ति-व्यक्तिपर निर्भर है।

मेरी समझमें तुम्हारा मतलब यह है कि यदि तुम अपनी अंतरात्मा (सच्ची अंतरात्मा)के संपर्कमें हो तो कामना-पुरुषसे छुटकारा पाना अपेक्षा-कृत आसान होता है। परंतु वह तो एक भिन्न स्थिति है। हमें सबसे पहले अपने चैत्य पुरुषको प्राप्त कर लेना और उसके साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेना होगा; और फिर, उसके बाद, हम कामना-पुरुषकी ओर मुड़ सकते और उसे उसकी मूर्खताका विश्वास दिला सकते हैं।

(दीर्घ मौन)

(एक बच्चेसे) क्या तुम्हें कुछ पूछना है?

मुझे तो नहीं पूछना है माताजी। किसी व्यक्तिने एक प्रश्न पूछा है: "साधनाकी वर्तमान अवस्थामें आपके साथ व्यक्तिगत संपर्ककी क्या उपयोगिता है? आपके साथका व्यक्तिगत संपर्क किस हदतक हमें सहायता देता है?"

व्यक्तिगत संपर्कका क्या तात्पर्य है? मुझसे मिलना, मुझसे बातचीत करना, क्या? व्यक्तिगत रूपसे, समष्टिगत रूपसे, कैसे?

व्यक्तिगत रूपसे।

ओह! (हंसते हुए) मुलाकातें करके!

तुम उत्तर दे सकते हो कि यह इस बातपर निर्भर करता है कि मनुष्य उनका क्या उपयोग करता है।

इसका उत्तर देना बहुत कठिन है, क्योंकि यह विशुद्ध रूपमें व्यक्तिगत प्रश्न है। यह उस मुहूर्तपर निर्भर करता है, उस स्थितिपर निर्भर करता है जिसमें मनुष्य होता है, और सबसे बढ़कर, मैं कहती हूं, इस बातपर निर्भर करता है कि मनुष्य यह जानता है या नहीं कि इस संपर्कका उचित रूपमें किस प्रकार उपयोग किया जाता है।

क्या तुम नहीं देखते कि यदि कोई अपने अंदर खुला है, यदि कोई ग्रहण-शील है तो जो कुछ अपनी सर्वांगीण प्रगतिके लिये आवश्यक होता है वह सब सूक्ष्म-भौतिकतकमें ग्रहण कर लेता है। और वस्तुओंके क्रममें, बाह्य संपर्कको केवल एक परिपूरक और सहायकके रूपमें आना चाहिये ताकि शरीर — जड़-भौतिक चेतना और शरीर — आंतर सत्ताकी गति-विधिका अनुसरण करनेमें सक्षम हो सकें।

परंतु तुम यदि यह समझो कि यह संपर्क आंतरिक ग्रहणशीलताका स्थान लेने जा रहा है तो यह तुम्हारी भूल है, तब इसका कोई बहुत उपयोग नहीं है। उदाहरणार्थ, जो लोग एकदम बंद हैं, जो अंदर कुछ ग्रहण नहीं करते, जो शक्तियोंके प्रति जरा भी खुले नहीं हैं और फिर भी कल्पना करते हैं कि चूंकि वे घंटा-आध-घंटा मेरे सम्मुख गप-शपमें बिताने जा रहे हैं; इसलिये इससे उन्हें अपनेको रूपांतरित करनेमें सहायता मिलेगी, वे एक बहुत बड़ी भूल करते हैं। परंतु वे यदि अपने भीतर खुले हैं, यदि वे दिव्य शक्ति के साथ संपर्क बनाये हुए हैं और अपनेको रूपांतरित करने-का प्रयास करते हैं तो एक विशिष्ट मुहूर्तमें, संभवतः किसी वार्तालाप या भौतिक संपर्क, उपस्थितिसे उन्हें एक अधिक सर्वांगपूर्ण प्रगति करनेमें सहायता मिल सकती है।

मनुष्य बहुत आसानीसे अत्यंत निकट रह सकता है, दैनिक जीवनमें बाह्य रूपसे बहुत समीप रह सकता है और हो सकता है उससे उसे, कम-से-कम सक्रिय चेतनामें, एकदम कुछ भी लाभ न हो। संभवतः एक बहुत धीमी और गहरी क्रिया चलती रहती है . . . पर मुझे ऐसा लगता है कि वह किसी भी हालतमें चलती रहेगी। और अगर, किसी-न-किसी कारणवश मेरे आस-पास रहते हुए, मनुष्यका विचार अन्यत्र हो, इच्छाएं अन्यत्र हों, कर्म-प्रवृत्तियां भिन्न हों तो उसका समीप रहना पूर्ण रूपसे अनुपयोगी होता है, उससे कोई लाभ नहीं होता।

महत्त्वपूर्ण बात है आंतरिक संपर्क स्थापित करना; यथार्थमें वही महत्त्व-पूर्ण बात है। तब विशेष प्रसंगोंमें (शायद बहुत बार नहीं, वह प्रत्येक

व्यक्तिपर निर्भर करता है), पर विशेष प्रसंगोंमें, उपस्थिति कुछ चीज जोड़ देती है, एक अधिक ठोस, अधिक सुनिश्चित अनुभूति प्रदान करती है। परंतु, यदि भीतर कुछ नहीं है तो वह बिलकुल बेकार है। अतएव हम कोई सामान्य नियम नहीं बना सकते, यह प्रत्येक व्यक्तिपर निर्भर करता है, उस स्थितिपर निर्भर करता है जिसमें व्यक्ति रहता है।

(मौन)

देखो, यह विश्वास करना आम भूल है कि बाहरसे आरंभ करना चाहिये और अंदर समाप्त। बात ऐसी नहीं है। आरंभ तो भीतरसे करना चाहिये और बादमें बाहर आना चाहिये जब हम अंदर तैयार हो जायं।

> **माताजी, जब हम आपके पास आते हैं, हम यथासंभव उत्तम बने रहनेकी, अर्थात्, बहुत अच्छे विचार रखनेकी कोशिश करते हैं; पर बहुधा, इसके विपरीत, हमारे अंदर दिनमें जो-जो बुरी प्रवृत्तियां, बुरे विचार थे, वे सब ऊपर आ जाते हैं।**

संभवतः उन सबसे छुटकारा पाना तुम्हारा काम है।

अगर वे आते हैं तो मनुष्य उन्हें अर्पण कर सकता है और उनसे मुक्त होनेकी प्रार्थना कर सकता है।

कदाचित् इसका कारण यह है : यह इसलिये ऐसा होता है कि दिव्य चेतना शुद्धि ले आनेके लिये कार्य करती है। वस्तुओंको छिपाने और उन्हें इस प्रकार पीछे धकेल देनेसे, और यह कल्पना करनेसे कि वे यहां नहीं हैं क्योंकि हमने सामने एक पर्दा डाल दिया है, बिलकुल कोई लाभ नहीं। यह कहीं अधिक अच्छा है कि मनुष्य अपने-आपको वैसा देखे जैसा कि वह है — बशर्ते कि वह अपने जीवनके इस तरीकेको छोड़ देनेके लिये तैयार हो। यदि कोई हमारे पास आता है और अपनी सभी बुरी प्रवृत्तियों-को ऊपरी सतहपर आने देता है, अपने-आपको दिखाने देता है; यदि वह उन्हें अर्पण करता है, यदि वह कहता है : "हां, तो मैं ऐसा ही हूं" और यदि उसके साथ-ही-साथ उसमें अन्य प्रकारका बननेकी अभीप्सा है, तो सान्निध्यका यह क्षण पूरी तरह उपयोगी होता है; मनुष्य, हां, कुछ क्षणोंमें ही वह साहाय्य ग्रहण कर सकता है जो उनसे छुट्टी पा जानेके लिये आवश्यक है; इसके विपरीत, यदि कोई छोटे-से संतकी तरह आता है और कोई चीज ग्रहण किये बिना चला जाता है तो वह बहुत लाभदायी नहीं होता।

सहज-स्वाभाविक रूपसे ही दिव्य चेतना उस प्रकार कार्य करती है, वह एक किरणकी तरह होती है जो वहां प्रकाश लाती है जहां पहले कोई प्रकाश नहीं था। परंतु आवश्यकता बस यही है कि मनुष्य उस स्थितिमें हो जिसमें इस वस्तुको त्याग देना, उससे छुट्टी पा जाना चाहता है — उससे चिपका रहना और उसे बनाये रखना नहीं चाहता। यदि कोई सच्चाईसे उसे अपने अंदरसे निकाल फेंकना, उसे निश्चिह्न कर देना चाहता है तो यह बहुत उपयोगी है।

(मौन)

अवश्य ही, मैं एक प्रश्न पूछना चाहूंगी: क्यों (मैं नहीं जानती कि यह आम बात है या नहीं पर फिर भी), क्यों कोई व्यक्ति जब मेरे पास आता है तो अच्छे विचार रखना तथा अपनी उच्चतम स्थितिमें रहना चाहता है? किस कारणसे?

आपके सामने बुरी भावनाओंको बनाये रखना बहुत भद्दा है! (हंसी)

यदि उन्हें कोई रखना चाहता है तो हां, यह बहुत गंदा है, पर, अगर कोई उनसे छुटकारा पाना चाहता है! ... वह संभवतः उनसे छुटकारा पानेका एक संयोग है। वह निस्संदेह उनसे छुटकारा पानेका एक सुअवसर भी है, क्योंकि मेरे सम्मुख वे ठीक वैसी ही दिखायी देती हैं जैसी कि वे हैं; जब कि मुझसे दूर होनेपर वे अपने-आपको बहुत प्रकारके, तेज और मिथ्या, रंगोंमें चित्रित करती हैं ताकि तुम उन्हें उस वस्तुके रूपमें ग्रहण करो जो वे नहीं हैं। जब प्रवृत्ति गंदी होती है और मनुष्य उसे मेरे वातावरणके अंदर देखता है तो वह ठीक-ठीक वैसी ही दिखायी देती है जैसी वह होती है। तब वही उससे मुक्त होनेका मुहूर्त्त होता है।

(मौन)

मनुष्यके पास जो कुछ सर्वोत्तम है उसे दे देना बहुत सुन्दर है और उसकी बहुत कद्र की जाती है; परंतु उसके पास जो कुछ निकृष्ट है उसे दे देना और भी अधिक लाभकारी है; और संभवतः इस पूजार्पणकी कद्र और भी अधिक की जाती है — इस शर्तपर कि उसे उससे मुक्ति पानेके लिये दिया जाता है, न कि बादमें फिरसे ग्रहण कर लेनेके लिये!

२ अक्तूबर, १९५६

मेरे पास प्रश्नोंकी एक पूरी-पूरी बाढ़ आ गयी है! परंतु उनका उत्तर देना शुरू करनेसे पहले मैं तुम्हें एक बात समझाने जा रही हूं।

इससे पहले तुमने बहुत बार इस बातपर ध्यान दिया होगा कि तुम लोगोंके साथ बातचीतका मेरा तरीका सर्वदा एक जैसा नहीं होता। मैं नहीं जानती कि तुम लोग इस विभेदके प्रति बहुत संवेदनशील हो या नहीं, पर मेरे लिये यह बहुत अधिक है...। कभी-कभी, या तो मैंने कोई चीज पढ़ी है इस कारण अथवा किसी और ही कारणसे — प्रश्नके अंतमें कभी-कभी, पर बहुत विरल अवसरोंपर — मुझे कुछ ऐसा लगता है जिसे साधारण तौरपर एक अनुभूति कहा जा सकता है, पर वास्तवमें चेतनाकी एक विशेष स्थितिमें मेरा प्रवेश हो जाता है, और एक बार चेतनाकी उस स्थितिमें चले जानेपर मैं उसका वर्णन करती हूं। उस स्थितिमें जो कुछ कहा जाता है वह मनके भीतरसे गुजरता है, हम कह सकते हैं कि उसका व्यवहार केवल "शब्दोंके भंडार"के रूपमें किया जाता है, जो दिव्य शक्ति, जो दिव्य चेतना व्यक्त होती है वह व्यक्तिगत मनके भीतरसे गुजरती है और अपनी अभिव्यक्तिके लिये आवश्यक शब्दोंको एक प्रकारके सादृश्यके वश आकर्षित करती है। यही है सच्ची शिक्षा जो एक ऐसी चीज है जो पुस्तकोंमें मुश्किलसे ही पायी जाती है — यह पुस्तकोंमें हो सकती है, पर उसे खोज निकालनेमें समर्थ होनेके लिये हमें स्वयं चेतनाकी उसी स्थितिमें होना होगा। परंतु यहां, उच्चारित शब्दके साथ, स्वरका प्रकंपन अनुभूतिका कम-से-कम कुछ अंश संचारित करता है, जो सभी संवेदनशील लोगोंके लिये संक्रामक बन सकता है।

दूसरी अवस्थामें, पूछा हुआ प्रश्न अथवा चुना हुआ विषय मनके द्वारा उच्चतर 'चेतना'के पास पहुंचा दिया जाता है, फिर मन उत्तर ग्रहण करता है और उसे फिर शब्दके द्वारा प्रेषित करता है। सभी शिक्षाओंमें साधारणतया यही होता है, बशर्ते कि जो व्यक्ति शिक्षा देता है उसे प्रश्नको उच्चतर 'चेतना' तक पहुंचा देनेकी योग्यता प्राप्त हो, परंतु यह हर एकके लिये संभव नहीं है।

मुझे कहना होगा कि दूसरी पद्धतिमें मुझे बहुत अधिक रुचि नहीं है, और बहुत बार जब प्रश्न पूछा जाता है या जिस विषयकी चर्चा होती है वह मुझे चेतनाकी किसी मजेदार स्थितिमें पैठनेकी संभावना नहीं देता तो मैं बोलनेकी अपेक्षा मौन रहना ही अधिक पसंद करती हूं; तब एक

प्रकारका कर्तव्य पूरा करनेकी भावना ही होती है जो मुझसे बुलवाती है। मैं बस पहलेसे तुम्हें बता रही हूं, क्योंकि ऐसा बहुत बार हुआ है कि मैंने अपने वार्त्तालापको — यदि इसे वार्त्तालाप कहा जा सके — बीचमें ही बंद कर दिया और अचानक ध्यान शुरू कर दिया; यह ऐसी ही स्थितिमें हुआ था। परंतु फिर भी, किसीने इस विभेदकी व्याख्या मुझसे पूछी है और इसलिये मैं आज शामको इस विषयमें तुम लोगोंसे बातचीत कर रही हूं।

(मौन)

उसके अतिरिक्त, मेरे पास दूसरे प्रश्न भी हैं जो व्यावहारिक ढंगके हैं, और इन प्रश्नोंसे संबंधित कोई वस्तु मैंने देखी जिसे मैं तुम्हें बताने जा रही हूं — ओह! यह आकारोंसे युक्त कोई सूक्ष्म-दर्शन नहीं था, किसी बहुत मनोरंजक चीजकी आशा मत करो! नहीं, यह वैसी बात नहीं है...। मुझसे पूछा गया था (मैं उसे पुनः अपने शब्दोंमें व्यक्त कर रही हूं, यह उस प्रश्नका ठीक-ठीक विषय नहीं है):

> **'अतिमानस' की उपस्थितिसे वास्तवमें क्या अंतर पड़ता है? किस रूपमें वह समस्याओंकी धाराको परिवर्तित करता है, और इस अभिव्यक्तिके बाद जीवनपर नये सिरेसे कैसे विचार किया जाय?**

मुझे व्यावहारिक उदाहरण देनेके लिये कहा गया है; मैं पूरी तरह नहीं समझ पायी कि इसका क्या मतलब है, पर फिर भी, यह है जिसे मैंने एक प्रकारके गणित-शास्त्रीय मनोभावमें देखा है — यद्यपि गणितकी भाषा मेरे लिये एकदम विजातीय है — परंतु मैं इसे एक गणित-शास्त्रीय ढंग, अर्थात् समस्याको देखनेकी एक गणित-शास्त्रीय पद्धति कह सकती हूं।

मैं समझती हूं तुम सब लोगोंने काफी गणित सीख रखी है और तुम उसके संचयोंकी जटिलताको जानते हो जो आधारके रूपमें किन्हीं चुने हुए तत्त्वोंको एक साथ लेकर उत्पन्न की जा सकती है। मैं अपनी बात स्पष्ट करनेके लिये एक दृष्टांत दूंगी, क्योंकि मैं उन शब्दोंका व्यवहार नहीं कर सकती जो साधारणतया तुम्हें शिक्षा देनेके समय प्रयोगमें आते हैं। उदाहरणके लिये, वर्णमालाके अक्षरोंको लें। वर्णमालामें अक्षरोंकी एक विशेष संख्या है; अब, यदि तुम यह गिनती करना या जानना चाहो कि इन सब अक्षरोंको एक साथ लेकर कितने संचय बनाना संभव है —

वे कैसे संगठित किये जा सकते हैं, कितने तरीकोंसे संगठित किये जा सकते हैं — तुमने सीखा होगा कि कितनी बड़ी विलक्षण संख्या बन जाती है...। बहुत अच्छा। परंतु तुम यदि भौतिक जगत्को लो और अत्यंत सूक्ष्म तत्त्वतक चले जाओ (तुम जानते ही हो, जानते हो न, कि वे संपूर्ण रूपमें अदृश्य वस्तुओं, अगणित वस्तुओंतक पहुंच गये हैं), यदि तुम इस तत्त्वको आधारके रूपमें लो और भौतिक जगत्को एक पूर्ण वस्तुके रूपमें, और यदि तुम एक 'चेतना' या एक 'संकल्प-शक्ति'की कल्पना करो जो अपने-आप मौज करती है, इन सभी तत्त्वोंके साथ खेलती है, सभी संभव संचयोंको, किसी भी एक संचयको, कभी भी दुहराये बिना, बनाती है...। स्पष्ट ही...। गणितमें तुमसे कहा जाता है कि तत्त्वोंकी संख्या सीमित है और फलस्वरूप संचयोंकी संख्या भी सीमित है; परंतु यह शुद्धतः सैद्धांतिक बात है, क्योंकि यदि तुम व्यवहारपर आओ और इन सभी संचयोंको एक-दूसरेका अनुसरण करना पड़े, यहांतक कि यदि वे इतनी अधिक गतिसे चलें कि परिवर्तन लगभग अगोचर हो तो यह बिलकुल स्पष्ट है कि इन सब संचयोंको बनानेके लिये जो समय चाहिये वह, कम-से-कम बाह्यतः, असीम होगा; यानी संचयोंकी संख्या इतनी विशाल होगी कि उसकी कोई सीमा — कम-से-कम कोई व्यावहारिक सीमा — नहीं बांधी जा सकती, सिद्धांत हमारे लिये दिलचस्प नहीं है; परंतु व्यावहारिक रूपमें बात ऐसी ही होगी।

अतएव मान लो कि मैं तुमसे जो कह रही हूं वह सच है, इस अर्थमें कि वास्तवमें एक ऐसी 'चेतना' और एक ऐसी 'संकल्प-शक्ति' है जो इन संचयोंको, क्रमशः, अनिश्चित रूपमें, कभी भी किसी संचयको दुबारा दुहराये बिना अभिव्यक्त करती है; तो हम इस निष्कर्षपर पहुंचते हैं कि विश्व शाश्वतताके प्रत्येक मुहूर्त्तमें नया हो रहा है। और यदि विश्व शाश्वतताके प्रत्येक मुहूर्त्तमें नया हो रहा है तो हम यह स्वीकार करनेके लिये बाध्य हैं कि कोई चीज ऐसी हर्गिज नहीं है जो असंभव हो; केवल इतना ही नहीं, बल्कि जिसे हम युक्तिसंगत कहते हैं वह आवश्यक रूपसे सत्य नहीं है, और युक्तिकी, हम जिसे प्रायः सृष्टिकर्त्ताकी मौज कह सकते हैं, कोई सीमा नहीं है।

अतएव, यदि किसी एक या दूसरे कारणसे (जिसे व्यक्त करना शायद कठिन हो, पर किसी कारणसे) किसी संचयका अनुसरण उसका सबसे अधिक नजदीकी संचय न करे बल्कि कोई दूसरा संचय करे जो परात्पर स्वातंत्र्य-द्वारा स्वच्छन्द भावसे चुना गया हो, तो हमारी सभी बाहरी निश्चयताएं और हमारे सारे बाहरी तर्क तुरत-फुरत भंग हो जायेंगे।

कारण समस्या अभी भी तुम जितना समझते हो उससे बहुत अधिक जटिल है : यह तो केवल एक ही स्तरपर, एक ही क्षेत्रमें, जिसे वस्तुओंकी ऊपरी सतह कहा जाता है वहीं, तत्त्वोंकी यह व्यावहारिक अनंत संख्या नहीं है जो नित्य नवीन संचयोंको बनानेका अवसर प्रदान करती है, उसके अलावा वह चीज भी है जिसे गहराई, अर्थात् दूसरे आयाम कह सकते हैं। और यह 'सृष्टि' एकमात्र उपरितलीय संचयोंका ही नहीं बल्कि इस ऊपरी सतहके नीचेकी गहराइयोंके संचयोंका भी परिणाम है, जिन्हें दूसरे शब्दोंमें "मनोवैज्ञानिक तत्त्व" कह सकते हैं। परंतु मैं इस समय विशुद्ध रूपमें एक गणित-शास्त्रीय स्थिति ग्रहण कर रही हूं, यद्यपि मैं गणितकी भाषा नहीं बोल रही, पर फिर भी यह गणितकी ही एक अवधारणा है। और इस तरह यह समस्या हमारे सामने उपस्थित है :

प्रत्येक बार जब कोई नवीन तत्त्व समस्त संभवनीय संचयोंके अंदर समाविष्ट किया जाता है तो उससे वह चीज होती है जिसे उनकी सीमाओंका विदीर्ण होना कहा जा सकता है : किसी वस्तुका समावेश होता है जो सभी विगत सीमाओंको दूर कर देती है और नयी संभावनाओंको ले आती तथा पुरानी संभावनाओंको अनंत रूपमें बढ़ा देती है। हां, तो तुम्हारा एक जगत् था जिसमें, पुरातन ज्ञानके अनुसार, बारह गहराइयां अथवा बारह — कैसे कहा जाय? — क्रमबद्ध आयाम थे; और बारह आयामोंके इस जगत्में एकाएक नये आयाम शामिल कर दिये जाते हैं — तब सभी प्राचीन नियम तत्काल रूपांतरित हो जाते हैं और पुराने उन्मीलनकी समस्त संभावना — हम नहीं कह सकते कि बढ़ जाती है पर नवीन संभावनाओंकी लगभग एक अनंत संख्यासे युक्त हो जाती है, और यह सब एक ऐसे ढंगसे होता है कि पहलेका समस्त तर्क इस नये तर्कके सम्मुख असंगत बन जाता है।

मानव-मनने विश्वको जो रूप दिया है मैं उसकी चर्चा बिलकुल नहीं कर रही क्योंकि वह तो उसके अपने आयामके अनुसार उसका एक न्यूनीकरण है; मैं तो तथ्यकी बात कर रही हूं जैसा कि वह है, संचयोंके एक समवायके बारेमें कर रही हूं जो एक ऐसे क्रम तथा एक ऐसे चुनावके अनुसार क्रमशः संसिद्ध होते हैं जो स्पष्ट ही मानव-चेतनाकी पकड़से पूर्णतः बच निकलते हैं। पर इनके साथ मनुष्यने किसी तरह अपना मेल बैठा रखा है और जिन्हें, शताब्दियोंके अध्ययनके महान् प्रयासके बाद मानवजातिने इन्हें अपने-आपको अटकाने योग्य साकार रूप देनेमें सफलता प्राप्त की है...। यह स्पष्ट है कि आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान, उदाहरणार्थ, पत्थर युगके अनुभवोंकी अपेक्षा विश्वके सत्यसे मिलती-

जुलती किसी चीजके बहुत अधिक समीप है; यह बात सत्य है और इसमें शंका-संदेहकी छाया भी नहीं है। परंतु एक ऐसी वस्तुके अनुप्रविष्ट होनेके कारण एकाएक पूर्ण रूपसे उस विज्ञानका लंघन, अतिक्रमण होने जा रहा है, जो उस विश्वमें नहीं था जिसका अध्ययन किया गया था, और संभव है सब कुछ ऊपरसे नीचेतक उलट-पलट जाय।

अस्तु, वास्तवमें विश्वगत तत्त्वके इसी परिवर्तन, इसी अचानक रूपांतरके कारण, जो बिलकुल निश्चित रूपमें मानवीय अनुभवोंमें एक प्रकारकी अस्त-व्यस्तता उत्पन्न करने जा रहा है, एक नवीन ज्ञान प्रकट होगा। यही, अत्यंत सामान्य रूपमें, अभिनव अभिव्यक्ति'का परिणाम है।

एकदम संकुचित, बाह्य तथा सीमित दृष्टिकोणसे मैं तुम्हारे सामने कुछ बातोंकी अब चर्चा करूंगी जो मेरी अपनी अनुभूति नहीं है पर जिनके विषयमें मैंने सुना है; उदाहरणार्थ, बहुत बड़ी संख्यामें ऐसे बालक जन्म ले रहे हैं जिन्हें "अपूर्व प्रतिभासंपन्न बालक" कहते हैं। मैंने उन्हें नहीं देखा है, इसलिये मैं तुम्हें यह नहीं बता सकती कि उन बच्चोंमें कौन-सी सच्ची अद्‌भुत बात है, पर फिर भी, वर्णित कहानियोंके अनुसार, उनमें स्पष्ट ही कुछ बच्चे नये प्रकारके हैं जो साधारण मानवीय चेतनाको आश्चर्यजनक प्रतीत होते हैं। इस प्रकारके उदाहरणोंको, मैं समझती हूं, लोग जानना पसंद करेंगे ताकि वे समझ सकें कि क्या हो रहा है . . .। परंतु यह निस्संदेह संभव है कि अब ऐसी बातें हो रही हैं जिनकी ओर कान देनेके हम अभ्यासी नहीं हैं। परंतु यह व्याख्या करनेका एक प्रश्न है। एकमात्र बात जिसके विषयमें मैं निस्संदिग्ध हूं वह वही है जिसके विषयमें अभी मैंने तुमसे कहा है, यह कि संभवनीय विश्वगत संयोजनोंके

'इस वार्तालापके प्रथम प्रकाशनके समय, सन् १९६२ में, श्रीमाताजीने "नवीन तत्त्व"के विषयमें निम्नांकित टिप्पणी जोड़ दी: "इस अर्थमें "नवीन वस्तुओं"का कोई प्रश्न नहीं है कि वे पहले नहीं थीं, बल्कि इस अर्थमें कि वे विश्वमें अभिव्यक्त नहीं थीं। यदि ये चीजें पहलेसे ही वहां, अंतर्निहित न होतीं तो वे कभी न प्रकट हो सकतीं! यह बिलकुल स्पष्ट है। कोई ऐसी वस्तु अस्तित्वमें नहीं आ सकती जो पहलेसे ही परात्पर भगवान्‌के अंदर शाश्वत कालसे विद्यमान न हो, पर अभिव्यक्तिमें वह नयी है। वह तत्त्व नया नहीं है पर वह नये रूपमें प्रकट हुआ है, वह 'अनभिव्यक्त'के अंदरसे नये रूपमें प्रकट हुआ है, नवीनका क्या अर्थ है? नवीन वस्तुका कोई अर्थ नहीं है! यह हमारे लिये 'अभिव्यक्ति'के अंदर नया है, बस इतना ही।"

गुण, संख्या और प्रकृतिमें अकस्मात् इतना बड़ा परिवर्तन होने जा रहा है कि संभवतः यह उन लोगोंके लिये बिलकुल चकरा देनेवाला होगा जो जीवनके बारेमें अनुसंधान करते हैं।

अब, हम देखेंगे।

(मौन)

मैंने जो कुछ तुमसे अभी कहा है उसमें संभवतः कुछ व्यावहारिक शब्द मैं जोड़ सकती हूं; यह केवल एक ब्योरेका दृष्टांत है, पर यह दूसरे प्रश्नोंका एक अप्रत्यक्ष उत्तर होगा जो कुछ दिन पहले प्रकृतिके तथाकथित नियमोंके विषयमें कार्यों और कारणों, भौतिक-क्षेत्रमें "अनिवार्य" परिणामों तथा अधिक विशेष रूपसे स्वास्थ्यके दृष्टिकोणसे पूछे गये थे; उदाहरणार्थ, यह पूछा गया था कि यदि कोई अमुक सावधानियोंको न बरते, यदि कोई उस ढंगसे न खाये जैसे उसे खाना चाहिये, कुछ नियमोंका पालन न करे तो अवश्यमेव उसके परिणाम होंगे।

यह सच है। परंतु इसे यदि उस बातके प्रकाशमें देखा जाय जिसे मैंने अभी-अभी कहा है, कि कोई दो वैश्व संचय ऐसे नहीं हैं जो एक सदृश हों तो भला नियम कैसे स्थापित किये जा सकते हैं और इन नियमोंका एकांतिक सत्य क्या है? . . . ऐसा कोई सत्य नहीं है।

कारण, यदि तुम तर्कसंगत हो, निस्संदेह थोड़े अधिक ऊंचे तर्कके साथ, तो जब कोई दो वस्तुएं, दो संचय, दो वैश्व अभिव्यक्तियां कभी एक जैसी नहीं होतीं, तो कोई वस्तु अपने-आपको कैसे दुहरा सकती है? ऐसा केवल एक बाह्य रूप हो सकता है पर यह कोई तथ्य नहीं हो सकता। और इस ढंगसे कठोर नियम निश्चित करना (इतना ही नहीं कि ऊपरसे दिखनेवाले नियमोंसे अपने-आपको विच्छिन्न कर लेते हो, क्योंकि मन बहुत-से नियम बनाता है, और वस्तुओंका ऊपरी भाग, बहुत नम्रतापूर्वक, इन नियमोंका पालन करता हुआ प्रतीत होता है, परंतु यह केवल एक बाहरी रूप है), पर जो हो, वह 'आत्मा'की सृजनात्मिका 'शक्ति'से तुम्हें विच्छिन्न कर देता है, वह भगवत्कृपाकी सच्ची शक्तिसे तुम्हें अलग कर देता है, क्योंकि तुम समझ सकते हो कि यदि तुम अपनी अभीप्सा या अपने मनोभावके द्वारा एक उच्चतर तत्त्वको, एक नवीन तत्त्वको — जिसे हम अब एक अतिमानसिक तत्त्व कह सकते हैं — वर्तमान संचयोंमें समाविष्ट करो तो तुम हठात् उनके स्वभावको बदल सकते हो और ये सभी तथा-कथित आवश्यक और अपरिहार्य नियम असंगत चीजें बन जाते हैं। कहनेका

मतलब कि तुम स्वयं, अपनी परिकल्पनाके द्वारा, अपने मनोभाव तथा किन्हीं कथित सिद्धांतोंकी स्वीकृतिके द्वारा, तुम स्वयं चमत्कारकी संभावना-का द्वार बंद कर देते हो (वे उस समय चमत्कार नहीं रह जाते जब तुम जानते हो कि वे कैसे होते हैं, पर स्पष्ट ही, बाहरी चेतनाके लिये वे अलौकिक प्रतीत होते हैं)। और स्वयं तुम्हीं देखनेमें बिलकुल युक्ति-संगत तर्कके साथ अपने-आपसे यह कहकर कि: "हां, यदि मैं इसे करूं तो वह अवश्य होगा, अथवा मैं उसे नहीं करता तो वह दूसरी चीज होगी", सचमुच स्वयं तुम्हीं दरवाजेको बंद कर देते हो — यह बात वैसी ही है मानों तुम स्वयं अपने तथा कृपा-शक्तिके अबाध कार्यके बीच एक लोहे-की दीवार खड़ी कर देते हो।

कितना सुन्दर होगा यह कल्पना करना कि 'परात्पर चेतना', जो मुख्यतः स्वतंत्र है, वैश्व 'अभिव्यक्ति'के ऊपर अधिष्ठान करती है, अपने चुनावमें मन-मौजी हो सकती है और मानव-विचारके लिये सुलभ किसी न्यायके अनुसार नहीं बल्कि किसी दूसरे प्रकारके, अप्रत्याशितके न्यायके अनुसार वस्तुओंको एक-दूसरेके बाद करा सकती है!

तब उसके बाद, संभावनाओंकी, अप्रत्याशित, अद्भुत वस्तुओंकी कोई सीमा नहीं रहेगी; और हम इस संपूर्णतः स्वतंत्र इच्छा-शक्तिसे अत्यंत सुन्दर, अत्यंत आनंदपूर्ण वस्तुओंके होनेकी आशा कर सकते हैं जो शाश्वततः सभी तत्त्वोंके साथ क्रीड़ा कर रही है और अविच्छिन्न रूपसे एक नवीन जगत्को उत्पन्न कर रही है जिसका पूर्ववर्त्ती जगत्के साथ न्यायतः एकदम कुछ भी सरोकार नहीं होगा।

तुम्हें नहीं लगता कि यह मनमोहक होगा? हमने इस जगत्का, जैसा कि यह है, काफी अनुभव पा लिया है! क्यों न हम उसे कम-से-कम वैसा बन जाने दें जैसा कि हम समझते हैं कि इसे होना चाहिये?

और इसके बारेमें यह सब तुमसे इसलिये कहती हूं ताकि प्रत्येक व्यक्ति आनेवाली संभावनाओंके मार्गमें यथासंभव कम-से-कम बाधाएं उपस्थित करे। यही है मेरा निष्कर्ष।

मैं नहीं जानती कि मैं अपनी बात तुम्हें समझा सकी हूं या नहीं, पर निस्संदेह, मैं समझती हूं कि, एक दिन आयेगा जब तुम लोग समझोगे कि मेरा क्या मतलब था। तो बस, इतना ही।

कुछ दिन बाद, एक "शुक्रवारकी क्लास"में, श्रीमाताजीने फिर दुबारा "प्रतिभाशाली बालकों"के बारेमें चर्चा की।

अभी हालमें, बुधवारकी एक श्रेणीमें, प्रतिभाशाली बालकोंके विषयमें एक प्रश्न उठाया गया था। कुछ लोग कहते हैं कि प्रतिभाशाली बालकोंकी संख्या दिन-पर-दिन अधिक बढ़ रही है; और कुछ लोग (कुछ अमरीकन भी) कहते हैं कि यह श्रीअरविंदका प्रभाव और कार्य है, और दूसरे कहते हैं कि यह परमाणु-बम्बका एक परिणाम है! परंतु यह सत्य है कि प्रतिभाशाली बालकोंकी काफी बड़ी संख्या है। मैं इसके विषयमें अधिक ब्योरेके साथ कुछ कहना नहीं चाहती थी क्योंकि मेरे पास इसके प्रमाण नहीं थे, अर्थात्, मेरे पास कोई अच्छे उदाहरण नहीं थे जिन्हें मैं दे सकती। परन्तु संयोगवश, उसके बाद मेरे पास एक फ्रेंच पुस्तक आयी है जो ८ वर्षकी एक बच्ची[1]की लिखी हुई है। स्वभावतः ही ऐसे लोग हैं जो इस संभावनापर तर्क-वितर्क करते हैं, पर मैं बादमें तुम्हें समझाऊंगी कि ऐसी बात कैसे हो सकती है।

आठ वर्षकी बच्चीकी दृष्टिसे यह पुस्तक असाधारण है। इसका मतलब यह नहीं कि यदि बच्चेकी उम्रका पता न हो तो यह पुस्तक अद्‌भुत समझी जायगी; परंतु इसमें जहां-तहां ऐसे वाक्य हैं जो बहुत आश्चर्यजनक हैं। मैंने उन वाक्योंको लिख लिया है और मैं उन्हें तुम्हारे सामने पढ़ने जा रही हूं। (श्रीमाताजी एक पुस्तकपर जल्दी-जल्दी नजर दौड़ाती हैं।)

एक छोटा-सा वाक्य इस प्रकार है: "यदि कोई अपने-आपको वास्तवमें अच्छी तरह प्यार करता है तो वह अपने-आपसे कोई चीज नहीं छिपा सकता।"... स्पष्ट ही यह बहुत सुन्दर है।

और फिर दूसरी बात एक लड़केको लिखी गयी है जिसके चेहरेपर चकत्ते थे (तुम जानते हो कि चकत्ते क्या होते हैं, नहीं जानते?)। वह उसे लिखती है: "तुम सुन्दर हो, हां, निश्चय ही, तुम्हारे चकत्ते बहुत मनोरम हैं; हम कह सकते हैं कि देवदूतने स्वर्गके पक्षियोंको आकर्षित करनेके लिये तुम्हारे मुखमंडलपर गेहूंके दाने बो दिये हैं।" निस्संदेह यह बहुत कवित्वपूर्ण है।

और अब एक और वाक्य, सचमुच कोई अच्छी बात जो उस व्याख्याका द्वार भी खोलती है जो मैं तुम्हें देने जा रही हूं: "मैं मात्र एक कान हूं, एक मुंह हूं; कान शब्दोंका एक तुमुल कोलाहल सुनता है जिसकी व्याख्या मैं तुम्हें नहीं दे सकती, जो एक विशाल वाणी मेरे अंदर पैदा

---

[1] "Arbre mon Ami" (मेरा दोस्त पेड़) नामक पुस्तककी लेखिका मिनू द्रुए (Minou Drouet) — जन्म सन् १९४७ में।

कर देता है और मेरा मुंह उसे दुहराता है और जो कुछ मैं कहती हूं उसका कोई भी अंश उस ज्योतिके प्रवाहके साथ समानता नहीं कर सकता जो मेरे अंदर है।"

स्पष्ट ही यह बहुत सुन्दर है।

ऐसा लगता है कि उसकी कविताओंमें (उसने बहुत-सी कविताएं लिखी हैं) जहां-तहां, उदाहरणार्थ, मैटरलिंककी स्मृतियां पायी जाती हैं; सो, उससे लोगोंने यह निष्कर्ष निकाला है कि सचमुच उस लड़कीने ये कविताएं नहीं लिखी क्योंकि आठ वर्षकी उम्रमें कोई मैटरलिंककी रचनाएं नहीं पढ़ता, निश्चय ही किसी अन्य व्यक्तिने उन्हें लिखा है। परंतु वास्तवमें इस प्रसंगमें किसी छल-कपटकी कल्पना करनेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं, और उसका संपादक निस्संदिग्ध रूपसे घोषणा करता है कि वह क्या कर रहा है इस विषयमें वह निःसंशय है, वह उस बालिकाको बहुत घनिष्ठ रूपमें जानता है (वास्तवमें वह एक प्रकारसे उसका अपनाया हुआ पिता है, क्योंकि उसके पिताका देहांत हो गया है) और यह गारंटी दे सकता है कि इसमें कोई धोखा-धड़ी नहीं है। परंतु इस घटनाकी व्याख्या देनेके लिये किसी धोखा-धड़ीकी कल्पना करने-की बिलकुल आवश्यकता नहीं है।

जो ग्रंथकार, लेखक अपने सृजनात्मक कार्यमें अंतःप्रेरित और गंभीर होते हैं, अर्थात् जो अपने साहित्यिक कार्यमें अपनी सत्ताको एक प्रकारसे उत्सर्ग कर देनेके लिये एकाग्र होते हैं, वे अपने अंदर एक प्रकारकी मानसिक सत्ता निर्मित करते हैं जो अत्यंत उत्तम रूपमें गठित और समन्वित होती है, उसका अपना निजी जीवन होता है जो शरीरसे स्वतंत्र होता है, इसलिये जब वे मरते हैं और शरीर धूलमें वापस चला जाता है, तो यह मानसिक रचना एकदम स्वतंत्र और स्वाधीनतापूर्वक बनी रहती है, और चूंकि इसका निर्माण व्यक्त होनेके लिये किया गया है, यह सर्वदा ही कहीं-न-कहीं अपनी अभिव्यक्तिका साधन खोजती रहती है। और यदि कोई ऐसा बच्चा होता हो जो विशेष रूपसे अनुकूल परिस्थितियोंमें निर्मित किया गया हो (उदाहरणके लिये, इस छोटी लड़कीकी मां स्वयं एक कवयित्री और लेखिका है; संभवतः इस मांने एक अभीप्सा, एक इच्छा-की होगी कि उसका बच्चा एक अपूर्व, असाधारण व्यक्ति हो), जो हो, यदि गर्भस्थ बच्चा विशेष रूपसे अनुकूल अवस्थाओंमें निर्मित हुआ हो तो उस प्रकारकी कोई सत्ता जन्मके समय उस बच्चेमें घुस सकती और अपने-आपको व्यक्त करनेके लिये उसका उपयोग करनेकी चेष्टा कर सकती है; और उस हालतमें यह बात उस बच्चेके मनको एक ऐसी

परिपक्वता प्रदान कर सकती है जो बिलकुल असाधारण, अपूर्व हो, और जो उससे उस तरहकी चीजें करा ले जैसी हमने अभी पढ़ी हैं।

हम, बिलकुल विसंगत प्रतीत होनेके भयके बिना, यह कह सकते हैं कि उस लड़कीने जो कुछ लिखा है वह यदि आश्चर्यजनक रूपमें मैटरलिंककी कुछ बातोंसे मिलता-जुलता है अथवा उसमें उनकी रचनाओंकी विशेषताएं विद्यमान हैं, यहांतक कि कुछ लगभग एक जैसी वाक्य-रचनाएं हैं तो भली-भांति हो सकता है कि मैटरलिंककी कोई मानसिक रचना इस बच्चीके अंदर अवतीर्ण हुई हो और अपने-आपको अभिव्यक्त करनेके लिये इस नन्हें यंत्रका उपयोग कर रही हो।

कुछ इसी प्रकारके उदाहरण, दृष्टांतस्वरूप संगीतज्ञोंमें भी पाये जाते हैं। पियानो बजानेवाले कुछ ऐसे लोग हैं जिन्होंने अपने हाथोंको व्यष्टिभावापन्न बना दिया है और इन्हें इतने आश्चर्यजनक ढंगसे सचेतन बना दिया है कि ये हाथ विघटित नहीं होते — भौतिक हाथ नहीं : सूक्ष्म-भौतिक और प्राणिक शरीरके हाथ मृत्युके समय विघटित नहीं होते, विलीन नहीं होते। वे पियानो बजानेके साधनोंके रूपमें बने रहते हैं और सर्वदा किसी पियानो बजानेवालेके हाथोंमें अवतीर्ण होनेका प्रयास करते हैं। मैं ऐसे लोगोंके उदाहरण जानती हूं जिन्होंने बाजा बजानेके समय ऐसा अनुभव किया मानों कोई दूसरा हाथ उनके हाथोंमें घुस गया हो तथा जिन्होंने बिलकुल अद्‌भुत ढंगसे, ऐसे ढंगसे बजाना आरंभ कर दिया जैसा वे स्वयं नहीं बजा सकते थे।

ये चीजें उतनी असाधारण नहीं हैं जितनी हम समझते हैं, ये बहुत बार होती हैं।

मैंने यही बात एक व्यक्तिमें देखी जो वायलिन बजाया करता था और दूसरे व्यक्तिमें जो 'सेलो' (वायलिन परिवारका एक बाजा) बजाया करता था — दो अलग-अलग व्यक्तियोंमें देखी — और जो अपने-आपमें बहुत अद्‌भुत कलाकार नहीं थे। उनमेंसे एकने अभी अपना अभ्यास आरंभ ही किया था और दूसरा एक अच्छा वादक था, पर उसमें कुछ भी अद्‌भुत नहीं था। परंतु अकस्मात्, जिस क्षण वे एक विशेष संगीतकारकी रचनाएं बजाते उस संगीतकारकी कोई चीज उनके हाथोंमें पैठ जाती और उनके वादनको पूर्णतः आश्चर्यजनक बना देती।

एक और व्यक्ति भी था, एक औरत जो 'सेलो' बजाया करती थी और जिस क्षण वह बिथोवेनका संगीत बजाती, उसके मुंहके भाव पूरी तरह बिथोवेनके जैसे हो जाते, और जो कुछ वह बजाती वह उदात्त होता, जिसे संपन्न करनेमें वह असमर्थ होती यदि बिथोवेनके मनका कोई अंश उसके अंदर प्रवेश न करता।

माताजी, क्या यह असाधारण गुण बाजा बजानेवाले व्यक्तिके लिये बुरा नहीं है?

तुम ऐसा क्यों मानते हो कि यह चीज उन्हें हानि पहुंचायेगी? यह तो उनका उपकार करती है!

प्रगति करना या मनुष्य जो कुछ है उससे अधिक अच्छा बनना सर्वदा ही उत्तम है।

परंतु उस बालिकाके लिये?

मैं नहीं समझती। उस बालिकाके लिये?

हां। वह आठ वर्षकी अवस्थामें ही प्रौढ़ हो गयी है।

परंतु वह तो एक अद्‌भुत बात है—आठ वर्षकी अवस्थामें किसी ऐसी चीजकी अभिव्यक्ति बन जाना जो बुद्धिको अतिक्रम करती है! किस रूपमें तुम ऐसा मानते हो कि यह चीज उसे हानि पहुंचा सकती है? मैं तुम्हारा प्रश्न बिलकुल ही नहीं समझ रही हूं।

जब कोई उम्रमें बढ़ता है तो वह कम नमनीय बन जाता है।

नहीं। तुम्हारा मतलब यह है कि बहुधा ऐसा होता है कि कोई प्रतिभाशाली बालक जब बड़ा हो जाता है तो वह प्रतिभाशाली व्यक्ति नहीं रहता। परंतु निश्चित रूपमें, जिन लोगोंने इन उदाहरणोंका अध्ययन किया है वे कहते हैं कि आजकल जो चीजें हो रही हैं उनमें असाधारण बात यह है कि प्रतिभाशाली बालक, जैसा कि वे व्यक्त करते हैं, प्रतिभाशील मनुष्य बन जाते हैं, अर्थात्, असाधारण योग्यता उनमें बनी रहती है और जैसे-जैसे वे बड़े होते हैं, वह अधिक दृढ़तापूर्वक स्थापित होती जाती है।

परंतु मैं नहीं समझती कि यह कैसे बुरा हो सकता है, यह केवल अच्छा ही हो सकता है। किस रूपमें यह बुरा हो सकता है? यह तो ऐसा है मानों तुम कहो: यदि किसीके अंदर सुन्दर आत्मा है तो यह बुरा है!

जब कोई उच्चतर स्वभाववाली चीज तुम्हारे अंदर प्रवेश करती है, तो यह भागवत कृपा है, है न?

१० अक्तूबर, १९५६

कुछ दिन पहले, अनुवादकी कक्षा¹में, मुझे, 'दिव्य जीवन' पुस्तकमें एक अंश मिला था जो, मैं समझती हूं, आज शामको तुम्हें रुचिकर लगेगा। श्रीअरविंद प्रकृतिकी गति-विधिकी चर्चा कर रहे हैं और यह समझा रहे हैं कि किस भांति जड़-तत्त्वमेंसे, जो निर्जीव प्रतीत होता है, प्राण-तत्त्व आया, फिर किस प्रकार प्राण-तत्त्वमेंसे मन निकला और फिर किस तरह मनमेंसे अतिमानस या आध्यात्मिक जीवन प्रकट होगा; और इसमें लगनेवाले समयका वे संक्षिप्त सर्वेक्षण भी करते हैं। मैं उस अंशको तुम्हारे सामने पढ़ने जा रही हूं और मैं पीछे तुम्हें बतलाऊंगी कि हमारी वर्तमान अवस्था-के साथ उसका क्या संबंध है:

> "वैकासिक शक्तिकी पहली धुंधली भौतिक क्रिया धीरे-धीरे युगोंतक चलती है। प्राण-प्रगतिकी क्रिया मन्द होते हुए भी कुछ अधिक तेजीसे पग उठाती है, वह सहस्राब्दियोंकी संख्यामें केंद्रित है। मन कालकी मन्द-मन्थर गतिको और भी अधिक दबाकर, और भी अधिक छोटा करके लंबे कदम उठाता हुआ शताब्दियां ले सकता है परंतु जब सचेतन आत्मा हस्तक्षेप करती है तो विकासकी तेजीमें सबसे अधिक गति केंद्रित हो सकती है।"
>
> ('दिव्य जीवन')

मैं इसे तुम्हार सामने इसलिये पढ़ रही हूं कि मुझसे 'अतिमानस'की क्रिया-के विषयमें प्रश्न पूछा गया था और मैंने 'अतिमानस'की इस अभिव्यक्तिकी तुलना मनकी अभिव्यक्तिके साथ की थी, जिसमें, सभी आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारोंके अनुसार, पशु-मस्तिष्क, कपि-मस्तिष्कसे प्रथम मानव-मस्तिष्कके विकसित होनेमें, लगभग दस लाख वर्ष लग गये। और मैंने तुम लोगोंसे कहा था कि, फलस्वरूप हमें यह आशा नहीं करनी

---

¹सन् १९५८ तक सप्ताहमें तीन दिन श्रीमाताजी शिष्योंकी एक कक्षा-में श्रीअरविंदकी कुछ पुस्तकोंका फ्रेंच भाषामें अनुवाद किया करती थीं, जैसे 'मानव एकताका आदर्श', 'मानव-चक्र', 'दिव्य जीवन'के अंतिम छः अध्याय तथा 'योग-समन्वय'का एक अंश।

चाहिये कि इसमें कुछ महीने अथवा कुछ वर्ष लगेंगे, स्पष्ट है कि इसमें बहुत लंबा समय लगेगा। ऐसा लगता है कि कुछ लोगोंने ऐसा समझा कि मैं यह घोषणा कर रही हूं कि अतिमानस अभी दस लाख वर्षोंतक नहीं आयेगा ! मैं इस धारणाका संशोधन करना चाहती हूं।

श्रीअरविंदने कहा है कि जैसे-जैसे विकास चेतनाकी क्रम-परंपरामें ऊपर उठता है, उसकी गति अधिकाधिक तेज होती जाती है, और जब 'आत्मा' या 'अतिमानस' इसमें हस्तक्षेप करता है, यह बहुत अधिक तेजीसे आगे बढ़ सकता है। अतएव हम आशा कर सकते हैं कि कुछ शताब्दियोंके अंदर पहली अतिमानसिक जाति प्रकट हो जायगी।

परंतु यह भी कुछ लोगोंके लिये बिलकुल घबड़ा देनेवाला है, क्योंकि वे समझते हैं कि यह बात श्रीअरविंद जिस बातकी सर्वदा प्रतिज्ञा करते रहे हैं उसका खंडन करती है: वह कहते रहे हैं कि अतिमानसिक रूपांतरके संभव होनेका समय आ गया है...। परंतु हमें अतिमानसिक रूपांतरको नवीन जातिके प्रादुर्भावके साथ मिला नहीं देना चाहिये।

श्रीअरविंदने जिस बातका वचन दिया था और जिस बातमें स्वभावतः ही हम लोगोंको, जो इस समय यहां हैं, दिलचस्पी है, वह यह है कि वह समय आ गया है जब मानवजातिके कुछ श्रेष्ठ जन, जो आध्यात्मीकरणके लिये आवश्यक शर्तोंको पूरा करेंगे, अतिमानसिक 'शक्ति', 'चेतना' और 'ज्योति'के द्वारा अपने शरीरका रूपांतर करनेमें समर्थ होंगे, ताकि वे पशु-मानव न रहें बल्कि अतिमानव बन जायं।

यह वचन श्रीअरविंदने दिया है और इसे उन्होंने अपने अनुभूत इस ज्ञानपर प्रस्थापित किया था कि अतिमानसिक 'शक्ति' पृथ्वीपर अभिव्यक्त होनेको है। यथार्थमें वह उनके अंदर बहुत पहले अवतरित हो गयी थी, उन्हें इसका पता था और वह जानते थे कि उसके परिणाम क्या हुए थे।

और अब जब कि वह विश्वव्यापी रूपमें अभिव्यक्त हो गयी है, मैं कह सकती हूं कि सामान्यतया, रूपांतरकी संभावनाकी निश्चितता स्वभावतः ही और भी अधिक बढ़ गयी है। अब कोई संदेह नहीं कि जो लोग शर्तों-को पूरा करेंगे अथवा जो अब पूरा कर रहे हैं, वे इस रूपांतरके पथपर हैं।

इन शर्तोंको श्रीअरविंदने ब्योरेके साथ 'योग-समन्वय'में दिया है और उससे भी अधिक ब्योरेके साथ 'अतिमानसिक अभिव्यक्ति'पर लिखे गये अपने अंतिम प्रबंधोंमें दिया है। अतएव अब एकमात्र प्रश्न है उन्हें जीवन-में संसिद्ध करनेका।

अब, यदि कोई मुझसे इस विषयपर कोई प्रश्न पूछना चाहता हो...।

पहले इन उपलब्धियोंकी पद्धति थी आपके प्रति सर्वांगपूर्ण समर्पण। अब भी इस विषयमें वही बात है; तब, इन नयी परिस्थितियोंमें, क्या यह समर्पण पहलेकी अपेक्षा और भी अधिक कठोर नहीं हो जाना चाहिये?

जो कुछ आज[1] मैंने पढ़ा है वह आरंभ करनेके लिये अत्यंत आवश्यक शर्त्त प्रतीत होता है, क्योंकि यह वह चीज है जो अत्यंत सार्वजनीन है।

---

[1] "इस प्रकार जीवनके दृश्य-प्रपंचपर बाह्य कौशल-प्रयोगके द्वारा नहीं, बल्कि इसके असली तत्त्वके रूपांतरके द्वारा ही, पूर्णयोग इसे प्रकृतिकी विक्षुब्ध तथा अज्ञानमय गतिसे ज्योतिर्मय तथा समस्वर गतिमें परिवर्तित करनेका विचार प्रस्तुत करता है। तीन शर्त्तें हैं जो इस केंद्रीय आंतर क्रांति तथा नवीन निर्माणकी सफलताके लिये अनिवार्य हैं। इनमेंसे एक भी अपने-आपमें पूर्ण रूपसे पर्याप्त नहीं है, किंतु इनकी संयुक्त त्रिगुण शक्तिसे जीवनको ऊंचा उठाया जा सकता है, उसका रूपांतर किया जा सकता है और संपूर्ण रूपसे किया जा सकता है। सर्वप्रथम, जीवन अपने वर्तमान रूपमें, कामनाकी एक हलचल ही है और इसने हमारे अंदर अपने केंद्रके तौरपर एक कामनामय पुरुषकी रचना कर रखी है। यह कामना-पुरुष जीवनकी सभी चेष्टाओंको अपने द्वारा जांचता है और उनमें अपने अज्ञानयुक्त, अर्ध-प्रकाशित एवं पराजित प्रयत्नकी व्याकुल चीख-पुकार और दुःख-दर्दको निहित कर देता है। दिव्य जीवन प्राप्त करनेके लिये कामना-को मिटाना होगा और उसके स्थानपर एक शुद्धतर तथा स्थिरतर प्रेरक-शक्तिकी प्रतिष्ठा करनी होगी, कामनाकी पीड़ित आत्माको विनष्ट कर उसके स्थानपर अपने अंदरके प्रच्छन्न सच्चे प्राणमय पुरुषकी प्रशांति, शक्ति एवं प्रसन्नताको प्रकट करना होगा। दूसरे, जीवनका वर्तमान रूप कुछ तो प्राण-शक्तिके आवेगसे प्रेरित वा परिचालित होता है और कुछ मनसे। मन, अधिकांशमें, अज्ञानयुक्त प्राणावेगका दास और पृष्ठ-पोषक है, पर अंशतः यह उसका एक चंचल और कम प्रकाशमय या कम योग्य मार्ग-दर्शक तथा उपदेशक भी है। दिव्य जीवनके लिये मन और प्राणावेगको यंत्रमात्र बनकर रहना होगा, इससे अधिक कुछ नहीं, और अंतरतम हृत्पुरुषको योग-मार्गके अग्रणी या दिव्य मार्ग-दर्शनके निर्देशकके तौरपर उनका स्थान ग्रहण करना होगा। अंतमें जीवन, अपने वर्तमान रूपमें, विभाजक अहंकी संतुष्टिमें तत्पर है; इस अहंको विलुप्त होना होगा और इसका स्थान सच्चे आध्यात्मिक पुरुष अर्थात् केंद्रीय पुरुषको लेना होगा।

(मौन रहनेके बाद) प्रत्येक व्यक्तिको अपनी प्रकृतिके अनुसार अपने पथका अनुसरण करना होगा, और एक पथके मुकाबले दूसरे पथको पसंद करनेका भाव सर्वदा बना रहता है। जैसा कि हमने एक पिछली क्लासमें पढ़ा था, जो कर्म-पथका अनुसरण करता है, उसके लिये यह अनुभव करना बहुत अधिक कठिन होता है कि मानव-व्यक्तित्वका अस्तित्व नहीं है और केवल दिव्य शक्ति ही कार्य करती है। जो ज्ञानका पथ अपनाता है उसके लिये यह अपेक्षाकृत बहुत आसान है, यह एक ऐसी बात है जिसे मनुष्य प्रायः तुरंत जान लेता है। जो व्यक्ति प्रेम-मार्गका अनुसरण करता है उसके लिये यह प्रारंभिक बात है, कारण, वह अपने-आपको दे देनेसे ही प्रगति करता है। परंतु जो व्यक्ति कर्म-मार्गपर चलता है उसके लिये यह बहुत अधिक कठिन है, और फलस्वरूप उसके लिये पहला पग है वही करना जो यहां 'योग-समन्वय' के इस उद्धरणमें कहा गया है जिसे हमने पढ़ा है: अपने अंदर कर्म-फलके प्रति इस पूर्ण अनासक्तिको उत्पन्न करना, इसलिये कर्म करना कि वही उसके लिये कर्तव्य है, उसे कल्पनीय सर्वोत्तम रूपमें करना, और परिणामोंके विषयमें चिंतित न होना, परिणामोंको अपनी इच्छा-से उच्चतर किसी इच्छा-शक्तिपर छोड़ देना।

हम मार्गोंके महत्त्वका क्रम बतानेवाला कोई सामान्य नियम नहीं बना सकते, यह एकांतिक रूपसे व्यक्तिगत व्यापार है। और एक क्षण आता है जब मनुष्य अच्छी तरह समझ जाता है, यह स्पष्ट हो जाता है कि, कोई दो पथ एक जैसे नहीं हैं, कोई दो पथ एक समान नहीं हो सकते, और प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी पथका अनुसरण करता है और वही उसकी सत्ताका सत्य होता है। यदि मनुष्य यथेष्ट ऊंचाईसे देखे तो वह प्रगति-के वेगका अंतर देख सकता है, परंतु यह सर्वदा बाहरी लक्षणोंके अनुरूप नहीं होता; और जरा विनोदके साथ यह कहा जा सकता है कि जो सबसे तेज चलते हैं वे सर्वदा सबसे अधिक समझदार नहीं होते!

(मौन)

मुझे ऐसा लगता है कि अब साधारण नियम बनाना संभव नहीं है।

स्वयं जीवनको भी पार्थिव सत्तामें भगवान्‌की चरितार्थताकी ओर मोड़ देना होगा। इसे अपने भीतर जाग रही भागवत शक्तिको अनुभव करना तथा उसके लक्ष्यका आज्ञाकारी यंत्र बनना होगा।"

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, शताब्दि संस्करण, पृ० २०२-३)

निस्संदेह, भगवत्कृपा सबसे ऊपर है। और उसे कार्य करने देनेके लिये क्या आवश्यक है, यह कहना बहुत कठिन है।

यदि कोई इसे देख सके, इसे अनुभव कर सके, इसके कार्यको मानों अनुभव कर सके, इसकी उपस्थिति और क्रियाके विषयमें सज्ञान हो सके तो उसे उस क्रियाका, प्रगतिका, उपलब्धिका आनंद प्राप्त होता है; परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि यदि कोई इस आनंदका अनुभव नहीं करता तो वहां भगवत्कृपाका कार्य नहीं होता, वहां उपलब्धि नहीं होती।

और अंततोगत्वा, भगवान्‌की संभूतिके सभी तरीके, अभिव्यक्तिके होनेके सभी रूप भगवान्‌को अभिव्यक्त करनेके लिये जरूरी हैं। अपने संपूर्ण रूपमें, अपने सर्वांगपूर्ण रूपमें यह अभिव्यक्ति ही वह चीज है जो एक क्रमवर्द्धमान, अनंत, शाश्वत पूर्णताकी ओर प्रगति करती है। वह प्रत्येक पृथक् तत्त्व, व्यष्टि-रूपमें, नहीं है, वह दिव्य सत्यकी एक समष्टिगत तथा संपूर्ण अभिव्यक्तिके रूपमें एक साथ समग्र सत्ता है। यह संपूर्ण निरंतर, शाश्वततः, एक महत्तर पूर्णताकी ओर अग्रसर हो रहा है। आगामी कलका विश्व विगत कलके विश्वकी अपेक्षा, यदि हम ऐसा कह सकें, अधिक दिव्य होगा; और विगत कलका विश्व उसके पहलेके विश्वकी अपेक्षा अधिक दिव्य था। और इस प्रकार ऐसा कहा जा सकता है कि यथार्थमें स्वयं भगवान् ही अपनी अभिव्यक्तिके अंदर, एक अधिकाधिक पूर्णता, अधिकाधिक दिव्य अभिव्यक्तिकी ओर नित्य प्रगति कर रहे हैं।

और ऐसी स्थितिमें प्रत्येक तत्त्वको केवल अपने निजी विधानको, समग्रके अंदर उसे जो होना चाहिये उस चीजको, जितना संभव हो उतनी पूर्णताके साथ, अभिव्यक्त करना होगा ताकि जो कुछ किया जाना चाहिये वह अधिक-से-अधिक मात्रामें संपन्न हो सके। इस भांति प्रत्येक सत्ताके इस सत्यकी एक सचेतन, ज्ञानोद्दीप्त, प्रायः कहा जा सकता है कि अनासक्त खोज ही वह चीज है जो उसके लिये प्रथम और अत्यंत महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है।

१७ अक्तूबर, १९५६

क्या आनंद उच्चतम स्थिति है? और यदि ऐसा है तो क्या यह कहा जा सकता है कि जब मनुष्य आनंदको खो देता है तो वह अपनी चेतनामें नीचे गिर जाता है?

श्रीअरविंदने कहा है कि विश्वका निर्माण सत्ताके आनंदकी नींवपर हुआ था और इसका मूल आनंद होनेके कारण आवश्यक रूपमें इसका लक्ष्य भी आनंद है। अतएव इसका अर्थ वास्तवमें यह होना चाहिये कि आनंद ही उच्चतम स्थिति है।

परंतु मुझे तुमसे यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह वैसा आनंद नहीं जैसा कि इसे साधारण मानवीय चेतनामें समझा जाता है...। निस्संदेह, वह आनंद उन स्थितियोंसे परे है जो आम तौरपर यौगिक दृष्टिकोणसे उच्चतम मानी जाती हैं, जैसे पूर्ण स्थिरताकी, आत्माकी पूर्ण समताकी, नितांत अनासक्तिकी, अनंत और सनातन भगवान्के साथ तादात्म्यकी स्थिति जो तुम्हें आवश्यक रूपसे समस्त संभावनाओंसे ऊपर उठा लेती है। इस स्थितिके समकक्ष एक दूसरी स्थिति हो सकती है और वह है, उस पूर्ण, सर्वांगीण, विश्वव्यापी प्रेमकी स्थिति, जो करुणाका एकदम सार-तत्त्व है और जो भगवत्कृपाकी अत्यंत पूर्ण अभिव्यक्ति है जो समस्त भूल-भ्रांति तथा समस्त अज्ञानके परिणामोंको निर्मूल कर देती है। ये दो स्थितियां सर्वदा चेतनाका शिखर समझी जाती रही हैं; वे वह चीज हैं जिसे, भगवान्के साथ एकत्व प्राप्त करनेपर व्यक्तिगत चेतनाकी जो उपलब्धि हो सकती है उसका सीमांत प्रदेश, अंतिम सरहद कह सकते हैं।

परंतु कोई वस्तु है जो परे विद्यमान है; वह यथार्थतः पूर्ण आनंदकी स्थिति है जो स्थाणु नहीं है: एक प्रगतिशील अभिव्यक्तिका, परात्पर चेतनाके पूर्ण उन्मीलनका आनंद है।

जिन दो स्थितियोंकी बात मैंने कही उनमेंसे पहली प्रायः सदा ही कर्मसे विरति, एक लगभग निश्चल अवस्थाकी ओर ले जाती है, और बहुत आसानीसे वह निर्वाणतक ले जायगी (वास्तवमें निर्वाणकी खोज करनेवाले सभी लोगोंकी लिये यही पथ सर्वदा निर्धारित किया जाता रहा है)। परंतु आनंदकी यह स्थिति जिसकी बात मैं कह रही हूं, जो मूलतः दिव्य है क्योंकि वह प्रतिरोधों और प्रतिकूलताओंकी समस्त संभावनासे मुक्त,

संपूर्णतः मुक्त है, कर्मसे अपना नाता नहीं तोड़ती; इसके विपरीत, यह एक सर्वांगपूर्ण, पर अपने सार-तत्त्वमें पूर्ण तथा समस्त अज्ञान एवं अज्ञानके समस्त बंधनोंसे पूरी तरह मुक्त कर्मकी ओर ले जाती है।

मनुष्य जब पथपर होता है, जब कुछ प्रगति कर लेता है, जब उसमें कोई अधिक समझदारी आ जाती है, उसमें अधिक सर्वांगीण उद्‌घाटन हो जाता है, भागवत चेतनाके साथ अधिक घनिष्ठ एकत्व प्राप्त हो जाता है तो वह अनुभव कर सकता है, वह इस 'आनंदको' एक ऐसी वस्तुके रूपमें अनुभव कर सकता है जो आकर जीवनको रंगीन बना देती है और उसे उसका सच्चा अर्थ प्रदान करती है; पर जबतक मनुष्य सामान्य मानवीय चेतनामें रहता है यह 'आनंद' बहुत आसानीसे विकृत हो जाता और एक ऐसी चीजमें बदल जाता है जो उससे बिलकुल ही नहीं मिलती। फलतः, कोई कदाचित् ही यह कह सकता है कि यदि कोई आनंद खो देता है तो वह अपनी चेतनामें नीचे गिर जाता है, कारण... जिस 'आनंद'की बात मैं कह रही हूं वह ऐसी चीज है जो कभी खोयी नहीं जा सकती। यदि कोई उन दो स्थितियोंके परे पहुंच गया है जिनकी चर्चा मैंने कुछ क्षण पहले की है, अर्थात् पूर्ण अनासक्ति तथा घनिष्ठ एकत्वकी स्थिति, एवं पूर्ण प्रेम और कारुण्यकी स्थिति, यदि कोई इन दो स्थितियोंके परे चला गया है और दिव्य आनंदको प्राप्त कर चुका है तो वहांसे नीचे आना लगभग असंभव है। परंतु व्यावहारिक जीवनमें अर्थात्, योगके पथपर, यदि किसीको इस दिव्य आनंदने चलते-चलते भी छू दिया है तो, यह स्पष्ट है कि, यह तुम्हें छोड़ दे, तुम यह अनुभव करनेके लिये विवश होओ कि तुम एक शिखरसे नीचे एक बिलकुल अंधेरी घाटीमें गिर गये हो।

परंतु अनासक्तिके बिना 'आनंद' पाना एक बहुत खतरनाक उपहार होगा जो बहुत सरलतासे विकृत हो सकता है। अतएव, अनासक्तिको आयत्त किये बिना 'आनंद' की खोज करना बहुत बुद्धिमानीकी बात नहीं मालूम होती। मनुष्यको सबसे पहले सभी संभवनीय द्वंद्वोंके परे, निस्संदेह, वेदना और आनंद, दुःख और सुख, उत्साह और अवसादके परे अवश्य चले जाना चाहिये। यदि कोई इस सबसे ऊपर हो तो फिर बिलकुल सुरक्षित रूपमें 'आनंद'के लिये अभीप्सा कर सकता है।

मगर जबतक यह अनासक्ति सिद्ध नहीं हो जाती, मनुष्य सरलतापूर्वक 'आनंद'को साधारण मानव सुखकी स्थितिके साथ मिला सकता है, और यह जरा भी सच्ची वस्तु नहीं होगी, यहांतक कि उस वस्तुका विकृत

रूप भी नहीं, क्योंकि दोनोंका स्वभाव एक-दूसरेसे इतना भिन्न है, लगभग एकदम विपरीत है; कि तुम एकसे दूसरेमें नहीं जा सकते। सो, यदि कोई मार्गपर सुरक्षित रहना चाहता है तो, मुझे ऐसा लगता है कि, शांतिकी, पूर्ण स्थिरताकी, पूर्ण समताकी, चेतना विस्तारित करनेकी, एक अधिक विशाल समझदारीकी तथा समस्त कामना, समस्त अभिरुचि, समस्त आसक्तिसे मुक्तिकी खोज करना निश्चय ही एक अनिवार्य प्रारंभिक शर्त्त है।

ये दोनों आंतर और बाह्य साम्यावस्थाकी गारंटी है।

और तब इसी साम्यावस्थापर — इसी आधारपर — जो बहुत मजबूत होनी चाहिये, मनुष्य जो कुछ चाहे निर्मित कर सकता है। परंतु शुरूके लिये नींव वहां अवश्य होनी चाहिये, अचल-अटल।

(मौन)

किसी व्यक्तिने ठीक वही बात मुझसे पूछी है जो इन शब्दोंसे मेरा मतलब था :

"हमें शांत-स्थिर होना होगा।"

यह स्पष्ट है कि जब मैं किसीसे कहती हूं: "शांत-स्थिर रहो", मेरा अभिप्राय व्यक्ति-व्यक्तिके अनुसार बहुत-सी अलग-अलग बातोंसे होता है। परंतु सबसे पहली प्रशांतता है मनकी अचंचलता, क्योंकि सामान्यतया यही वह चीज है जिसका अत्यंत अभाव होता है। जब मैं किसीसे कहती हूं कि "शांत-स्थिर रहो", तो मेरा अभिप्राय होता है: विक्षुब्ध, उत्तेजित, अशांत विचार न रखनेकी कोशिश करो; अपने मनको निश्चल बनाये रखने तथा अपनी समस्त कल्पनाओं, पर्यवेक्षणों तथा मानसिक रचनाओंको एक वृत्तमें चक्कर काटते रहनेसे रोकनेका प्रयास करो।

यहां बिलकुल न्यायत: एक प्रश्न जोड़ा जा सकता है: आप हमसे कहती हैं: "शांत-स्थिर रहो", पर शांत-स्थिर रहनेके लिये हमें क्या करना चाहिये? ... उत्तर सर्वदा कम या अधिक वही होता है: हमें सबसे पहले इसकी आवश्यकता महसूस करनी चाहिये और इसकी इच्छा करनी चाहिये, और फिर अभीप्सा करनी चाहिये, और फिर कोशिश करनी चाहिये! कोशिश करनेके लिये, अनगिनत उपाय हैं जिन्हें बहुत-से लोगोंने निर्धारित किया तथा अजमाया है। ये उपाय साधारण तौरपर दीर्घ,

श्रमसाध्य और कठिन होते हैं; और बहुतेरे लोग अंततक पहुंचनेसे पहले निरुत्साहित हो जाते हैं, कारण, जितना ही अधिक वे प्रयास करते हैं उतना ही अधिक उनके विचार उनके मस्तकमें चक्कर काटना तथा विक्षुब्ध होना आरंभ कर देते हैं।

प्रत्येक व्यक्तिके लिये उपाय अलग-अलग है, पर पहले मनुष्यको उसकी आवश्यकता महसूस करनी चाहिये, क्योंकि कारण चाहे जो भी हो — चाहे इस कारण कि मनुष्य ऊब गया हो अथवा इस कारण कि वह अतिक्लांत हो, अथवा इस कारण कि वह जिस स्थितिमें रहता है उससे वास्तवमें ऊपर उठना चाहता है — मनुष्यको सर्वप्रथम इस निश्चलताकी, मनकी इस शांतिकी आवश्यकताको समझना और महसूस करना होगा। और फिर उसके बाद, वह क्रमशः सभी प्रकारके उपायोंसे, विदित और नवीन उपायोंसे, परिणामकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर सकता है।

अब हम तुरंत देखते हैं कि एक दूसरी अचंचलता भी है जो आवश्यक है, यहांतक कि अत्यावश्यक है, वह है प्राणिक स्थिरता, अर्थात्, कामनाओंका अभाव। केवल प्राण जब पर्याप्त रूपमें विकसित नहीं होता, तो जैसे ही उससे शांत-स्थिर बने रहनेके लिये कहा जाता है, वह या तो सोने चला जाता है या हड़ताल कर बैठता है; वह कहता है: "आह! नहीं, मैं अब काम नहीं कर सकता! मुझे जिस पोषणकी जरूरत है, उत्तेजना, उत्साह, कामना, यहांतक कि आवेग आदि, यदि तुम नहीं देते तो मैं हिलना-डुलना भी पसंद नहीं करता और अब मैं कुछ भी नहीं करूंगा।" अतएव यहांपर समस्या जरा ज्यादा नाजुक बन जाती है और संभवतः और भी अधिक कठिन; क्योंकि निस्संदेह, उत्तेजनासे तमस्‌में गिर पड़ना किसी प्रकारकी प्रगति करनेसे बहुत दूर है! मनुष्यको तमस् या निद्राजन्य निष्क्रियताको कभी स्थिरता समझनेकी भूल नहीं करनी चाहिये।

स्थिरता एक बहुत भावात्मक स्थिति है; उसमें एक प्रत्यक्ष शांति है जो संघर्षका विपरीत तत्त्व नहीं है — वह एक सक्रिय, संक्रामक, बलशाली शांति है जो वशमें करती और शांत बनाती है, जो प्रत्येक वस्तुको यथाक्रम रखती है, सुव्यवस्थित करती है। मैं इसीकी चर्चा कर रही हूं; जब मैं किसीसे कहती हूं कि "शांत-स्थिर बनो", मेरे कहनेका तात्पर्य यह नहीं होता कि "जाओ और सो जाओ, जड़ और निष्क्रिय बन जाओ, और कोई कार्य मत करो," इससे बहुत दूर...। सच्ची स्थिरता एक बहुत बड़ी शक्ति है, एक बहुत बड़ा बल है। वास्तवमें, दूसरी ओरसे इस समस्याको देखते हुए, हम कह सकते हैं कि जो सब लोग सचमुच सशक्त, बलशाली होते हैं वे सर्वदा ही बहुत शांत-स्थिर रहते हैं। केवल दुर्बल

लोग ही उत्तेजित रहते हैं; जैसे ही कोई सचमुच प्रबल बन जाता है वह शांतिपूर्ण, स्थिर, अचंचल बन जाता है, और उसमें प्रतिकूल लहरोंका, जो उसे विक्षुब्ध करनेकी आशासे बाहरसे टूट पड़ती हैं, सामना करनेकी सहन-शक्ति होती है। यह सच्ची निश्चलता हमेशा ही शक्तिका एक चिह्न होती है। स्थिरता शक्तिसंपन्न लोगोंकी चीज होती है।

और यह बात भौतिक क्षेत्रके लिये भी सच है। मैं नहीं जानती कि तुम लोगोंने शेरों, बाघों, हाथियों जैसे जानवरोंको ध्यानपूर्वक देखा है या नहीं, पर यह एक सत्य है कि जब वे कर्ममें रत नहीं होते तो वे सर्वदा बड़े पूर्ण रूपसे निश्चल होते हैं। चुपचाप बैठा हुआ और तुम्हारी ओर ताकता हुआ एक सिंह तुमसे हमेशा यह कहता हुआ प्रतीत होता है : "ओह ! तुम कितने चंचल हो !" वह विज्ञताके एक शांतिपूर्ण वातावरणके साथ तुम्हारी ओर ताकता है ! और उसका समस्त बल, शक्ति, भौतिक सामर्थ्य वहां संगृहीत, एकत्रित, केंद्रीभूत तथा — किसी हलचलकी छायाके बिना — जब हुक्म दिया जाय तब कर्म करनेके लिये तैयार रहता है।

मैंने ऐसे लोगोंको, बहुत-सारे लोगोंको देखा है जो अशांत हुए बिना आध-घंटे भी चुप नहीं बैठ सकते थे। उन्हें या तो अपनी टांग या पैर अथवा हाथ या अपना सिर हिलाना पड़ता था; उन्हें सब समय अशांतिके साथ हिलना-डुलना पड़ता था, क्योंकि उनमें शांत-स्थिर बने रहनेकी सामर्थ्य या शक्ति नहीं थी।

जब कोई चाहे तब निश्चल बने रहनेकी यह क्षमता, अपनी समस्त शक्तियोंको एकत्र करना तथा उन्हें जब इच्छा हो तब खर्च करना, यदि कोई चाहे तो पूर्ण रूपमें, अथवा अपनी इच्छाके अनुसार, कर्मरत रहते हुए भी पूर्ण शांतिपूर्वक, उन्हें कर्ममें विभाजित कर देना — यह सर्वदा शक्ति-सामर्थ्यका चिह्न है। यह भौतिक शक्ति या प्राणिक शक्ति या मानसिक शक्ति हो सकती है। परंतु तुम यदि तनिक भी उत्तेजित होओ, तो यह विश्वास कर सकते हो कि कहींपर कोई दुर्बलता है; और यदि तुम्हारी अशांति सर्वांगपूर्ण हो तो वह एक सर्वांगपूर्ण दुर्बलता है।

सो, यदि मैं किसीसे कहती हूं कि "शांत-स्थिर रहो", तो मैं शायद उससे सब प्रकारकी बातें कहती हूं, यह प्रत्येक व्यक्तिपर निर्भर करता है। परंतु स्पष्ट ही, अधिकांश समय यह बात होती है : "अपने मनको शांत बनाओ, अपने मस्तकमें सब समय चंचलता मत आने दो, बहुत अधिक विचारोंकी खोज मत करो, शांत-स्थिर बने रहो।"

अधिकतर लोगोंके लिये कोई अनुभूति केवल तभी अस्तित्व रखती है जब वे अपने लिये उसकी व्याख्या कर सकते हैं। अनुभूतियां

(किसी शक्तिका संपर्क, चेतनाकी विस्तृति, भगवान्‌के किसी रूपके साथ मिलन — चाहे कोई भी अनुभव हो — सत्ताका कोई उद्‌घाटन, किसी बाधाका भंग होना, किसी अवस्थाको पार करना, नवीन दरवाजोंका खुलना) ये सभी अनुभूतियां, यदि लोग अपने सामने इतने अधिक शब्दोंमें उनकी व्याख्या नहीं कर सकते और ठीक-ठीक विचारोंके द्वारा उन्हें मूर्त्त रूप नहीं दे सकते तो अपने-आपमें ऐसी प्रतीत होती हैं मानों ये हुई ही नहीं थीं! व्यक्त करनेकी ठीक यही आवश्यकता, रूपांतरित करनेकी यह जरूरत ही वह चीज है जिसके कारण अनुभूतिका सर्वोत्तम भाग व्यक्तिगत चेतनापर कार्य करनेकी अपनी शक्ति खो देता है। यह कैसी बात है कि उन्हें एक निश्चयात्मक, सुनिश्चित अनुभव होता है, तुमने, उदाहरणार्थ, अपने चैत्य पुरुषका द्वार खोल दिया है, तुमने उसके साथ एकत्व प्राप्त कर लिया है, तुम जानते हो कि इसका क्या मतलब है, और फिर — वह बना नहीं रहता? इसका कारण यह है कि जबतक तुम उसे अपने सम्मुख व्यक्त नहीं कर पाते, उसे पर्याप्त रूपमें वास्तविक शक्ति नहीं प्राप्त होती। अनुभव तुम्हारे लिये केवल तभी आरंभ होता है जब तुम उसका वर्णन कर पाते हो। हां, तो जब तुम उसका वर्णन कर पाते हो, उसकी तीव्रताका तथा आंतरिक और बाह्य रूपांतरके लिये कार्य करनेकी क्षमताका अधिकतर भाग पहले ही हवा हो जाता है। यहां यह कहा जा सकता है कि व्यक्त करना, व्याख्या करना सर्वदा नीचे आना है। स्वयं अनुभव एक बहुत उच्चतर स्तरपर होता है।

२४ अक्तूबर, १९५६

मेरे पास यहां कुछ है, मालूम नहीं कि यह हमें बहुत दूरतक ले जायगा या नहीं, पर फिर भी इससे एक अच्छा परिवर्तन हो जायगा। पिछले कई सप्ताहोंसे बराबर प्रगतिका प्रश्न चल रहा था: कैसे प्रगति की जाती है, क्या चीज प्रगतिको रोकती है, अतिमानसिक 'शक्ति' का व्यवहार कैसे किया जाय, आदि-आदि। वह अभी भी चल रहा है, मेरे पास अभी एक पूरा पैकेट है! परंतु हम एक बार अपना विषय बदल सकते हैं।

किसीने मुझसे मृत्युके बारेमें प्रश्न किया है: मृत्युके बाद क्या होता है और व्यक्ति नया शरीर कैसे धारण करता है?

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह एक ऐसा विषय है जिसपर बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे जा सकते हैं, कोई भी दो दृष्टांत एक-से नहीं होते, मृत्युके बाद यथार्थतः इस जीवनमें सब कुछ हो सकता है, जैसे कि पृथ्वीपर भौतिक शरीरवाले व्यक्तिके लिये सब कुछ संभव है और जब सभी वक्तव्योंको सामान्य सिद्धान्त बना दिया जाता है तो वे मतान्धताका रूप ले लेते हैं। पर फिर भी मनुष्य इस समस्याको कुछ ब्योरेमें देख सकता है और कभी-कभी मनोरंजक खोजें कर सकता है।

प्रश्न इस प्रकार है :

> **"जब कोई विशेष रूपसे विकसित आत्मा शरीर छोड़ती है, तो क्या वह अपना सूक्ष्म-भौतिक कोष भी अपने साथ ले जाती है? जब वह नया जन्म लेती है तो वह नये शरीरमें उसे कैसे डालती है? . . ."**

जैसा कि मैं पहले भी कह चुकी हूं इसका उत्तर देनेके लिये कितने ही ग्रंथ लिखनेकी आवश्यकता होगी, या घंटों बोलना होगा। कारण, यदि सच कहा जाय तो कोई भी दो दृष्टांत एक जैसे नहीं होते — समानताएं होती हैं, तुम वर्गीकरण कर सकते हो, किंतु यह होता है बिलकुल मनमाना। मैं तुम्हें निम्नांकित बातें पढ़कर सुनाना चाहती थी, क्योंकि वह बड़ी मनोरंजक है (ओह, मैं गंभीर नहीं होना चाहती। हम कह सकते हैं कि यह काफी रोचक है) :

> **"ये प्रश्न एक प्राचीन भारतीय परंपराके संबंधमें तथा उपनिषदोंमें (छांदोग्य और बृहदारण्यकमें) वर्णित एक बुद्धिमान् राजा प्रवणहनके गुह्य-ज्ञानके संबंधमें किये गये हैं :**
>
> **"यह कहा गया है कि मृत्युके बाद उन लोगोंकी आत्माएं, जिन्होंने शुभ कर्म किये हैं, अपने पितरोंका रास्ता (पितृयान) पकड़ती हैं, धुंआं और रात्रि आदि बनकर पितरोंके जगत्में प्रवेश करती हैं और अंतमें चन्द्र-लोकमें चली जाती हैं। ब्रह्म-सूत्र इससे निष्कर्ष निकालता है कि आत्मा उन सभी तत्त्वोंको, सूक्ष्म-भौतिक सत्ताके तत्त्वोंको भी अपने साथ ले जाती है जो अगले जन्मके लिये आवश्यक होंगे।" अतः प्रश्न यह है: "क्या यह ठीक है? ऐसी अवस्थामें क्या सूक्ष्म-भौतिक सत्ता पर्याप्त रूपमें चेतन होती है?"**

हम इन प्रश्नोंको छोड़ रहे हैं, मैं आगे पढ़ रही हूं :

> **"आगे उपनिषदें कहती हैं: अपने अच्छे कार्योंका लेखा समाप्त करनेके बाद, आत्मा चन्द्र-लोकको छोड़ आकाशमें, फिर वायुमें और फिर बादलोंमें जाती है और इनमेंसे प्रत्येककी प्रकृतिको ग्रहण करती है, और फिर पृथ्वीपर अपने-आपको वर्षाके रूपमें बरसाती है, बीजमें प्रवेश करती, पिताके शरीरमें भोजनके रूपमें प्रविष्ट होती है और अंतमें शिशुके शरीरका निर्माण करती है।"**

सचमुच यह कुछ अधिक जटिल प्रक्रिया है, है न! (हंसी) किंतु मुझे यह बड़ी मनोरंजक लगी। और अब प्रश्न है (हंसते हुए) :

> **"क्या इस अनिश्चित और संशयपूर्ण प्रक्रियाका अनुसरण करना आवश्यक है? क्या आत्मा उन सब मानसिक, प्राणिक और सूक्ष्म-भौतिक तत्त्वोंके द्वारा सीधे ही शरीरको जीवन प्रदान नहीं करती, जो उसके चारों ओर व्यवस्थित होते तथा अगले जीवन-के लिये आवश्यक होते हैं? क्या वह सूक्ष्म-भौतिक जगत्से तत्त्व ग्रहण करती है? उस अवस्थामें इन तत्त्वोंका पैतृक गुणों-के साथ कैसे सामंजस्य बैठाया जाता है? विशेषकर, क्या उसे पिताके शरीरसे गुजरना ही पड़ता है?"**

यह बात है!

मैं केवल एक ही बात कह सकती हूं और वह यह कि कभी-कभी वस्तुएं इस प्रकार भी होती हैं। बहुत संभव है (कम-से-कम मैं ऐसी आशा करती हूं) कि जिसने यह वर्णन किया है उसने इस प्रकारका कोई व्यापार देखा होगा; मैं आशा करती हूं कि यह उसकी गुह्य कल्पनाकी एक मानसिक रचनामात्र नहीं है ... यह बात कुछ क्रियात्मक ढंगकी समस्याओंको जन्म देती है! पर फिर भी, स्पष्ट है, असंभव कुछ नहीं है। केवल एक बात कठिनाईसे समझमें आती है कि आत्मा वर्षामें प्रवेश करती है, जो बीजमें प्रविष्ट होती है, जिससे अंकुर निकलता है, और फिर (थोड़े-बहुत पकाये हुए!) भोजनके रूपमें पिताके पेटमें आती है और अंतमें भ्रूणमें प्रवेश करती है। मैं यह नहीं कहती कि यह असंभव है, पर यह एक बहुत, बहुत, बहुत ही जटिल बात है!

मैं कह सकती हूं कि मैंने जन्म लेनेकी तैयारी करनेवाली या जन्म ले चुकी सत्ताओंके अंदर विकसित आत्माओंके अनेकों जन्मोंको देखा है। जैसा कि मैं कह चुकी हूं, सभी दृष्टांत एकदम भिन्न होते हैं; यह बात भौतिक अवस्थाओंकी अपेक्षा मनोवैज्ञानिक अवस्थाओंपर अधिक निर्भर करती है, पर यह भौतिक अवस्थाओंपर भी निर्भर करती है। यह उस अंतरात्माके विकासकी अवस्थापर निर्भर करती है जो जन्म लेना चाहती है। (हम यहां "अंतरात्मा" शब्दको चैत्य सत्ताके अर्थमें लेते हैं जिसे हम चैत्य सत्ता या पुरुष कहते हैं), यह उसके विकासकी अवस्थापर निर्भर करता है, उन परिस्थितियोंपर निर्भर करता जिनमें वह जन्म लेने जा रही है, उस कार्यपर निर्भर करता है जो उसे पूरा करना है — यह चीज बहुत-सी विभिन्न स्थितियोंको उत्पन्न करती है . . .। यह माता-पिताकी चेतनाकी अवस्थापर तो बहुत ही अधिक निर्भर करता है, कारण, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इच्छापूर्वक, सचेतन अभीप्साके साथ, अदृश्य जगत्के प्रति एक पुकारके साथ तथा आध्यात्मिक लगनके साथ बच्चा उत्पन्न करने तथा आकस्मिक रूपमें उसे बिना चाहे, कभी-कभी तो एकदम अनिच्छापूर्वक बच्चा उत्पन्न करनेमें बहुत अधिक अंतर है। मैं यह नहीं कहती कि इस दूसरी अवस्थामें चैत्य सत्ता जन्म नहीं ले सकती, किंतु सामान्यतया यह बच्चेमें पीछे आती है, गर्भाधानके समय नहीं आती।

बच्चेके गठनमें इससे बहुत अधिक अंतर आ जाता है।

यदि जन्म लेनेवाली आत्मा गर्भाधानके समय प्रविष्ट हो जाय तो जो बच्चा जन्म लेगा उसकी सारी रचना ही उस चेतनासे निर्धारित और शासित होगी जिसे जन्म लेना है : तत्त्वोंका चुनाव, सार-वस्तुका आकर्षण — शक्तियोंका तथा यहांतक कि आत्मसात् की हुई वस्तुओंके सार-तत्त्वका भी चुनाव — सब उस चेतनाके द्वारा ही किया जाता है। एक चुनाव तो वहां पहलेसे ही हो चुका होता है। और यह स्वभावतः ही उस शरीरकी रचनाके लिये बिलकुल विशिष्ट प्रकारकी अवस्थाएं उत्पन्न कर देता है जो अपने जन्मके पूर्व ही काफी विकसित, उन्नत और सुसमन्वित हो सकता है। मैं यहां यह भी बता दूं कि यह एक बहुत ही, बहुत ही अधिक असाधारण बात है; किंतु फिर भी ऐसा होता है।

ऐसे उदाहरण अधिक होते हैं जहां ठीक जन्मके समय अर्थात् गर्भसे मुक्त होनेके सबसे पहले संकेतके समय, जब कि शिशु यथाशक्ति रोकर अपने फेफड़ोंको विकसित करना आरंभ करता है, उस समय, बहुत बार जीवनकी इस प्रकारकी पुकार चैत्य अवतरणको अधिक सरल और सफल बनाती है।

कभी-कभी तो बहुत दिन और कभी-कभी तो महीने भी निकल जाते

हैं; तैयारी धीमी होती है और प्रवेश क्रमशः, बड़े सूक्ष्म और अदृश्य तरीकेसे होता है।

कभी-कभी ऐसा बहुत पीछे होता है, जब कि बच्चा कुछ चेतन हो जाता है और किसी ऊपरकी, बहुत ऊपरकी वस्तुके साथ एक बहुत सूक्ष्म, किंतु बहुत सच्चा संबंध अनुभव करता है, जो एक प्रभावके रूपमें उसपर दबाव डालती है, और फिर बच्चा स्वयं उस वस्तुके साथ संबंध बनाये रखनेकी आवश्यकता अनुभव करने लग सकता है, जिसे न वह जानता था, न समझता है पर जिसे केवल अनुभव करता है; और यह अभीप्सा चैत्य पुरुषको आकर्षित करती और बच्चेके अंदर उसे अवतरित कराती है।

मैं यहां तुम्हें वे ही दृष्टांत देती हूं जो प्रायः देखनेमें आते हैं। और भी बहुतेरे दृष्टांत हैं; ऐसा अलग-अलग अनगिनत तरीकोंसे हो सकता है। परंतु जो मैंने तुम्हें बताये हैं उन्हें मैंने बहुत बार होते हुए देखा है।

अतएव, जो अंतरात्मा जन्म ग्रहण करना चाहती है, वह अपने भावी आवास-का चुनाव कर लेनेके बाद, कभी-कभी पृथ्वीके एकदम समीप, उच्चतर मनके किसी क्षेत्रमें स्थित होती है; या फिर वह और नीचे प्राणमें भी उतर सकती है, और वहांसे अधिक सीधे तौरपर कार्य करती है; या फिर सूक्ष्म-भौतिक स्तरमें भी प्रवेश कर सकती है और तब बहुत समीपवर्ती स्थानों-से अपने भावी शरीरके विकास-कार्यको संचालित कर सकती है।

अब दूसरा प्रश्न लो, मृत्युके संबंधमें।

यह भी विकासकी मात्रापर, मृत्युकी अवस्थाओंपर — और सबसे अधिक सत्ताके एकीकरणपर तथा शरीर छोड़ते समय जो उसकी मनोवृत्ति होती है उसपर निर्भर करता है। प्रश्न उन सत्ताओंके बारेमें था जो पूर्णतया विकसित हो चुकी हैं, दूसरे शब्दोंमें, जो पूर्ण विकसित चैत्य सत्ताएं हैं (मैं नहीं समझती कि हम एक ऐसे चैत्य पुरुषकी बात कह सकते हैं या नहीं जिसने भौतिक शरीरमें रहते हुए योग करनेका लाभ उठाया है, क्योंकि तब स्थितियां बिलकुल भिन्न हो जाती हैं)। किंतु अधिक समान्य ढंगमें, जैसा कि मैं तुम्हें कई बार बता चुकी हूं, सब कुछ, (जहां-तक कि सत्ताके बाह्य कोषका संबंध है) मृत्युके समयकी उसकी मनोवृत्ति-पर निर्भर करता है। और यह मनोवृत्ति निश्चित रूपसे निर्भर करती है उसके आंतरिक विकास और उसकी सत्ताके एकीकरणपर।

यदि हम एक सर्वश्रेष्ठ दृष्टांत, किसी ऐसे व्यक्तिका दृष्टांत लें जिसने अपने अंदरकी भागवत उपस्थितिके चारों ओर अपनी सत्ताका पूरी

तरह एकीकरण कर लिया है, जिसमें अब एक ही संकल्प-शक्ति, एक ही चेतना है, ऐसा व्यक्ति अपनी केंद्रीय चैत्य सत्ताके चारों ओर एक पूर्णतया विकसित और व्यवस्थित मन, एक समग्र रूपसे समर्पित और सहयोगी प्राण और एक आज्ञाकारी, विनम्र और नमनीय शरीरको एकत्रित कर सकेगा। उस पूर्ण विकसित भौतिक सत्ताका एक सूक्ष्म शरीर भी होगा — जिसे श्रीअरविंद "सच्ची भौतिक सत्ता" कहते हैं — जो अपने शरीरकी सीमाओंको अनंततः अतिक्रम कर जायगा और जिसमें एक प्रकार-की पर्याप्त कोमलता, नमनीयता और समतोलता होगी; ये गुण इसे सत्ताके आंतरिक मार्गोंके साथ निकट-संबंध बनाये रखने तथा उसकी अंतरस्थ अंतरात्माकी क्रियाका अनुसरण करनेकी शक्ति देंगे . . .। मैं यह नहीं कहना चाहती कि वह आरोहण शक्ति होगी, वे उसे शरीरसे बाहर अंतरात्माकी यात्राओंका अनुसरण करनेकी शक्ति देंगे। अंतरात्मा क्या करेगी, वह कहां जायगी — यह सब उसके उस निश्चयपर निर्भर करता है जो उसने शरीर छोड़नेसे पहले किया है। और अपने चारों ओर एक ऐसी सत्ताको, जो अपने भौतिक जीवनमें पूर्णतया व्यवस्थित और एकीकृत हो चुकी है, बनाये रखनेकी उसकी यह शक्ति उसे निश्चित रूपसे वही चुनाव करनेकी क्षमता देगी जो वह करना चाहती है — और यह भी संभावनाओंका एक बहुत ही भिन्न प्रकारका क्षेत्र है जिसमें एक शरीरसे दूसरेमें सचेतन रूपमें, बिलकुल सीधे तौरपर जानेसे लेकर (ऐसे उदाहरण हैं जिनमें इन पूर्णतः सचेतन तथा पूर्णतः विक-सित सत्ताओंमेंसे एकने धीरे-धीरे एक दूसरी सत्ताको तैयार किया है जो उसे ग्रहण और आत्मसात् करनेमें सक्षम हो, और एक शरीर छोड़ देनेपर उसका भौतिक कार्य बन्द न हो जाय इसलिये वह जाकर दूसरी चैत्य सत्ता-के साथ जुड़ जाती है, उसमें घुल-मिल जाती और उसके साथ युक्त होकर दूसरे भौतिक शरीरमें चली जाती है; यह एक चरम दृष्टांत है, अत्यंत विरल भी है, पर जो पूर्णतः पारंपरिक गुह्य ज्ञानका एक अंग है), दूसरी चरम सीमाके उस उदाहरणतकके दृष्टांत मिलते हैं जिसमें अपने दैहिक अनुभवको समाप्त करनेके बाद अंतरात्मा विश्रांतिके अंदर उसे आत्मसात् करना तथा बादमें, कभी-कभी बहुत बादमें, दूसरे भौतिक जीवनकी तैयारी करना चाहती है। और इसलिये बहुतेरी दूसरी संभावनाओंमेंसे एक बात यह होती है: वह प्रत्येक क्षेत्रमें — सूक्ष्म-भौतिक क्षेत्रमें, प्राण-क्षेत्रमें, मान-सिक क्षेत्रमें — तत्संबंधी सत्ताओंको छोड़ देती है; वह उनके बीच एक प्रकारकी कड़ीके साथ छोड़ती है, पर उनमेंसे प्रत्येक अपना स्वतंत्र जीवन बनाये रखती है, और वह स्वयं यथार्थ चैत्यके क्षेत्र, सत्य-जगत्‌में चला

जाता है और तबतक आत्मसात्करणकी एक आनंदपूर्ण विश्रांतिमें बनी रहती है जबतक कि वह (हंसते हुए), जैसा कि इस कागजपर लिखा है, अपने सभी अच्छे कर्मोंको आत्मसात् नहीं कर लेती, अपने सभी उत्तम कर्मोंको पचा नहीं लेती, और एक नया अनुभव आरंभ करनेके लिये प्रस्तुत नहीं हो जाती। और फिर, यदि उसका कार्य अच्छी तरह संपन्न हो जाता है और उसकी सत्ताके अंशों या उसके कोषोंने, जिन्हें उसने उनके विभिन्न क्षेत्रोंमें छोड़ दिया है, उसी तरह अपना काम चलाया है जिस तरह उन्हें वहां चलाना चाहिये तो, जब वह फिरसे अवतरित होती है, वह इन सब अंगोंको जो पिछले जीवनमें उसके साथ रह चुके हैं, एक-के-बाद-एक ग्रहण करती है और ज्ञान तथा अनुभवकी इस संपदाके साथ वह एक नये शरीरमें प्रवेश करनेकी तैयारी करती है...। ऐसा शायद सैकड़ों या हजारों वर्ष बाद ही होता है, क्योंकि इन क्षेत्रोंमें जो कुछ सुसंगठित हो चुका है वह आवश्यक रूपसे उस विघटनके अधीन नहीं रहता जिसे हम यहां "मृत्यु" कहते हैं। जैसे ही कोई प्राण-सत्ता पूर्णतः सुसमंजस हो जाती है, वह अमर बन जाती है। जो चीजें उसे गलाती और छिन्न-भिन्न करती हैं वे हैं उसके अंदर विद्यमान सब प्रकारकी अव्यवस्थाएं तथा नाश एवं विघटनकी सारी प्रवृत्तियां; पर यदि वह पूरी तरह सुसमन्वित और संगठित तथा, या यूं कहें, एक प्रकारसे दिव्यभावापन्न हो जाती है तो वह अमर बन जाती है। यही बात मनके लिये भी है। और यहांतक कि सूक्ष्म-भौतिक स्तरमें भी, जो सत्ताएं पूर्ण विकसित होती और आध्यात्मिक शक्तियोंसे भरी हुई होती हैं वे मृत्युके बाद अनिवार्यतः विलीन नहीं हो जातीं। वे कार्य करना जारी रख सकती हैं अथवा प्रकृतिके किन्हीं पानी जैसे तत्त्वोंमें सुखकर विश्रांति ग्रहण कर सकती हैं—सामान्यतया वह कोई तरल पदार्थ होता है, पानी या पेड़ोंके रसमें —अथवा जैसा कि यहां वर्णित है (हंसते हुए) बादलोंमें भी ऐसा हो सकता है। परंतु वे सक्रिय भी बनी रह सकती हैं और भौतिक प्रकृतिके अधिक स्थूल तत्त्वोंपर कार्य करती रह सकती हैं।

मैंने यहां तुम्हें कुछ दृष्टांत दिये हैं; मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि मैं तुम्हारे साथ घंटों बात कर सकती हूं और लगातार तुम्हें नये-नये उदाहरण दे सकती हूं! परंतु जो कुछ कहा है उसमें सामान्य रूपमें इस विषयकी बात आ जाती है और कल्पनाका द्वार खुल जाता है।

तो बस!

३१ अक्तूबर, १९५६

माताजी, किसीने आपसे यह प्रार्थना करनेके लिये मुझसे कहा है कि आप अपना एक वाक्य समझा दें। आपने कहींपर कहा है कि मनुष्यको भागवत प्रेमके दबावको सहन कर सकनेके लिये पहले दिव्य बनना होगा। यह वाक्य 'दैनंदिनी'में छपा है।

ओह! तुम इसे जरा स्वतंत्र रूपमें दुहरा रहे हो!

अच्छा, वह जानना क्या चाहता है?

वह पूछ रहे हैं कि 'प्रेम'के पृथ्वीपर फैलनेसे पहले क्या मनुष्यको दिव्य बनना ही होगा?

मैं नहीं समझती कि उस वाक्यका यही तात्पर्य है। निश्चय ही तुम्हारा मतलब यह है कि भागवत प्रेम तबतक अभिव्यक्त नहीं हो सकता जबतक कि मनुष्य दिव्य नहीं बन जाता। क्या यही तुम्हारे कहनेका अभिप्राय है?

हम यही समझते हैं।

ओह! तुम इस तरह समझते हो! ... परंतु मुझे नहीं लगता कि उस वाक्यका यह तात्पर्य है।

सबसे पहले यदि कोई ऐतिहासिक तथ्य है तो उसे देखेंगे। कहनेका मतलब, पृथक्त्वकी शक्तियोंकी क्रियाके द्वारा 'चेतना' निश्चेतना बन गयी और जड़-तत्त्व, जैसा कि यह है, सृष्ट हुआ, इतनी पूर्ण निश्चेतनाकी नींवपर सृष्ट हुआ है कि 'मूल-स्रोत' और सृष्ट पदार्थके बीच किसी भी प्रकारके संपर्ककी संभावना प्रतीत नहीं हुई। और यथार्थमें इस सर्वांगपूर्ण निश्चेतनाने ही मध्यवर्ती क्षेत्रोंमेंसे गुजरे बिना, एक सीधे अवतरणको, 'प्रेम'के अपने स्वरूपमें दिव्य चेतनाके एक सीधे अवतरणको आवश्यक बना दिया। और दिव्य प्रेमके जड़-तत्त्वमें इस प्रकार अवतरित होने, उसमें प्रविष्ट हो जाने तथा उसकी बनावटमें एक नवीन तत्त्वके सम्मिलित हो जाने ने ही आरोहणको संभव बना दिया है, जो हमारे लिये धीमा तो है,

पर निश्चेतनासे चेतनामें और अंधकारसे प्रकाशमें एक अविच्छिन्न आरोहण है। अतएव, हम यह नहीं कह सकते कि 'प्रेम' तभी अभिव्यक्त हो सकता है जब सृष्टि दिव्य बन जायगी, क्योंकि वास्तवमें इसके विपरीत उसकी अभिव्यक्तिके कारण ही सृष्टिके लिये यह संभव हुआ है कि वह एक बार फिर दिव्य बने।

मैंने जो कुछ कहा था उसका इसके साथ कोई संबंध नहीं है।

मैं वहां सामान्य रूपमें जगत्की बात नहीं बल्कि विशेष रूपसे मानव-चेतनाकी बात कह रही थी; और निश्चय ही, मैं इस तथ्यकी ओर संकेत कर रही थी कि यह दिव्य प्रेम, जो सब वस्तुओंमें प्राण फूंकता है, सबके अंदर प्रविष्ट होता है, सबको धारण करता है और सबको प्रगतिके पथपर ले जाता है तथा भगवान्की ओर आरोहण करनेका मार्ग दिखाता है, मानवीय चेतनाके द्वारा अनुभूत नहीं होता, ज्ञात नहीं होता, और जब उसका जरा-सा अंश भी मानव-प्राणी अनुभव करता है तो वह उसे सहन करना कठिन महसूस करता है; न केवल सबको धारण करने, बल्कि, मैं कह सकती हूं, उसे सहन करनेमें असमर्थ होता है, क्योंकि अपने शुद्ध रूपमें उसकी शक्ति, अपने विशुद्ध रूपमें उसकी तीव्रता मानव-प्रकृतिके सहन करनेके लिये एक प्रकारसे अत्यंत प्रबल होती है। जब वह हल्का, विकृत, क्षीण और धुंधला होता है केवल तभी मानवीय प्रकृतिके लिये स्वीकार करने योग्य बनता है। जब वह अपने सत्य स्वरूप तथा मौलिक गुणसे दूर हट जाता है केवल तभी मनुष्य उसे स्वीकार करता है यहांतक कि (हंसते हुए) उसका समर्थन करता और उसे गौरव प्रदान करता है। इसका तात्पर्य है कि मानव-चेतनाके द्वारा स्वीकृत होनेके लिये उसे पहलेसे ही बिलकुल टेढ़ा-मेढ़ा हो जाना होगा। और इसे स्वीकार करने, इसे बरदाश्त करने और इसकी समग्रता तथा विशुद्धताके साथ इसे ग्रहण करनेके लिये मानवीय चेतनाको दिव्य बनना होगा।

बस, यही था मेरा मतलब, और कोई बात नहीं। मैं यह बतला रही थी कि जबतक कोई मानव-प्राणी अपनेको दिव्य ऊंचाइयोंतक ऊपर नहीं उठाता, वह दिव्य प्रेमको ग्रहण करने, उसका मूल्यांकन करने तथा वह क्या है इसे जाननेमें असमर्थ होता है। मनुष्यद्वारा स्वीकृत होनेके लिये 'प्रेम'को दिव्य बने रहना बंद कर देना होगा।

मगर यह बाहरी, सतही चेतनाका एक व्यापार है; यह बात 'प्रेम'को अपने 'कृपा-शक्ति'-रूपी आकारमें सर्वत्र और सर्वदा कार्यरत रहनेसे, और एक अज्ञात तथा सतत ढंगसे अपना कार्य करनेसे, यदि उसे इस प्रकार कह सकें, नहीं रोकती; और मैं समझती हूं, वास्तवमें, वह

कभी उतने अच्छे ढंगसे कार्य नहीं करता जितने अच्छे ढंगसे तब करता है जब कि वह अज्ञात होता है... क्योंकि मनुष्यकी तथाकथित समझ भी तो पहलेसे ही एक विकृत वस्तु है।

तब, यही है उस वाक्यका तात्पर्य, इससे भिन्न और कोई बात नहीं। मैं किसी विश्वव्यापी व्यापारकी चर्चा नहीं कर रही थी।

माताजी, आपने, इन बुधवारोंमेंसे एक दिन, कहा था: "अनुभव तुम्हारे लिये केवल तभी आरंभ होता है जब तुम उसका वर्णन कर पाते हो। हां, जब तुम उसका वर्णन कर पाते हो, उसकी तीव्रताका तथा आंतरिक और बाह्य रूपांतरके लिये कार्य करनेकी क्षमताका अधिकतर भाग पहले ही हवा हो जाता है।"

(१७ अक्तूबर, १९५६ का 'उत्तर')

और तब...?

तब अनुभवके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये? यदि कोई अनुभव अपनेको अभिव्यक्त करनेकी सामर्थ्यके बिना आता है तो क्या होता है?

वहां भी, मेरा मतलब यह था कि अपने मनमें अनुभवको मूर्त्त रूप देनेसे बहुत पहले तुम्हें अनुभव प्राप्त होता है और वह उस मूर्त्त रूपसे बहुत अधिक परे होता है। अनुभव उसे मूर्त्त रूप देनेकी क्षमतासे पहले, बहुधा बहुत पहले आता है। अनुभवमें एक परिपूर्णता, एक शक्ति, प्रकृतिपर सीधे कार्य करनेकी सामर्थ्य, एक तुरत, तत्काल कार्य करनेकी शक्ति होती है। आओ, एक उदाहरणके रूपमें इस बातको लें कि किन्हीं विशेष परिस्थितियोंमें अथवा किसी असाधारण कृपा-शक्तिके द्वारा तुम्हारा संपर्क एकाएक किसी अतिमानसिक ज्योति, शक्ति या चेतनाके साथ हो गया है। यह तुम्हारे बंद खोलमें एक आकस्मिक उद्घाटनकी तरह, उस अ-पारदर्शी आवरणमें एक रंध्रके जैसा होता है (जो 'सत्य'से तुम्हें पृथक् करता है) और संपर्क स्थापित हो जाता है। उसी क्षणसे यह शक्ति, यह चेतना, यह ज्योति कार्य करती है, यहांतक कि तुम्हारे भौतिक कोषोंपर भी कार्य करती है; यह मनमें कार्य करती है, प्राणमें, शरीरमें कार्य करती है, स्पंदनोंको बदलती है, उपादानको व्यवस्थित करती है और रूपांतरका अपना कार्य आरंभ करती है। तुम इस आकस्मिक संपर्क तथा कार्यके आघातके अधीन होते हो;

तुम्हारे लिये यह एक प्रकारकी अवर्णनीय, अकथनीय स्थिति होती है जो तुम्हें अधिकृत कर लेती है और जिसके बारेमें तुम्हें किसी प्रकारकी स्पष्ट, यथार्थ; सुनिश्चित कल्पना नहीं है, . . . वह है . . . "ऐसी कोई चीज जो होती है"। उससे तुम्हारे ऊपर यह छाप पड़ सकती है कि वह अद्भुत या भयंकर है, पर तुम्हारे लिये वह अकथनीय और दुर्बोध है। यही है अपने सार-रूपमें वह अनुभव और उसकी सच्ची शक्ति।

धीरे-धीरे, चूंकि यह क्रिया देरतक चलती है और बाहरी सत्ता इस क्रियाको आत्मसात् करना आरंभ करती है, व्यक्तिमें निरीक्षण करनेकी एक क्षमता जाग्रत् होती है, सबसे पहले मानसिक चेतनामें; और एक प्रकारकी दृष्टिगोचरता उत्पन्न होती है : मनमें कोई वस्तु दृष्टि दौड़ाती है, अवलोकन करती है और अपने निजी ढंगसे अनूदित करती है। बस, यही चीज है जिसे तुम समझ कहते हो, और यही वह चीज है जो तुम्हें यह धारणा (मुस्कराते हुए) प्रदान करती है कि तुम्हें एक अनुभव हुआ है। परंतु यह तो पहले ही स्वयं उस अनुभवकी तुलनामें एक बहुत अधिक घटा हुआ रूप है, यह तुम्हारे मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक आयामके उपयोग-के लिये एक अनुकरण है, अर्थात्, ऐसी वस्तु है जो सिकुड़ी हुई, कठोर है — और साथ-ही-साथ तुम्हें यह धारणा देती है कि यह सुस्पष्ट होती जा रही है; कहनेका मतलब, यह उतनी ही सीमित बन गयी है जितनी सीमित तुम्हारी समझ है।

यह एक ऐसा व्यापार है जो सदैव होता है और श्रेष्ठ अवस्थामें भी घटता है। मैं उन अवस्थाओंकी बात नहीं कह रही हूं जिनमें अनुभवकी इस शक्तिको तुम्हारी सत्ताकी अचेतनता सोख लेती है और वह एक अधिकाधिक अचेतन क्रियाके द्वारा रूपांतरित होती है; मैं उस अवस्थाकी चर्चा कर रही हूं जिसमें तुम्हारा मन स्वच्छ होता है, तुम्हारी अभीप्सा सुस्पष्ट होती है, और जहां तुम पथपर बहुत अधिक अग्रसर हो चुके हो . . .। और जब तुम्हारा मन रूपांतरित होना आरंभ करता है, जब वह इस 'ज्योति'को ग्रहण करनेका अभ्यासी हो जाता है, उसमें यह ज्योति प्रविष्ट हो सकती है, इसे आत्मसात् करनेके लिये वह पर्याप्त रूपमें ग्रहण-शील होता है, जिस मुहूर्त वह मानवीय चेतनाके द्वारा (मेरा मतलब साधारण चेतनासे नहीं, बल्कि प्रबुद्ध मानवीय चेतनाके द्वारा भी) इसे समझने लायक तरीकेसे अनूदित करना चाहता है, जिस मुहूर्त वह मूर्त रूप देना, ठीक-ठीक वर्णन करना, बातको समझने लायक बनाना चाहता है, वह घटा देता, कम कर देता, सीमित कर देता है — वह अनुभवको क्षीण करता, दुर्बल बनाता, धुंधला बनाता है, और यह मानता है कि वह

पूरी मात्रामें विशुद्ध बना रहता है और अपनेको मिथ्या नहीं बनाता। क्योंकि यदि, सत्तामें कहींपर, मनमें या प्राणमें, कोई कपट होता है जिसे सहन किया गया है, तो हां, तब अनुभव पूर्ण रूपसे मिथ्या बन जाता और विकृत हो जाता है। परंतु मैं सर्वोत्तम अवस्थाकी चर्चा कर रही हूं, जहां सत्ता सच्ची है, संयमाधीन है, और जहां वह अत्यंत अनुकूल ढंगसे कार्य करती है : मानव-मनद्वारा समझने लायक शब्दोंमें निरूपण करना आवश्यक रूपसे, जबर्दस्ती, अनुभवकी कार्य-शक्तिको सीमित करना, घटाना है। जब तुम अपने-आपसे स्पष्ट रूपमें और ज्ञानपूर्वक यह कह पाते हो कि : "यह और वह और वह दूसरी बात हुई", जब तुम उस घटनाका वर्णन समझने लायक तरीकेसे कर पाते हो तब वह पहले ही अपनी क्रिया-शक्ति, अपनी तीव्रता, अपने सत्य और बलको खो चुकी होती है। परंतु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि तीव्रता, कार्य-शक्ति और बल वहां नहीं थे — वे थे, और संभवतः, सर्वोत्तम अवस्थाओंमें, अनुभवको तुम जब एक बोध-गम्य रूप देना आरंभ करते हो उससे पहले ही, उसका अधिकतम परिणाम उत्पन्न हो चुकता है।

मैं यहां उत्कृष्ट अवस्थाओंकी बात कह रही हूं, मैं उन लोगोंके अन-गिनत उदाहरणोंकी चर्चा नहीं कर रही जो अनुभव पाना आरंभ करते हैं और जिनका मन उत्सुक हो जाता है, जागता है और कहता है: "ओह ! क्या हो रहा है ?" तब सब कुछ अदृश्य हो जाता है। अथवा हो सकता है कि कोई किसी ऐसी वस्तुकी एक विकृत पूंछ पकड़ ले जो अपनी समस्त शक्ति और अपनी समस्त सत्यताको खो चुकी है . . .। सबसे पहला कर्तव्य है अपने मनको निश्चल रहना सिखाना : "सबसे पहले हिलो-डुलो मत ! सबसे पहले हिलो-डुलो मत, क्या हो रहा है यह जाननेकी इच्छा किये बिना उस चीजको पूरी तरह विकसित होने दो; मूढ़ मत बनो, शांत बने रहो, स्थिर रहो और प्रतीक्षा करो। तुम्हारी बारी बहुत जल्दी, हमेशा ही आयेगी, कभी अत्यधिक देर नहीं होगी।" किसी अनुभवको अपने सम्मुख निरूपित करनेकी आवश्यकता अनुभव किये बिना निरंतर कई घंटों तथा कई दिनोंतक जीना संभव होना चाहिये। जब कोई ऐसा करता है तो वह उससे पूरा फायदा उठाता है। तब वह कार्य करता है, वह प्रकृतिको मथता है, कोषोंको रूपांतरित करता है — वह रूपांतरका अपना सच्चा कार्य आरंभ करता है। परंतु जैसे ही तुम देखना, समझना और सूत्रबद्ध करना आरंभ करते हो, वह अनुभव भूतकालकी वस्तु बन जाता है।

अच्छा, बस।

७ नवंबर, १९५६

"शक्ति,—'अनंत' और 'सनातन' देवकी शक्ति,—हमारे भीतर अवतरित होती है, कार्य करती है, प्रत्येक आवरणको टुकड़े-टुकड़े करके हमें विशाल तथा मुक्त कर देती है, दृष्टि, विचारणा और प्रत्यक्ष ज्ञानकी नित्य नवीनतर तथा महत्तर शक्तियों और नूतनतर तथा महत्तर प्राणिक प्रेरक-भावोंको हमारे सामने प्रस्तुत करती है, आत्मा और उसके करणोंको अधिकाधिक विस्तृत करके नये नमूनेमें डालती है, प्रत्येक न्यूनताको हमारे सामने ला खड़ा करती है ताकि उसे दोषी ठहराकर दूर किया जाय। यह हमें महत्तर पूर्णताकी ओर खोल देती है, अनेक जन्मों या युगोंका कार्य अल्प कालमें कर डालती है जिसके फलस्वरूप नूतन जन्म तथा अभिनव दृश्य हमारे भीतर लगातार खुलते जाते हैं। अपने कार्यमें विस्तारशील यह हमारी चेतनाको शरीरकी सीमासे मुक्त कर देती है। फलतः, हमारी चेतना समाधि या निद्रामें अथवा यहांतक कि जागरित अवस्थामें भी बाहर जाकर अन्य लोकोंमें या इस लोकके अन्य प्रदेशोंमें प्रवेश कर वहां कार्य कर सकती है अथवा अपना अनुभव अपने साथ ला सकती है। यह बाहर फैल जाती है, शरीरको अपना एक छोटा-सा भागमात्र अनुभव करती है और उसे अपने अंतर्गत करने लगती है जो पहले इसे अपने अंतर्गत रखता था। यह विश्व-चेतनाको प्राप्त करती है और विश्वके समान व्यापक बनने-के लिये अपनेको विस्तृत करती है। जगत्में क्रीड़ारत शक्तियों-को यह बाह्य निरीक्षण तथा संपर्कसे ही नहीं, बल्कि अंदरसे तथा प्रत्यक्ष रूपसे जानने लगती है, उनकी गतिको अनुभव करती है, उनके व्यापारको पहचानती है, और उनपर तुरंत ही उसी प्रकार क्रिया कर सकती है जिस प्रकार एक वैज्ञानिक भौतिक शक्तियोंपर क्रिया करता है। हमारे मन-प्राण-शरीरमें उनके कार्यों तथा परिणामोंको स्वीकृत या अस्वीकृत करके अथवा संशोधित, परिवर्तित या पुनर्गठित करके यह प्रकृतिकी पुरानी क्षुद्र चेष्टाओंके स्थानपर नयी अति महत् शक्तियां तथा गतियां उत्पन्न कर सकती है। हम वैश्व 'मन' की शक्तियोंके व्यापार-को अनुभव करने लगते हैं तथा यह जानने लगते हैं कि किस

प्रकार उस व्यापारसे हमारे विचार उत्पन्न होते हैं...।"
('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, शताब्दि संस्करण, पृ० २०९-१०)

प्यारी माताजी, हमारे विचार वैश्व 'मन' की शक्तियोंके द्वारा कैसे पैदा होते हैं?

क्योंकि वैश्व 'मन'की शक्तियां हमारे मस्तकोंमें प्रवेश करती हैं। हम शक्तियोंके एक कुंडमें रहते हैं, हम इस विषयमें सचेतन नहीं हैं। हम कोई ऐसी वस्तु नहीं हैं जो एक बोरेमें बंद हो और बाकी सब वस्तुओंसे स्वतंत्र हो : सभी शक्तियां, सभी प्रकंपन, सभी गतियां हमारे अंदर घुसती और हमारे भीतरसे गुजर जाती हैं। और इसलिये हमने अपने अंदर एक विशेष मानसिक शक्तिको पकड़ रखा है, यानी, वह निर्माणकारी या सृष्टिकारी मानसिक शक्तिके द्वारा व्यवहृत होनेके लिये तैयार रहती है। ये मानों स्वतंत्र शक्तियां हैं। जैसे ही कोई बाहरसे आनेवाला विचार या कोई शक्ति या गति हमारी चेतनामें प्रविष्ट होती है, हम उसे एक ठोस आकार, एक न्यायसंगत बाह्य रूप और सभी प्रकारकी यथार्थता प्रदान कर देते हैं; परंतु वास्तवमें यह सब एक ऐसे क्षेत्रसे संबंध रखता है जिसके विषयमें हम कदाचित् ही सचेतन होते हैं।

परंतु यह कोई विशिष्ट क्रिया नहीं है जो कभी-कभी होती है : यह एक निरंतर होनेवाली क्रिया है। यदि शक्तिकी कोई धारा किसी विशिष्ट विचार-संरचनाके साथ गुजरती है तो मनुष्य उसे एक व्यक्तिसे दूसरेमें गुजरते हुए देखता है, और प्रत्येक व्यक्तिमें वह प्रकाश या शक्तिका एक प्रकारका केंद्र बनाती है जो मूल धाराकी छापको — कम या अधिक विशुद्ध अथवा कम या अधिक स्पष्ट, कम या अधिक मिश्रित रूपमें — बनाये रखता है; और परिणाम वह होता है जिसे हम "अपना" विचार कहते हैं।

परंतु हमारा विचार, हम कह सकते हैं, एक ऐसी वस्तु है जिसका अस्तित्व ही नहीं। वह "अपना" विचार केवल तभी हो सकता है यदि, एक सार्वजनिक स्थानके समान होनेके बदले, जैसा कि हम साधारणतया अपनी स्वाभाविक स्थितिमें होते हैं (हम एक सार्वजनिक स्थानके जैसे होते हैं और सभी शक्तियां वहांसे गुजरती हैं, आती और जाती हैं, घुसती हैं, चली जाती हैं, परस्पर एक-दूसरेसे टकराती हैं और झगड़ा भी करती हैं), यदि वैसा होनेके बदले, हम एक ऐसी चेतना हों, जो एकाग्र हो, अभीप्साके साथ ऊपरकी ओर मुड़ी हो, और मानव-मनकी सीमाओंसे परे

किसी उच्चतर वस्तुकी ओर उद्घाटित हो; फिर, इस प्रकार उद्घाटित होनेपर, वह चेतना सद्वस्तुके सभी स्तरोंके पाससे किसी उच्चतर वस्तुको नीचे उतार लाती है और वह "कोई वस्तु" हमारे चेतन मस्तिष्कके संपर्कमें आ सकती और वहां एक रूप ले सकती है जो किसी वैश्व शक्ति या हमारे मनकी अपेक्षा प्रबलतर किसी व्यक्तिगत मनकी सृष्टि न होकर, एक ऐसी ज्योतिकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति और सृष्टि होता है जो हमसे ऊपर है, और जो, यदि हमारी अभीप्सा और उद्घाटन उसे अवसर दें तो, पहले दर्जेकी एक ज्योति हो सकता है। तब वही एकमात्र अवस्था है जिसमें हम कह सकते हैं कि यह विचार हमारा विचार है। अन्यथा, बाकी सब कुछ गुजरनेवाली चीजोंका महज एक अंकन है: हम लिख लेते हैं, हम किसी शक्तिको शब्दोंका जामा पहना देते हैं—एक ऐसी शक्तिको जो पूर्णतः वैश्व और सामूहिक होती है, जो घुसती, बाहर जाती, घूमती-फिरती तथा मुक्त रूपमें एक व्यक्तिसे दूसरेमें जाती है।

परंतु विचार वैश्व 'मन' में कैसे निर्मित होते हैं?

वैश्व मनमें?

आप कहती हैं कि वह बाहरसे आता है, कहती हैं न?

विचारोंका मनकी अपेक्षा एक उच्चतर मूल-स्रोत होता है। मनका एक ऐसा क्षेत्र है जो साधारण मनसे उच्चतर है, जिसमें विचार होते हैं, जो प्रति-रूप विचार होते हैं, सचमुच आदि-रूप होते हैं; और ये विचार उतरते हैं और मानसिक पदार्थका जामा पहनते हैं। अतएव जो ग्रहण करता है उसके गुणके अनुसार (इसे कैसे कहा जाय?) या तो वे व्यक्तिगत चेतनामें अपना सारा सच्चा गुण और मूल स्वभाव बनाये रखते हैं या विरूप हो जाते, रंग जाते, रूपांतरित हो जाते हैं। परंतु विचार मनके परे, बहुत दूरतक जाते हैं; विचारका मूल-स्रोत मनसे बहुत अधिक ऊपर है। अतएव, चाहे वैश्व रूपसे देखा जाय या व्यक्तिगत दृष्टिकोणसे देखा जाय, क्रिया-धारा एक ही होती है; व्यक्तिगत क्रिया महज वैश्व क्रियाकी प्रतिकृति होती है। अनुपात भिन्न होता है, पर क्रिया-व्यापार एक ही होता है। निस्संदेह, ये विचार वैसे नहीं होते जैसा कि हम विचारोंको समझते हैं; ये वैश्व तत्त्व होते हैं (पर वह एक ही चीज है), वैश्व तत्त्व, जिनपर कि विश्व निर्मित होते हैं।

विश्व, अंततोगत्वा, सनातन 'सृष्टि'के मध्य केवल एक व्यक्ति है, मात्र एक व्यष्टि सत्ता है। प्रत्येक विश्व एक व्यक्ति है जो आकार लेता है, जीता है, विलीन हो जाता है, और दूसरा (विश्व) रूप ग्रहण करता है — यह एक ही बात है। हमारे लिये व्यक्तिका अर्थ है मानवीय व्यक्ति; और विश्वके दृष्टिकोणसे अर्थ है वैश्व व्यक्ति; यह सभी विश्वोंमेंसे एक विश्व है।

१४ नवंबर, १९५६

श्रीमाताजी 'योग-समन्वय'का पाठ समाप्त
करती हैं।

अब हमने समाप्त कर लिया। क्या इस विषयमें, अंतमें, तुम्हें कुछ पूछना है? तुम्हारे विचार क्या हैं? तुम्हारी आलोचनाएं?

(मौन)

अच्छा। इसका क्या प्रभाव तुमपर पड़ा है? क्या इसने तुम्हें सहायता दी है, क्या तुम्हें यह धारणा हुई है कि इसने तुम्हें पथपर ला दिया है, इसने तुम्हें अन्वेषणकी चाबी दी है?

तुमने किसी चीजके बारेमें नहीं सोचा? तुमने कोई चीज महसूस नहीं की, किसी चीजका अनुभव नहीं किया, नहीं किया ... क्या तुमने सुना?

(लंबा मौन)

अब अंतिम प्रश्न: यदि तुम उत्तर नहीं देते, तो हम इस विषयमें अब बात नहीं करेंगे: क्या तुम्हें इससे योग करनेकी इच्छा नहीं हुई?

(श्रीमाताजी चारों ओर देखती हैं) एक सिर हिला, पर जो हो यह कुछ तो है।

हां या ना? थोड़ा, अधिक, बिलकुल नहीं? ... (एक बच्चेकी ओर मुड़कर) तुम बोल सकते हो। इससे तुम्हें योग करनेकी इच्छा हुई या नहीं?

कुछ अध्याय थे — जब मैंने उन्हें पढ़ा और अच्छी तरह समझा, तब मैंने एक बड़ी अभीप्सा अनुभव की। परंतु दूसरे समयोंपर . . .।

हां? क्योंकि तुमने नहीं समझा या क्योंकि तुम्हारे अंदर कोई प्रत्युत्तर नहीं था?

मैं समझता हूं कभी-कभी तो इसलिये कि मैं नहीं समझा और कभी-कभी इसलिये कि मैं ठीक तरहसे एकाग्रचित्त नहीं हुआ।

क्या किसी अन्य व्यक्तिको कुछ कहना है?

श्रीमाताजी, जब आप पढ़ती हैं, वह योग करनेका एक महान् प्रोत्साहन देता है, पर जब हम उस प्रयासको देखने-समझनेकी चेष्टा करते हैं जिसकी इसमें आवश्यकता होगी तो हमें अपने ऊपर अधिक भरोसा नहीं होता।

जब मैं पढ़ती हूं सब ठीक रहता है और फिर वह बुझ जाता है! ... तब मुझे उस चिनगारीको पुनः प्रज्वलित करनेके लिये तुम्हारे सामने उस विषयपर बार-बार पढ़ना होगा।

बहुत अच्छा, अगली बार हम लोग 'विचार और झांकियां' लेंगे।

इतना पर्याप्त है? क्या किसीको इस विषयपर कोई प्रश्न पूछना है?

माताजी, मनुष्य दूसरोंकी आंखोंमें भला प्रतीत होनेकी कामनापर कैसे विजय पा सकता है?

आह! हे भगवान्! ... दूसरोंकी आंखोंमें भला प्रतीत होनेके लिये, लोगोंसे प्रशंसा पानेके लिये? यह बात है?

सबसे पहले, सर्वोत्तम तरीका है अपने-आपसे यह पूछना कि हम दूसरोंसे प्रशंसा क्यों चाहते हैं। किस विशेष कारणसे, क्योंकि इसके बहुत-से कारण हैं . . .। अगर तुम्हारी कोई आजीविका है और तुम्हारी आजीविका तुम्हारे बारेमें दूसरोंकी अच्छी रायपर निर्भर करती है तो फिर वह उपयोगिताका एक कारण है। यदि तुममें थोड़ी अहंता — अथवा बहुत अहंता — है और तुम प्रशंसा पाना चाहते हो, तो वह दूसरा

कारण है। यदि कोई अपने विषयमें दूसरोंके मतको बहुत अधिक मूल्य देता है क्योंकि वह अनुभव करता है कि वे लोग अधिक बुद्धिमान या अधिक प्रबुद्ध या अधिक ज्ञानी हैं तो वह एक और कारण है। इनके अलावा और भी बहुतेरे कारण हैं, पर ये तीन प्रधान कारण हैं: उपयोगिताका कारण, अहंताका कारण (साधारण तौरपर यह सबसे अधिक प्रबल होता है) और प्रगतिका कारण।

स्वभावतः, जब इसका कारण प्रगति हो तो, मनोभाव ठीक एक जैसा नहीं होता, कारण, अच्छी धारणा उत्पन्न करनेके बदले, मनुष्यको सबसे पहले उस धारणाको जाननेका प्रयास करना चाहिये जिसे वह वास्तवमें उत्पन्न करता है, पूरी विनम्रताके साथ प्रयास करना चाहिये ताकि वह जो पाठ सिखाती है उससे लाभ उठाया जा सके। ऐसा बहुत विरल होता है, और यथार्थमें, यदि मनुष्य अत्यधिक सरल न हो तो वह सामान्यतया केवल उन्हीं लोगोंकी रायको महत्त्व देता है जिन्हें उसकी अपेक्षा अधिक अनुभव, अधिक ज्ञान तथा अधिक विज्ञता प्राप्त होती है। और इस कारण वह चीज हमें सीधी उपचारकी एक सर्वोत्तम पद्धतितक ले जाती है। वह ठीक-ठीक इस समझपर आ जाता है कि जो लोग हमारे जैसे अज्ञानी और अंधे हैं उनकी सम्मति गभीरतर सद्वस्तु तथा प्रगतिके संकल्पकी दृष्टिसे हमारे लिये बहुत अधिक मूल्यवान् नहीं हो सकती और इसलिये हम उसे अधिक महत्त्व देना बंद कर देते हैं।

अंतमें, यदि कोई सच्चा है तो वह कभी अपने शिक्षक या गुरु या स्वयं भगवान्‌के अतिरिक्त और किसीसे प्रशंसा पानेकी इच्छा नहीं करता। और यह, लोगोंपर अच्छी छाप डालनेकी इच्छा-रूपी इस छोटी-सी दुर्बलता-को संपूर्णतः दूर करनेका पहला पग है। अब, अगर उपयोगितासे यह क्रिया आती हो तो जिस कारणकी चर्चा मैंने सबसे पहले की, उसका प्रश्न यहां नहीं उठता, क्योंकि यहां हम अपने बारेमें दूसरोंकी सम्मतिपर निर्भर नहीं करते, न तो जीविकाके लिये और न विकासके लिये। सो, अब बाकी रहता है बहुत अधिक बारंबार होनेवाला दृष्टांत, वह जिसका उपचार अत्यंत कठिन है: उस प्रकारकी तुच्छ, बहुत मूर्खतापूर्ण अहंता जो मनुष्यमें प्रशंसित होनेकी चाह पैदा करती है और आलोचित होनेकी इच्छा नहीं पैदा करती। तब सर्वोत्तम उपाय है स्वयं अपनी ओर दृष्टि डालना, यह देखना कि हम किस हदतक उपहास्य, तुच्छ, क्षुद्र, मूढ़ और इसी तरहके सब कुछ हैं, अपने-आपपर थोड़ा हंसना तथा दूसरोंकी वाहवाहीके बिना काम करनेका संकल्प करना।

बस, यही है जो मुझे तुमसे कहना है।

यह स्पष्ट है कि यदि यह योगका, यौगिक साधनाका प्रश्न है तो प्रारंभिक अनिवार्य शर्त है दूसरोंसे वाहवाही चाहनेकी इस नन्हीं मूर्खतासे मुक्त हो जाना। फिर भी यह मार्गपर चलनेका प्रथम पग नहीं है, यह पथपर पैर रखनेके योग्य बननेकी तैयारीके आरंभिक पगोंमेंसे एक पग है। कारण, जबतक मनुष्यको सराहना और प्रशंसा पानेकी आवश्यकता है तबतक वह एक शोचनीय दुर्बलतासे भरा हुआ दासवत् व्यक्ति है।

प्रधानतः, यह कहीं अधिक अच्छा है कि तुम्हारे विषयमें दूसरे जो कुछ सोचते हैं, वह चाहे अच्छा हो या बुरा, उसके बारेमें तनिक भी परवा न की जाय। पर जो हो, इस स्थितिमें पहुंचनेसे पहले, यह पता लगानेकी कोशिश करना कम हास्यास्पद होगा कि हम दूसरोंपर क्या छाप डालते हैं — महज उन्हें एक ऐसा दर्पण मानकर जिसमें हम अपना प्रतिबिंब अपनी निजी चेतनाकी अपेक्षा कहीं अधिक यथार्थ रूपमें देखते हैं, हमारी अपनी चेतना तो सर्वदा अपनी ही समस्त दुर्बलताओं, सभी अंधताओं, सभी आवेगों-प्रवेगों और अपने ही समस्त अज्ञानमें लिप्त रहती है। हमारे अंदर हमेशा ही एक मनोहर और सुखद मानसिक व्याख्या बनी रहती है जो हमें अपने बारेमें एक अच्छी धारणा देती है। अंतमें, जब किसीको अपनी श्रद्धाके, अपने विश्वासके थोड़ा अधिक उपयुक्त, जिस स्थितिमें वह है उसके विषयमें कोई शिक्षा पानेका अवसर मिले तब यह कहीं अधिक अच्छा है कि दूसरोंकी राय न पूछी जाय, बल्कि सब कुछ केवल श्रीगुरुके अंतर्दर्शनके समक्ष समर्पित कर दिया जाय। यदि कोई वास्तवमें प्रगति करना चाहता है तो यही सबसे अधिक अचूक पथ है।

बस। इतना ही काफी है?

> **माताजी, मेरे पास एक प्रश्न था। अपनी निजी वृत्तियोंपर संयम तथा अपने चारों ओरके विराट् जीवनपर संयम — क्या ये दोनों एक-दूसरेपर आश्रित हैं या स्वतंत्र हैं?**

आत्म-संयम तथा जो कुछ तुम्हें घेरे हुए है उसपर संयम? ... यह निर्भर करता है उस दृष्टिकोणपर जिससे तुम देखते हो। पुलिस कमिश्नर, उदाहरणार्थ, अपने इर्द-गिर्दकी परिस्थितियोंपर एक प्रकारका नियंत्रण रखता है, पर साधारणतया उसे बहुत आत्म-संयम नहीं प्राप्त होता! (हंसी)

तुम यथार्थमें क्या जानना चाहते हो?

(शिष्य पढ़कर सुनाता है) **"अपने चारों ओरके विराट् जीवनपर नियंत्रण पानेका अर्थ समझना।"[1]**

ओह! यह पुस्तकका एक वाक्य है!

यह बिलकुल स्पष्ट है कि मनुष्यको पहले आत्म-प्रभुत्वसे आरंभ करना चाहिये, अन्यथा उलझन बढ़ानेके सिवा वह परिपार्श्वपर कोई क्रिया नहीं कर सकता।

एक उदाहरण लें, विवेकानंदको अपने क्रोधपर कोई संयम नहीं प्राप्त था, पर उन्हें अपने चारों ओरके जीवनपर महान् प्रभुत्व प्राप्त था।

यह पहली बार है जब मैं यह बात सुन रही हूं। उन्हें अपने क्रोधपर कोई संयम नहीं प्राप्त था? किसने कहा है यह?

यह उनके जीवन-चरितमें है।

क्या यह बात स्वयं उन्होंने कही है? क्या यह प्रामाणिक है, यह कहानी?

(दूसरा शिष्य) **हां, कभी-कभी वह क्रोधके आवेशमें बह जाया करते थे।**

परंतु क्या उन्हें यह बात मालूम थी?

हां, उन्हें यह बात मालूम थी।

---

[1]इस प्रकार हमारी खंडित सत्ताको अखंड बनानेकी प्रक्रियासे ही योग-निष्ठ भागवत शक्ति अपने ध्येयकी ओर अग्रसर होगी; मुक्ति, सिद्धि एवं प्रभुत्व इस अखंडीकरणपर ही आश्रित हैं, क्योंकि उपरितलीय लघु तरंग अपनी ही गतिपर काबू नहीं पा सकती, अपने चारों ओरके विराट् जीवनपर कोई वास्तविक नियंत्रण प्राप्त करना तो उसके लिये और भी कम संभव है।

('योग-समन्वय', पूर्वार्द्ध, शताब्दि-संस्करण, पृ० २०९)

जो हो, उन्हें अपने परिपार्श्वपर महान् प्रभुत्व प्राप्त नहीं था; उनका एक महान् प्रभाव था, जो एक बहुत भिन्न बात है। यदि आंतरिक पदार्थपर किसीका नियंत्रण न हो तो वह बाह्य पदार्थको नियंत्रित नहीं कर सकता क्योंकि ये दोनों एक ही चीज हैं। परंतु उनका एक प्रभाव था, जो बिलकुल भिन्न चीज है। यह कोई प्रभुत्व नहीं है, यह एक प्रभाव है। अर्थात्, वह दूसरोंमें किन्हीं क्रियाओंको जगा सकते थे, पर उनको नियंत्रित नहीं कर सकते थे, वास्तवमें एक प्रकारकी जाग्रतिके द्वारा स्वयं उन लोगोंको ही अपने ऊपर संयम करना होता था, वह (विवेकानंद) उनको संयमित नहीं करते थे — मैं "वह" कह रही हूं, जो कोई भी वह हो — उससे कुछ आता-जाता नहीं, यही सामान्य नियम है।

यह, फिर भी, बचकानी-सी, सरल बात है; क्योंकि प्रभुत्वका अर्थ है किन्हीं विशिष्ट प्रकंपनोंको चलानेका ज्ञान; यदि तुम्हें पता है कि इन प्रकंपनोंको कैसे व्यवस्थित किया जाता है तो तुम्हें प्रभुत्व प्राप्त है। इसके प्रयोगका सर्वोत्तम क्षेत्र तुम स्वयं हो: सर्वप्रथम स्वयं अपने-आपपर तुम्हें संयम प्राप्त है और अपने ऊपर प्राप्त होनेके बाद तुम उस प्रकंपनको दूसरोंके अंदर उस हदतक संचारित कर सकते हो जिस हदतक तुम उनके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने तथा इस कारण उनमें इस प्रकंपनको पैदा करनेमें सक्षम हो। और यदि तुम स्वयं अपने अंदर किसी प्रकंपनको व्यवस्थित न कर सको तो तुम उसकी पद्धति भी नहीं जानते; तुम यह भी नहीं जानते कि क्या किया जाय, सो तुम भला दूसरोंमें उसे कैसे नियंत्रित कर सकते हो? तुम उन्हें शब्दोंद्वारा, उनपर प्रभावद्वारा प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिये, जो कुछ आवश्यक है उसे प्राप्त करनेके लिये, प्रोत्साहित कर सकते हो पर तुम उनपर सीधा नियंत्रण नहीं कर सकते।

किसी चीजको, किसी गतिको संयमित करनेका अर्थ महज अपनी उपस्थितिके माध्यमसे, बिना किसी शब्द या व्याख्याके, बुरे प्रकंपनके साथ सच्चे प्रकंपनको रख देना। बस, यही चीज है जो प्रभुत्वकी शक्ति प्रदान करती है। यह शक्ति बोलनेमें और समझानेमें नहीं है; शब्दों और व्याख्याओंके द्वारा, यहांतक कि किसी शक्तिको बाहर निकालकर तुम किसी व्यक्तिपर एक प्रभाव डाल सकते हो, पर तुम उसकी मनोवृत्तिको संयमित नहीं कर सकते। मनोवृत्तिका संयम वह क्षमता है जिससे तुम इस मनोवृत्तिके प्रकंपनके विरुद्ध एक प्रबलतर, सत्यतर प्रकंपन स्थापित कर देते हो जो दूसरोंको बंद कर सकता है....। मैं तुम्हें एक दृष्टांत, बहुत सरल दृष्टांत दे सकती हूं। दो व्यक्ति तुम्हारे सामने तर्क-वितर्क कर रहे हैं; न केवल तर्क-वितर्क कर रहे हैं, बल्कि हाथा-पाईकी स्थितिमें आनेको हैं;

तुम उन्हें समझाते हो कि ऐसा करना उचित नहीं, तुम झगड़ा बंद करनेके लिये उनके सामने अच्छे कारण पेश करते हो और वे झगड़ा बंद कर देते हैं। इस तरह तुमने उनपर अपना प्रभाव डाला है। परंतु तुम यदि मात्र उनके सामने खड़े हो जाते हो और उनकी ओर ताकते हो और शांति, स्थिरता, अचंचलताका एक स्पंदन, एक भी शब्द बोले बिना, कोई व्याख्या दिये बिना, बाहर निकालते हो तो फिर कोई दूसरा स्पंदन इसके सामने नहीं टिक सकता, वह अपने-आप नष्ट हो जायगा। इसे ही कहते हैं प्रभुत्व।

यही बात अज्ञानको दूर करनेपर भी लागू होती है। यदि कोई बात समझानेके लिये तुम्हें शब्दोंकी आवश्यकता होती है तो वह सच्चा ज्ञान नहीं है। मैं अपनी बात तुम्हें समझानेके लिये जो कुछ कहती हूं वह सब कहना यदि मेरे लिये आवश्यक है तो यह कोई प्रभुत्व नहीं है, इसे महज यह कहा जा सकता है कि मैं तुम्हारी बुद्धिपर एक प्रभाव डाल पाती हूं और समझनेमें तुम्हारी सहायता करती हूं तथा तुम्हारे अंदर जाननेकी एवं अपने-आपको अनुशासित करनेकी इच्छा जगाती हूं आदि। परंतु मैं यदि महज तुम्हारी ओर देखकर, कोई बात कहे बिना तुम्हारे अंदर वह प्रकाश नहीं पहुंचा सकती, जो तुम्हें समझा दे, तो इसका अर्थ होगा कि अज्ञानकी क्रिया या स्थितिपर मेरा अधिकार नहीं है। यह बात समझे ?

अतएव मैं पूरे निश्चयके साथ कह सकती हूं कि कम-से-कम इस विषयमें, यदि यह ऐतिहासिक रूपमें सत्य है कि विवेकानंदमें क्रोधकी लहरें उठती थीं जिनको वह संयमित नहीं कर पाते थे, अर्थात्, वह चाहे वाणी या कर्ममें, क्रोधवश उबल पड़ते थे तो हां, इस विषयमें वह अपने इर्द-गिर्दके लोगोंपर नियंत्रण रखनेमें असमर्थ थे। वह उनके अंदर केवल उसी प्रकारके स्पंदन जगा सकते थे, और इसलिये संभवत: उनकी इस संबंधकी दुर्बलताको उचित सिद्ध करते थे। वह उन्हें बहुत सारे शब्दोंमें कह सकते थे: "सबसे पहले, क्रोधमें आग-बबूला मत होओ", पर इससे बिलकुल कोई लाभ नहीं। यह तो "मैं जो कहता हूं वह करो, मैं जो करता हूं वह नहीं" वाली सनातन शिक्षा है। परंतु उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(मौन)

माताजी, यह समस्या हमारी श्रेणीमें उपस्थित होती है।

ओह! ओह! तुम अपने छात्रोंपर आग-बबूला हो उठते हो? (हंसी)

उनको नियंत्रित और अनुशासित करनेके लिये हमें क्या करना चाहिये जब कि हमें कोई आत्म-संयम प्राप्त नहीं है?

तब तुम नहीं कर सकते! (हंसी)

परंतु जो पथ आप बतलाती हैं उससे यह नियंत्रण प्राप्त करनेमें समूचा जीवन ही बीत जायगा!

आह! यह बड़े दुःखकी बात है। (हंसी)

परंतु तुम किस तरह आशा करते हो...? अच्छा, हम जरा विचार कर देखें, तुम्हारे पास एक अनुशासनहीन, अवज्ञाकारी, उद्धत विद्यार्थी है; हां, वह वातावरणमें एक विशेष स्पंदन फैलाता है जो, साथ ही, दुर्भाग्यवश बहुत संक्रामक है; परंतु स्वयं तुम्हारे अंदर यदि विपरीत स्पंदन नहीं है, अनुशासन, व्यवस्था, विनम्रता, अचंचलता और शांतिका स्पंदन नहीं है, जिसे कोई चीज भंग नहीं कर सकती, तो तुम भला किसी प्रभावकी आशा कैसे कर सकते हो? क्या तुम उससे यह कहने जाओगे कि ऐसा करना उचित नहीं है? — या तो बात और भी अधिक बिगड़ जायगी या वह तुम्हारी खिल्ली उड़ायेगा!

सामान्य तौरपर...।

और यदि संयोगवश तुम्हारे अंदर संयम नहीं है और तुम क्रोधित हो जाते हो तो फिर सब समाप्त समझो! तुम अपने छात्रोंपर किसी प्रकारका अधिकार जमानेकी सारी संभावना सदाके लिये खो बैठते हो।

जो अध्यापक पूर्णतः शान्त-स्थिर नहीं होते, जो प्रत्येक कठिनाईका सामना नहीं कर सकते और जिनमें वह अचंचलता नहीं है जिसे कोई चीज भंग नहीं कर सकती, जिनमें आत्म-सम्मानकी भावना नहीं है — जो लोग इस प्रकारके हैं वे कहीं नहीं पहुंच सकते। एक अच्छा अध्यापक होनेके लिये हमें एक संत और एक वीर बनना होगा। एक अच्छा अध्यापक होनेके लिये हमें एक बड़ा योगी होना होगा। विद्यार्थियोंको पूर्ण मनोवृत्तिमें बनाये रखनेके लिये शिक्षकको भी पूर्ण मनोवृत्ति बनाये रखनी होगी। तुम किसी व्यक्तिसे वह कार्य करनेके लिये नहीं कह सकते जिसे तुम स्वयं

नहीं करते। यह एक नियम है। अतः क्या है और क्या होना चाहिये इनके बीच जो अंतर है, उसे देखो और तब तुम श्रेणीके अंदर अपनी असफलताके यथार्थ स्वरूपको समझनेमें समर्थ होगे।

बस, इतनी ही बात मैं तुमसे कह सकती हूं।

और मैं यहां यह भी जोड़ दूं, क्योंकि उसके लिये सुअवसर है: यहां जब बहुत-से छात्र बड़े हो जाते और कुछ जान जाते हैं तो हम उनसे दूसरोंको पढ़ानेके लिये कहते हैं। यहां, मैं समझती हूं, ऐसे लोग हैं जो यह समझते हैं कि हम ऐसा क्यों करते हैं; परन्तु यहां ऐसे लोग भी हैं जो समझते हैं कि यह इसलिये किया जाता है कि किसी-न-किसी रूपमें सेवा करना उत्तम है और यहां शिक्षकोंकी आवश्यकता है और उन्हें पाकर हम खुश होते हैं। परंतु, तुम यदि मुझसे पूछो तो मैं तुमसे कहती हूं (क्योंकि यह एक तथ्य है) कि मैंने कभी किसी शिक्षित व्यक्तिको यह देखे बिना यहां पढ़ानेके लिये नहीं कहा है कि यह उसके लिये, स्वयं अपनेको अनुशासित करनेका, जो कुछ वह पढ़ाता है उसे उत्तम रूपमें सीखनेका तथा एक ऐसी आंतरिक परिपूर्णताको प्राप्त करनेका सर्वोत्तम पथ होगा जिसे वह अध्यापक बने बिना कभी न प्राप्त कर पाता। अध्यापक बने बिना उसे अपनेको अनुशासित करनेका, जो असाधारण रूपमें कठिन है, यह सुयोग न प्राप्त होता। जो लोग यहां अध्यापकके रूपमें सफल होते हैं—मेरा मतलब एक बाहरी, कृत्रिम और छिछली सफलतासे नहीं है, बल्कि मेरा मतलब वास्तवमें श्रेष्ठ अध्यापक होनेसे है—उसका अर्थ है कि, वे निर्वैयक्तिकताकी ओर, अपने अहंकारके नाश, अपनी गति-विधियोंके संयम, विचक्षणता, दूसरोंको समझनेकी शक्ति तथा सभी परीक्षाओंके सम्मुख टिकनेवाले धैर्यकी ओर आंतरिक प्रगति करनेमें समर्थ हैं।

यदि तुम उस अनुशासनमेंसे गुजरो और सफल होओ तो, हां, तुमने यहां अपना समय व्यर्थ नहीं खोया है।

और मुझे उन सभी लोगोंकी आवश्यकता है जो शिक्षा देना इस मनोभावके साथ अंगीकार करना स्वीकार करते हैं। सचमुचमें अच्छा होना और सेवा करना और उपयोगी होना बहुत अच्छा है; वह स्वभावतः ही अच्छी, एक बहुत अच्छी बात है; मगर वह केवल एक पक्ष है और संभवतः समस्याका सबसे कम महत्त्वपूर्ण पक्ष है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि यह एक 'कृपा' है जो तुम्हें आत्म-संयम प्राप्त करने, विषयको तथा दूसरोंको समझनेकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये दी गयी है जिसे तुम इस सुअवसरके बिना कभी न प्राप्त करते।

और यदि तुम इतने सारे सालोंमें, जब कि तुम दूसरोंको पढ़ाते रहे हो, इससे लाभान्वित नहीं हुए हो तो इसका मतलब है कि तुमने कम-से-कम अपना आधा समय व्यर्थ बर्बाद कर दिया है।

(मौन)

इतना पर्याप्त है? समझ गये? इस कार्यको तत्परताके साथ करने जा रहे हो!

> (दूसरा शिष्य) **माताजी, जो कुछ आपने कहा है वह प्रत्येक अध्यापकसे, उसके आंतरिक मनोभावसे संबंध रखता है?**

हां।

> **परंतु स्कूलके बाहरी संगठनसे संबंध रखते हुए आप कैसे चाहती हैं कि इसे किया जाय, कारण आजकल अध्यापकोंके बीच बहुत विवाद है?**

विवाद? मैं आशा करती हूं कि बहुत नहीं!

> **तर्क-वितर्क** (हंसी)।

मैं इसे किस रूपमें चाहती हूं?

मैं सामान्य तौरपर बातें कह सकती हूं, समझे, पर संगठनके ब्योरे...। आखिर तुम्हारी समस्या क्या है?

> **अबतक आपने विश्व-विद्यालयके विषयमें जो कुछ कहा है वे साधारण विचार हैं, पर ब्योरेके बारेमें क्या किया जाय?**

हां...।

> **यहां बहुत-से अलग-अलग मत हैं; तो, वह कौन-सा सच्चा मार्ग है जिसपर आप हमें चलाना चाहती हैं?**

परंतु क्षमा करना, पहले तुम्हें यह बताना होगा कि किस दृष्टिकोणसे। "संगठन" शब्द बहुत अस्पष्ट है, है न? यदि यह पढ़ाईके कार्यक्रमके विषयमें है तो यह एक बहुत कठिन विषय है जो इस प्रकार नहीं निश्चित किया जा सकता। यदि यह शिक्षा-पद्धतिके बारेमें है तो यह एक बिलकुल व्यक्तिगत (दोनों अवस्थाओंमें व्यक्तिगत) बात है। सामान्य योजना सरल है, अर्थात्, वह बिलकुल स्पष्ट रूपमें दे दी गयी है; परंतु जबतक तुम मुझे कोई दृष्टांत नहीं देते जिसमें, मान लो, कोई वाद-विवाद है और विभिन्न मत है...।

> **उदाहरणार्थ, एक विषयको लिया जाय, माताजी। आपने कहा है कि विद्यार्थीको पूरी स्वतंत्रता अवश्य देनी चाहिये। अब, कुछ लोग इसका अर्थ यह करते हैं कि कोई भी निश्चित श्रेणी नहीं होनी चाहिये, क्योंकि विद्यार्थीको वह जो कुछ चाहे वही करनेकी छूट देनी चाहिये, वह चाहे श्रेणीमें आये या न आये जैसी उसकी मर्जी आदि-आदि। अतः इस हालतमें, प्रत्येक वर्गके लिये निश्चित घंटा नहीं होना चाहिये। और इस हालतमें संगठन बहुत जटिल बन जाता है — (ऐसी स्थितिमें) कक्षाओंकी व्यवस्था कैसे की जाय?**

एकदम असंभव! परंतु मैंने कब कहा है कि विद्यार्थियोंको आने या न आनेके लिये स्वतंत्र छोड़ देना चाहिये?...

क्षमा करना, तुम्हें चीजोंको उलझाना नहीं चाहिये। मैंने कहा है, और मैं दुहरा रही हूं, कि यदि कोई छात्र किसी विषयके साथ एकदम अपना मेल नहीं बैठा पाता, जैसे, यदि कोई छात्र साहित्य और कविताके लिये अपनी योग्यता अनुभव करता है और गणितके लिये अरुचि अथवा कम-से-कम एक प्रकारकी उदासीनता, यदि वह मुझसे कहता है: "मैं गणितका कोर्स लेना नहीं पसंद करता", तो मैं उससे यह नहीं कहती: "नहीं, उसे लेना एकदम आवश्यक है।" मगर किसी छात्रने यदि किसी क्लासमें रहनेका निश्चय कर लिया है तो यह एक अत्यंत **प्रारंभिक** अनुशासन है कि वह उसके अनुसार चले, वहां नियमित रूपसे जाय और समुचित रूपमें व्यवहार करे; अन्यथा वह स्कूल जानेके लिये **एकदम अयोग्य** है। मैंने किसीको पढ़ाईके समय इधर-उधर घूमने और एक दिन आने और दूसरे दिन गैरहाजिर होनेके लिये कभी प्रोत्साहित नहीं किया, कभी नहीं, कारण, प्रथमतः, यदि वह इस बिलकुल प्रारंभिक अनुशासनके अधीन

नहीं रह सकता तो वह कभी अपने ऊपर जरा भी संयम नहीं प्राप्त कर सकता, वह सर्वदा अपने सभी आवेगों तथा अपनी सभी सनकोंका गुलाम बना रहेगा।

यदि तुम ज्ञानकी किसी विशेष शाखाका अध्ययन करना नहीं चाहते तो ठीक है, कोई व्यक्ति तुम्हें उसे पढ़नेके लिये बाध्य नहीं कर सकता; परंतु तुम यदि जीवनमें कोई काम करनेका निर्णय करते हो, वह कोई भी काम क्यों न हो, यदि तुम उसे करनेका निर्णय करते हो तो तुम्हें उसे ईमानदारीके साथ, अनुशासनके साथ, नियमितता और पद्धतिके साथ करना चाहिये। और बिना सनकके करना चाहिये। मैंने कभी यह अनुमति नहीं दी है कि व्यक्ति अपने निजी आवेगों और तरंगोंका खिलौना बने, कभी नहीं, और तुम कभी मुझसे उस बातके लिये अनुमति नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि तब मनुष्य मनुष्य ही नहीं रहेगा, वह पशु बन जायगा। अतः, यहां एक प्रश्न बिलकुल निश्चित रूपसे सुलझ गया, किसी तर्क-वितर्कके बिना।

अब, दूसरी समस्या?

वह अगली बारके लिये रहे। (हंसी)

अच्छा, उसे दूसरी बारके लिये छोड़ दें। हम अब यहीं समाप्त करेंगे।

२१ नवंबर, १९५६

श्रीमाताजी 'विचार और झांकियां' सबको बांटती हैं, फिर एक पुस्तकपर नजर दौड़ाती हैं:

पांच अनुच्छेदोंमें सत्ताकी पांच वृत्तियों या सत्ताकी पांच स्थितियोंका वर्णन है और यह वही चीज है जो सभी विभिन्न क्षेत्रोंमें होती है:

"जब हम जानकारियोंसे परे चले जायेंगे तब हमें प्राप्त होगा

ज्ञान। तर्क-बुद्धि ही सहायक थी, तर्क-बुद्धि ही बाधक है।"
(श्रीअरविंद — 'विचार और झांकियां')

यह मनुष्यकी मानसिक सत्ताके बारेमें, अर्थात्, उसकी मानसिक क्रियावलियों-के बारेमें है; और श्रीअरविंद "जानकारियों"को 'ज्ञान'के विरुद्ध रखते हैं।

यथार्थमें मुझे तुमसे यह पूछना चाहिये कि क्या तुम जानते हो कि "जान-कारियां" शब्दसे श्रीअरविंदका क्या अर्थ है, और क्यों वह उन्हें 'ज्ञान'के विपरीत रखते हैं। कारण, यदि मैं तुम्हें यह सब तुम्हारे किसी प्रकारका प्रयास किये बिना समझाऊं तो यह (हंसते हुए) तुम्हें चम्मचसे खिलाना होगा, तुम्हारे भोजन पकानेका कोई कष्ट किये बिना तुम्हें पका-पकाया भोजन खिलाना होगा! और इसका परिणाम यह होगा कि जल्दी या देरसे, आध घंटेमें या एक दिनमें तुम वह सब भूल जाओगे जो मैं तुम्हें बताऊंगी और उसका तुम्हारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। मैं चाहूंगी कि कोई मुझे बताये कि वह "जानकारियां" शब्दसे क्या समझता है। (एक बच्चेसे) बताओ मुझे, चलो!

वह बाहरी अध्ययनद्वारा प्राप्त ज्ञान है।

वह स्पष्टतः यही है। वह ऐसी प्रत्येक चीज है जो बाहरी व्यापारोंका तथा मानसिक क्रियावलीके सभी क्षेत्रोंमें अध्ययन करनेसे सीखी जा सकती है; वह सब कुछ जो विभिन्न विषयोंमें — वैज्ञानिक, कलात्मक, दार्शनिक और साहित्यिक विषयोंमें — स्थूल निरीक्षण तथा तकनीकी अध्ययनके द्वारा सीखा जा सकता है; यथार्थमें वह सब जिसे मानव-मनने जीवन तथा पदार्थोंका बाहरी अध्ययन करके सृष्ट किया है; वह सब जो पुस्तकोंमें पाया जा सकता है, वह सब जो प्रकृतिका प्रत्यक्ष अध्ययन करके जाना जा सकता है तथा वह सब जो मानवीय मनके तर्क, अनुमान, विश्लेषण और कलात्मक क्रियाओंके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

और श्रीअरविंद तर्क-बुद्धिको मनुष्यकी मानसिक क्रियाके शिखरपर रखते हैं; वह हमें बताते हैं कि मनकी विकास-प्रक्रियामें तर्क-बुद्धि सुनिश्चित पथ-प्रदर्शक, या यूं कहें गुरु है, जो तुम्हें पथसे विचलित होने या उसे गलत रूपमें ग्रहण करनेसे, तुम्हें इधर-उधर भटकने और सामान्य सहज-बुद्धि खो देनेसे रोकती है। वह तर्क-बुद्धिको मनुष्यकी मानसिक क्रियावली-का निर्णायक मानते हैं जो संचालित करती और संयमित करती है; और जबतक तुम्हें मानसिक क्रियाओंके साथ, यहांतक कि अत्यंत कल्पनात्मक

क्रियाओंके साथ भी सरोकार रखना है तबतक यह तर्क-बुद्धि ही वह चीज है जो तुम्हारा पथ-प्रदर्शन कर सकती है तथा तुम्हें यथार्थ पथसे भ्रष्ट होने तथा कमोवेश ऊट-पटांग और अस्वस्थ कल्पनाओंमें व्यस्त होनेसे रोक सकती है।

परंतु तुम यदि सच्चा ज्ञान अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करना चाहो जो केवल तादात्म्यके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, तो तुम्हें इस तर्क-बुद्धिके परे जाना होगा और मनसे उच्चतर एक राज्यमें प्रवेश करना होगा जहां मनुष्य या तो 'अधिमानस' या 'अतिमानस'की 'ज्योति'के सीधे संपर्क-में होता है। और श्रीअरविंद यह कहते हैं कि जबतक तुम मानसिक क्षेत्रमें हो, तर्क-बुद्धि तुम्हारी सहायता करती है, वह तुम्हारी सहायिका है, तुम्हारी पथ-प्रदर्शिका है; लेकिन तुम यदि तादात्म्यद्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो तो तर्क-बुद्धि एक सीमा-बंधन और एक बाधा बन जाती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इसे तुम्हें खो देना चाहिये! पर इसे तुम्हारी आरोहणकी गतिके अधीन हो जाना चाहिये। श्रीअरविंद तुमसे तर्क-बुद्धिसे हीन होनेको नहीं कहते, वह कहते हैं कि तुम्हें तर्क-बुद्धिसे परे एक उच्चतर 'सत्य' और 'प्रकाश'में चले जाना चाहिये।

और इस विभागकी रचनामें जो मजेदार बात है वह यह है कि जो टिप्पणी श्रीअरविंद मानस-सत्ताके, मनुष्यकी बौद्धिक क्रियाके बारेमें करते हैं, वही प्राणिक क्रियाके, कर्म और सिद्धिकी शक्तिके विषयमें भी करते हैं। वह मानसिक कार्यको मानव-जीवनके आधारके रूपमें लेते हैं, क्योंकि यह मनुष्यके निजी अधिकारसे, एकांतिक भावसे, उसीका है, और जीवन-की क्रिया-प्रणालीमें, अर्थात्, मानव-जीवन, मानव-सिद्धिकी कार्य-प्रणाली-में, सामान्यतया, विचार सबसे पहले आता है, मनुष्यके चिंतनशील प्राणी होनेके नाते उसके अंदर पहले एक विचार आता है, फिर इस विचारको वह एक ऊर्जा, एक प्राण-शक्ति, एक कर्म-शक्तिका जामा पहनाता है और इसे संकल्पमें बदल देता है, रूपांतरित कर देता है। इस संकल्पको फिर साधित किये जानेवाले उद्देश्यपर एकाग्र किया जाता है, और उस विचारके, उस कल्पनाके साथ प्राणिक शक्ति तथा प्रयासके जुड़ जानेपर वह विचार कर्म-सिद्धिका एक उपाय बन जाता है।

परंतु यहां श्रीअरविंद एक शब्द इस्तेमाल करते हैं जो "संकल्प" नहीं है, वह "इच्छाओं"की चर्चा करते हैं:

> **"जब हम इच्छाओंके परे चले जायेंगे तब हमें प्राप्त होगी शक्ति। प्रयत्न ही सहायक था, प्रयत्न ही बाधक है।"**

और वह इन "इच्छाओं"को — अर्थात् इन सभी उपरितलीय इच्छाओंको जो विपरीत और विरोधी तथा किसी स्थायी आधारसे रहित हैं क्योंकि वे, जिसे वह एक "जानकारी" कहते हैं, उसपर आधारित हैं, ज्ञानपर नहीं — सच्चे संकल्पके विरुद्ध रखते हैं। ये इच्छाएं निश्चित रूपसे आंशिक, क्षणस्थायी और बहुधा एक-दूसरीकी विपरीत होती हैं और यही चीज है जो व्यक्तिगत जीवन, यहांतक कि समष्टिको भी अपना असंगति, अयुक्तियुक्तता तथा विश्रृंखलता-का स्वभाव प्रदान करती है...। साधारण तौरपर "संकल्प" शब्द उस चीजको सूचित करनेके लिये सुरक्षित रखा जाता है जो गभीरतर सत्तासे या उच्चतर सद्वस्तुसे और उस वस्तुसे आती है जो कर्मके अंदर सच्चे ज्ञानको अभिव्यक्त करती है जिस ज्ञानको श्रीअरविंद जानकारियोंके विरुद्ध रखते हैं। अतएव, जब सच्चे ज्ञानको अभिव्यक्त करनेवाला यह संकल्प कर्ममें व्यक्त होता है, यह एक गभीर और प्रत्यक्ष शक्ति-सामर्थ्यके हस्तक्षेपके द्वारा व्यक्त होता है जो समस्त प्रयासको अनावश्यक बना देता है। और यही कारण है कि श्रीअरविंद यहां कहते हैं कि कर्म करनेकी सच्ची शक्ति तबतक नहीं आ सकती जबतक कि मनुष्य इच्छा करनेकी अवस्थासे परे नहीं चला जाता, अर्थात्, जबतक कर्मकी प्रेरक-शक्ति महज मानसिक क्रियाका परिणाम नहीं, बल्कि सच्चे ज्ञानका परिणाम हो।

बाहरी सत्तामें कार्य करनेवाला सत्य ज्ञान ही सच्ची शक्ति प्रदान करता है।

यह उस बहुत प्रचलित कहावतकी एक व्याख्या, सच्ची व्याख्या प्रतीत होता है जो अपने सार-रूपमें नहीं समझी गयी है पर जो एक सत्यको प्रकट करती है और वह है : "जहां चाह वहां राह", इच्छा करनेका मतलब है शक्ति पाना। यह बिलकुल स्पष्ट है कि यह इच्छाका संकेत "इच्छाओं"की ओर अर्थात् कामनाओंकी कम या अधिक असंगत अभिव्यक्तिकी ओर नहीं है, बल्कि सच्चे ज्ञानको प्रकट करनेवाली सच्ची इच्छाकी ओर है; कारण, यह सच्ची इच्छा स्वयं अपने भीतर सत्यकी शक्तिको वहन करती है जो बल-सामर्थ्य — एक अजेय बल-सामर्थ्य प्रदान करती है। और इसलिये जब कोई "इच्छाओं"को, जीवनमें उनका उपयोग करनेमें सक्षम होने तथा उन्हें फलदायी बनानेके लिये, व्यक्त करता है तो प्रयासका हस्तक्षेप आवश्यक होता है — व्यक्तिगत प्रयासके बलपर ही मनुष्य प्रगति करता है, और वास्तवमें प्रयत्नके द्वारा ही वह अपनी इच्छाओंको जीवनपर लादता है ताकि वह उनकी मांगोंके सामने सिर झुकाये — परंतु जब वे इच्छाएं नहीं रह जातीं, जब सत्य ज्ञानका

प्रकाशक सच्चा संकल्प वहां होता है तो फिर प्रयत्नकी कोई आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि शक्ति सर्व-समर्थ होती है।

अब मैं चाहूंगी कि जो कुछ अभी मैंने तुमसे कहा है उसपर तुम मुझसे प्रश्न पूछो।

कोई प्रश्न नहीं?

माताजी, ज्ञान प्राप्त करनेके लिये कौन-सा पग पहले उठाना चाहिये?

पहला पग?... "जानकारियों", अर्थात्, मानवीय ज्ञान तथा मानसिक क्रियावलीके संपूर्ण मूल्यकी मायासे मुक्त हो जाना। सर्वप्रथम, इस भ्रमसे बाहर निकल आना कि सचमुच उनका कोई यथार्थ और स्थायी मूल्य है।

और तुम देखोगे कि शायद यह करनेके लिये अत्यंत कठिन चीज है; यह सबसे अधिक कठिन पग है, कारण, जब तुम विज्ञान जैसे साधारण विषयोंका, विज्ञान या दर्शन और सभी ऐसी क्रियाओंकी विभिन्न शाखाओं-का अध्ययन करते हो, जब तुम थोड़ी गंभीरता और गहराईके साथ इनका अध्ययन करते हो तो बड़ी आसानीसे तुम्हें इस ज्ञानकी सापेक्षताका बोध हो जाता है। परंतु जब तुम एक पग नीचे आ जाते हो, ठीक मानसिक क्रियाओंका दूसरा पग उठाते हो और जीवनकी भिन्न-भिन्न समस्याओंको देखते हो — जैसे, इस प्रसंग या उस प्रसंगमें क्या करना चाहिये; कोई चीज सिद्ध करने, जिस कार्यको मनुष्य सीखना चाहता है उसके लिये, यहांतक कि जीवनकी विभिन्न आवश्यकताओंके लिये शर्तें, जीवन बितानेके लिये, स्वास्थ्यके लिये परिस्थितियां क्या होनी चाहिये — तुम देखोगे कि साधारण तौरपर एक तार्किक व्यक्ति या वैसा बननेवाला व्यक्ति अपने लिये कुछ विचार बना लेता है, जो वास्तवमें जानकारियां होती हैं; यह चीज यह परिणाम उत्पन्न करेगी, अथवा उस वस्तुको प्राप्त करनेके लिये यह दूसरी चीज अवश्य करनी चाहिये आदि-आदि और तुम अपने अंदर निरीक्षणों, अध्ययनों और परीक्षणोंद्वारा निर्मित मानसिक रचनाओंका एक समूह एकत्र कर लेते हो; और तुम उम्रमें जितना अधिक अग्रसर होते हो, उतनी ही अधिक परीक्षणों और अध्ययन तथा निरीक्षणके परिणामोंकी संख्या बढ़ती जाती है। तुम अपने लिये एक प्रकारकी मानसिक रचना बना लेते हो और उसीमें रहते हो। और जबतक तुम प्रबल रूपमें बुद्धिमान नहीं होते और साथ ही उच्चतर लोकों-

की ओर उद्घाटित नहीं होते, तबतक तुम्हारे अंदर अपने निरीक्षणोंके चरम मूल्योंके प्रति एक नैसर्गिक, सहज-स्वाभाविक, अचल-अटल विश्वास होता है, और तुम्हारे तनिक भी चिंतन करनेकी आवश्यकताके बिना, यह तुम्हारी सत्तामें एक प्रकारके अभ्यासके द्वारा अपने-आप कार्य करता है : वह चीज बलात् उस परिणामको लाती है। अतः तुम्हारे लिये, जब यह चीज बहुत बार हो चुकती है, स्वभावतः ही इन दो क्रियाओंको मिला-जुला देनेकी आदत तुम्हारे अंदर स्वयं तुम्हारे तथा तुम्हारे जीवन-विषयक तुम्हारी भावनाओं या तुम्हारी जानकारियोंके चरम मूल्यकी भावना जगा देती है। और ऐसी स्थितिमें उस ज्ञानकी सापेक्षताको — लगभग भ्रमसे मिलती-जुलती अनिश्चितताको — समझ पाना अनंत रूपमें अधिक कठिन है। तुम्हें इस बातका पता केवल तभी चलता है जब तुम, आध्यात्मिक साधना और प्रगति करनेकी इच्छाके साथ, इन चीजोंकी ओर एक गभीर आलोचनात्मक भावनाके साथ ताकते हो और उस दासताके स्वरूपको देखते हो जिसमें तुमने अपने-आपको डाल रखा है, उस दासताके स्वरूपको देखते हो जो तुम्हारे हस्तक्षेप करनेकी किसी आवश्यकताके बिना, अपने-आप कार्य करती है और जिसे उस अवचेतना तथा पुनरावर्तनकी उस बिलक्षण स्वतःक्रियाका सहारा प्राप्त है जिसके कारण एक स्वाभाविक क्रममें, उस विषयमें तुम्हारे जरा भी सचेतन हुए बिना, कार्य और कारण एक-दूसरेके बाद आते हैं।

अस्तु, यदि तुम ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो तो पहली चीज, पहला अनिवार्य पग है उन चीजोंकी सत्यतामें विश्वास न करना। और यदि तुम अपने-आपको ध्यानपूर्वक देखो तो तुम समझ जाओगे कि इन निरीक्षणों और अनुमानोंकी सत्यतामें यह विश्वास तुम्हारे अंदर लगभग पूर्ण है। यह सभी प्रकारके विचारोंके द्वारा अपने-आपको प्रकट करता है जो तुम्हें पर्याप्त युक्तिसंगत रूपमें स्पष्ट प्रतीत होते हैं, और फिर भी ये यथार्थ रूपमें वे मर्यादाएं हैं जो तुम्हें तादात्म्यद्वारा ज्ञान प्राप्त करनेसे रोकती हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई मनुष्य तैरना जाने बिना पानीमें कूद पड़े तो वह डूब जायगा; यदि पर्याप्त प्रबल पवन बहता हो तो वह सारी चीजें उलट-पलट देगा; जब वर्षा होती है तो तुम भीग जाते हो आदि-आदि, — तुम जानते ही हो, इस प्रकारके उदाहरण प्रत्येक क्षण होते हैं, यह बात ऐसी ही है। और यह तुम्हें इतना स्पष्ट प्रतीत होता है कि जब तुमसे कहा जाता है : जी नहीं, यह तो एक सापेक्षिक ज्ञान है, यह ऐसा है पर यह अन्यथा भी हो सकता है; जो व्यक्ति तुमसे कहता है वह तुम्हें संभवतः आधा पागल मालूम होता है। और तुम कहते हो : परंतु फिर

भी वे बातें ठोस हैं! वे ऐसी हैं जिन्हें हम देख सकते, छू सकते, महसूस कर सकते हैं, ये प्रमाण हैं जिन्हें हमारी इंद्रियां प्रत्येक क्षण हमें देती हैं, और यदि हम उसपर भरोसा न करें तो हम निश्चित रूपसे विपथगामी हो जायंगे और अयुक्तिसंगत बातोंमें पड़ जायंगे।

अतएव, जो कुछ श्रीअरविंदने कहा है उसे यदि तुम याद करो तो तुम समझ जाओगे कि ज्ञान प्राप्त करनेकी पहली शर्त है तर्क-बुद्धिके परे चले जाना। इसलिये वह कहते हैं: तर्क-बुद्धि सहायक थी — हां, मानवताके समूचे बाल्यकालमें तथा व्यक्ति-सत्ताके सारे विकास-कालमें — पर तुम यदि नितांत मानव-सत्ता, साधारण मानवीय प्रकृतिके परे जाना चाहो तो, हां, तुम्हें तर्क-बुद्धिके परे चले जाना होगा; और जो वस्तुएं तुम्हें इतनी स्पष्ट मालूम होती थीं कि उनके विषयमें कोई वाद-विवाद नहीं हो सकता था, उन्हें यह समझनेमें, अपने अंदर यह अनुभव करनेमें तुम्हें समर्थ होना चाहिये कि वे संपूर्ण रूपमें सापेक्षिक हैं और जो सब चीजें प्रत्येक व्यक्तिके अनुभवमें पूरी तरह एक-सी, अभिन्न दिखायी पड़ती थीं, ठीक वे ही चीजें, एक उच्चतर चेतनाके द्वारा ऊपरसे देखनेपर, एकदम आत्मनिष्ठ और आपेक्षिक बन जाती हैं और व्यक्तिगत आवश्यकताओं तथा चेतनाके अनुरूप केवल व्यक्तिगत रचनाएं होती हैं, और इन रचनाओंमें कोई निरपेक्ष सत्य नहीं होता, उसके बदले केवल एकदम सापेक्ष सत्य होता है, जो, जैसे ही तुम एक उच्चतर स्तरपर उठ जाते हो, पूरी तरह विलीन हो जाता है।

अतः अब, यदि तुम ज्योतिके नीचे अपने विचारके स्वरूपको देखो तो तुम देखोगे कि इस प्रथम पगको उठाना भी उतना आसान नहीं है।

उदाहरण दिये जा सकते हैं, पर वे ऊपरी उदाहरण होते हैं, स्वयं अपने-आपमें बहुत आंशिक, और उनका केवल एक पूर्णतः सापेक्षिक मूल्य होता है, जैसा कि यह उदाहरण जिसे मैं बहुत बार तुम्हें दे चुकी हूं, संसारके औषध ज्ञानके दृष्टिकोणके बारेमें: यदि तुम बहुत अधिक अध्ययन कर चुके हो, या काफी लंबा जीवन बिता चुके हो तो तुम देखोगे कि एक ही प्रमाण एक ही निश्चयता, एक ही विश्वासके साथ, एक बार तो कुछ चीजें न केवल बुरी नहीं मानी जातीं, बल्कि एक अकाट्य ज्ञानके, एक निर्विवाद निरीक्षणके आधारपर एक विशेष प्रभाव रखनेके लिये विख्यात हो जाती हैं; और दूसरे समय, ठीक वे ही निर्विवाद निरीक्षण नितांत विपरीत परिणामोंपर पहुंचाते हैं। बहुत बार मैं एक दृष्टांत दिया करती हूं जिसे मैंने संयोगवश देखा था, विशेषकर खाद्य पदार्थोंके गुण तथा शरीरपर उनके प्रभावके विषयमें, जैसे कुछ फलों या तरकारियोंके गुण-प्रभावके विषयमें: एक विशेष कालमें डाक्टरी विवरणमें (अभी इतना समय नहीं

हुआ, लगभग पचास या साठ वर्ष पहले), जब किसीको एक विशेष बीमारी होती थी तो डाक्टर उसे वस्तुओंकी एक सूची देता था, उसको पूरी गंभीरताके साथ सलाह देता था कि इन चीजोंमेंसे वह किसी चीजको न छुए, नहीं तो वह और भी अधिक बीमार हो जायेगा (मैं तुम्हें वह सूची दे सकती हूं, पर वह मनोरंजक नहीं है) — फिर, ठीक उन्हीं चीजोंके विषयमें, पचास या साठ वर्ष बाद, वही डाक्टर तो शायद नहीं पर दूसरा, उसी गंभीरताके साथ, उसी असंदिग्ध निश्चयता तथा अधिकारके साथ तुमसे कहेगा कि बस, इन्हीं चीजोंको तुम्हें खाना होगा यदि तुम नीरोग होना चाहते हो! अतएव तुमने यदि वस्तुओंका भली-भांति निरीक्षण किया है और तुम्हारे अंदर थोड़ी-सी आलोचनात्मक भावना है, तुम अपने-आपसे कह सकते हो: "ओह! वह तो लोगोंपर अथवा संभवतः उस युगपर निर्भर करता है।" और मैं कहूंगी जो मेरा परिचित डाक्टर मित्र चालीस या पचास साल पहले फ्रांसमें अपने सभी रोगियोंसे कहा करता था: "वह औषध लो जिसका आजकल फैशन है, क्योंकि इस समय वह तुम्हें नीरोग कर देगी।" बस, यही बात है।

खैर, थोड़े-से विवेकसे युक्त एक स्थितिमें जिसमें मनुष्य वस्तुओंकी इस असाधारण सापेक्षताको समझता है, उस स्थितिमें जिसमें वह सापेक्षता इतनी तीव्र हो जाती है कि किसी बातको दावेके साथ कहना, यह कहना कि "यह चीज ऐसी है" अथवा "ऐसी चीजका यह अमुक परिणाम होता है", तुम्हें स्वाभाविक रूपसे एक मूर्खता प्रतीत होता है...। परंतु उस बिंदुपर पहुंचनेसे पहले, मनुष्य थोड़ा-सा विचार-चिंतन करके कह सकता है: आखिरकार, हम किसी विशेष वस्तुपर तबतक विश्वास करते हैं जबतक कि वह फैशनमें है।

बस, हो गया?

> माताजी, यह प्रश्न इसलिये उठता है कि हम अपने स्कूलकी पढ़ाईमें कभी-कभी बहुत अधिक अरुचि अनुभव करते हैं और अपने-आपसे कहते हैं: इस सबका क्या उपयोग है? अतः, किस मनोभावके साथ हमें अध्ययन करना चाहिये?

मैंने हमेशा कहा है कि अध्ययनका मस्तिष्कपर वही प्रभाव पड़ता है जो व्यायामका मांसपेशियोंपर पड़ता है। उदाहरणार्थ, अपनी मानसिक क्रियाशीलताको सुनम्य बनाने, उसे सशक्त और विस्तारित करने तथा उसे समझनेकी एक ऐसी बारीक शक्ति देनेके लिये जिसे वह तुम्हारे इन व्या-

यामोंके किये बिना प्राप्त न कर पाती, मानसिक व्यायाम बहुत आवश्यक है। अभी कुछ दिन पहले (निस्संदेह काफी दीर्घकाल पहलेसे ही) मैंने ध्यान दिया है, उदाहरणार्थ, कि यदि दुर्भाग्यवश मुझे दार्शनिक शब्दोंसे भरी कोई चीज तुम्हारे सामने पढ़नी पड़ती है या किंचित् दार्शनिक दृष्टिकोणके बारेमें तुमसे चर्चा करनी पड़ती है तो तुम समझ नहीं पाते। और इसका कारण महज यह है कि तुमने दार्शनिक व्यायाम नहीं किया है। इसका कारण यह नहीं है कि तुम बुद्धिमान् नहीं हो, इसका कारण यह नहीं है कि तुम्हारे अंदर समझनेकी योग्यता नहीं है; इसका कारण यह है कि तुमने समुचित व्यायाम नहीं किया है। मैं इसी बातको दूसरे ढंगसे कह सकती हूं: तुमने भाषा नहीं सीखी है। परंतु वास्तवमें शब्द वे ही व्यवहृत होते हैं, केवल उनके बीच थोड़ा-सा भिन्न संबंध होता है, वाक्योंका मोड़ कुछ भिन्न होता है, वस्तुओंके प्रति एक प्रकारका भिन्न मनोभाव होता है। परंतु मनोभावके इस अंतरको तुम तबतक नहीं पकड़ सकते जबतक कि तुम तदनुरूप व्यायाम नहीं कर लेते। और इस दृष्टांतको समझना तुम्हारे लिये बहुत आसान है, क्योंकि तुम सब बहुत अच्छी तरह जानते हो कि यदि तुम प्रशिक्षित न होओ तो तुम कभी खेल-कूदकी क्रियाएं नहीं कर सकते। यदि तुम्हारे अंदर विशिष्ट क्षमताएं भी हों, यदि तुम स्वाभाविक रूपसे प्रतिभासंपन्न भी होओ, यदि तुम अभ्यास न करो और प्रशिक्षित न होओ, तो तुम उन्हें नहीं कर सकते। ध्यान दो, अपने सभी द्रुत कलाबाजीके व्यायामोंको, यदि पहले ही दिन उन्हें करनेके लिये तुमसे कहा गया होता, तुम नहीं कर सकते थे, वह तुम्हारे लिये एकदम असंभव होता, और इसे तुम भली-भांति जानते हो। यदि कोई व्यक्ति सहजभावसे तुमसे कहता: "आह! अब इसे करो"— मान लो, कोई विशेष प्रकारकी कूद, जिसे एक समय कलाबाजी कहते थे — तुम कहोगे: "यह आदमी वास्तवमें नासमझ है, यह तो असंभव है!" हां, यह वही बात है; यदि मैं अमुक किताबें लूं और तुम्हारे सामने पढ़ूं तो तुम उन्हें नहीं समझ सकते क्योंकि तुमने पूर्ण रूपसे दार्शनिक-मानसिक व्यायामोंकी उपेक्षा की है। यह ठीक-ठीक वही बात है कि जिस व्यक्तिने गणित नहीं किया है, उससे यदि किसी गणित-शास्त्रीय तर्कका अनुसरण करनेको कहा जाय तो — वह नहीं कर सकेगा...। और इसलिये, उसका तात्पर्य है कि यदि तुम अपनी सत्ताकी गभीर सद्वस्तुको पूरी तरह, सर्वांग रूपमें प्रकट करना चाहते हो तो तुम उसे तभी बहुत अधिक पूर्ण रूपसे, बहुत अधिक विभिन्न रूपमें, बहुत अधिक लाभदायी रूपमें अभिव्यक्त करोगे जब कि तुम्हारी सत्ताके सभी भाग अपने समुचित व्यायामोंके द्वारा इस ढंगसे पूर्णतः विकसित होंगे।

मैं समझती हूं मैं तुम्हें यह बात एक बार पहले समझा चुकी हूं। यदि प्रश्न उस जीवनका होता जो आजतक सच्चा आध्यात्मिक जीवन माना जाता रहा है, अर्थात् समस्त भौतिक क्रियावलीको पूर्णतः त्याग देनेका होता ताकि परात्पर दिव्य सद्वस्तुके साथ युक्त हुआ जा सके और इस एकत्वमें बने रहा जा सके, जीवन तथा सभी बाहरी अभिव्यक्तिको त्यागकर निर्वाणमें चले जाने, ऐसी तादात्म्य-स्थितिमें चले जानेका प्रश्न होता जिसे न केवल जगत्में अब और अभिव्यक्त नहीं किया जायगा, बल्कि जो तुम्हें पूरी तरह जगत्से बाहर ले जाती है, तब यह स्पष्ट है कि ये सब व्यायाम, चाहे भौतिक, प्राणिक, ऐंद्रिय अथवा मानसिक हों, बिलकुल निरर्थक हैं, और वे लोग इस सबको महज समयका अपव्यय और एकदम बेकार समझेंगे। परंतु हम लोगोंके लिये जो लगभग उसके ठीक विपरीत वस्तुको संसिद्ध करना चाहते हैं, अर्थात्, जो, परम सद्वस्तुके साथ अपना तादात्म्य प्राप्त कर लेनेके बाद, उसे जगत्का रूपांतर करनेके लिये जीवनके अंदर अवतरित कराना चाहते हैं, हम यदि इस सद्वस्तुको ऐसे यंत्र दें जो परिमार्जित, क्षमतासंपन्न सुविकसित और पूर्णतः सचेतन हो तो रूपांतरका कार्य अधिक फलप्रद होगा।

और यही कारण है कि तुमसे, जब कि तुम एक नन्हें बालक हो, यह कहनेके बदले कि तुम वही करो (हंसते हुए) जो कि उन बच्चोंसे करनेके लिये कहा गया है, शांत-स्थिर बैठ जाओ और ध्यानमें डूब जाओ या डूब जानेका दिखावा करो; तुमसे यह कहनेके बदले कि तुम्हें सतत ध्यानावस्थामें बने रहना तथा जगत्की सभी चीजोंके प्रति पूर्णतः उदासीन बने रहना चाहिये, तुम्हें केवल एक ही विचार, भागवत कृपाको ग्रहण करनेके लिये अपने-आपको तैयार करनेका विचार रखना चाहिये; यह सब कहनेके बदले तुमसे कहा जाता है : "नहीं, सुविकसित तथा सचेतन व्यक्ति बननेका प्रयास करो, जो वस्तुओंको जानते-समझते हैं तथा जिन्हें स्वस्थ, सबल, चुस्त तथा असाधारण कार्य करनेमें सक्षम शरीर, पर्याप्त संकल्प-शक्ति एवं सामर्थ्यवान्, सुनम्य और सक्रिय मन प्राप्त हो; ये सब चीजें भावी सिद्धिके लिये उपयोगी होंगी।"

बल्कि यही कारण है कि जो लोग, यह बिना जाने कि वे किस विषयमें बातें करते हैं; बाहरी रूपोंके आधारपर विचार करनेके आदी हैं, यह कहते हैं कि इस आश्रममें कोई आध्यात्मिक जीवन नहीं है, यह तो एक पूर्णतः भौतिक जीवन है। बस, यही कारण है! परंतु यह उनके लिये कहीं अधिक बुरा है, यह हमारे लिये तनिक भी बुरा नहीं है; हमारे लिये, निस्संदेह, यह एक ही बात है।

अच्छा। और प्रश्न नहीं है? किसीको कुछ कहना नहीं है?

२८ नवंबर, १९५६

"जब हम जानकारियोंके परे चले जायेंगे तब हमें प्राप्त होगा 'ज्ञान'। तर्क-बुद्धि ही सहायक थी; तर्क-बुद्धि ही बाधक है।

"जब हम इच्छाओंके परे चले जायेंगे तब हमें प्राप्त होगी 'शक्ति'। प्रयत्न ही सहायक था, प्रयत्न ही बाधक है।

"जब हम भोगोंके परे चले जायेंगे तब हमें प्राप्त होगा 'आनंद'। कामना ही सहायक थी, कामना ही बाधक है।

"जब हम व्यक्तिकरणके परे चले जायेंगे तब हम होंगे यथार्थ 'व्यक्ति'। अहंकार ही सहायक था, अहंकार ही बाधक है।

"जब हम मानवताके परे चले जायेंगे तब हम बनेंगे 'दिव्य-मानव'। पशु ही सहायक था, पशु ही बाधक है।"

(श्रीअरविंद, "विचार और झांकियां")

एक ही सिद्धांत सत्ताकी सभी क्रियाओं या सभी पहलुओंमें अभिव्यक्त किया गया है...। यह स्पष्ट है कि मूल निश्चेतनाकी स्थितिसे बाहर निकलनेके लिये कामना अनिवार्य थी, क्योंकि कामनाके बिना कर्मण्यताके प्रति कोई जाग्रति न होती। परंतु जब एक बार व्यक्ति चैतन्यमें जन्म ग्रहण कर लेता है, ठीक यही कामना जिसने निश्चेतनासे बाहर निकलनेमें सहायता की थी, जड़-तत्त्वके बंधनोंसे मुक्त होने तथा एक उच्चतर चेतनामें ऊपर उठनेसे रोकती है।

अहंके, आत्म-भावके विषयमें भी यही बात है। किसी उच्चतर स्तरमें जानेके लिये, सबसे पहले मनुष्यका अस्तित्व होना चाहिये; और अस्तित्व-वान् होनेके लिये उसे एक सचेतन, पृथक् व्यक्ति होना चाहिये, और एक पृथक् सचेतन व्यक्ति बननेके लिये अहंभाव अनिवार्य है, अन्यथा सत्ता अपने चारों ओर विद्यमान वस्तुओंके साथ मिली-जुली रहती है। परंतु एक बार जब व्यक्तित्वका निर्माण हो जाता है, यदि वह एक उच्चतर श्रेणीपर उठना चाहता और आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहता है, यदि वह केवल एक उच्चतर प्रकारका मनुष्य होना चाहता है तो अहंकी सीमाएं

(उसके लिये) सबसे बुरी बाधाएं हैं, और सत्य चेतनामें प्रवेश करनेके लिये अहंका अतिक्रमण करना ही होगा।

और निस्संदेह, मनुष्यके साधारण प्रारंभिक जीवनके लिये, पाशव प्रकृतिसे संबंध रखनेवाले सभी गुण, विशेषतः शरीरके गुण, अपरिहार्य थे, नहीं तो मनुष्यका अस्तित्व ही न रहता। परंतु मनुष्य जब एक सचेतन, मनोमय सत्ता बन जाता है, वह सब जो उसे उसके पशु-मूलसे बांध रखता है निश्चित रूपसे सत्ताकी प्रगति तथा मुक्तिके लिये बाधा बन जाता है।

अतः प्रत्येक व्यक्तिके लिये (सिवा उन लोगोंके जो जन्मसे मुक्त होते हैं, और यह स्पष्टतः बहुत विरल है), हर एकके लिये युक्ति-तर्क, प्रयत्न, कामना, व्यक्तिकरण और जीवन-यापनकी साधारण पद्धतिके अनुकूल ठोस भौतिक संतुलनकी यह अवस्था प्रारंभमें अनिवार्य है, जबतक कि वह समय नहीं आ जाता जब मनुष्य एक सचेतन सत्ता बन जाता है, जब उसे एक आध्यात्मिक पुरुष बननेके लिये इन सभी चीजोंको अवश्य छोड़ देना पड़ता है।

क्या किसी व्यक्तिके पास इस विषयपर कोई प्रश्न पूछनेके लिये है?

प्यारी माताजी, मनुष्य कब यह कह सकता है कि वह सचेतन हो गया है?

यह सर्वदा एक सापेक्षिक प्रश्न होता है। मनुष्य कभी पूर्ण रूपसे अचेतन नहीं होता और कभी संपूर्ण रूपमें सचेतन नहीं होता। यह एक क्रमोन्नत अवस्था होती है।

परंतु एक मुहूर्त्त आता है जब अपने-आप, किसी एकदम अनजान चेतना और शक्तिसे चालित होकर मनुष्य कार्य करनेके बदले,—एक मुहूर्त्त आता है जब मनुष्य निरीक्षण कर सकता है कि उसके अंदर क्या चल रहा है, अपनी गति-विधियोंका अध्ययन कर सकता, उनके कारण जान सकता, और उसके साथ-ही-साथ एक प्रकारके संयमका प्रयोग करना आरंभ कर सकता है, सबसे पहले जो कुछ उसके अंदर चलता रहता है उसके ऊपर, फिर बाहरसे प्रक्षिप्त प्रभावके ऊपर जो उससे कार्य कराता है, प्रारंभमें तो एकदम अचेतन रूपमें और लगभग अनिच्छापूर्वक, पर क्रमशः अधिकाधिक सचेतन रूपमें; और फिर संकल्प जाग्रत हो सकता और प्रतिक्रिया कर सकता है। तब उस समय, जैसे ही एक सचेतन संकल्प-शक्ति प्रतिक्रिया करनेमें समर्थ होगी उस समय, मनुष्य कह सकता है: मैं सचेतन हो गया हूं। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह एक सर्वांगीण और संपूर्ण चेतना है; इसका अर्थ यह है कि वह एक प्रारंभ है:

उदाहरणार्थ, जब मनुष्य अपनी सत्तामें होनेवाली सभी प्रतिक्रियाओंका निरीक्षण करने तथा उनके ऊपर एक प्रकारका संयम रखने, जिन कार्योंको वह पसंद करता है उन्हें होने देने और जिन्हें पसंद नहीं करता उन्हें नियंत्रित करने, बंद करने तथा दूर हटानेमें सक्षम होता है।

साथ ही, हमें अपने अंदर जीवनके लक्ष्य या हेतु-जैसी किसी वस्तुके विषयमें अथवा किसी आदर्शके विषयमें भी सज्ञान होना चाहिये जिसे हम संसिद्ध करना चाहते हैं; किसी ऐसी चीजसे सचेतन होना चाहिये जो निरी सहज-प्रेरणासे भिन्न हो, जो सहज-प्रेरणा तुम्हारे क्यों और कैसे जाने बिना जीनेके लिये तुम्हें चलाती है। उस समय मनुष्य कह सकता है कि वह सचेतन है, पर इसका मतलब यह नहीं है कि वह पूर्णतः सचेतन है। और इसके अलावा, वह पूर्णता इतनी क्रमोन्नतिशील है कि मैं समझती हूं कि कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि वह पूर्ण रूपसे सचेतन है; वह पूरी तरह सचेतन होनेके पथपर है, पर अभी है नहीं।

प्यारी माताजी, वह स्थिति किस प्रकारकी होती है जिसमें मनुष्य सभी भोगोंके परे चला जाता है?

हां तो, वह वास्तवमें एक कामना-रहित स्थिति होती है जिसमें मनुष्य (जैसा कि बादमें श्रीअरविंद समझाते हैं) एक ऐसे आनंदमें निवास करता है जिसका कोई कारण नहीं होता, जो आंतर या बाह्य परिस्थितिपर निर्भर नहीं करता, जो एक स्थायी, जीवनकी परिस्थितियोंसे स्वतंत्र, कारण-रहित अवस्था होता है। मनुष्य आनंदमें रहता है। क्योंकि वह आनंदमें रहता है। और यथार्थमें ऐसा इसलिये होता है कि मनुष्य दिव्य सद्वस्तुके विषयमें सचेतन हो गया है।

परंतु मनुष्य जबतक कामनाहीन नहीं हो जाता, वह आनंदको नहीं अनुभव कर सकता। यदि किसीमें कामनाएं हैं तो वह जो कुछ अनुभव करता है वह मात्र इंद्रिय-सुख और विषय-भोग होता है, पर वह आनंद नहीं होता। आनंदका एक नितांत भिन्न स्वभाव है और वह सत्तामें केवल तभी अभिव्यक्त हो सकता है जब कामनाएं निर्मूल हो जाती हैं। जबतक मनुष्यमें कामनाएं होती हैं, वह आनंदका अनुभव नहीं कर सकता; यदि उसमें आनंदकी कोई शक्ति उतर भी आये तो वह कामनाओंकी उपस्थितिके कारण तुरत दूषित हो जायगी।

(मौन)

(श्रीमाताजी एक कागज खोलती हैं) यहां मेरे पास एक प्रश्न है जिसका संबंध उस विषयसे है जिसे हमने पिछली बार प्रयत्न, व्यक्तिगत प्रयत्नके बारेमें कहा था। प्रश्न यह है:

> "आंतरिक जीवनमें, एक ऐसा समय क्यों आता है जब मनुष्य कोई और सचेतन प्रयत्न नहीं कर पाता, और यदि वह जबर्दस्ती करता है तो प्रकृतिके अंग विद्रोह करते हैं अथवा सत्ताके अंदरकी हर एक चीज पथरायी हुई प्रतीत होती है; प्रयत्न पिछली क्रियाओंकी यांत्रिक पुनरावृत्ति बन जाता है। ऐसे समयोंपर क्या करना चाहिये?"

यह बहुत अच्छी तरह देखा गया है।

यहां जिस चीजकी चर्चा नहीं की गयी है वह है प्रयत्नका स्वरूप, क्योंकि वास्तवमें एक प्रकारका प्रयत्न है जो यहां वर्णित स्थितिको, विद्रोहकी एक स्थितिको अथवा एक प्रकारकी — हां, पथराहटकी स्थितिको ले आता है, सचमुच, एक ऐसी चीज ले आता है जो पूर्ण रूपसे जड़ हो जाती है और अब इस प्रयत्नके प्रति बिलकुल प्रतिक्रिया नहीं करती। ऐसा तब होता है जब प्रयत्न प्रायः एकांतिक रूपसे मानसिक तथा नितांत मनमाना भी होता है, इस अर्थमें कि वह सत्ताके शेष भागोंकी स्थितिका कोई ख्याल नहीं करता; उसके अपने निजी विचार, अपनी निजी इच्छा होती है और सत्ताके बाकी भागोंका कोई विचार किये बिना वह इस इच्छाको सभी सत्ताके भागोंपर बलात् थोपता है। सामान्यतया, बस, यही चीज विद्रोह अथवा पथराहट उत्पन्न करती है। और (ऐसी स्थितिमें) एकमात्र कर्तव्य है अपने मनको शांत-स्थिर बनाना। और यही मुहूर्त्त है शांति, निश्चलता और विश्वाससे परिपूर्ण आत्म-दानकी गति करनेका। यदि मनुष्य भागवत संकल्पके प्रति आत्म-निवेदनका, पूर्ण-समर्पणका यह भाव बना लेता है तो इस प्रयत्नसे उत्पन्न समस्त तनाव — ऐसे प्रयत्नसे उत्पन्न जिसे अपक्व या अविवेकपूर्ण कहा जा सकता है — दूर हो जाता है। सत्तामें एक प्रकारका शिथिलीकरण आ जाता है। और ठीक जिस प्रगतिको मनुष्य इस विशुद्ध मानसिक प्रयाससे नहीं कर पाता, वह सामान्यतः लगभग अपने-आप, ठीक इस तथ्यके कारण हो जाती है कि उसने भागवत संकल्प-शक्तिके प्रति विश्वास तथा आत्मदानके अंदर अपनेको शिथिल कर दिया है।

और फिर उसके बाद यह प्रश्न है:

"दूसरे समयोंपर, हमें यह धारणा होती है कि हम कोई प्रयत्न नहीं कर रहे हैं, बल्कि मात्र एक चेतनाकी उपस्थितिको अनुभव कर रहे हैं जिसके कारण दैनिक जीवनकी बहुत-सी परिस्थितियोंमें प्रगतिका एक साधन प्राप्त होता है। तब हमें अपने-आपसे पूछते हैं: प्रयत्न है क्या चीज और क्या है उसका महत्त्व? जिसे हम प्रयत्न कहते हैं—क्या वह एक अतीव मानसिक क्रिया नहीं है?"

बस, ठीक-ठीक यही बात मैंने अभी-अभी समझायी है, जो यह सूचित करती है कि निरीक्षण बिलकुल सही है।

यह मनका एक मनमाना निर्णय है, और मनमाना होने तथा वस्तुओंके सत्यके साथ मेल न खानेके कारण, स्वभावतः ही यह इन गलत प्रतिक्रियाओं-को उत्पन्न करता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कभी कोई प्रयास नहीं करना चाहिये, बल्कि यह है कि प्रयास भी सहज-स्वाभाविक होना चाहिये। इसी कारण मैंने एक बार तुम लोगोंसे कहा था कि ध्यानको फलदायक होनेके लिये उसे एक सहज-स्वाभाविक ध्यान होना चाहिये और तुम्हारे ध्यान करनेके प्रयासकी अपेक्षा कहीं अधिक ध्यानको ही तुम्हें अधिकृत कर लेना चाहिये; हां, प्रयासको, सत्तामें संकल्प-शक्तिके उस प्रकारके तनावको भी, एक सहज-स्वाभाविक वस्तु होना चाहिये, और किसी कम या अधिक असामयिक मानसिक निर्णयका परिणाम नहीं होना चाहिये।

(मौन)

कोई दूसरा प्रश्न? नहीं? किसीको कुछ कहना है?

माताजी, जब कोई मनसे परे जाना चाहता है, वह यदि मनको काम करनेसे रोक दे, और कभी-कभी ऊपरसे तुरंत प्रभाव न आये तो इस बीच उसे क्या करना चाहिये? वह तो एक मूर्ख जैसा बन जाता है!

यदि कोई मनको कार्य करनेसे रोक दे। क्यों? मैं तुम्हारा प्रश्न नहीं समझी। तुमने प्रारंभमें कहा है, "जब कोई मनसे परे जा चुका है"? . . .

मनसे परे जानेके लिये.

ओह! मनसे परे जानेके लिये, मनको काम करने देना? ... हां, यही सिद्धांत है: कामनासे परे जानेके लिये, कामनाओंको चरितार्थ होने देना चाहिये, और ...।

(एक बालक) वह कहता है "मनको काम करनेसे रोकना", माताजी।

रोकना? ओह! पर कोई "मनको काम करनेसे रोक" नहीं सकता, यह सही फ्रेंच नहीं है!

मनके कार्यको बन्द करना।

ठीक है! बस, इसी तरह पूछना चाहिये। फिर? मनके कार्यको बंद कर देना, बस यही? उसका उपाय?

मैं पूछता हूं।

स्वाभाविक है! पर वह, वह तो काफी कठिन है। फिर तुम क्या पूछना चाहते हो?

जब कोई तर्क-बुद्धिका उपयोग बन्द कर देता है, यदि कोई नयी चीज, ऊपरसे तुरंत नहीं आती तो इस बीच कभी-कभी ...।

मनुष्य एक मूर्खकी तरह कार्य करता है! (हंसी) तब यह कहीं अच्छा है कि उस अवस्थासे परे जानेके पहले तर्क-बुद्धिको बंद न किया जाय!

मेरा मतलब है, जीवन जैसा है उसकी परिस्थितियोंमें, क्या ऐसा होना संभव है ...?

तर्क-बुद्धिहीन होना? दुर्भाग्यवश ऐसा बहुत बार होता है!

क्या तर्क-बुद्धिकी सहायता न लेना संभव है? ... यह केवल तभी

संभव है जब तुम मानसिक क्रियावलीके परे चले जाओ। यह केवल तभी संभव है जब तुम समर्पण-भाव, अपने-आपको पूर्णतः दे देनेकी अवस्था प्राप्त कर चुको। यह केवल तभी संभव है जब तुममें कोई कामना न रह गयी हो। जबतक तुममें कामनाएं हैं, तुममें अहंभाव है और तुममें स्वेच्छा है, तबतक तुम तर्क-बुद्धिका त्याग नहीं कर सकते, क्योंकि, जैसा कि मैंने अभी-अभी कहा है, तुम एकदम असंतुलित और शायद पागल हो जाओगे। अतएव जबतक मनुष्य उस स्थितिके परे नहीं चला जाता जिसमें यह उपयोगी है, तबतक तर्क-बुद्धि ही मालिक होनी चाहिये। और, जैसा कि मैंने कहा है, जबतक अहं-भाव बना हुआ है और जबतक कामनाएं हैं, और जबतक आवेग-प्रवेग हैं, और जबतक भावावेग तथा जबतक अभिरुचियां हैं, और जबतक आकर्षण और विकर्षण आदि हैं, जबतक ये सब चीजें हैं, तर्क-बुद्धि संपूर्ण रूपमें उपयोगी है।

मैं इसके अतिरिक्त यह जोड़ दूंगी कि आगे तर्क-बुद्धिका सहारा न लेनेके लिये एक दूसरी बिलकुल अनिवार्य अवस्था है और वह है विरोधी शक्तियोंके सुझावोंके लिये अपनी सत्ताका कोई दरवाजा, कोई भाग न खोलना। कारण, तुम अगर विरोधी सुझावोंको प्रत्युत्तर देनेकी आदतसे पूर्णतः मुक्त नहीं हो जाते और फिर भी अपनी तर्क-बुद्धि त्याग देते हो तो तुम स्वयं विवेकको, अर्थात् सामान्य बुद्धिको भी त्याग देते हो। हां, सुझावों तथा विरोधी प्रभावोंसे मुक्त होनेके लिये तुम्हें पूरी तरह भगवान्के प्रभावके अधीन होना चाहिये।

अब तुम समस्याको देखो; यह थोड़ी कठिन है। इसका मतलब है कि जबतक मनुष्य किसी पूर्ण रूपसे आलोकित और रूपांतरित सत्ताकी उपस्थितिमें नहीं होते, तबतक सर्वदा उन्हें अपनी तर्क-बुद्धिके अनुसार कार्य करनेकी सलाह देना उत्तम होता है। यह संभवतः एक प्रकारका परिसीमन है—यह यथार्थमें एक महान् परिसीमन है—परंतु यह एक संयम भी है और यह तुम्हें एक ऐसा अर्द्ध-मूढ़ बननेसे रोकता है जैसे मूढ़ोंकी बहुत बड़ी संख्या इस जगत्में है।

तर्क-बुद्धि एक बहुत ही आदरणीय व्यक्ति है। सभी आदरणीय लोगोंकी तरह इसकी भी अपनी सीमाएं तथा अपनी निश्चित सम्मतियां हैं, मगर वे उसको बहुत उपयोगी होनेसे नहीं रोकतीं। और वह, दूसरी ओर, अपने-आपको मूर्ख बनानेसे तुम्हें रोकती है। यदि तुम्हारे अंदर तर्क-बुद्धि न होती तो तुम बहुत सारी ऐसी चीजें करते जो तुम्हें सीधे तुम्हारे सर्वनाशकी ओर ले जातीं और एकदम दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम उत्पन्न कर सकतीं, क्योंकि जबतक तुम उच्चतर स्तरोंको नहीं प्राप्त कर लेते, विवेक करनेका

तुम्हारा सर्वोत्तम साधन वह बुद्धि ही है। जब मनुष्य बुद्धिकी बात नहीं सुनता तो वह सब प्रकारकी मूर्खताओंमें ले जाया जा सकता है। स्वभावतः, यह न तो आदर्श है और न शिखर, यह मात्र एक प्रकारका संयम और जीवनके एक अच्छे तरीकेका मार्ग-दर्शक है, यह तुम्हें अमिताचारों, अतियों, असंयमित मनोवेगों तथा सबसे बढ़कर उन आवेशपूर्ण कार्योंसे बचाता है जो तुम्हें अथाह गर्त्तमें गिरा सकते हैं। बस।

मनुष्यको तर्क-बुद्धिके बिना एकदम सुरक्षित रूपमें कार्य करनेके योग्य होनेके लिये अपने विषयमें बहुत निस्संदिग्ध, अहं-भावसे बिलकुल मुक्त तथा भागवत संकल्प-शक्तिके प्रति पूर्णतः समर्पित होना चाहिये।

कभी-कभी सच्ची और झूठी तर्क-बुद्धियोंमें विभेद करना कठिन होता है!

आह! पर नहीं, तुम शब्दोंके साथ खेल रहे हो। उस शब्दका, जैसे कि तुम उसका यहां व्यवहार कर रहे हो, एकदम दूसरा अर्थ है, एकदम; वे दो बहुत भिन्न-भिन्न चीजें हैं। तर्क-बुद्धि विवेक करनेकी एक शक्ति है। तुम यहां चर्चा करते हो उन तर्कों या कारणोंकी जिन्हें तुम किसी एक या दूसरा कार्य करनेके लिये स्वयं अपने सामने रखते हो — वे तो बहाने हैं जिन्हें मन अपने-आपको देता है; परंतु वहां 'रीज़न' (तर्क-बुद्धि) का अर्थ बिलकुल भिन्न है, वह ठीक वही शब्द बिलकुल नहीं है, यद्यपि वह एक ही ढंगसे पढ़ा और लिखा जाता है। तुम इसे अपने शब्द-कोषमें देख सकते हो, वह तुम्हें 'रीज़न' शब्दकी दो पूर्णतः भिन्न परिभाषाएं देगा। जो तर्क या कारण मनुष्य अपने-आपको देता है — यानी, जो बहाने या व्याख्याएं मनुष्य अपने-आपको देता है — वे सदैव अहंकारसे तथा हम सचमुच विचार-वान् व्यक्ति हैं इस धोखेमें अपनेको डालनेकी आवश्यकतासे रंजित होते हैं। अपने-आपको विश्वास दिलानेका साढ़े-निन्यानवे प्रतिशत यही उपाय है कि हम बहुत अच्छे हैं, जो कुछ हम करते हैं वह बहुत अच्छा है, जो कुछ हम अनुभव करते हैं वह बहुत अच्छा है, जो कुछ हम सोचते हैं वह बहुत अच्छा

---

[1]प्रश्न फ्रेंच भाषामें किया गया था और यहां 'रेज़ों' (Raison, अंगरेजीमें Reason) शब्दका व्यवहार किया गया था जिसका अर्थ अंगरेजीके 'रीज़न' शब्दकी तरह 'बुद्धि', 'तर्क', 'कारण' आदि होता है। प्रश्नकर्त्ताके इस शब्दके व्यवहारमें कुछ गलती है और इसकी व्याख्या उत्तरमें की गयी है। पाठक इस बातको पृष्ठ-भूमिमें रखकर इस वार्त्तालापको पढ़ें। — अनुवादक

है; ऐसा अपने-आपको यह धारणा देनेके लिये किया जाता है कि हम वास्तवमें बहुत संतोषप्रद हैं। अतः, जो कुछ तुम करते हो, यदि तुम थोड़ा-सा विचार करना आरंभ करो तो तुम अपने-आपसे कहोगे : पर निश्चय ही, मैंने वह इसलिये किया क्योंकि वह ऐसा था, एक अच्छा कारण है; मैंने ऐसा अनुभव किया, पर उसका कारण यह था, उसके लिये वह एक अत्युत्तम कारण है—आदि-आदि। परंतु विचारवान् होनेके साथ इसका कोई संबंध नहीं, बल्कि यह उससे उलटा है। यह अपने-आपको धोखा देने तथा प्रगति करनेसे अपनेको दूर रखनेका एक अत्युत्तम उपाय है। यह अपनी आंखोंमें अपनेको उचित सिद्ध करना है।

परंतु ये सर्वदा ही वे कारण होते हैं जो तुमपर चूनेकी सफेदी चढ़ा देते और दूसरोंको काला बना देते हैं; यह अपने अन्तःकरणको बहुत सुखपूर्वक रखनेका एक उपाय है, है न? जो कुछ तुम्हारे साथ घटता है वह परिस्थितियोंका दोष होता है, यदि तुमने कोई भूल की है तो यह दूसरोंका दोष है, यदि तुम्हारे अंदर बुरी प्रतिक्रिया हुई है तो वास्तवमें दूसरे लोग ही उसके उत्तरदायी हैं, आदि-आदि; तुम अपने मनके विचारालयसे बर्फकी तरह निष्कलंक निकल आते हो।

बस, और कुछ?

५ दिसंबर, १९५६

अब हम यह पढ़ने जा रहे हैं कि पिछले पांच अनुच्छेदोंमें जो कुछ कहा गया था उसे संसिद्ध करनेके लिये क्या करना चाहिये :

> "तर्कको परिणत कर दो सुसंबद्ध संबोधिमें; तुम्हारा सब कुछ ज्योति बन जाय। यही है तुम्हारा लक्ष्य।
>
> "प्रयत्नको परिणत कर दो आत्म-शक्तिके एकरस महान् प्रवाहमें; तुम्हारा सब कुछ सचेतन शक्ति बन जाय। यही है तुम्हारा लक्ष्य।
>
> "भोगको परिणत कर दो प्रशांत निर्विषय हर्षातिरेकमें;

> तुम्हारा सब कुछ आनन्द बन जाय। यही है तुम्हारा लक्ष्य।
>
> "विभक्त व्यक्तित्वको परिणत कर दो विश्व-पुरुषमें; तुम्हारा सब कुछ दिव्य बन जाय। यही है तुम्हारा लक्ष्य।
>
> "पशुको परिणत कर दो पशु-पतिमें; तुम संपूर्ण रूपसे श्रीकृष्ण बन जाओ। यही है तुम्हारा लक्ष्य।"
>
> (श्रीअरविन्द, 'विचार और झांकियां')

यही है जिसे करना चाहिये।

मैं समझती हूं किसी व्याख्याकी कोई जरूरत नहीं है, यह पर्याप्त रूपमें स्पष्ट है... जबतक कि तुम्हारे पास कोई प्रश्न न हो? हां? (एक बच्चसे) बहुत अच्छा, अपना प्रश्न पूछो।

यहां लिखा है: "भोगको परिणत कर दो प्रशांत निर्विषय हर्षातिरेकमें"?

हां, इसका अर्थ है कि उसका कोई कारण नहीं है।

साधारणतया मनुष्य सुख या हर्ष या भोग पाता है इस वस्तु या उस वस्तुके कारण — अत्यंत स्थूल वस्तुओंसे लेकर मनोवैज्ञानिक अथवा मानसिकतकसे। उदाहरणार्थ, एक मानसिक वस्तुको लो: तुम एक वाक्य पढ़ते हो जो तुम्हें बड़ा हर्ष देता है, क्योंकि वह तुम्हें एक प्रकाश, एक नया बोध प्रदान करता है; अतएव, वह हर्ष ऐसा हर्ष होता है जिसका एक विषय है, चूंकि तुमने वह वाक्य पढ़ा इसलिये तुम यह हर्ष अनुभव करते हो, यदि तुमने वह वाक्य न पढ़ा होता तो तुम वह हर्ष अनुभव न करते। उसी तरह, जब तुम सुन्दर संगीत सुनते हो या जब तुम कोई सुन्दर चित्र अथवा कोई सुन्दर भूदृश्य देखते हो, तो वह तुम्हें हर्ष देता है; उन वस्तुओंके बिना तुम वह हर्ष अनुभव न करते; वास्तवमें उन्हींने तुम्हें हर्ष दिया। वह ऐसा हर्ष है जिसका एक विषय है, जिसका एक कारण है।

श्रीअरविन्द कहते हैं कि इस भोग, इस प्रकारके हर्ष, इस सुखके स्थानपर, वह चाहे जिस किसी स्तरपर, ऊंचे या नीचे स्तरपर हो, एक आंतरिक आनंद आ जाना चाहिये जो समूची सत्तामें संचारित होता और सतत होता है, "एकरूप", अर्थात् ऐसी चीज है जिसे अपने अस्तित्वके लिये किसी हेतु, किसी कारणकी आवश्यकता नहीं होती। कारण होता है दिव्य आनंद के

साथ संपर्क, 'आनंद' जो सर्वत्र तथा सभी वस्तुओंमें है। अतः एक बार जब तुम्हारा संबंध इस विश्व-व्यापी तथा शाश्वत आनंदके साथ हो जाता है तो फिर हर्ष पानेके लिये किसी बाहरी विषय, किसी बाहरी कारणकी आवश्यकता नहीं होती; वह निर्विषय होता है, और निर्विषय होनेके कारण वह सतत, "एकरूप" हो सकता है। तुमने अपने ही अंदर हर्षका मूल-स्रोत पा लिया है, अर्थात्, भागवत उपस्थिति, भगवान्‌के साथ संपर्क पा लिया है; और स्वयं अपने अंदर हर्षका यह स्रोत पा लेनेके कारण इस हर्षको पानेके लिये अन्य किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती। और चूंकि उसका कोई कारण नहीं, वह बंद नहीं होता; वह एक सतत अवस्था होती है।

(बालकसे) तुम समझते हो? बहुत अच्छी तरह नहीं? हां — आह! मैंने अभी-अभी जो कुछ कहा है उसपर अन्य किसीको कुछ पूछना है?

अंतिम पैरा, प्यारी माताजी: "पशुको परिणत कर दो पशु-पतिमें; तुम संपूर्ण रूपसे श्रीकृष्ण बन जाओ।"

ओह! वह एक रूपक है।

पशु — अर्थात् भौतिक सत्ताकी समस्त सहज-प्रवृत्तियां, भौतिक सत्ताकी आवश्यकताएं तथा सभी आदतें, भौतिक सत्ताके सभी आवेग-प्रवेग, सभी गति-विधियां, भोजनकी आवश्यकता, नींदकी आवश्यकता, क्रियाशीलताकी आवश्यकता, यथार्थतः वह सब कुछ जो सत्ताके पशु-भागका निर्माण करता है। और फिर श्रीअरविंद देते हैं कृष्णका प्रतीक, जिन्हें वह पशु-पति कहते हैं जो केवल एक प्रतीक है; इसका अर्थ यह है कि वास्तवमें भागवत चेतना ही वह चीज है जो भौतिक सत्ताकी समस्त क्रियावलीपर अधिकार जमाती है और उसकी सभी जरूरतोंको नियंत्रित और व्यवस्थित करती है, जो मनुष्यमें विद्यमान भौतिक पशुकी गति-विधियोंको संयमित और परिचालित करती है। श्रीअरविंद उस चीजका व्यवहार कर रहे हैं जिसे हम भारतीय पौराणिक गाथा कह सकते हैं और भगवान्‌के प्रतीकके रूपमें कृष्णको तथा मनुष्यकी पाशविक सहज-वृत्तियों एवं पाशविक आवश्यकताओं-के प्रतीकके रूपमें पशु-दलको ले रहे हैं। अतएव, पशु-दलमें होनेके बदले तुम वह व्यक्ति बन जाते हो जो पशु-दलको चलाता है और उनकी गति-विधियोंको अपने ऊपर आधिपत्य जमानेका अवसर देनेके बदले उन सबपर शासन करता है...। मनुष्य जुड़ा होता है। साधारण जीवनमें मनुष्य भौतिक जीवन तथा वह जिन आवश्यकताओंको निरूपित करता है — भोजन, नींद, क्रियाशीलता, विश्राम आदिकी आवश्यकता — उनसे बंधा

होता है, सो, एक पशु बने रहनेकी जगह, अर्थात्, इन चीजोंके अधीनस्थ बने रहते और उनका नियंत्रण माननेके लिये विवश होनेकी जगह, वह पशु-दलका 'पति' या 'चालक' बन जाता है जिसे श्रीअरविंद कृष्ण कहते हैं, अर्थात् भगवान् जो सत्ताकी सभी गति-विधियोंको अपने अधिकारमें ले लेते हैं और दिव्य सत्यके अनुरूप उन्हें मार्ग दिखाते तथा परिचालित करते हैं।

प्यारी माताजी, जब मनुष्यको विश्व-व्यक्तित्व प्राप्त हो जाता है तो क्या उसके बाद व्यष्टिगत व्यक्तित्वकी आवश्यकता नहीं रहती ?

आवश्यकता ? . . . मैं नहीं समझ रही।

उसका क्या उपयोग है ?

परंतु यही एकाकी व्यक्ति — विश्व-व्यक्तिमें बदल जाता है। व्यक्तित्वका साधारण बोध रखनेकी जगह — जैसा कि वह है — उस सीमित व्यक्तिका, लाखों-करोड़ोंके बीच एक छोटे-से व्यक्तिका बोध रखनेकी जगह, इस प्रकार अनुभव करनेकी जगह, यही पृथक्, एकाकी व्यक्ति सबके बीचमें विद्यमान यही छोटा-सा व्यक्ति विश्व-व्यक्तिका भान पाकर स्वभावतः दिव्य बन जाता है। यह एक रूपांतर है। यह एक वस्तुका दूसरीमें रूपांतर हो जाना है।

और श्रीअरविंदका तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य अपना शरीर छोड़ देता है, वह शरीरकी बात नहीं कहते; वह प्राण-चेतना, मनोवैज्ञानिक चेतना, पृथक् व्यक्ति-भावके बोधकी चर्चा करते हैं। जरा सोचो, तुम, बच्चे, तुम इतने सारे दूसरे व्यक्तियोंके बीच एक व्यक्ति हो; तो, वैसा होनेके बदले, तुम विश्व-व्यक्तित्वको अनुभव करते हो; विभाजन और पार्थक्यका यह बोध चला जाता है, यह सीमितता दूर हो जाती है। परंतु तुम अपने शरीरमें बने रहते हो, तुम आवश्यक रूपसे अपना शरीर खो देनेके लिये बाध्य नहीं होते; शरीर एक दूसरी चीज है।

और ठीक शरीरके विषयमें ही वह अंतिम पैरामें कहते हैं: "पशुको रूपांतरित कर दो पशु-पतिमें।" जब मनुष्य एक दिव्य चैतन्य, एक दिव्य पुरुष बन जाता है तो वह समस्त शारीरिक क्रियावलीका स्वामी बन सकता है, कारण, मनुष्य उन सबसे उच्चतर है; वह इन क्रियाओंसे बद्ध नहीं होता, उनके अधीनस्थ नहीं होता, वह उनपर अधिकार रखता है, उसके

अंदर व्यक्तिकी, तुच्छ पृथक् व्यक्तिकी चेतनासे महत्तर एक चेतना होती है; वह जरा अधिक प्रगति कर सकता है और सत्ताकी इन सब पाशविक आवश्यकताओंका गुलाम होनेकी जगह वह उनपर आधिपत्य जमाता है। परंतु ये दो चेतनाएं नहीं हैं जिनमेंसे एक दूसरीके ऊपर अध्यारोपित है, यह एक ही चेतना है जो दूसरीमें परिवर्तित हो गयी है।

(बच्चीकी ओर देखते हुए) दुःखकी बात है कि यह बिलकुल नहीं समझती! यह हक्की-बक्की मेरी ओर ताक रही है!

तुम अपने-आपसे यह पूछ रही हो कि एक ऐसे शरीरके अंदर मनुष्य जो कुछ है उससे भिन्न कैसे हो सकता है? परंतु हां, हो सकता है। (हंसते हुए) यह एक ऐसी चीज है जो हो सकती है!

(मौन)

(श्रीमाताजी लिखित प्रश्नोंको देखती हैं)

यह रहा तुम्हारे प्रश्नका ठीक-ठीक परिपूरक। मुझसे पूछा गया है:

वैश्व व्यक्तित्वके विशिष्ट लक्षण क्या हैं?

अत्यंत विशिष्ट लक्षण है चेतनाका ठीक यह परिवर्तन। एक तुच्छ, एकाकी व्यक्तिके जैसा, दूसरोंसे पृथक्कृत अनुभव करनेके बदले, वह अपनेको एक विराट् व्यक्ति, सभी दूसरोंको धारण किये हुए और सभी दूसरोंके साथ घनिष्ठ रूपमें युक्त तथा तादात्म्य अनुभव करता है।

और मुझसे पूछा गया है:

यह व्यक्ति किस तरह बोलता और कार्य करता है?

बोलता!... प्रश्न बहुत अच्छे ढंगसे नहीं रखा गया है, क्योंकि तुम यदि पूछो कि किस तरह वह बोलता है तो, हां, वह वैसे ही बोलता है जैसे प्रत्येक व्यक्ति बोलता है, अपनी आवाजसे, अपनी जीभसे, अपने मुंह और अपने शब्दोंसे! यदि तुम पूछते कि जो कुछ वह कहता है उसका स्वरूप क्या है...। स्पष्ट ही, यदि वह चेतनाकी उस स्थितिको व्यक्त करता है जिसमें वह रहता है तो वह चेतनाकी विश्व-व्यापी स्थितिको व्यक्त करता है, और साधारण मनुष्योंसे भिन्न प्रकारसे वस्तुओंको देखनेके कारण, वह उन्हें भिन्न रूपमें, जो कुछ वह देखता और अनुभव करता है उसके

अनुसार, व्यक्त करेगा। कर्म करनेका जहांतक संबंध है...। यदि उसकी सत्ताके सभी अंग समस्वर हैं तो स्पष्ट है कि उसके कार्य उसकी चेतनाकी स्थितिको अभिव्यक्त करेंगे।

अब ऐसे लोग हैं जो अपनी सत्ताके एक अंगमें बहुत ही निश्चित अनुभूतियां प्राप्त करते हैं, पर ये अनुभूतियां आवश्यक रूपसे उसकी सत्ताके अन्य भागोंमें संचारित नहीं होतीं अथवा कम-से-कम, तुरत नहीं होतीं। यह बिलकुल संभव है कि यद्यपि साधना या ध्यानके द्वारा अथवा भगवत्कृपाकी सहायतासे कोई व्यक्ति विश्व-पुरुषकी चेतना प्राप्त कर ले, पर फिर भी भौतिक रूपमें बिलकुल साधारण, अज्ञात ढंगसे कार्य करना जारी रखे, क्योंकि उसने अपनी सारी सत्ताका एकीकरण करनेकी परवाह नहीं की, और यद्यपि उसकी सत्ताका एक भाग विशालतः सचेतन है, वह ज्योंही खाना, सोना, चलना, कार्य करना आरंभ करता है, वह यह सब सभी मानव-पशुओंकी तरह ही करता है। ऐसा हो सकता है। अतएव, फिर भी यह एक नितांत व्यक्तिगत प्रश्न है, यह प्रत्येक व्यक्तिपर, उसके विकासकी अवस्थापर निर्भर करता है।

परंतु, यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसने अपनी सत्ताको एकीभूत करनेकी, उसके सभी भागोंको केंद्रीय सत्यके साथ एकरूप करनेकी सावधानी बरती है, तो वह स्वभावतः पूर्णतः अहंकार-शून्य होकर, दूसरोंको समझनेकी शक्तिके साथ, ऐसी समझ-शक्तिके साथ, जो उसे दूसरोंके साथ अपने तादात्म्यके द्वारा प्राप्त होती है, कार्य करेगा, और इसलिये वह एक ज्ञानीकी तरह कार्य करेगा। मगर वह निर्भर करेगा उस सावधानीपर जो उसने केंद्रीय चेतनाके चारों ओर अपनी संपूर्ण सत्ताको एकीभूत करनेके लिये बरती है।

उदाहरणार्थ, आहार और निद्रा जैसी अत्यंत स्पष्ट, स्थूल वस्तुओंको लो: यह बिलकुल संभव है कि, यदि उसने मानों अपनी नयी चेतनाको अपने शरीरमें भर देनेकी सावधानी न बरती हो तो आहार और निद्राकी उसकी आवश्यकता लगभग वैसी ही रह जायगी और उनके ऊपर उसका अधिक नियंत्रण नहीं रहेगा। दूसरी ओर, अगर उसने अपनी सत्ताको एकाकार करनेकी सावधानी बरती है और अपनी चेतनाको अपने शरीरका गठन करनेवाले तत्त्वोंमें भर दिया है तो हां, उसकी नींद एक सचेतन तथा वैश्व प्रकारकी नींद होगी; वह जब चाहे यह जान सकेगा कि कहींपर, इस व्यक्तिमें या उस व्यक्तिमें, संसारके इस कोने या दूसरे कोनेमें, क्या हो रहा है; और उसकी चेतना, विश्व-व्यापी होनेके कारण, स्वभावतः ही उसे इन सभी वस्तुओंके संपर्कमें ला देगी जिन्हें वह जानना चाहता है। अचेतन

और निरर्थक नींद लेनेके बदले, नितांत स्थूल दृष्टिकोणको छोड़कर, वह एक फलोत्पादक तथा पूर्णतः सचेतन नींद लेगा।

आहारके विषयमें भी वही बात होगी। अपनी आवश्यकताओंका, सामान्यतया लगभग पूर्ण अज्ञानके अंदर जो सब मनुष्यकी आवश्यकताएं होती हैं उनका, क्रीतदास होनेके बदले, वह, एक साथ ही अपने शरीरकी आवश्यकताओं तथा उनपर नियंत्रण रखनेके उपायोंके विषयमें, पूर्णतः सचेतन होगा। वह अपनी आवश्यकताओंपर संयम रखने और उनपर शासन करने तथा जो कुछ वह करना चाहता है उसकी आवश्यकताके अनुरूप उन्हें रूपांतरित करनेमें सक्षम होगा।

परंतु इसके लिये एक महान् आत्म-प्रभुत्वकी तथा उस सिद्धिकी आवश्यकता होती है जिसके बारेमें श्रीअरविंद इस अंतिम पैरामें कहते हैं, अर्थात्, यहां नीचे, प्रकृतिके नियमोंके अधीन बने रहने, उन नियमोंद्वारा अधिकृत तथा उनके अधीनस्थ होनेके लिये, क्योंकि उसके बिना मनुष्य पूरी तरह असंतुलित हो जाता है, बाध्य बने रहनेके बदले, वह प्रभु होता है, वह इन चीजोंकी ओर ऊपरसे देखता है, इन चीजोंके सत्यको जानता है और उसे शरीरके ऊपर लादता है जिसे सामान्यतया बिना कठिनाईके उसे स्वीकार करना चाहिये।

इसी विषयपर और कुछ?

माताजी, "सुसंबद्ध संबोधिका" क्या तात्पर्य है? ("तर्कको परिणत कर दो सुसंबद्ध संबोधिमें।")

सुसंबद्ध-संबोधि...। कारण, प्रारंभमें, जब मनुष्य संबोधिके राज्यके संपर्कमें आता है, वह एक प्रकारकी अनियमित्त अवस्था होती है; अर्थात्, कभी-कभी, कमोबेश सुस्पष्ट या सचेतन कारणोंसे, एकाएक मनुष्यको एक अंतर्ज्ञान प्राप्त होता है अथवा वह संबोधिकी आत्माद्वारा अधिकृत हो जाता है; परंतु यह विधिवत् नहीं होता, स्वेच्छापूर्वक उत्पन्न, सुसंबद्ध तथा केंद्रीय संकल्पके अनुकूल कोई व्यापार नहीं होता। परंतु श्रीअरविंद कहते हैं कि यदि संपूर्ण तर्क-बुद्धि रूपांतरित हो जाय — वह रूपांतरकी बात कहते हैं, समझे — यदि तर्क-बुद्धि संबोधिके असली तत्त्वमें, सार-पदार्थमें रूपांतरित हो जाय तो आंतर मनकी समूची आंतरिक क्रिया संबोधिकी क्रिया बन जाती है और उसी तरह सुसंबद्ध होती है जैसे कि तर्क-बुद्धि सुसंबद्ध होती है, अर्थात्, वह जब चाहो तब सक्रिय होती, सभी आवश्यकताओंका प्रत्युत्तर देती और एक विधिवत् रीतिसे प्रकट होती है।

यह एक ऐसी चीज नहीं होती जो प्रकट होती और विलीन हो जाती है और कोई नहीं जानता, कैसे या क्यों; यह तर्क-बुद्धिके, जो कि मानव-मनका उच्चतर भाग है, मानसिक ज्योतिसे एक उच्चतर ज्योतिमें, संबोधि-की ज्योतिमें, रूपांतरित होनेका परिणाम होती है। अतः, वह अनियमित तथा असमन्वित होनेकी जगह सुव्यवस्थित, सुसंबद्ध हो जाती है।

१२ दिसंबर, १९५६

हम पहले कदमपर ही सबसे बड़ी कठिनाईमें कूद रहे हैं! मैं समझती हूं यह एक अकेला अनुच्छेद इस शामके लिये काफी होगा...।

> **"जो कुछ मैं अभी नहीं कर सकता, वह इस बातका सूचक है कि भविष्यमें मैं क्या कर सकूंगा। असंभावनाका भान ही है समस्त संभावनाओंका शुभारंभ। चूंकि यह विनश्वर विश्व एक विरोधाभास और एक असंभावना था, इसीलिये शाश्वत प्रभुने अपनी सत्तामेंसे इसका निर्माण किया।"**
>
> (श्रीअरविंद, 'विचार और झांकियां')

क्या तुम जानते हो कि यह तुम्हें क्यों विरोधाभास प्रतीत होता है? इसका कारण बस यह है कि श्रीअरविंदने विचार-धाराकी मार्ग-दर्शी शृंखला-को छोड़ दिया है, तुम्हें एक-एक पग चलाकर एक विचारसे दूसरेपर नहीं ले गये हैं। इसके अतिरिक्त यह और कुछ नहीं है। यह अपनी सरलता-में प्राय: प्रारंभिक चीज है।

और मैं तुम लोगोंसे एक प्रश्न पूछने जा रही हूं (पर वास्तवमें मैं किसी उत्तरकी आशा नहीं करती), तुम्हें एक बहुत सरल बात बतलानेके लिये : तुम्हें कोई चीज असंभव कब प्रतीत होती है? — बस, उसी समय जब तुम उसे करनेकी कोशिश करते हो। यदि तुमने उसे करनेकी कभी चेष्टा न की होती तो वह तुम्हें कभी असंभव प्रतीत न होती।

और यह कैसे होता है कि तुम उसे करनेकी कोशिश करते हो? — क्योंकि यह चीज कहींपर तुम्हारी चेतनामें मौजूद होती है। यदि यह तुम्हारी चेतनामें न होती तो तुम इसे करनेकी कोशिश ही न करते;

और जिस क्षण यह तुम्हारी चेतनामें होती है, यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि यह ऐसी चीज है जिसे तुम संसिद्ध कर लोगे। केवल वही चीज तुम संसिद्ध नहीं कर सकते जो तुम्हारी चेतनामें न हो। बात इतनी सरल है!

केवल, इस बातको इस ढंगसे तुम्हें बतानेके बदले, श्रीअरविंद इसे ऐसे ढंगसे रखते हैं जो तुम्हारे चिंतनको उकसाता है। यही विरोधाभासोंका गुण है, वे तुम्हें विचार करनेके लिये बाध्य करते हैं।

तब, प्यारी माताजी, "असंभव" का अर्थ क्या है?

संसारमें कोई भी चीज असंभव नहीं है सिवा उसके जो तुम्हारी चेतनासे बाहर है। और जैसे तुम्हारी चेतना बढ़ सकती है वैसे ही जो चीज आज तुम्हारी चेतनामें नहीं है वह कुछ समय बाद तुम्हारी चेतनामें हो सकती है, क्योंकि चेतना विस्तृत हो सकती है, अतः, कालकी शाश्वततामें कोई चीज असंभव नहीं है।

वर्तमान मुहूर्त्तमें (मैंने यह चीज तुम्हें पहले समझायी है), वर्तमान मुहूर्त्तमें, एक खास क्षणमें, किन्हीं निर्दिष्ट परिस्थितियोंमें, असंभावनाएं होती हैं। परंतु शाश्वत दृष्टिकोणसे कालकी शाश्वतताके अंदर कोई चीज, कोई भी चीज असंभव नहीं है। और प्रमाण यह है कि सब कुछ होगा। सभी वस्तुएं, केवल वे ही नहीं जो आज बुद्धिगम्य हैं, बल्कि वे भी जो आज बुद्धिगम्य नहीं हैं, सब-की-सब न केवल संभव हैं, बल्कि संसिद्ध होंगी। कारण, जिन्हें हम 'शाश्वत', 'अनंत', 'परात्पर', 'परब्रह्म' कहते हैं (हम उन्हें बहुत-से नाम देते हैं, पर यथार्थमें वह सनातन, अनंत, निरपेक्ष हैं), वह अपने अंदर न केवल उस सबको जो है, पर उस सबको भी जो होगा, शाश्वत रूपसे, अनंत रूपसे, धारण करते हैं; और इसलिये कुछ भी असंभव नहीं है। केवल, अनित्य और अनात्म सत्ताकी चेतनाके लिये सभी वस्तुएं एक ही कालमें संभव नहीं हैं; उन्हें संभव बनानेके लिये देश और कालका विचार करना आवश्यक है। परंतु इस अभिव्यक्तिसे बाहर प्रत्येक वस्तु युगपत्, शाश्वततः शक्तिशाली रूपमें, अपनी संभावनाकी स्थितिमें होती है। और सच पूछो तो यही है 'सर्व', जो अबोधगम्य है क्योंकि वह व्यक्त नहीं है, और जो बोधगम्य होनेके लिये व्यक्त होते हैं।

और यही बात है जो श्रीअरविंद हमसे कह रहे हैं। यह कालगत विश्व, अर्थात् वह विश्व जो उन्मीलित हो रहा है, वह विश्व जो काल

और देशके बाहर एक ही समय, एक ही स्थानमें संपूर्ण रूपसे अस्तित्व नहीं रखता, वह विश्व जो कालगत और देशगत बनता है, क्रमबद्ध है — क्योंकि वह जो अभिव्यक्तिसे परे है, वह सचमुच एक प्रकारकी असंगति है, क्या तुम ऐसा नहीं समझते, और एक विरोधाभास है, वह इसका एकदम प्रतिषेध है। कालगत चेतनाके लिये, वास्तवमें वह अचित्य और अबोध्य है; और उसके लिये जो ःकालिक चेतनाके लिये अबोध्य है, यह कालिक चेतना अबोध्य है! ...हम, हम किसी ऐसी चीजकी धारणा नहीं बना सकते जो काल और देशमें नहीं है, क्योंकि स्वयं हम लोग काल और देशमें हैं; हम किसी ऐसी "वस्तु"का कुछ बोध प्राप्त करनेके लिये उसके निकट पहुंचनेका प्रयत्न करते हैं जो अभिव्यंजनीय नहीं है और एक साथ ही शाश्वत रूपसे और कालके परे सब कुछ है। हम कोशिश कर सकते हैं; हां; और हम सब प्रकारके शब्दोंका व्यवहार करते हैं, पर हम उसे समझनेमें सफल नहीं होते, जबतक कि हम काल और देशके बाहर नहीं चले जाते। और हां, समस्याको उलट देनेपर, 'उस' के लिये जो काल और देशके परे है, काल और देश ऐसी चीजें हैं जो विरोधाभासी और अबोधगम्य हैं: वे अस्तित्व नहीं रखतीं, वे वहां नहीं होतीं। और श्रीअरविंद कहते हैं : "चूंकि यह कालगत विश्व एक विरोधाभास तथा एक असंभावना था, इसीलिये शाश्वत प्रभुने अपनी सत्तामेंसे इसका निर्माण किया", अर्थात्, उन्होंने अपना अनस्तित्व अस्तित्वमें बदल दिया — यदि तुम इसे हंसी-मजाकके रूपमें कहना पसंद करो — ताकि वह समझें कि यह क्या है! कारण, जबतक वह काल और देश न बन जाते, वह इसे न जान पाते!

परंतु तुम यदि इस अनुच्छेदके प्रारंभकी ओर वापस आओ तो यह अत्यधिक व्यावहारिक, ठोस तथा बहुत उत्साहवर्धक बन जाता है...। कारण, हम यह कहते हैं: असंभवका भाव मनमें लानेके लिये, कोई चीज "असंभव" है यह सोचनेके लिये, तुम्हें इसके लिये प्रयास करना होगा। उदाहरणार्थ, यदि इस मुहूर्त्त तुम यह अनुभव करते हो कि जो मैं तुमसे कह रही हूं वह समझना असंभव है (हंसते हुए), तो इसका मतलब है कि तुम इसे समझनेका प्रयत्न कर रहे हो; और यदि तुम इसे समझनेका प्रयत्न कर रहे हो तो इसका मतलब है यह तुम्हारी चेतनाके भीतर है, नहीं तो तुम इसे समझनेका प्रयास न कर पाते — जैसे मैं, मैं तुम्हारी चेतनामें हूं, जैसे मेरे शब्द तुम्हारी चेतनामें हैं, जैसे श्रीअरविंदने जो कुछ लिखा है वह भी तुम्हारी चेतनामें है, अन्यथा इस सबके साथ तुम्हारा संपर्क न हो पाता। परंतु इस समय, तुम्हारे

मस्तिष्कमें कुछ छोटे-छोटे कोषोंके अभावके कारण, समझना असंभव है, इसके सिवा और कुछ नहीं है, यह बड़ी सरल बात है। और चूंकि ध्यान देने, एकाग्र होने तथा प्रयत्न करनेके कारण ये कोष विकसित होंगे, जब कि तुमने ध्यानपूर्वक सुना है और समझनेका प्रयास किया है इसलिये, हां, कुछ घंटों या कुछ दिनों या कुछ महीनों बाद, तुम्हारे मस्तिष्कमें नये व्यावर्त्त निर्मित हो जायंगे, और तब यह सब स्वाभाविक बन जायगा। तुम्हें अचंभा होगा कि कैसे एक ऐसा समय था जब तुम नहीं समझते थे : "यह इतना सरल है!" परंतु जबतक ये व्यावर्त्त वहां नहीं हैं, तुम प्रयास कर सकते हो, तुम अपने लिये सिर-दर्द भी मोल ले सकते हो, पर तुम नहीं समझ सकोगे।

यह बड़ा उत्साहवर्द्धक है क्योंकि, प्रधानतया, एकमात्र आवश्यक बात है इसे चाहना और जरूरी धैर्य बनाये रखना। आज तुम्हारे लिये जो कुछ अबोध्य है वह थोड़े दिनोंमें ही बिलकुल स्पष्ट हो जायेगा। और इस बातपर ध्यान दो कि तब तुम्हारे लिये यह आवश्यक नहीं होगा कि तुम प्रयास करने और समझनेके लिये प्रत्येक दिन और प्रत्येक क्षण सिर-दर्द मोल लो! एक बहुत सरल-सी चीज पर्याप्त है : यथासंभव अच्छी तरह सुनना, समझनेके लिये एक प्रकारकी इच्छा या अभीप्सा अथवा, तुम यह भी कह सकते हो कि, कामना बनाये रखना, और फिर, उतना काफी है। तुम विषयके भीतर घुसनेके लिये अपनी चेतनामें एक नन्हा-सा छिद्र बना दो; और तुम्हारी अभीप्सा वह छिद्र बना देती है, भीतर एक छोटे-से खांचेकी तरह, जो चीज बंद है उसमें कहींपर एक नन्हें छेदकी तरह, और फिर तुम उस विषयको भीतर घुसने दो। वह कार्य करेगा। और वह तुम्हारे मस्तिष्कमें समझनेके लिये जरूरी तत्त्वोंका निर्माण करेगा। तुम्हें अब उसके बारेमें सोचनेकी आवश्यकता नहीं होती। तुम अन्य दूसरी कोई चीज समझनेकी चेष्टा करते हो तुम काम करते, अध्ययन करते, चिंतन करते, सभी प्रकारकी चीजोंके विषयमें सोचते हो; और फिर कुछ महीनों बाद,— अथवा शायद एक वर्ष, शायद उससे कम, शायद अधिक बाद — तुम फिर-से पुस्तक खोलते हो और उसी वाक्यको पढ़ते हो, और वह तुम्हें स्फटिक जैसा स्वच्छ प्रतीत होता है! महज इस कारण कि समझनेके लिये जो कुछ आवश्यक था वह तुम्हारे मस्तिष्कमें तैयार हो गया है।

अतएव, यह कहते हुए मेरे पास कभी न आओ : "मैं इस विषयमें अच्छी नहीं हूं, मैं कभी दर्शन नहीं समझ सकूंगा अथवा मैं कभी गणित नहीं कर सकूंगा अथवा......", यह एकदम अज्ञान है, यह निपट अज्ञान है। ऐसी कोई चीज नहीं जिसे तुम नहीं समझ सकते यदि तुम अपने

मस्तिष्कको विस्तीर्ण और पूर्ण होनेके लिये समय दो। और तुम एक मानसिक रचनासे दूसरीमें (यह अध्ययनसे मिलता-जुलता है), एक विषयके दूसरेपर, एक भाषासे दूसरीपर जा सकते हो और अपने अंदर एक चीजके बाद दूसरीका निर्माण कर सकते हो, और इन सब तथा बहुत अधिक चीजोंको भी, बड़े सुसमंजस रूपमें धारण कर सकते हो, यदि तुम कुछ सावधानीके साथ ऐसा करो एवं उसके लिये आवश्यक समय दो। क्योंकि ज्ञानके इन विषयोंमेंसे प्रत्येक किसी आंतरिक रचनासे मिलता-जुलता है, और यदि तुम आवश्यक समय और ध्यान दो तो तुम इन रचनाओंकी संख्या असीम रूपमें बढ़ा सकते हो।

मैं उन सीमाओंमें बिलकुल विश्वास नहीं करती जिन्हें लांघा न जा सके।

परंतु मैं बहुत साफ तौरपर लोगोंकी मानसिक रचनाओं और आवश्यक प्रयासके सामने एक प्रकारके आलस्यको भी देखती हूं। और यह आलस्य तथा ये सीमाएं बीमारियोंके जैसी हैं। परंतु वे सुसाध्य बीमारियां हैं। जबतक कि तुम्हारे अंदर सचमुच मस्तिष्क-संबंधी कोई दोषपूर्ण रचना और किसी चीजका अभाव न हो, अर्थात्, जब तुम्हारा निर्माण हुआ था तब कोई चीज "विस्मृत" ही न हो गयी हो—तब वह अधिक कठिन है। यह बहुत अधिक कठिन है, पर यह असंभव नहीं है। उस प्रकारके, सचमुच अपूर्ण लोग होते हैं जो किसी बुरी तरह बनी चीजकी तरह होते हैं (न्यायतः उनके लिये कहीं अधिक अच्छा तो यही होता कि वे जीवित ही न रहते; पर फिर भी (हंसते हुए) यह कोई आम बात नहीं, साधारण मानवीय भावना नहीं)। पर हां, यदि तुम एक सामान्य व्यक्ति हो और यदि तुम कष्ट उठाओ और पद्धतिसे परिचित होओ तो, तुम्हारा विकास लगभग असीम है।

ऐसी एक धारणा है कि प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष प्रकारका होता है, उदाहरणार्थ, चीड़ कभी बलूत नहीं बनेगा और ताड़ कभी गेहूं नहीं बनेगा। यह स्पष्ट है। परंतु यह एक दूसरी बात है: उसका मतलब है कि तुम्हारी सत्ताका सत्य तुम्हारे पड़ोसीकी सत्ताका सत्य नहीं है। परंतु अपनी सत्ताके सत्यमें, तुम्हारे निजी गठनके अनुसार; तुम्हारी प्रगतिकी क्षमता लगभग असीम है। यह केवल तुम्हारे इस निजी विश्वाससे सीमित है कि वह सीमित है और सच्ची प्रक्रियाके बारेमें तुम्हारे अज्ञानसे सीमित है, अन्यथा . . .।

ऐसी कोई चीज नहीं जिसे मनुष्य न कर सके, बशर्ते कि वह उसे करनेकी विधि जानता हो।

(मौन)

यहां मेरे पास एक प्रश्न है जो जरा बचकाना है। किसीने पूछा है:

"क्यों कुछ लोग बुद्धिमान् होते हैं और दूसरे नहीं होते? क्यों कुछ लोग किन्हीं कार्योंको कर लेते हैं और दूसरे नहीं कर पाते?"

यह तो ऐसा है मानों तुम यह पूछो कि क्यों सब लोग एक समान नहीं हैं! तब इसका अर्थ होगा कि एकमात्र एक ही वस्तु होगी, एक अकेली वस्तु अनंत कालतक दुहरायी जाती रहेगी और वही समूचे विश्वका निर्माण करेगी ... मैं नहीं जानती, पर मुझे ऐसा लगता है कि उसके लिये एक विश्वको उत्पन्न करनेका कष्ट उठानेकी जरूरत न होती, बस, एक ही वस्तुका होना पर्याप्त होता!

परंतु जिस क्षण हम बहुत्वके, विश्वमें दो एक-जैसी चीजें न होनेके सिद्धांतको स्वीकार कर लेते हैं तब हम यह कैसे पूछ सकते हैं कि वे एक-जैसी क्यों नहीं हैं! यह ठीक इसी कारण वैसी नहीं है कि वे वैसी नहीं हैं, क्योंकि कोई दो चीजें एक समान नहीं हैं।

इस बातके पीछे एक दूसरी चीज है जिसके विषयमें लोग सचेतन नहीं होते, पर वह बहुत सरल और बड़ी बचकानी है। वह यह है: चूंकि जगत्में अनंत वैभिन्न्य है, चूंकि कुछ लोग एक प्रकारके हैं और दूसरे कुछ घटिया प्रकारके हैं, तो हां (निस्संदेह यहां कोई यह अपने-आपसे नहीं कहता पर यह बात वहां, सत्ताकी गहराईमें, अहंके मर्मस्थलमें छिपी रहती है), मैं, सर्वोत्तम प्रकारका मैं क्यों नहीं हूं? बस, यही बात है। वास्तवमें यह बात ठीक यह शिकायत करनेके बराबर है कि हम सर्वोत्तम प्रकारके नहीं हो पाये! यदि तुम इस प्रकारके प्रश्नोंको ध्यानपूर्वक देखो: क्यों कुछ लोगोंके पास तो बहुत है और दूसरोंके पास कम? क्यों कुछ लोग ज्ञानी हैं और दूसरे वैसे नहीं हैं? क्यों कुछ तो बुद्धिमान् हैं और दूसरे नहीं हैं? आदि-आदि। इसके पीछे है: क्यों वह सब मुझे प्राप्त नहीं है जो प्राप्त हो सकता था और क्यों मैं वह सब नहीं हूं जो मैं हो सकता हूं? ... स्वभावतः, मनुष्य अपने-आपसे ऐसी बात कहता नहीं है, क्योंकि तब वह अपनेको हास्यास्पद अनुभव करेगा, पर चीज यही होती है।

खैर। मैंने जो कुछ अभी कहा है उसमें जोड़ने लायक कोई चीज किसीके पास है? ... तुम सब बिलकुल अच्छी तरह समझ गये हो? मैंने जो कुछ कहा है वह सब? कोई कुछ कहना नहीं चाहता ...।

(एक अध्यापक) **हम समयका जो उपयोग करते हैं वह हमें कुछ "असंभव" प्रतीत होता है।**

तो, एक या दो शताब्दी प्रतीक्षा करो और वह संभव बन जायगा! (हंसी)

यह कहा गया है कि आजकी असंभावना कलकी संभावना होती है—परंतु वे "कल" बहुत बड़े होते हैं!

(मौन)

मेरे पास एक और प्रश्न उस विषयमें है जिसकी चर्चा मैंने तुमसे उस दिन की थी जब हमने संकल्प और "इच्छाओं"के विभेदपर विचार-विमर्श किया था। मैंने तुमसे कहा था कि "इच्छाएं"—श्रीअरविन्द जिन्हें "इच्छाएं" कहते हैं—ऐसी क्रियाएं हैं जो किसी उच्चतर चेतनासे सत्ताके अंदर उतरकर अपने-आपको कर्ममें नहीं प्रकट करतीं, बल्कि जो आवेग-प्रवेगों अथवा बाहरसे आनेवाले प्रभावोंसे आती हैं। हमने संकल्प शब्दको व्यक्तिगत चेतनामें विद्यमान उस वस्तुको व्यक्त करनेके लिये सुरक्षित रखा जो सत्ताके सत्यसे, व्यक्तिके—उसकी सच्ची सत्ता, उसकी सच्ची आत्माके—सत्यसे आनेवाले किसी हुक्म या आवेगकी अभिव्यक्ति है, तुम समझे। उसको हम संकल्प कहते हैं। और उसकी सत्तामें उठनेवाले सभी आवेगों, कार्यों, गतिविधियोंको जो वह वस्तु नहीं हैं, हमने इच्छाएं कहा था। और मैंने वास्तवमें यह कहा था कि बिना इसे जाने अथवा कभी-कभी इसे जानते हुए भी, बाहरसे आनेवाले प्रभावोंके द्वारा तुम क्रियाशील बना दिये जाते हो जो, उनके विषयमें तुम्हारे सज्ञान हुए बिना भी अंदर घुस आते हैं और तुम्हारे अंदर उस चीजको जगा देते हैं जिसे तुम "यह संकल्प" कहते हो कि यह विशेष बात हो या दूसरी बात न हो, आदि।

अतएव मुझसे पूछा गया है:

> **बाहरसे आनेवाले इन प्रभावोंका क्या स्वरूप होता है? क्या आप हमें उनकी क्रिया-पद्धतिकी कोई व्याख्या दे सकती हैं?**

स्वभावतः ही ये प्रभाव बहुत विभिन्न प्रकारके होते हैं। इनका अध्ययन मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे या लगभग यांत्रिक दृष्टिकोणसे किया जा सकता है और सामान्यतया एक दूसरेको रूपांतरित करता है, अर्थात्, यांत्रिक व्यापार मनोवैज्ञानिकके एक प्रकारके परिणामके रूपमें उत्पन्न होता है।

बहुत थोड़े-से लोग ही ऐसे होते हैं जिनमें सत्ताका संकल्प उस गभीरतर आंतरिक सत्यको व्यक्त करता है, और एकदम सर्वोत्तम लोगोंमें भी यह बहुत विरल रूपमें होता है।

(कुछ देर मौन रहनेके बाद श्रीमाताजी बोलना आरंभ करती हैं) व्यक्तिगत चेतना बहुत दूरतक फैलती है, यहांतक कि सूक्ष्म-भौतिक चेतना भी जो कि प्राण-सत्ताके मुकाबले अभी भी स्थूल है और विशेष अवस्थाओं-में लगभग दृश्य है, कभी-कभी भौतिक शरीरकी दृश्यमान सीमाओंसे परे बहुत अधिक प्रसारित होती है। यह सूक्ष्म-भौतिक चेतना सक्रिय प्रकंपनों-से गठित होती है जो दूसरोंकी सूक्ष्म-भौतिक चेतनाके प्रकंपनोंके साथ संपर्क स्थापित करते अथवा मिल-जुल जाते हैं, और यह पारस्परिक संपर्क प्रभावोंको उत्पन्न करता है — स्पष्ट ही अत्यंत शक्तिशाली प्रकंपन दूसरों-पर हावी हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, जैसा कि मैंने पहले कई बार तुमसे कहा है, यदि तुम्हारे अंदर कोई विचार उठता है तो यह विचार सूक्ष्म कंपनोंका जामा पहन लेता है और एक सत्ताका रूप लेकर पार्थिव वाता-वरणमें भ्रमण करता और इधर-उधर घूमता-फिरता है और यथासंभव सर्वोत्तम रूपमें अपने-आपको चरितार्थ करनेका प्रयास करता है। और चूंकि यह लाखोंके बीच एक होता है, स्वभावतः ही वहां बहुविध और उलझी हुई पारस्परिक क्रिया होती है जिसके फलस्वरूप अत्यंत सरल तथा योजनाबद्ध तरीकेसे वस्तुएं नहीं होतीं।

जिसे तुम अपना स्व, व्यक्तिगत सत्ता कहते हो जो तुम्हारी वर्तमान चेतनाकी सीमाओंसे आवृत्त होती है, निरंतर इस प्रकारके प्रकंपनोंसे भरी होती है जो बाहरसे आते हैं तथा बहुत बार सुझावोंके रूपमें अपनेको उपस्थित करते हैं, इस अर्थमें कि, कुछ अपवादोंके अलावा, यह क्रिया पहले तो मानसिक क्षेत्रमें होती है, फिर प्राणिक और फिर भौतिक बनती है। मैं यह बात स्पष्ट करना चाहती हूं कि यहां प्रश्न विशुद्ध मनका नहीं है, बल्कि भौतिक मनका है; क्योंकि स्वयं भौतिक चेतनामें एक प्रकारकी मानसिक क्रिया, एक प्राणिक क्रिया और एक विशुद्ध रूपमें जड़-भौतिक क्रिया है, और ये सब क्रियाएं तुम्हारी भौतिक चेतनामें, तुम्हारी शारीरिक चेतना तथा दैहिक क्रियामें होती हैं, सबसे पहले मानसिक प्रकारके स्पंदनोंके रूपमें, इसलिये सुझावोंके रूपमें चलती हैं। अधिकांश समय ये सुझाव उनके विषयमें तुम्हारे तनिक भी सचेतन हुए बिना तुम्हारे अंदर प्रविष्ट होते हैं; वे अंदर जाते हैं, तुम्हारे अंदर एक प्रकारका प्रत्युत्तर जगाते हैं, फिर तुम्हारी चेतनामें इस प्रकार उछल पड़ते हैं मानों वे तुम्हारे अपने विचार, तुम्हारे अपने संकल्प, तुम्हारे अपने आवेग हों; परंतु ऐसा ठीक इस कारण होता है कि तुम उनके अंतःसरणकी प्रक्रियाके विषयमें अचेतन हो।

ये सुझाव बहुसंख्यक, बहुविध, विभिन्न होते हैं, प्रत्येक बहुत, बहुत भिन्न

गुणोंसे युक्त होता है, पर उनका वर्गीकरण तीन प्रधान श्रेणियोंमें किया जा सकता है। प्रथम (और ये मुश्किलसे ही साधारण चेतनाके लिये अनुभवगम्य होते हैं; ये केवल उन्हींके लिये अनुभवगम्य बन जाते हैं जो पहले ही अपनी सत्ताका बहुत अधिक विचार-विमर्श, बहुत अधिक निरीक्षण और अच्छी तरह अध्ययन कर चुके हैं), वे हैं जिन्हें सामूहिक सुझाव कहा जा सकता है।

जब कोई जीव पृथ्वीपर पैदा होता है तो वह विवशतापूर्वक अमुक देश और अमुक वातावरणमें जन्म लेता है। भौतिक माता-पिताके कारण वह एक सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय, कभी-कभी धार्मिक दलमें जन्म ग्रहण करता है; चिंतन करने, समझने, अनुभव करने, कल्पना करनेके अभ्यासों-के दलमें; सभी प्रकारकी रचनाओंमें जो सबसे पहले मानसिक होती हैं, फिर प्राणिक अभ्यास बन जाती हैं और अंतमें स्थूल जीवन-पद्धतियां बन जाती हैं। अधिक स्पष्ट रूपमें बातें कही जायं तो तुम एक विशेष देशमें पैदा होते हो, और उस समाजकी एक अपनी सामूहिक भावना होती है और उस धर्मकी एक अपनी सामूहिक "रचना" होती है जिसका साधारण तौरपर बहुत कठिन ढांचा होता है। तुम उसके अंदर पैदा होते हो। स्वभावतः ही, जब तुम बहुत छोटे होते हो, तुम पूर्णतया इससे अनजान रहते हो, पर वह तुम्हारे गठनके ऊपर कार्य करती है — उस गठनपर, घंटे-प्रति-घंटे, दिन-प्रतिदिन होनेवाली, अनुभव-पर-अनुभवमेंसे गुजरती हुई उस धीमे गठनपर कार्य करती है जो क्रमशः एक चेतनाका निर्माण करता है। तुम शीशेके ढक्कनके नीचे रहनेकी तरह उससे आच्छादित रहते हो। यह एक प्रकारकी रचना होती है जो ढकती और एक प्रकारसे तुम्हारी रक्षा करती है, पर दूसरे तरीकोंसे तुम्हें यथेष्ट मात्रामें सीमित करती है। यह सब तुम इस विषयमें सज्ञान हुए बिना ही आत्मसात् कर लेते हो और यह तुम्हारी अपनी ही रचनाको अवचेतन आधार बना लेती है। यदि तुम इससे अपनेको मुक्त करनेकी सावधानी न बरतो तो यह अवचेतन आधार तुम्हारे सारे जीवन तुम्हारे ऊपर कार्य करेगा। और इससे अपनेको मुक्त करनेके लिये, सबसे पहले तुम्हें इसके विषयमें सज्ञान होना होगा; और यह पहला पग ही सबसे कठिन है, क्योंकि यह रचना इतनी सूक्ष्म रही है, यह तब बनी थी जब तुम अभी सचेतन सत्ता नहीं थे, जब तुम बिलकुल हक्के-बक्के दूसरे जगत्‌से इस जगत्‌में आ टपके थे (हंसते हुए) और यह सब इसमें तनिक भी तुम्हारे भाग लिये बिना हुआ था। परि-णामस्वरूप, यह तुम्हारे ध्यानमें भी नहीं आया कि इसमें कोई चीज जानने-की भी हो सकती है, और उससे भी कम यह बात कि किसी चीजसे तुम्हें

अवश्य मुक्त होना चाहिये। और यह बड़ी अद्‌भुत बात है कि जब कोई व्यक्ति किसी-न-किसी कारणसे इस सामूहिक सुझावके प्रभावके विषयमें सचेत हो जाता है तो वह तुरत यह अनुभव करता है कि इससे छुटकारा पानेके लिये एक बहुत श्रमपूर्ण और दीर्घ प्रयासकी आवश्यकता होती है। परंतु वहीं समस्या समाप्त नहीं हो जाती।

तुम लोगोंके बीच रहते हो। स्वयं इन लोगोंमें कामनाएं, बिखरी हुई इच्छाएं, आवेग-प्रवेग होते हैं जो उनके अंदर प्रकट होते हैं और उनके सभी प्रकारके कारण होते हैं, पर उनकी चेतनामें वे एक व्यक्तिगत आकार ग्रहण करते हैं। उदाहरणार्थ, एक बिलकुल व्यावहारिक भाषामें इसे रखें तो: तुम्हारे एक पिता, एक माता, भाई, बहनें, मित्र, साथी आदि होते हैं; इनमेंसे प्रत्येकका अनुभव करने, इच्छा करनेका अपना निजी तरीका होता है, और जिन लोगोंके साथ तुम्हारा संबंध है वे सब लोग तुमसे कुछ आशा रखते हैं, ठीक जैसे कि तुम उनसे कुछ आशा रखते हो। उस "कुछ" को वे सर्वदा तुम्हारे सामने प्रकट नहीं करते, पर वह कम या अधिक सचेतन रूपमें उनकी सत्तामें विद्यमान रहता है, और यही रचनाएं तैयार करता है? ये रचनाएं, प्रत्येककी चिंतनकी क्षमता और उसकी प्राणशक्तिकी सामर्थ्यके अनुसार, कमोबेश शक्तिशाली होती हैं, पर उनमें उनका अपना थोड़ा-सा बल होता है जो साधारण तौरपर तुम्हारे बलके जैसा ही होता है; और इसलिये तुम्हारे चारों ओरके लोग जो कुछ चाहते, कामना करते, तुमसे आशा या प्रत्याशा करते हैं वह इस भांति बहुत विरल रूपमें व्यक्त सुझावोंके आकारमें तुम्हारे अंदर प्रवेश करता है, पर जिसे तुम बिना विरोध किये आत्मसात् करते हो और जो अकस्मात् तुम्हारे अंदर एक वैसी ही कामना, एक वैसी ही इच्छा, एक वैसा ही आवेग जाग्रत् कर देता है...। ऐसा सवेरेसे शामतक, और फिर शामसे सवेरेतक होता रहता है, क्योंकि जब तुम सोये रहते हो तब ये चीजें बन्द नहीं हो जातीं, बल्कि, इसके विपरीत, बहुत बार अधिक बलशाली हो जाती हैं, क्योंकि तुम्हारी चेतना अब जाग्रत नहीं रहती जो चौकसी रखती और कुछ हदतक तुम्हारी रक्षा करती।

और यह बिलकुल सामान्य बात है; इतनी सामान्य कि यह एकदम स्वाभाविक है, और इतनी स्वाभाविक है कि तुम्हें इसके विषयमें सचेतन होनेके लिये विशेष परिस्थितियों और एकदम असाधारण अवसरोंकी आवश्यकता होती है। स्वभावतः ही, यह कहनेकी जरूरत नहीं कि तुम्हारे निजी प्रत्युत्तरों, तुम्हारे अपने आवेगों, तुम्हारी अपनी इच्छाओंका दूसरोंपर वैसा ही प्रभाव पड़ता है, और यह सब एक विलक्षण मिश्रण

बन जाता है जिसमें प्रबलतमका तर्क ही सदा सर्वोत्तम होता है!

यदि समस्या यहीं समाप्त हो जाती तो फिर भी मनुष्य इस जंजालसे बाहर निकल सकता; परंतु यहां एक जटिलता है। इस पार्थिव जगत्, इस मानवीय जगत्पर पड़ोसी जगत्की, अर्थात्, चतुर्विध पार्थिव वातावरणसे' परेके सूक्ष्मतर क्षेत्र, प्राणमय जगत्की शक्तियां निरंतर आक्रमण करती रहती हैं; और यह प्राण-जगत्, जो चैत्य शक्तियों या चैत्य चैतन्यके प्रभावके अधीन नहीं है, प्रधानतया कु-इच्छा, विश्रृंखला, असमतोलताका, निस्संदेह मनुष्यकी कल्पनामें आनेवाली सभी अत्यंत भगवद्विरोधी वस्तुओंका जगत् है। यह प्राण-जगत् अनवरत भौतिक जगत्में प्रवेश कर रहा है और भौतिककी अपेक्षा बहुत अधिक सूक्ष्म होनेके कारण, यह, कुछ विरल व्यक्तियोंको छोड़कर, बहुत बार बिलकुल अगोचर होता है। उस जगत्में ऐसी यथार्थ वस्तुएं, सत्ताएं, इच्छाएं, कुछ प्रकारकी व्यक्ति-सत्ताएं हैं जिनमें सभी प्रकारकी आकांक्षाएं होती हैं और जो, या तो अपने मनोरंजनके लिये, यदि वे छोटी-छोटी सत्ताएं हैं, अथवा हानि पहुंचाने और अस्त-व्यस्तता उत्पन्न करनेके लिये, यदि वे अधिक क्षमतावाली सत्ताएं हैं, प्रत्येक अवसरका उपयोग करती हैं। और इन अंतिम प्रकारकी सत्ताओंमें व्याप्त होने और सुझाव देनेकी बहुत अधिक शक्ति होती है, और जहां कहीं तनिक भी उद्घाटन, तनिक भी समानता होती है, वह अंदर घुस आती हैं, क्योंकि यह उनके लिये एक खेल है जो आनंद देता है।

इसके अलावा, वे किन्हीं मानवीय प्राण-प्रकंपनोंके लिये बड़ी प्यासी या भूखी होती हैं और वे प्रकंपन उनके लिये अनुपम भोजन होते हैं जिसे खाना वे पसंद करती हैं; और इसलिये मनुष्यमें सर्वनाशी क्रियाएं जगाना उनका खेल होता है ताकि मनुष्य इन शक्तियोंको प्रकट करें और वे अपनी इच्छाके अनुसार उन्हें खा सकें। क्रोध, हिंसा, कामावेग, कामनाकी सभी क्रियाओंके — इन सभी चीजोंको जिनके कारण तुम किन्हीं विशेष शक्तियों-को अपने अंदरसे अचानक बाहर फेंकते हो — प्राण-जगत्की ये सत्ताएं वास्तवमें सभी चीजोंसे अधिक पसंद करती हैं, क्योंकि, जैसा कि मैंने कहा है, वे एक बहुमूल्य भोजनकी तरह उनका उपभोग करती हैं। अब, उनकी तरकीब बड़ी सीधी है: वे तुम्हारे अंदर केवल एक छोटा-सा सुझाव, एक छोटा-सा आवेग, एक छोटा-सा प्रकंपन भेज देती हैं जो तुम्हारे अंदर बहुत गहराईतक पैठ जाता है और छूत या सहानुभूतिके द्वारा तुम्हारे अंदर

'भौतिक, प्राणिक, मानसिक और चैत्य चार तत्त्वोंसे संगठित।

आवश्यक प्रकंपन जगाता है ताकि तुम उस शक्तिको बाहर फेंको जिसे वे आत्मसात् करना चाहती हैं।

यहां प्रभावको पहचानना थोड़ा अधिक आसान होता है, क्योंकि, यदि तुम अत्यल्प मात्रामें भी सतर्क होओ, तुम अपने अंदर सहसा किसी वस्तुके जग जानेके बारेमें सज्ञान हो जाते हो। उदाहरणार्थ, जिन लोगोंको क्रोधित हो उठनेकी आदत है, उन्होंने यदि अपने क्रोधपर इतना, थोड़ा-सा भी संयम ले आनेका कभी प्रयत्न किया होता तो वे देखते कि कोई चीज बाहरसे आती या नीचेसे ऊपर चढ़ती है और सचमुच उनकी चेतनाको अधिकृत कर लेती तथा उनमें रोष जगा देती है। मेरा मतलब यह नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति यह विवेक करनेमें समर्थ होता है; मैं उन लोगोंकी बात कह रही हूं जिन्होंने अपनी प्रकृतिको समझने और उसपर संयम स्थापित करनेका प्रयास किया है। इन विरोधी सुझावोंको पहचानना अपेक्षया अधिक आसान है, उदाहरणार्थ, एक ऐसे प्राणीकी इच्छा या कामनाके प्रति तुम्हारे प्रत्युत्तरको जानने अपेक्षा ज्यादा आसान है जो तुम्हारे जैसा ही मानव-प्राणी है और बाहरसे आनेवाली किसी चीजकी स्पष्ट धारणा दिये बिना तुम्हारे तुम्हारे ऊपर कार्य करता है। वे प्रकंपन बहुत ज्यादा एक-जैसे होते हैं, अपने स्वभावमें बहुत अधिक सजातीय होते हैं, और यह जाननेके लिये कि जो क्रियाएं तुम्हारे अंदरसे बाहर जाती हुई प्रतीत होती हैं वे यथार्थमें तुम्हारी नहीं हैं, बल्कि बाहरसे आती हैं, तुम्हें बहुत अधिक सतर्क होना होगा तथा बहुत तीक्ष्ण विवेक-शक्ति प्राप्त करनी होगी। परंतु विरोधी शक्तियोंके संबंधमें, यदि कोई थोड़ा भी सच्चा हो और अपने-आपको ध्यानपूर्वक देखे तो वह यह जान जाता है कि अपनी सत्तामें कोई चीज है जो किसी प्रभाव, किसी प्रवेग, किसी सुझावका प्रत्युत्तर देती है और कभी-कभी तो किसी अत्यंत ठोस वस्तुसे सचेतन हो जाता है जो उसकी सत्तामें प्रवेश करती तथा एक-जैसे प्रकंपन पैदा करती है।

तो लो, बस, यही है समस्या।

इसका उपाय? . . . उपाय सर्वदा एक ही है: शुभेच्छा, सच्चाई, स्पष्ट-दर्शिता, धैर्य — ओह! एक ऐसा अथक धैर्य और अध्यवसाय जो तुम्हें यह विश्वास दिलाता है कि आज जिसे करनेमें तुम सफल नहीं हुए हो, उसे करनेमें दूसरे दिन सफल हो जाओगे, और जो तुमसे तबतक प्रयत्न कराता रहता है जबतक तुम सफल नहीं हो जाते।

और यह बात हमें श्रीअरविंदके वाक्यपर वापस ले जाती है: यदि यह संयम आज तुम्हें बिलकुल असंभव प्रतीत होता है तो, हां, इसका मतलब है कि बादमें वह न केवल संभव बन जायगा, बल्कि वह संसिद्ध हो जायगा।

१९ दिसंबर, १९५६

"असंभावना है मात्र महत्तर और असिद्ध संभावनाओंका योग-फल। यह एक उच्चतर स्थिति और आगेकी अधूरी यात्राको ढके रखती है।

"यदि तुम चाहते हो कि मनुष्यजाति आगे बढ़े तो तुम अपनी सभी पूर्व संभावनाओंको एक धक्का दो। इस तरह चोटें खाकर विचार जगता है और सृजनशील बन जाता है। अन्यथा वह यंत्रकी भांति बार-बार एक ही क्रियाको दुहराता है और उसे ही अपना यथार्थ कार्य समझनेकी भूल करता है।

"अपनी निजी धुरीपर चक्कर काटते रहना ही मानवात्माकी एकमात्र गति नहीं है। उसे एक अक्षय ज्योतिवाले 'सूर्य'के चारों ओर परिक्रमा भी करनी है।

"सबसे पहले भीतर पैठकर अपने-आपको जानो, फिर विचार करो और कार्य करो। प्रत्येक जीवंत विचार एक जगत् है जो तैयार हो रहा है; प्रत्येक यथार्थ कर्म एक विचारका ही व्यक्त रूप है। भौतिक जगत्की सत्ता इसलिये है कि भगवान्की आत्म-चेतनामें एक भावने खेलना आरंभ किया था।

"विचार अस्तित्वके लिये आवश्यक नहीं है और न यह इसका कारण ही है; परंतु यह संभूतिका एक यंत्र है; मैं जो कुछ अपने अंदर देखता हूं वही बन जाता हूं। विचार मुझे जो कुछ सुझाता है वह सब मैं कर सकता हूं; विचार मेरे अंदर जो कुछ प्रकट करता है मैं वह सब बन सकता हूं। मनुष्यको अपने ऊपर ऐसा ही अचल-अटल विश्वास होना चाहिये, क्योंकि उसके अंदर भगवान् निवास करते हैं।"

(श्रीअरविंद : 'विचार और झांकियां')

"विचार जगता है और सृजनशील बन जाता है", इसका क्या अर्थ है?

नहीं, श्रीअरविंद वाक्यके आरंभमें कहते हैं: "इस तरह चोटें खाकर विचार जगता है।" वह कहते हैं कि प्रगति करनेके लिये हमें पुरानी रचनाओंको भंग कर देना होगा, सभी पूर्व-कल्पित भावनाओंको ठोकर मारना, नष्ट कर देना होगा। पूर्व-कल्पित भावनाएं वे अभ्यासजनित मानसिक रचनाएं हैं जिनमें मनुष्य रहता है, और जो दृढ़ और जमी हुई हैं, जो कठोर दुर्ग बन जाती हैं और दृढ़ और जमी होनेके कारण प्रगति नहीं कर सकतीं। इसलिये, सलाह दी जाती है भंग करनेकी, अर्थात् सभी पूर्वकल्पित भावनाओंको, सभी जमी हुई मानसिक रचनाओंको नष्ट कर देनेकी। और नयी भावनाओंको अथवा विचारको, सक्रिय, जीवंत विचारको —जो सृजनक्षम होता है—जन्म देनेका यही सच्चा उपाय है।

और, थोड़ा और आगे चलकर श्रीअरविंद कहते हैं कि तुम्हें सबसे पहले अपने विषयमें सचेतन होना चाहिये, फिर सोचना, और फिर कार्य करना चाहिये। सभी कार्योंसे पहले सत्ताके आंतरिक सत्यका अंतर्दर्शन प्राप्त होना चाहिये; सर्वप्रथम सत्यका अंतर्दर्शन, फिर इस सत्यका विचार-रूपमें सूत्रीकरण, फिर विचारद्वारा कर्मका सृजन होना चाहिये। यही है सामान्य प्रक्रिया।

और यही बात है जिसे श्रीअरविंद हमें सृष्टिकी प्रक्रियाके रूपमें बता रहे हैं। 'अनभिव्यक्त'के अंदर एक विचारने खेलना आरंभ किया; तात्पर्य, वह जगा और क्रियाशील बन गया; और चूंकि विचार क्रियाशील बन गया, इसलिये जगत् सृष्ट हो गया।

और अंतमें श्रीअरविंद घोषणा करते हैं कि विचार अस्तित्वके लिये आवश्यक नहीं है, न यह अस्तित्वका कारण ही है, पर संभूतिकी मात्र प्रक्रिया है, उपाय है, क्योंकि विचार यथार्थ निरूपणका तत्त्व है जो आकार-की सृष्टि करनेकी शक्ति रखता है। और एक दृष्टांतके रूपमें श्रीअरविंद कहते हैं कि मनुष्य जो कुछ सोचता है, उस चिंतनके तथ्यके कारण ठीक वही बन सकता है। इस तथ्यका ज्ञान कि मनुष्य जो सोचता है वही बन सकता है, मनुष्यकी सत्ताके विकासके लिये एक बड़ी महत्त्वपूर्ण चाबी है—और केवल सत्ताकी संभावनाओंके दृष्टिकोणसे ही नहीं, संयम तथा इस चुनावके दृष्टिकोणसे भी कि मनुष्य क्या होना चाहता है।

इस बातसे हमारी समझमें यह आ जाता है कि किसी भी ऐसे विचार-को जो हमारी अभीप्साको अथवा हमारी सत्ताके सत्यकी सृष्टिको नष्ट करता है अपने अंदर न आने देनेकी क्या आवश्यकता है। इससे इस बातका भी यथेष्ट महत्त्व प्रकट हो जाता है कि जो कुछ मनुष्य नहीं होना चाहता या नहीं करना चाहता उसे अपनी सत्ताके अंदर विचारका रूप नहीं लेने देना चाहिये। क्योंकि इन तीन चीजोंके विचारका आना अपने-

आपमें उनकी संसिद्धिका प्रारंभ हो जाना है। प्रत्येक दृष्टिकोणसे उस बातपर एकाग्र होना बुरा है जिसे मनुष्य नहीं चाहता, जिसका उसे परित्याग करना है, जो बनना वह अस्वीकार करता है, कारण, विचारके वहां होनेका तथ्य ही उन चीजोंको बने रहनेका एक प्रकारका अधिकार दे देता है जिन्हें मनुष्य निकाल बाहर करना चाहता है। इससे इस बातकी पर्याप्त महत्ता समझमें आ जाती है कि सर्वनाशी सुझावों, कु-इच्छा, घृणा, विनाशके विचारोंको क्यों प्रवेश नहीं करने देना चाहिये; क्योंकि महज उनका विचार करना पहलेसे ही उन्हें उनकी संसिद्धिकी शक्ति देता है। श्रीअरविंद कहते हैं कि विचार अस्तित्वका कारण नहीं है पर जीवनका, सृष्टिको आकार देनेका एक माध्यम है, यंत्र है, और यदि कोई चाहता हो कि इस सृष्टिमेंसे विश्रृंखलता तथा सभी भगवद्विरोधी चीजें विलीन हो जायं तो इस यंत्रको संयमित करना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

बुरे विचारोंको अपने अंदर इस बहाने नहीं आने देना चाहिये कि वे तो निरे विचार हैं। वे (वास्तवमें) कार्यान्वितिके हथियार हैं। और यदि हम चाहते हों कि वे अपना विनाश-कार्य न करें तो हमें अपने अंदर उन्हें नहीं रहने देना चाहिये।

(मौन)

किसीके पास कोई प्रश्न नहीं? मैं एक ले आयी हूं। वास्तवमें मैं दो लायी हूं (श्रीमाताजी एक कागज खोलती हैं और पढ़ती हैं) :

> **"क्या मानव-प्राणीके लिये पूर्ण रूपमें सच्चा होना संभव है?"**

और यह प्रश्न आगे चलता है :

> **"क्या कोई मानसिक सच्चाई, कोई प्राणिक सच्चाई, कोई भौतिक सच्चाई है? इन सच्चाइयोंमें क्या भेद है?"**

स्वभावतः ही, सच्चाईका तत्त्व सर्वत्र एक ही है, पर सत्ताकी अवस्थाओंके अनुसार उसकी क्रिया अलग-अलग है। पहले प्रश्नका जहांतक संबंध है, हम केवल यह उत्तर दे सकते हैं : नहीं, कदापि नहीं, यदि मनुष्य वही बना रहा जो वह है। परंतु उसमें पूर्णतः सच्चा होनेके लिये

अपने-आपको पर्याप्त मात्रामें रूपांतरित करनेकी संभावना है।

सर्वप्रथम यह कहा जा सकता है कि सच्चाई या सत्यनिष्ठा प्रगतिशील है, और जैसे-जैसे सत्ता प्रगति करती और विकसित होती है, जैसे-जैसे विश्व अभिव्यक्तिके अंदर उद्‌घाटित होता है, वैसे-वैसे सत्यनिष्ठाको भी अंतहीन रूपमें पूर्ण बनाते जाना चाहिये। इस विकास-क्रमका प्रत्येक पड़ाव आवश्यक रूपसे बीते कलकी सच्चाईको भावी कलकी अ-सच्चाई या कपटमें परिणत कर देता है।

पूर्णतः सच्चा होनेके लिये यह आवश्यक है कि कोई पसंदगी, कोई कामना, कोई आकर्षण, कोई नापसंदगी, कोई सहानुभूति या विद्वेष, कोई आसक्ति, कोई विकर्षण न हो। हमें वस्तुओंका एक पूर्ण, सर्वांगीण अंतर्दर्शन प्राप्त हो, जिसमें प्रत्येक वस्तु अपने स्थानपर हो और सभी वस्तुओंके प्रति हमारा एक ही मनोभाव: सत्य दर्शनका मनोभाव हो। यह कार्यक्रम किसी मनुष्यके लिये पूरा करना स्पष्ट ही बहुत कठिन है। जबतक वह अपनेको दिव्य रूपमें रूपांतरित करनेका निश्चय नहीं कर लेता, उसका अपने अंदरकी इन सभी विपरीत वस्तुओंसे मुक्त होना लगभग असंभव प्रतीत होता है। और फिर भी, जबतक वह अपने अंदर उन्हें वहन करता है, वह पूर्ण रूपसे सत्यनिष्ठ नहीं हो सकता। अपने-आप ही मानसिक, प्राणिक और यहांतक कि भौतिक क्रियावली मिथ्या बन जाती है। मैं भौतिकपर जोर दे रही हूं, क्योंकि इंद्रियोंकी क्रिया भी दोषपूर्ण हो जाती है: जबतक मनुष्यमें कोई पसंदगी होती है, वह वस्तुओंको उनके सत्य रूपमें नहीं देखता, नहीं सुनता, नहीं चखता, नहीं अनुभव करता। जबतक ऐसी चीजें हैं जो तुम्हें अच्छी लगती हैं और ऐसी चीजें हैं जो अच्छी नहीं लगतीं, जबतक तुम किन्हीं विशेष वस्तुओंसे आकर्षित होते और दूसरी वस्तुओंसे विकर्षण अनुभव करते हो, तुम वस्तुओंको उनके सत्य-स्वरूपमें नहीं देख सकते; तुम उन्हें अपनी प्रतिक्रियाओं, अपनी पसंदगी या नापसंदगीमेंसे देखते हो। इंद्रियां माध्यम हैं जो अव्यवस्थित हो जाती है, ठीक जिस तरह संवेदनाएं, हृद्‌गत भावनाएं और विचार हो जाते हैं। परिणामस्वरूप तुम जो कुछ देखते, जो कुछ स्पर्श करते, जो कुछ अनुभव करते और सोचते हो उसके बारेमें निस्संदिग्ध होनेके लिये तुम्हारे अंदर एक प्रकारकी पूर्ण अनासक्ति होनी चाहिये; और यह, बहुत स्पष्ट रूपमें, कोई आसान काम नहीं है। परंतु उस क्षणतक तुम्हारा ज्ञान पूरी तरह सही नहीं हो सकता और इस कारण वह सच्चा नहीं है।

स्वभावतः ही, यह है सर्वोच्च अवस्था। परंतु कुछ स्थूल अ-सच्चाइयां या कपट भी हैं जिन्हें प्रत्येक व्यक्ति समझता है और जिनपर, मैं समझती

हूं, जोर देना जरूरी नहीं है। उदाहरणार्थ, कहना एक बात और सोचना दूसरी बात, एक काम करनेका दिखावा करना और सचमुचमें करना दूसरा, एक ऐसी इच्छा प्रकट करना जो तुम्हारी सच्ची इच्छा नहीं है। मैं बिलकुल भयंकर झूठोंकी, तथ्यसे भिन्न किसी दूसरी बातको कहनेकी चर्चा नहीं करती, बल्कि कार्य करनेकी वह कूटनैतिक विधि, कार्यके द्वारा कोई चीज सिद्ध करनेकी भावनाके साथ कार्य करना, कोई बात कहना और उससे कोई विशेष प्रभावकी आशा करना, इस प्रकारका प्रत्येक मिश्रण जो स्वाभाविक रूपमें तुमसे स्वयं अपना ही खंडन कराता है वह सब भी एक प्रकारका काफी स्थूल कपट है जिसे हर एक आसानीसे पहचानता है।

परंतु कुछ दूसरे अधिक सूक्ष्म कपट हैं और उन्हें पहचानना अधिक कठिन है। जैसे, तुम्हारे अंदर जबतक सहानुभूतियां और विद्वेष-भावनाएं हैं, बिलकुल स्वाभाविक रूपमें तथा मानों स्वतःस्फूर्त रूपमें, अपनी अनुकूल चीजके विषयमें तो तुम्हारा अनुकूल मत होगा, और अपनी नापसंद चीजके विषयमें प्रतिकूल। और ऐसी स्थितिमें भी सच्चाईका अभाव खूब स्पष्ट होगा। परंतु हो सकता है कि तुम अपनेको धोखा दो और यह न देख सको कि तुम झूठे हो। तब उस स्थितिमें मानों तुम्हें मानसिक कपटका सहयोग प्राप्त होता है। कारण, यह सच है कि सत्ताकी या सत्ताके अंगोंकी अवस्थाके अनुसार थोड़े-से भिन्न-भिन्न प्रकारके कपट हैं। केवल इन कपटोंका मूल-स्रोत सर्वदा एक ही क्रिया होती है जो कामना तथा व्यक्तिगत प्रयोजनोंकी प्राप्तिकी चेष्टासे — अहंभावसे, अहंभावसे उत्पन्न सभी सीमाओं एवं कामनासे उत्पन्न सभी विकृतियोंके सम्मिश्रणसे उत्पन्न होती है।

वास्तवमें, जबतक अहं है, कोई यह नहीं कह सकता कि कोई प्राणी पूर्णतः सच्चा है, यद्यपि वह वैसा बननेका प्रयास करता है। हमें अहंसे परे जाना होगा, अपने-आपको संपूर्ण रूपमें भागवत 'संकल्प'के हाथोंमें दे देना, बिना कुछ बचाये और बिना हिसाब लगाये समर्पण कर देना होगा . . . तब हम पूर्णतः सत्यनिष्ठ हो सकते हैं, पर उससे पहले नहीं।

इसका यह अर्थ नहीं है कि हम जितने सच्चे हैं उससे अधिक सच्चे बननेके लिये कोई प्रयास न करें और मन-ही-मन यह कहें: "अच्छा, सच्चा बननेके लिये मैं अपने अहंके विलीन होनेकी प्रतीक्षा करूंगा", क्योंकि हम शब्दोंको उलटकर यह कह सकते हैं कि यदि तुम सच्चाईके साथ प्रयत्न न करो तो तुम्हारा अहं कभी विलीन नहीं होगा। अतः, सच्चाई सभी सच्ची सिद्धियोंका आधार है, वह साधन है, पथ है — और यह

लक्ष्य भी है। इसके बिना तुम निश्चय ही अनगिनत बड़ी भूलें करोगे और तुम्हें निरंतर उस हानिका प्रतिकार करते रहना होगा जो तुमने अपने प्रति और दूसरोंके प्रति की है।

इसके अलावा, सत्यनिष्ठ होनेमें एक अद्‌भुत आनंद है। सत्यनिष्ठताका प्रत्येक कार्य अपने-आपमें अपना प्रतिदान ले आता है : पवित्रताकी, ऊपरकी ओर उड़ान भरनेकी, उस मुक्तिकी भावना ले आता है जिसे मनुष्य तब पाता है जब वह मिथ्यात्वके एक छोटे-से कणको भी त्याग देता है।

सत्यनिष्ठा ही रक्षोपाय है, संरक्षण है, यही पथ-प्रदर्शक है, और अंतमें रूपांतरकारिणी शक्ति है।

२६ दिसंबर, १९५६

"मनुष्य जो कुछ पहले कर चुका है उसे ही बराबर दुहराते जाना हमारा काम नहीं है, प्रत्युत हमें नवीन सिद्धियों और अकल्पित विजयोंको प्राप्त करना है। काल, आत्मा और जगत् हमें क्षेत्रके रूपमें दिये गये हैं; दृष्टि, आशा और सर्जक कल्पना हमें प्रेरणा देनेके लिये हैं; संकल्प, विचार और श्रम हमारे सर्वसमर्थ साधन हैं।

"भला वह कौन-सी नयी चीज है जिसे अभी हमें प्राप्त करना है ? 'प्रेम', क्योंकि अबतक हमने केवल घृणा और आत्म-तुष्टिको ही पाया है; 'ज्ञान', क्योंकि अबतक हमने केवल भूल-भ्रांति, इंद्रिय-बोध और मानसिक कल्पनाको ही पाया है; 'आनंद', क्योंकि अबतक हमने केवल सुख-दुःख और उदासीनताको ही पाया है; 'शक्ति', क्योंकि अबतक हमने केवल दुर्बलता, प्रयास और पराजित विजयको ही पाया है; 'जीवन', क्योंकि अबतक हमने केवल जन्म, वृद्धि और मृत्युको ही पाया है; 'एकता', क्योंकि अबतक हमने केवल युद्ध और मेल-जोलको ही पाया है।

"एक शब्दमें, 'देवत्व'; भगवत्स्वरूपमें अपना पुनर्निर्माण।"

(श्रीअरविंद : 'विचार और झांकियां')

हमने केवल "दुर्बलता, प्रयास और पराजित विजयको" ही पाया है?

आजतक जिन विजयोंको हमने पाया है उन सबकी प्रतिक्रियाएं ऐसी रही हैं जो अंतमें हारें ही हैं। कभी भी कोई चीज निर्णयात्मक और पूर्ण नहीं प्राप्त हुई है। प्रत्येक बार जब हमें यह अनुभव होता है कि हमने एक विजय प्राप्त की है, हम देखते हैं कि यह विजय अपूर्ण, आंशिक, क्षणिक है। यह एक ऐसा तथ्य है जिसे हम सर्वदा देख सकते हैं यदि हम सावधानतापूर्वक अपनी ओर ताकें। यह बात नहीं कि वस्तुएं निश्चित रूपसे वही रहती हैं जो पहले थीं, नहीं, कुछ परिवर्तन हुआ है, पर प्रत्येक वस्तु परिवर्तित नहीं होती और पूर्ण रूपसे परिवर्तित नहीं होती।

यह बात भौतिक स्तरपर प्राप्त विजयों, शरीरपर प्राप्त विजयोंके विषयमें बिलकुल प्रत्यक्ष है, बहुत स्पष्ट दिखायी दे सकती है। बहुत आयासपूर्ण श्रमके द्वारा मनुष्य किसी दुर्बलता, किसी सीमा-बंधन, किसी बुरी आदतको जीतनेमें सफल होता है, और वह विश्वास करता है कि यह एक निश्चयात्मक विजय है; पर कुछ दिन बाद या कभी-कभी तुरत वह देखता है कि कुछ भी पूर्ण रूपमें सिद्ध नहीं हुआ है, कुछ भी निश्चयात्मक नहीं है, जिस चीजको उसने समझा था कि संपन्न हो गयी उसे फिरसे संपन्न करना होगा। क्योंकि केवल चेतनाका संपूर्ण परिवर्तन तथा किसी नवीन शक्तिका हस्तक्षेप ही, चेतनाका पूरी तरह उलट जाना ही विजयको पूर्ण बना सकता है।

प्राचीन कैल्डियन परंपरामें, बहुत बार युवक नवदीक्षितोंको सफेद लिबास पहनाते समय एक उपमा दी जाती थी, उनसे कहा जाता था: "दागोंको एक-एक करके दूर करनेकी चेष्टा मत करो, समूचा लबादा एक ही समय शुद्ध-स्वच्छ बनाना चाहिये।" अपने दोषोंको एक-एक करके सुधारनेकी, अपनी दुर्बलताओंको एक-एक करके पार करनेकी कोशिश मत करो, यह चीज तुम्हें बहुत दूरतक नहीं ले जाती। वास्तवमें समग्र चेतनाको ही परिवर्तित कर देना होगा, यथार्थमें चेतनाको भीतरसे बाहरकी ओर संपूर्ण उलट देना होगा, यह अपनी वर्तमान स्थितिसे कूदकर एक उच्चतर स्थितिमें चला जाना है जहांसे मनुष्य उन सभी दुर्बलताओंपर शासन करता है जिन्हें वह सुधारना चाहता है, और जहांपर उसे उस कार्यका पूरा-पूरा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है जिसे संपन्न करना है।

मैं समझती हूं कि श्रीअरविंदने यह कहा है: वास्तविक परिस्थितियां ऐसी हैं कि यह कहा जा सकता है कि जबतक प्रत्येक चीज संपन्न नहीं हो जाती तबतक कुछ भी संपन्न नहीं हुआ। एक पग आगे जाना ही

पर्याप्त नहीं है, समग्र रूपांतरण आवश्यक है।

कितनी बार मैंने उन लोगोंको, जिन्होंने कोई प्रयास किया है, यह कहते सुना है : "मैं कोशिश करता हूं, पर मेरे कोशिश करनेसे क्या लाभ है? प्रत्येक बार जब मैं समझता हूं कि मैंने कुछ प्राप्त किया है, मैं देखता हूं कि मुझे एक बार फिरसे आरंभ करना होगा।" ऐसा होता है क्योंकि वे जहां हैं वहीं रहते हुए आगे जानेकी चेष्टा करते हैं, वे अपनी चेतनाको परिवर्तित किये बिना प्रगति करनेका प्रयास करते हैं। समूचा दृष्टिकोण ही बदल जाना चाहिये, सारी चेतना ही उस गर्तसे बाहर निकल आनी चाहिये जिसमें वह पड़ी हुई है और ऊपर उठकर वस्तुओंको ऊपरसे देखना चाहिये। केवल ऐसा करनेपर ही विजयें हारोंमें परिवर्तित नहीं होंगी।

और कोई बात? नहीं, और कुछ नहीं?

माताजी, अपनी चेतनाको कैसे परिवर्तित किया जाय?

स्वभावतः ही, इसके कई तरीके हैं, परंतु प्रत्येक व्यक्तिको इसे उसी उपायसे करना चाहिये जो उसके लिये सुलभ हो; और पथका संकेत साधारणतया, अप्रत्याशित अनुभव-जैसी किसी चीजके द्वारा अपने-आप आता है और प्रत्येकके लिये, यह थोड़ा-थोड़ा भिन्न प्रतीत होता है।

उदाहरणके लिये, कोई व्यक्ति साधारण चेतनामें हो सकता है जो ऊपरी सतहपर पड़ी होती है, और एक ऐसे स्तरपर काम करता है जो एक साथ ही वस्तुओंकी ऊपरी सतह होती है और उसे वस्तुओं, मनुष्यों, परिस्थितियोंके सतही बाहरी पक्षके साथ संपर्क प्राप्त होता है; और फिर, एकाएक, किसी-न-किसी कारणवश (मैं कह चुकी हूं कि प्रत्येक व्यक्तिके लिये यह अलग-अलग होता है) चेतना ऊपरकी ओर उठ जाती है, और खड़ी रेखामें वस्तुओंको देखनेके स्थानपर, वस्तुएं जिस स्तरपर हैं उसीपर रहते हुए, अकस्मात् मनुष्य उनपर अधिकार जमा लेता है और ऊपरसे, अत्यंत निकटकी कुछ अल्पसंख्यक वस्तुओंको देखनेके बदले, उनकी संपूर्ण समष्टिको देखता है; यह ऐसा है मानों कोई चीज तुम्हें ऊपर खींच रही हो और किसी पर्वत-शिखरसे अथवा वायुयानसे तुम्हें दिखा रही हो। और प्रत्येक ब्योरेके देखने तथा उसके अपने स्तरपर ही उसे देखनेकी जगह, मनुष्य एक इकाईके रूपमें सब कुछको एक साथ और बहुत ऊपरसे देखता हो।

इस अनुभवको प्राप्त करनेके बहुत-से तरीके हैं, पर सामान्यतया यह मानों संयोगवश, किसी शुभ मुहूर्त्तमें, तुम्हारे पास आ जाता है।

या शायद, किसीको कोई अनुभव हो सकता है जो लगभग इसका

एकदम उलटा हो मगर जो इसी चीजके समान होता है। हठात् मनुष्य गहराईमें डूब जाता है, वह ज्ञात वस्तुओंसे दूर चला जाता है, वह सब दूरस्थ, बाह्य, महत्त्वहीन प्रतीत होता है; वह एक आंतरिक नीरवता या आंतरिक निश्चलता या वस्तुओंको अंतर्मुखी होकर देखनेकी क्षमता, गंभीर भावना, परिस्थितियों और वस्तुओंको घनिष्ठ रूपमें निरीक्षण करनेकी सामर्थ्यमें पैठ जाता है जिसमें सभी मूल्य बदल जाते हैं। और वह एक प्रकारकी एकता, गहरी एकात्मताके विषयमें सज्ञान हो जाता है जो विभिन्न बाह्य रूपोंके बावजूद एक होती है।

अथवा फिर, एकदम फिरसे, एकाएक, सीमा-बंधनका बोध तिरोहित हो जाता है और मनुष्य एक प्रकारकी अनिर्दिष्ट, आदिहीन और अंतहीन कालावधिका, एक ऐसी वस्तुका बोध प्राप्त कर लेता है जो सदासे रही है और सदा रहेगी।

ये अनुभूतियां अकस्मात् एक चमकके रूपमें तुम्हारे जीवनमें ठीक एक क्षण, एक मुहूर्त्तके लिये तुम्हें प्राप्त होती हैं, तुम नहीं जानते कि क्यों या कैसे . . .। और दूसरे उपाय, दूसरी अनुभूतियां भी हैं—वे असंख्य हैं, वे मनुष्य-मनुष्यके अनुसार अलग-अलग हैं; पर इस, इस मुहूर्त्तमें, ऐसी स्थितिके एक क्षणमें मनुष्य उस चीजकी पूंछ पकड़ लेता है। अतएव, हमें उसे याद रखना चाहिये, उसे पुनः जीनेकी कोशिश करनी चाहिये, उस अनुभवकी गहराईमें जाना चाहिये, उसे पुनः स्मरण करना चाहिये, उसकी अभीप्सा करनी चाहिये, उसपर एकाग्र होना चाहिये। यही है प्रारंभ-बिंदु, धागेके गोलेका छोर, मार्ग-दर्शक-सूत्र। अपनी आंतरिक सत्ताको, अपनी सत्ताके सत्यको प्राप्त करना जिन लोगोंके भाग्य-में बदा है, उन सब लोगोंके लिये जीवनमें कम-से-कम एक क्षण सदा ही ऐसा आता है जब वे वही व्यक्ति नहीं रहते, संभवतः एकदम बिजलीकी चमककी तरह होता है—पर वही काफी होता है। यह उस पथका इशारा करता है जिसपर उसे चलना चाहिये, यह वह द्वार होता है जो इस पथ-पर खुलता है। और इसलिये तुम्हें उस द्वारमेंसे अवश्य गुजरना चाहिये, और अध्यवसाय तथा दृढ़ताके साथ तुम उन सभी परीक्षाओंको पार करते हो जो उस स्थितिको पुनर्नवीन बनानेकी कोशिश करती हैं जो तुम्हें किसी अधिक सच्ची और अधिक पूर्ण चीजकी ओर ले जायगी।

तुम्हें सर्वदा बहुत-से पथ बताये गये हैं; परंतु जो पथ तुम्हें सिखाया गया है, जो पथ तुमने पुस्तकोंमें पढ़ा है अथवा किसी शिक्षकसे सुना है, उसका वही प्रभावशाली मूल्य नहीं होता जो किसी सहज-स्वाभाविक अनुभवका होता है जो बिना किसी ऊपरी कारणके आता है, और

जो, बिलकुल सरल रूपमें, आत्म-जागरणका प्रस्फुटन होता है, अपने चैत्य पुरुषके साथ प्राप्त संपर्कका एक क्षण होता है जो तुम्हें तुम्हारे योग्य सर्वोत्तम पथ दिखा देता है, उस पथको दिखा देता है जो सबसे अधिक तुम्हारी पहुंचके अंदर होता है, जिसका अब तुम्हें अपने लक्ष्यतक पहुंचनेके लिये लगनके साथ अनुसरण करना होगा — एक क्षण होता है जो तुम्हें यह दिखाता है कि कैसे शुरू करना, प्रारंभ करना चाहिये . . .। कुछ लोग इसे रातके समय स्वप्नमें पाते हैं; कुछ लोग किसी भी समय पा लेते हैं; मनुष्य किसी चीजको देखता है जो उसमें यह नयी चेतना जगा देती है, किसी चीजको वह सुनता है, कोई मनोरम भू-दृश्य देखता है, कोई मनोहर संगीत सुनता है या कुछ शब्द पढ़ता है, अथवा किसी प्रयासमें बस तीव्रता आ जाती है — बिलकुल कोई भी चीज हो जाती है, इसके हजारों कारण और इसे प्राप्त करनेके हजारों तरीके हैं। परन्तु, मैं इसे दुहराती हूं, वे सब जिनके भाग्यमें यह उपलब्ध करना बदा है, उनके जीवनमें कम-से-कम एक बार यह हो जाता है। यह बहुत अस्थायी हो सकता है, हो सकता है यह उस समय आया हो जब वे बहुत छोटे थे, पर सर्वदा कम-से-कम एक बार मनुष्यके जीवनमें उसे यह अनुभव हो जाता है कि चेतना क्या है। तो हां, बस यही अनुसरण करने योग्य पथका सर्वोत्तम संकेत है।

हम स्वयं अपने अंदर खोज सकते हैं, हम याद कर सकते हैं, हम निरीक्षण कर सकते हैं; हमें ध्यान देकर देखना चाहिये कि क्या चल रहा है, हमें पूरी सावधानी रखनी चाहिये, बस। कभी-कभी, जब हम कोई उदारतापूर्ण कार्य देखते हैं, कोई असामान्य बात सुनते हैं, जब हम वीरता, उदारता या आत्माकी भव्यताका निरीक्षण करते हैं, किसी ऐसे व्यक्तिसे मिलते हैं जो एक विशेष योग्यता प्रदर्शित करता है या किसी असाधारण तथा सुन्दर तरीकेसे काम करता है तो उस समय एक प्रकारका उत्साह या आदर-भाव या कृतज्ञता होती है जो एकाएक सत्तामें जग जाती है और एक स्थितिकी ओर, चेतनाकी एक नयी स्थिति, एक ज्योति, एक प्रकारकी उष्णता, एक प्रकारके हर्षकी ओर दरवाजा खोल देती है जिन्हें हम पहले नहीं जानते थे। यह भी मार्ग-दर्शक सूत्रको पकड़नेका एक तरीका है। इसके हजारों तरीके हैं, हमें बस जाग्रत् रहना चाहिये और निगरानी रखनी चाहिये।

सबसे पहले, हमें चेतनाके इस परिवर्तनकी आवश्यकता महसूस करनी चाहिये, इस विचारको स्वीकार करना चाहिये कि यह ऐसी बात है, यह मार्ग है जो अवश्य लक्ष्यतक ले जायगा; और एक बार जब हम इस

सिद्धांतको मान लेते हैं, हमें अवश्य ध्यानसे देखना चाहिये। और हम उसे प्राप्त करेंगे, हम प्राप्त करते ही हैं। और एक बार जब तुमने उसे पा लिया तो तुम्हें बिना किसी हिचकिचाहटके चलना आरंभ कर देना चाहिये।

प्रधानतया, प्रारंभ-बिंदु है अपने-आपका निरीक्षण करना, एक सतत अचलतामें, एक अनवरत लापरवाहीमें निवास न करना। हमें सतर्क रहना चाहिये।

इतना पर्याप्त है?

(मौन)

यहां एक प्रश्न है जो मुझसे पूछा गया है (ऐसा लगता है कि बहुत-से लोग आपसमें यह प्रश्न पूछते रहते हैं!)। जो कुछ लिखा है वह मैं तुम्हारे सामने पढ़ने जा रही हूं, फिर मैं बादमें तुमसे बात करूंगी। कितना विश्वासोत्पादक है इसका रूप-रंग, इस प्रश्नका!

> **"अभिरुचियां न रखने" का हम क्या अर्थ समझें? क्या हमें अव्यवस्थाके बदले व्यवस्था, गंदगीके बदले स्वच्छता आदिको पसंद नहीं करना चाहिये? अभिरुचियां न रखना — इसका अर्थ क्या यह है कि सबके साथ एक ढंगसे व्यवहार करना चाहिये?**

अब, यह है मेरा उत्तर: यह शब्दोंके साथ खेलना है! जिसे तुम अभिरुचि कहते हो उसे मैं चुनाव कहती हूं। मनुष्यको चुनाव करनेकी अविरत स्थितिमें रहना होगा; अपने जीवनके प्रत्येक मुहूर्त्तमें तुम्हें नीचे खींचनेवाली और ऊपर खींचनेवाली चीजोंके बीच, प्रगति करानेवाली और पीछे ले जानेवाली चीजोंके बीच एक चुनाव करना होगा; पर इसे मैं कोई अभिरुचि रखना नहीं कहती, इसे मैं एक चुनाव करना कहती हूं — चुनाव करना, चुनना कहती हूं। प्रत्येक क्षण मनुष्यको चुनना होता है, यह अनिवार्य होता है, और सफाई तथा गंदगीके बीच, चाहे वह नैतिक हो या भौतिक, सदाके लिये चुनाव करनेकी अपेक्षा वह अनंतगुना अधिक अनिवार्य होता है। वह चुनाव: हर क्षण वह चुनाव तुम्हारे सामने रहता है, और तुम एक पग नीचे जा सकते हो अथवा एक पग ऊपर चढ़ सकते हो, एक पग पीछे हट सकते हो अथवा एक पग आगे बढ़ सकते हो; और

चुनाव करनेकी यह स्थिति अवश्य ही सतत, अविच्छिन्न बनी रहनी चाहिये, तुम्हें कभी निद्रित नहीं होना चाहिये। पर यह वह चीज नहीं है जिसे मैं अभिरुचि रखना कहती हूं। अभिरुचियां — यथार्थमें चुनाव नहीं हैं। वहां तो कोई ऐसी वस्तु होती है जिसके प्रति तुम्हें सहानुभूति या विद्वेष-भावना, विकर्षण या आकर्षण होता है, और अंध-भावसे, अकारण, तुम इस वस्तुके साथ आसक्त हो जाते हो; अथवा, फिर, जब तुम्हें कोई समस्या हल करनी हो तो तुम इस समस्या या इस कठिनाईके लिये कोई एक या दूसरा विशेष प्रकारका ही समाधान पसंद करोगे। परंतु वह बिलकुल ही चुनाव करना नहीं है — क्या तुम नहीं देखते कि यहां किसी अत्यंत सत्य वस्तुका कोई प्रश्न ही नहीं है, यहां तो एक अभिरुचि रखनेभर-की बात है। मेरे लिये इस शब्दका अर्थ बहुत स्पष्ट है: अभिरुचि एक अंधी चीज है, एक प्रकारका आवेग, एक तरहकी आसक्ति, एक अचेतन क्रिया है, और यह सामान्यतया भयानक रूपमें दुराग्रही होती है।

तुम किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियोंके सम्मुख आ उपस्थित हुए हो; कोई एक-न-एक बात हो सकती है, और स्वयं तुम्हारे भीतर एक अभीप्सा है, तुम पथ-प्रदर्शनकी याचना करते हो, परंतु तुम्हारे भीतर कोई ऐसी चीज है जो एक विशेष प्रकारका उत्तर पाना, एक विशेष प्रकारका संकेत पाना, अथवा किसी दूसरे तरीकेसे नहीं इस खास तरीकेसे ही घटनाका होना पसंद करती है; परंतु इस सबमें चुनावका कोई प्रश्न नहीं है, यह एक अभिरुचि है। और जब तुम्हारी अभीप्सा या प्रार्थनाका उत्तर तुम्हारी कामनाके अनुकूल नहीं होता, यह अभिरुचि तुम्हें दुःखी बना देती है, तुम्हें इस उत्तरको स्वीकार करना कठिन लगता है, उसे स्वीकार करनेके लिये तुम्हें संघर्ष करना पड़ता है। इसके विपरीत, यदि तुम्हारे अंदर कोई अभि-रुचि नहीं होती तो तुम्हारी अभीप्साका उत्तर जो भी हो, जिस क्षण वह आता है प्रसन्नतापूर्वक, स्वाभाविक रूपमें, एक सच्चे उत्साहके साथ तुम उसके साथ चिपक जाते हो। अन्यथा जो कुछ आता है, तुम्हारी अभीप्सा-के उत्तरमें जो भी निर्णय आता है उसे स्वीकार करनेके लिये तुम्हें एक प्रयास करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। चुनावकी स्थिति हर क्षण रहती है, हर क्षण तुम एक चुनावके सम्मुख: ऊपर चढ़ने या नीचे जानेके चुनाव, प्रगति करने या पीछे हटनेके चुनावके सम्मुख उपस्थित रहते हो। मगर इस चुनावका यह अभिप्राय नहीं होता कि तुम वस्तुओं-को इस प्रकारका या उस प्रकारका होना पसंद करते हो; यह प्रत्येक क्षणका एक तथ्य होता है, एक मनोभाव होता है जिसे तुम अपनाते हो।

चुनावका अर्थ है एक निर्णय और कार्य। अभिरुचि है कामना। चुनाव

किया जाता है और करना चाहिये, और यदि वह सचमुच एक चुनाव है तो वह परिणामोंकी कोई परवा किये बिना, किसी फलकी आशा किये बिना किया जाता है। तुम चुनते हो; तुम अपने आंतरिक सत्य, अपनी उच्चतम चेतनाके अनुसार चुनते हो; चाहे जो भी हो उससे तुम अछूते रहते हो, तुमने अपना चुनाव, सच्चा चुनाव कर लिया है, और जो कुछ होता है उससे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। जब कि, इसके विपरीत, यदि तुम्हारे अंदर अभिरुचियां हैं तो तुम अपनी अभिरुचिके अनुसार एक या दूसरी तरहसे चुनाव करोगे, तुम्हारी अभिरुचि तुम्हारे चुनावको विकृत कर देगी: वह हिसाब-किताब, मोल-तोल होगा, तुम इस भावनाके साथ कार्य करोगे कि एक विशेष चीज अवश्य होनी चाहिये क्योंकि उसीको तुम पसंद करते हो और इस कारण नहीं कि वही सत्य है, करने योग्य यथार्थ वस्तु है। अभिरुचि परिणामोंके साथ बंधी होती है, फलकी दृष्टि-से कार्य करती है, चाहती है कि वस्तुएं एक विशेष प्रकारकी हों और अपनी इच्छा पूरी करनेके लिये कार्य करती है; और तब वह सभी प्रकारकी चीजोंके लिये दरवाजा खोल देती है। चुनाव परिणामसे स्व-तंत्र होता है। और निश्चय ही, प्रत्येक मुहूर्त्त मनुष्य चुनाव कर सकता है, वह प्रत्येक क्षण चुनाव करनेकी आवश्यकताके सम्मुख उपस्थित होता है। और वास्तवमें तुम अच्छे ढंगसे, पूर्ण सच्चाईके साथ तबतक चुनाव नहीं करते, जबतक कि तुम्हें अपने चुनावके परिणाममें नहीं, बल्कि यथार्थ-में, चुनावके सत्यमें दिलचस्पी नहीं होती। अगर तुम परिणामको दृष्टिमें रखकर चुनाव करते हो तो वह तुम्हारे चुनावको मिथ्या बना देता है।

अतः मैं कहती हूं कि यह शब्दोंके साथ खेलना है, यह दो भिन्न-भिन्न चीजोंको मिला देना है; और तब तुम ऐसे प्रश्न पूछते हो जो हल होने लायक नहीं मालूम पड़ते क्योंकि यह एक मिश्रण होता है। स्वयं प्रश्नमें ही एक उलझन है।

प्रत्येक व्यक्तिके साथ एक ही ढंगसे बर्ताव करनेकी जहांतक बात है, उसमें तो और भी बुरी उलझन है! यह उस तरहकी उलझन है जिसे मनुष्य यह कहकर पैदा करता है कि प्रत्येक मनुष्यके साथ भगवान्को एक ही ढंगसे बर्ताव करना चाहिये। इसलिये संसारमें अनेकताको होने देनेका, एक समान दो व्यक्तियोंको न होने देनेका कष्ट उठानेका कोई मूल्य नहीं रहेगा; क्योंकि यह अनेकताके सिद्धांतका ही एकदम खंडन करता है।

तुम संसारमें जो कुछ है उस सबके लिये मेल-जोल, एकता, प्रेम, पूर्ण करुणाका एक ही गहरा मनोभाव रखनेकी अभीप्सा कर सकते हो — यदि

तुम नहीं रखते तो रखना चाहिये; परंतु यह मनोभाव भी प्रत्येक प्रसंगमें अलग-अलग तरीकेसे, उस प्रसंगके सत्य तथा उसकी आवश्यकताके अनुसार प्रयुक्त होगा। जिसे कर्मका प्रेरक हेतु अथवा मूल-स्रोत कह सकते हैं वह एक ही होता है, पर प्रत्येक प्रसंग और प्रत्येक प्रसंगके गभीरतर सत्यके अनुसार वह कर्म संपूर्ण रूपमें तथा नितांत विपरीत भी हो सकता है। परंतु ठीक इसी कारण, मनुष्यमें अत्यंत उच्च, अत्यंत गभीर, अत्यंत मौलिक रूपमें सत्य मनोभाव होना चाहिये, वह मनोभाव होना चाहिये जो सभी बाहरी संपर्कोंसे मुक्त हो। तब मनुष्य प्रत्येक क्षण केवल मौलिक सत्यको ही नहीं, बल्कि कर्मके सत्यको भी देख सकेगा; और प्रत्येक प्रसंगमें यह भिन्न होता है। और फिर भी, जिसे हम "मनोवृत्ति" (यद्यपि यह एक अपर्याप्त शब्द है) अथवा चेतनाकी स्थिति कह सकते हैं जिसमें मनुष्य कार्य करता है, प्रधानतया वही होती है।

परंतु यह बात तबतक समझमें नहीं आ सकती जबतक कि मनुष्य वस्तुओंकी वास्तविक गहराईमें नहीं प्रवेश करता तथा उन्हें उच्चतम शिखरोंसे नहीं देखता। और तब वह ज्योति और चेतनाके एक केंद्रके जैसा होता है जो इतना अधिक ऊंचा या इतना अधिक गहरा होता है कि एक ही समय सभी वस्तुओंको, केवल उनके सार-तत्त्वमें ही नहीं वरन् उनकी अभिव्यक्तिमें भी, देखा जा सकता है; और यद्यपि चेतनाका केंद्र एक ही है, पर कार्य उतना ही विभिन्न होगा जितनी विभिन्न अभिव्यक्ति होगी : यह भागवत सत्यकी, उसकी अभिव्यक्तिके अंदर, संसिद्धि होगी। अन्यथा यह संसारके समस्त वैविध्यको दबा देना और उसे मूल अनभिव्यक्त 'एकत्व'के अंदर वापस ले आना होगा, क्योंकि केवल अनभिव्यक्तिके अंदर ही 'एकम्'के द्वारा 'एकम्' अभिव्यक्त होता है। परंतु जैसे ही हम अभिव्यक्तिमें प्रवेश करते हैं, 'एकम्' 'बहु'के रूपमें व्यक्त होता है, और 'बहु'का अर्थ है कर्मों और पद्धतियोंका एक समवाय।

अतः, संक्षेपमें : परिणामोंकी परवा किये बिना चुनाव करना चाहिये, और अभिव्यक्तिके अंदर प्रकट बहुविधताके सत्यके अनुसार कर्मका संपादन करना चाहिये।

अच्छा, बस।

अनुक्रमणिका

अंतरात्मा, १२१
-का अनुसरण करो मनका नहीं, यह कैसे किया जाय, २०४-५
-के शरीर-ग्रहण करनेके बारेमें, २०९-१३, २२५, ३४८-४९, ३५१
-के ऊर्ध्वारोहणमें हजारों वर्ष, २११
-के आंतरिक बलके साथ जीवनकी ओर ताको और परिस्थितिके स्वामी बनो": व्याख्या, ३१४
(सुविकसित), को क्या कामना-पुरुषको रूपांतरित करनेमें कम कठिनाई होती है?, ३१९-२०
(दे० 'चैत्य-पुरुष' भी)
अंतर्ज्ञान, १८४, १९७
अंत:प्रेरणा,
-में मिलावट, २०२-४
अंध-विश्वास, ९८-९
अगस्त १५,
-का महत्त्व, २७७-७८
और फीस्ट ऑफ असम्पशन, २८३
(दे० 'संदेश' भी)
अचलता [निश्चलता, स्थिरता], १०९, ३४२, ३५६
-की शक्ति, ७१-२
हत्यारेके हाथको भी रोक सकती है, ७२
(पूर्ण), व अनासक्तिकी स्थिति, ३४०
और तमस्, ३४३
(सच्ची), शक्तिका चिह्न, ३४३-४४
(दे० 'शांति' भी)

सूचना :

(१) ऐसे पढ़ें :

शक्ति	**अध्यापक**	**पशु**	**चीज**	**चीज**
-योंका	-ोंसे	-ओंमें	˜(सभी)	ों(बुरी), के
शक्तियोंका	अध्यापकोंसे	पशुओंमें	सभी चीजें	बुरी चीजोंके

(२) जिन वाक्योंमें केवल शुरूमें (') है वह अपने-आपमें पूरा वाक्य है, उन्हें मूल शब्दके साथ मिलाकर न पढ़ें।

(३) जहां (")का प्रारंभ नहीं दिखाया गया, वहां मूल शब्दसे पहले (") कल्पना कर लें।

(४) कहीं-कहीं अधिक स्पष्टताके लिये लिखा है:
दे० 'पूर्णता' वर्द्धनशील, दे० 'भगवान्'-के यज्ञ, अर्थात् **पूर्णताके** नीचेका वह वाक्य जो वर्द्धनशीलसे शुरू होता है, भगवान्के नीचेका वह वाक्य जो -के यज्ञसे शुरू होता है।

अचेतन,
हमारे अंदर कौन-सी चीज है ?, ८३
वस्तुओंमें भी भागवत उपस्थिति, २४१
अचेतनता, ८४, २४३
अच्छा और बुरा, दे० 'दिव्य' व 'शुभ'
अज्ञान,
व्यक्तियों और वस्तुओंके विषयमें, १३, ५९-६०, ६७, ९३
-में बने रहनेका प्रत्येकको अधिकार, १८७, १८८-८९
-की अपेक्षा घृणामें अधिक घनिष्ठता, २४३
-से निकल आना समस्याका हल, २८२
-के वश अशुद्ध चीज करना, ३०७
दूर करनेका अर्थ, ३६६
अतिमानस,
शब्दका प्रयोग, ३६, ३१२
और चैत्यपुरुष, ३१२
-की उपस्थितिसे जीवन और विश्वकी स्थितिमें अंतर, ३२५-२९
अभी दस लाख वर्षोंतक नहीं आयगा, इस धारणाका संशोधन, ३३६
(दे० 'अतिमानसिक' भी)
अतिमानसिक,
सिद्धि कालकी गतिके बीच एक अगोचर बिन्दु, १५, २२
रूपांतरका परिणाम : सच्ची श्रेणी-परंपरा, ३१
जगत्में क्रमपरंपरा होगी, ५२-३
ज्योति-शक्तिकी प्रथम बार अभिव्यक्ति, ७९, ८५
'अतिमानस पृथ्वीपर उतर आया है, इसका तात्पर्य क्या है और कौन-सी चीजें संसिद्ध हो गयी हैं ?, १३३
अवतरणको कौन अनुभव करनेमें सक्षम हैं, १३४-३५
(दे० 'नयी अभिव्यक्ति' भी)
चेतनाके प्रति हमारा मनोभाव क्या होना चाहिये ?, १३५
अभिव्यक्तिसे, लोग पूछते हैं, हमें क्या लाभ पहुंचेगा, १३६
अभिव्यक्तिसे क्या कठिनाइयोंको जीतना आसान होगा ?, १३६, १४०-४१
अवतरण और प्रथम अतिमानवका आविर्भाव, १३८, ३३५-३६
अवतरणको तुमने अनुभवतक नहीं किया यह कैसी बात है ?, १३८-४०
अवतरण और अभिव्यक्तिमें अतंर, १४१-४२
अभिव्यक्तिको अंधे भी अनुभव करेंगे, १४४
अभिव्यक्तिसे तुम्हारे साथ क्या होगा ?, १४६
चेतनाके बिना सब समाधान सामयिक, १४६
अवतरणका प्रभाव, १५१, २१६-१७, ३०४
'अतिमानसतक पहुंचनेके लिये क्या बीचके सब स्तरोंमेंसे गुजरना आवश्यक है ?, १७८
आरोहणकी प्रक्रिया, १८४-८५
'अतिमानसमें अब तर्कशील मनसे सीधे जाना संभव, १८५-८६

चेतना अब प्रत्येकके लिये संभव, १८६
कार्यका परिणाम, १८६
'अतिमानसको ग्रहण करनेके लिये क्या करना चाहिये, २१४-१७
'इसे भागवत संकल्प करेगा : मत कहो, 'मैं नहीं कर सकता', २१५
अभिव्यक्तिका मतलब यह नहीं कि तुरत, एकाएक . . ., २१६
'शिकायत कि चीजें आसान नहीं हुई हैं, २१६
अवतरणके विषयमें हलके हृदयसे वायदे . . ., २२९-३०
अवतरणसे कठिनाइयां क्यों बढ़ गयी हैं ?, २३०-३१
अभिव्यक्तिके दृष्टिगोचर परिणाम प्राप्त करनेमें क्या लंबा समय लगेगा ?, ३०५
'अतिमानस एक चेतनाके लिये संसिद्ध तथ्य है, ३०५-६
जगत्से संपर्क स्वप्नोंमें, ३०६
रूपांतर और नवीन जातिका प्रादुर्भाव एक नहीं है, ३३६
रूपांतरकी संभावनाकी निश्चितता बढ़ गयी है, ३३६
रूपांतरकी शर्तें, ३३६-३७
(दे० 'दिव्य . .', और 'नयी . .' के अंतर्गत भी)
अधिमानस, १८४
और अतिमानस, ३६
अधैर्य [जल्दबाजी], २१, २९८
अध्ययन, १६८
-में योगीका लक्ष्य, १६५
'तुम्हें, बस, एक ही वाक्य नहीं पढ़ना चाहिये, १७८
-की उम्र, १८७
-से अलग रहनेमें हानि, १८९
-में, यहां सामान्य कमियोंका कारण, १९३
-के, बच्चोंमें, सामान्य कारण, १९४
-द्वारा प्राप्त ज्ञान, ३७२
किस मनोभावके साथ, ३७८-८०
(दे० 'शिक्षा' भी)
अध्यवसाय (अपेक्षित),
आंतरिक कठिनाइयोंको हल करनेमें, ४४-५
संकेंद्रीकरणके कार्यमें, १८२-८३
बाहरी प्रभावोंसे मुक्ति पानेमें, ४०५, ४०७
अनुभवको पुनः जीनेके लिये, ४१६
(दे० 'प्रयास' भी)
अध्यात्मभावापन्न मन,
-का क्या कुछ मूल्य नहीं ?, १७७
अध्यापक [शिक्षक],
-का एकमात्र कार्य, १९०
-का सच्चा उपयोग, १९५
अच्छा, ३६७
मैं किन्हें बनाती हूं, ३६८
सफल, का अर्थ, ३६८
(दे० 'विद्यार्थी' भी)
अनातोल फ्रांस [आनातोल फ्रांस], ७३
अनुभव [अनुभूति], २५९
आंतरिक, और स्थापित तथ्यके बीचकी लंबाई, ३३
आवृत होनेपर असहिष्णुता और सहिष्णुताकी वृत्ति, ४५
-के बिना समझना शक्य नहीं, ७१

आध्यात्मिक, का प्रारंभ-बिन्दु, १०२
अध्यात्मिक : अभावात्मक और भावात्मक, १०२
-में ज्ञानको बदलना, १०७
-से मेरा मतलब, १०७
अभिभूतकारी, १२०
आते हैं, फिर धुंधले हो जाते हैं, १७९
पक्का, १७९
-से मनुष्यको सीखना पड़ता है, १९०
-से ही यदि सब सीखना पड़े, १९५
-के समय निश्चल रहनेकी आवश्यकता, २४८, ३५६
-की अपेक्षा अधिक उच्च होना : व्याख्या, २९१
विश्वसनीय, यदि तुम पाना चाहते हो . . ., २९५-९६
कि 'हम कुछ नहीं हैं', २९७
-का अस्तित्व बहुतोंके लिये तभी होता है जब वे उसकी व्याख्या कर पाते हैं, पर व्याख्याके साथ उसकी शक्ति हवा हो जाती है, ३४४-४५
-के साथ, फिर, कैसे बरतें ?, ३५४-५६
-की सच्ची शक्ति, ३५४-५५
अप्रत्याशित, चेतना-परिवर्तनके, ४१५-१८
-को पकड़ लेना चाहिये, ४१६
सहज-स्वाभाविक, का ही मूल्य, ४१६-१७
(दे० 'अभीप्सा' भी)
अनुशासन,
स्वयं अपने ऊपर, १९४-९५
समष्टिगत, स्वेच्छापूर्वक, २०७-८
प्रारंभिक, ३७०-७१
अपूर्णता, दे० 'पूर्णता' वर्द्धनशील
अभीप्सा, १०१, २५६, २६४, २६८, ३४२, ४१६
पौधेमें, २६
बालकमें, लंबे बढ़नेकी, २७
और संकल्प प्रगतिके लिये आवश्यक, २७, २१५, ३९९
या साहस, ४३-४
निश्चेतनामें, ८४
तुम नहीं, भगवान् करते हैं, ८४
सच्ची और मानसिक उत्सुकता, २१६
उल्कापातके क्षणकी, २२०-२१
कर्म और रूपके बिना, २५८ टि०
व आंतरिक अनुभवको भौतिक रूपमें अनूदित करनेकी भावना, २५९, २६०
-में वेदना व हर्षका कारण, २६२-६३
-का उत्तर जब अभिरुचिके अनुकूल नहीं होता, ४१९
(दे० 'कामना' व 'प्रार्थना' भी)
अभ्यास [आदत], दे० 'प्रतिक्रिया'
अभ्यास [प्रयास], दे० 'प्रयत्न'
अमेन होटेप, १६३
अयोग्यता,
-की भावना, ४२
अर्पण,
-की समग्रता, १६-७
'जितना ही अधिक तुम देते हो

उतना ही अधिक पाते हो, २०५
अंदरकी निकृष्ट वस्तुओंका, ३२३
(दे० 'कर्म' भगवदर्पण भी)
अवतार,
किस लिये आता है, १७४
-का अनुसरण करनेवाला यदि कोई न हो, १७४
-के संघर्ष मिथ्या . . ., १७५
अवसाद,
देरतक ठहरता है, हर्ष नहीं; २००-१
अव्यवस्था, २
अशुभ इच्छा [कु-इच्छा], २२८, २३४, २३५, २४०, ४०६, ४१०
असंभव [असंभावना], ४०१, ४०२, ४०७, ४०८
कोई चीज नहीं, ३२६
-का मान ही . . ., ३९६-९७
-का क्या अर्थ है ?, ३९७-९९
असच्चाई [कपट], २३४-३५; ४११-१२
-का मूल-स्रोत, ४१२
-की हानि, ४१३
अहं, ५५, २९२, ३६२, ३८७, ४१२
और यज्ञका विधान, ७९
'अपने विषयमें इतना अधिक मत सोचो, २३१
'अपने ऊपर दोहरा होना, ३०१
' 'मैं अपने-आपमें कुछ नहीं' की भावना प्राप्त करना, ३२०
-को विलुप्त होना होगा, ३३७
सहायक था . . . बाधक है" : व्याख्या, ३८१-८२
-से रंजित व्याख्याएं, ३८८-८९
'मैं, सर्वोत्तम प्रकारका मैं क्यों नहीं हूं, ४०१
(दे० 'कठिनाई', 'भक्ति' भी)

आ

आंतरिक कमरा, दे० 'हृदय'
"आंतरिक भविष्यवक्ता", १९७
आंतरिक सिद्धि,
-में निरत होनेसे रोकनेवाली चीज, १६९
आकार [रूप], २२६
पीछे स्थित 'शक्ति' के प्रतीक बन जाते हैं, १६५
(दे० 'पूजा' भी)
आघात,
-ोंको 'पी जाना', ४४
आत्म-तुष्टता, १५०, २१५
आत्मदान, ८०, २५६
कष्टमय, ८८
ही सुरक्षाका उपाय, २९१-९२
(दे० 'संरक्षण' भी)
प्रयत्नके तनावको दूर करनेके लिये, ३८४
(दे० 'अर्पण', 'समर्पण' 'हवि' भी)
आत्म-निवेदन, २५६
आत्म-प्रभुत्व, ३९५
-से ही परिपार्श्वपर प्रभुत्व, ३६४-६७
आत्म-विस्मरण,
-का तरीका, ३०१
आत्म-सज्ञानता, ६५
"आत्म-सर्जक", ११४

आत्मा,
-की अचल स्थिति गीताका नियम है: व्याख्या, ७०-१
-की समता और अचलता, ७२
-को एक ओर और जड़तत्त्वको दूसरी ओर रख देना, ९२-३
-ओंका स्वधाम", क्या है?, १३३
आत्मान्वेषण (दिव्य), ३७
आदर्श, ३०२
-का निर्णय, देश और समाजके आचार-विचारद्वारा, ६१-२
(वेदांतिक, बौद्ध, ईसाई), का जन्म, १९८
मानव-हितका, १९८
आध्यात्मिक उपलब्धि,
-की निश्चितता कब, २५५-५७
पुराने समयकी, २५६, ३८०
(दे० 'योग' -को लोप)
आध्यात्मिक चेतना, २५८ टि०
आध्यात्मिक जीवन [दिव्य जीवन],
-की ओर ले जानेवाली पहली चीजें, १०२
(सच्चा), कहांसे आरंभ होता है?, १४२
-की तैयारीके लिये मौलिक गुण, २६१
-की अभीप्सा भी और आसक्तियां भी, २९७-९८
-की प्राप्तिकी शर्तें, ३३७
(दे० 'भौतिक' भी)
'आध्यात्मिक रोमानियत', २९६
आध्यात्मिक शिक्षा,
-के लिये आवश्यक चीज, २४८
आध्यात्मिक विधान,
क्या है?, १४८
आध्यात्मिक श्रेणीपरंपरा, दे० श्रेणी-परंपरा
आनंद [हर्ष], ९०
-को जाननेके लिये समस्त मानवीय सुखोंका त्याग, १२७
-के योग्य मनुष्य अभी नहीं, २०१
-को स्थायी बनानेके बारेमें, २०१
राधा-चेतनामें रहनेसे—जहां विरोध और कुरूपताएं नहीं, २३३
-से भरी अभीप्सा, २६२
कठिनाईको होम देनेसे, २६५
'कृपा-शक्ति'के प्रति समर्पणसे, २८०
'सद्वस्तु'के साथ एकत्वसे, २८२
'कृपा-शक्ति'के संपर्कसे, ३१८
प्रकृतिके साथ समस्वरतासे, ३१८
-क्या उच्चतम स्थिति है?, ३४०
-को जब मनुष्य खो देता है तो क्या वह चेतनामें नीचे गिर जाता है?, ३४०
-की स्थितिका स्वरूप, ३४०-४१
-की खोज, अनासक्तिके बिना करना खतरनाक, ३४१-४२
निर्विषय, ३८३, ३९०
सत्यनिष्ठ होनेमें, ४१३
(दे० 'प्रगति', 'सचेतन', 'सुख' भी)
आनुवंशिकता,
-की सीमाको मनुष्य परे धकेल सकता है, २७
आरोहण, १४१
-की प्रक्रिया, १८४-८५
-का अंतिम पग, १८५
'आर्य', पत्रिका, २९४

आलस्य, ३०९, ४००
-का परिणाम, १९०
आवश्यकता, १४७, ३४२, ३९२, ४१७
-की चीजें भगवान्से मांगना, १२९-३२
-को क्या तुम जानते हो, १३०, १३१-३२
(दे० 'प्रकाश' व 'साधना' भी)
आश्रम,
-के बारेमें लोगोंका विचार, २, ११, ३८०
किन लोगोंके लिये है, २३
विश्राम करनेका स्थान नहीं, २३
-के लिये २, ३, ४, ५, ६ संख्याओंका महत्त्व, ९६-९
-के विरुद्ध फ्रेंच समाचार-पत्रमें लेख, ११३
-में प्रथम मृत्यु, १३६
'यहां एक प्रकारकी चेतना कार्य करती है . . . , २७५
-में शक्तियोंकी विशिष्ट एकाग्रताके समय, २७६
'यह क्रिया अब बहुत अधिक तेज हो गयी है, २७६
आश्रमवासी,
'तुम यहां सुरक्षित हो, ७८
'तुम समझो कि यहां जैसा हो रहा है वह क्यों हो रहा है, २४८-४९
'हम यहां अन्यत्र जो कुछ किया जाता है उसीको दुहरानेके लिये नहीं हैं, २४९, २५२
'जो लोग बहुत अधिक जीवन बिताकर यहां आते हैं . . , २४९
'यदि तुम यहां रहनेका लाभ उठाना चाहते हो . . , २५२-५३
'हम जो करना चाहते हैं, २५२
'तुमसे महज इतना ही मांगा जाता है, २५३

इ

इंद्रिय,
-ोंकी क्रिया भी दोषपूर्ण, पसंदगीसे, ४११
इच्छा,
(हमारी स्वतंत्र), ५४-५, ५६
-ओंके परे . . . शक्ति" : व्याख्या, ३७३-७५
'जहां चाह वहां राह', ३७४
सच्ची और सामान्य, ३७४
(दे० 'कामना', 'दूसरे' भी)

उ

उच्चतर मन, १८४
उत्साह,
-की अधिकता, २९८
उदाहरण,
-का अनुसरण करना, १२९
उदाहरण,
'बुढ़ियाका आधे थामका दान, १६-७, १९
'सर्प, अपनी पूंछ काटता हुआ, ३८
'अंधे मनुष्य : संवेदनशील, ५९
'चुपकेसे किसीके पास जाना, ५९
'चींटियोंका काम, ६४

'धुएं बिना कोई अग्नि नहीं, ६६, ११०
'परिवर्तन करनेवालोंको क्रांतिकारी समझनेवाला, ६७
'हाथी और महावत, ७४
'संन्यासी, मारक संरचना करने-वाला, ७७
'मुर्गीके बच्चेकी बलि, ८५
'हैजे या चेचकके देवताकी पूजा, ८६
'जंगला, प्रकाशकी ओर खुला, ८८
'सीढ़ीके नीचेसे गुजरना, ९८
'बारह एकत्र व्यक्तियोंकी अभीप्सा, ९९
'गीता-भक्त भारतीय, पेरिसमें, ११०
'हवा . . निर्व्यक्तिक, ११७
'जोरसे जलनेवाली समिधा और लकड़ीके कुंदे, १६७
'झाड़ू लगाना और साहित्यिक व कलात्मक काम करना, १६८
'जादू करनेवालेके पास नाखून या बालका टुकड़ा, १७१
'त्रिपार्श्व कांच, १८०
'गेंद या गुब्बारेको उलटना, १८०
'समुद्रका कार्क, १९२
'बच्चेके हाथमें दियासलाई, १९५
'मांसपेशियोंका विकास, २०६, २३८
'युद्ध, महामारी, भूकंप . . के प्रभाव विभिन्न व्यक्तियोंपर, २२३
'समुद्र . . समर्पणकी तुलना, २८०
'बारह बार शरीरसे निकलनेमें समर्थ अंग्रेज महिला, २९०
'कपड़े या कागजकी तहको खोलकर फैलाना, ३००
'धूपमें बालूपर चित लेट जाना, ३००
'गणितके सचंय, ३२५
'चुपचाप बैठा शेर, ३४४
'पुलिस कमिश्नर, ३६३
'तर्क-वितर्क कर रहे और हाथा-पाईको उद्यत दो व्यक्ति, ३६५
'तैरना जाने बिना पानीमें कूद पड़ना . . ., ३७६
'सुन्दर वाक्य, संगीत, भूदृश्य, ३९०, ४१७
'चीड़ कभी बलूत नहीं बनेगा, ४००
'लिबासके दागोंको दूर करना, ४१५
(दे० 'आश्रम', 'श्रीमाताजी' भी)
उद्घाटन, १४३, १४४, १४५
' "ज्वलंत रूपसे उद्घाटित" व्याख्या, ८८
'खुला या बंद होना कई बातोंपर निर्भर, ३१८
उपलब्धि, २४४, २५७
-को स्थायी बनानेके लिये अनिवार्य वस्तु, १७९
(भावी), पहलेसे श्रेष्ठ, २४४
(दे० 'पूर्णता' वर्द्धनशील भी)
-के स्थायी न रहनेका कारण, २५२
उपवास, १४८
उपनिषद्,
-का वर्णन मृत्युके बाद नये जन्म-के बारेमें, ३४६-४७
उपस्थिति, ३८, ८१
(दे० 'चैत्यपुरुष', 'भागवत उप-स्थिति' भी)

उल्कापात, २२०-२१

ऊ

ऊब, १८३

ए

एकत्व [एकता], ४१३
'कोई चीज पृथक् या स्वतंत्र नहीं, एक अकेला 'पदार्थ', एक अकेली 'चेतना', एक अकेली 'इच्छा' है, ५६-७
सक्रिय शक्तिकी" : मतलब, ५९
-से सचेतन होना, ५९
(गुप्त), द्वारा सब जुड़े हुए हैं, ८१
विद्यमान है; तुम उससे सज्ञान हो या न हो, ८१, ८२-३, ८४
(दे० 'प्रकंपन' भी)
एकनिष्ठता, ४०, ४६
एकरूपता (भयंकर), ११२
एकांगिता, ११९, १२०
एकाग्रता, २४७, ४१६
-का अभ्यास मनुष्य क्यों नहीं करता, १९१
-के लिये अभ्यास अपेक्षित, २३८-३९
एकीकरण [संकेंद्रीकरण],
सत्ताका, १८२-८३, २९८
-का कार्य भौतिक शरीरमें ही, १८३
मानव संसारका, २८५-८६
एशिया,
-के पुनरुत्थानका श्रीअरविंदका स्वप्न, २८५

औ

औषध,
(अमोघ), का अंध-विश्वास, ९८
-ज्ञानकी सापेक्षता, ३७७-७८

क

कठिनाई, ४५, २१३
-योंका सामना, ४४, ३१४
-यां आध्यात्मिक जीवनका प्रारंभ-बिन्दु, १०२
-यां अतिमानसिक अवतरणसे क्यों बढ़ गयी हैं?, २३०
-योंका हल, २३१
-में भी हर्षका अनुभव कैसे ? २६५
-यां जीती जानेके लिये हैं, २८६
-में जब तुम होओ तो अपने-आपको विस्तारित कर दो" : व्याख्या, २९९-३००
-यां अहंभावसे आती हैं, २९९
-के साथ संघर्ष, ३००
प्राण-भागकी, ३११-१२
(दे० 'बाधा' भी)
कर्म, २५८ टि०, ३३८, ३९४
-ोंको योगकी अंतिम गतिके लिये छोड़ना, ४६
-की ग्रन्थिको खोलना, ७५-६
तुम नहीं करते, भगवान् करते हैं, यह चेतना, ७५, ७६
परिणामोंकी श्रृंखला पैदा करता है, ७६
भगवदर्पण (पूजा) भावसे करना, ९६, १६७, १६८

(किसी बाहरी), या गतिविधिको बंद करनेका सर्वोत्तम उपाय, १०९
भी यज्ञके अंग, १६७
-ोंका विभाजन, दो प्रकारके कर्मों-में, १६७-६८, १७०
-में भावनाका महत्त्व, १६८
सामान्य और ऊंचे प्रकारके, १६८
-का सच्चा मनोभाव, १७४
-की योजना व व्यवस्था, मनका सच्चा कार्य, १९९
-का आधार, आध्यात्मिक जीवनमें, २५८ टि०
अधिकतर, कामनामय-आत्मासे प्रचालित, ३१६-१७
करनेकी सच्ची शक्ति कबतक नहीं आ सकती, ३७४
विचारका ही व्यक्त रूप है, ४०८
-का सत्य, ४२१
(दे० 'कार्य' भी)
कर्म (प्रारब्ध), ८७
कर्मफल [परिणाम, पुरस्कार, फल], २१
-से आसक्त हुए बिना कर्म करना, ७५-६, ३३८
मनुष्यपर कब वापस नहीं आते, ७६
-से मुक्तिका अनुभव, और उसकी नकल, ७६-७
-की आशा, ४२०
(दे० 'प्रयास' भी)
कर्मयोग [कर्ममार्ग], ४७, ३१३, ३३८
कला,
-ओंमें योगीका लक्ष्य, १६५
सजीव, तथा प्रकृतिके अनुकरण-मात्रका भेद, १६६
कलेंडर, ९७-८
कल्पना, २३२
करनेका मतलब है चीजें पहलेसे विद्यमान हैं, १०
-शक्तिका उपयोग यदि बचपनसे किया जाय, १२५
कवि, १६६
कामना, १९, २९६, ३८७, ३९९
-त्यागके लिये क्या करना चाहिये, २०-१
-एं व्यक्तिगत नहीं हैं, ५७
कर्म-प्रेरिका, ७५
-की ग्रन्थिको जब तुम काट देते हो. ., ७६-७
-ओंको सुन्दर सिद्धांतोंसे ढकना, ७७
या अभीप्साको प्रार्थनामें मूर्त्तरूप देना, २६८-६९
सहायक थी . . बाधक है" : व्याख्या, ३८१, ३८३
' "अभिरुचियां न रखना" का क्या अर्थ है ?, ४१८-२०
(दे० 'इच्छा', 'भोग' भी)
कामना-पुरुष [कामनामय-पुरुष],
-को हमें शुरूमें स्वीकार करना होता है, १५
-की सहज-प्रेरणाएं अहंस्थापनके लिये, ३१७
क्या चीज है ?, ३१७
साधारण जीवनमें उपयोगी, पर योगमें बाधक, ३१७
-से छुटकारा आसान, चैत्यपुरुष-को पा लेनेपर, ३२०

-को मिटाना होगा, ३३७
(दे० 'अंतरात्मा' भी)
कार्य,
जीविका कमानेका, १६८
अधिक करनेका भय, २०५, २०६
(एकाग्रताकारी), में संलग्नता
बुरे विचारोंसे बचनेका उपाय, २२०
करना, दबावके वश, ३१०
(दे० 'प्रयास', 'साधना' भी)
काली, दे० 'दुर्गा'
कृपा, दे० 'भागवत कृपा'
कृतज्ञता, ४३
क्रमपरंपरा, दे० 'श्रेणी परंपरा'
क्रमविकास, २८०
-में अगले कदमका श्रीअरविन्दका स्वप्न, ९८६
क्रिप्स, सर स्टैफोर्ड, ३४ टि०
क्रोध, ४०६
-का स्पंदन बाहरसे, ५८, ४०७

ग

गरीब, १६९
गीता,
-का पुरुष-प्रकृतिका सिद्धांत, ६४-५, ६६
-को माननेवालोंका दृष्टिकोण, जीवन और जगत्के विषयमें, ६६, ६९
-को माननेवाले उसके सत्यको क्यों आचरणमें नहीं लाते ?, ६८-७०
-का महान् रहस्य, ८०
गुह्य जगत् [पीछे अवस्थित लोक], २८
-के विषयमें, १२१-२२, २२६-२९
गुह्य प्रक्रिया [गुह्य साधना], २६६, २९०

घ

घृणा, २४२, २४३, ४१०

च

चंपा-पुष्प,
और पांच आंतरिक परिपूर्णताएं, ३९-४६
सुनहला, १६६-६७
चमत्कार, १३५, १४५, ३३०
चिच्छक्ति, ११५
चित्रकार, १६६
चित्रलिपि,
-योंके उच्चारणकी खोज, १५८-६०
-के विषयमें प्रश्न किस कारण उठाये गये थे, १६२-६४
चीज [वस्तु],
~, अपने स्थानपर नहीं, ३
~, सहायक और बाधक, ३, ४१८-१९
(कोई), पूर्ण रूपसे निरर्थक नहीं, ६
~, बुरी, ६-७
-ों (अपनेमें बुरी), के प्रति सही वृत्ति, ७
"पहले ही संसिद्ध" हो चुकी है, कोई कैसे कह सकता है, ३२
ोंको सत्य रूपमें देखना कब संभव होता है, ६०

˜, वैसी ही हैं जैसी होनी चाहिये, ७४, ८९
'दृश्य वस्तुओंसे अदृश्य वस्तुएं अधिक, ९३
˜, सर्वत्र 'इसी तरह' की जाती हैं का तर्क, १८७, २४९
जो एक कालमें सुंदर, पूर्ण, अद्भुत प्रतीत होती है.. २४४ (दे० 'पूर्णता' वर्द्धमान भी)
'सभी वस्तुएं संसिद्ध होंगी, ३९७
(किसी ऐसी), की धारणा हम नहीं बना सकते जो देश-कालमें नहीं, ३९८
कोई दो, एक समान नहीं, ४०१ (दे० 'चेतना' भी)

चीन,
-का धर्म, १५७

चुनाव, ४, २५
हमारी इच्छाओंका, प्रकृति करती है, ५४-५, ६१
विश्वमें रहने या उससे बाहर जानेका, २४५
और अभिरुचिमें अंतर, ४१८-२० (दे० 'भगवान्' भी)

चेतना,
अपनी, को बदल देनेसे जगत् भी बदल जाता है, १३, २८२
-का विकास, ३७
-की क्रियापर प्रत्येक चीज निर्भर, ८२
सच्ची, ८२
व्यक्तिगत, जब दिव्य चेतनासे पृथक् हो जाती है, ८३
-का रूपांतर सच्चा रूपांतर है, ८३
-के पार्थक्यमें मोक्षदायिनी शक्ति, १०३-४, १०९-१०
-की एक अवस्थामें प्रत्येक वस्तु अर्थपूर्ण बन जाती है, १६५, ३१८
-का विपर्यय, १७९-८१
साधारण, २०२, ४१५
-का विस्तार प्रथम आवश्यकता, २१५
(साधारण), में गिरना आसान है बजाय शिखरपर बने रहनेके, २५२
-की शरीरकी सीमासे मुक्ति, ३५७
व्यक्तिगत, दूरतक फैलती है, ४०३
(समग्र), को ही परिवर्तित करना होगा पूर्ण विजय पानेके लिये, ४१४-१५
-को परिवर्तित कैसे किया जाय ?, ४१५-१८
-के परिवर्तनका प्रारंभ-बिन्दु, ४१६, ४१८

चैतन्य, महाप्रभु, ४७

चैत्य अग्नि,
-को कैसे प्रज्वलित किया जाय ?, २६४-६५

चैत्यपुरुष [हृत्पुरुष],
पृथ्वीपर ही, ३८
-के अंदर भगवान्‌के साथ संपर्क, १४२
-के साथ पहला संपर्क और अनुभवकी प्राप्ति, १८१
-के अंदर दिव्य उपस्थिति मानवप्राणीमें ही, १८३
-के संपर्कसे भविष्यदर्शनकी व अन्य शक्तियोंका विकास, १९७-९८

-में आनन्द निरन्तर, २०१
(भौतिक जगत्में), की उपस्थिति अशुम इच्छाको सुधारती है, २२८
यज्ञका अग्रणी, २७१-७३, ३३७
और भगवान् और अतिमानस, ३१२
सार रूपमें दिव्य है, न कि संपूर्ण रूपमें, ३१२
-के साथ सचेतन रूपसे संयुक्त होनेका फल, ३१९
(दे० 'अंतरात्मा' भी)
चैम्पोलियन, १५९

ज

जगत् [संसार], ४८
-में अद्भुत क्रियाको देख सकना, १२-३
-की हजार वर्ष पूर्वकी स्थितिमें जा गिरना .., १३, ३६
-में वर्द्धनशील पूर्णता, ३७, २४३-४४, ३३९
(पार्थिव), विश्वका प्रतीक, रूपांतर-कार्यका संकेंद्रण-बिन्दु, ३८
(पार्थिव), का निर्माण, ३८
-की यंत्रणा, दुःख-दैन्य, भगवान्से पृथक्ताका परिणाम, ८२-३, ३५२
-में प्रत्येक चीज सापेक्षिक, ९८
-की जटिलता और बहुविधताका सत्य, १११, ४०१, ४२०-२१
साधनाकी जिस अवस्थामें, भ्रम नहीं रहता, १२०
वह, जहां तुम रूप-स्रष्टा होते हो, १२४
जल्दी या देरसे अतिमानसिक उपस्थितिके प्रभावमें आ जायगा, १४५
-में तुम बलात् लाये जाते हो, २०९
(भौतिक), और सौंदर्य, २२६
-से विलग हो जानेका एक कारण, २३३
(अदृश्य), जो मानवीय मनकी रचनाओंके परिणाम हैं, २२८
(दे० 'चेतना', 'गीता' और 'विश्व' भी)
जड़ता, ३०१
जड़तत्त्व,
-में भगवान्के लिये आकर्षण, ४
-में भागवत 'उपस्थिति' पार्थिव जीवनसे संबंध रखती है, ३८
-में भागवत चेतनाका कूद पड़ना, ३८, ८० (दे० 'भागवत प्रेम' -के अवतरण भी)
-की सृष्टि, ३५२
(दे० 'आत्मा' भी)
जड़वाद,
-का प्रभाव, १९८
जन्म,
नया, लेनेके बारेमें, २०९-१३, २२५, ३४६-४९, ३५१
जन्मकुंडली, ९८
जोन ऑफ आर्क, १४६
जानकारी,
-योंसे परे . . . ज्ञान" : व्याख्या, ३७१, ३८१

-योंकी मायासे मुक्ति, ३७५
-योंकी दासता, ३७६
(दे० 'ज्ञान' भी)
जीव, २१०
जिस तरीकेसे भगवान्‌के आह्वानका उत्तर देता है, २३३
जीवन, ४१३
योगका क्षेत्र है, ३५
(पार्थिव), भगवान्‌से सचेतन होनेका सबसे आसान साधन, ३८
और कर्मसे पलायन, ४७, १०१, २४५, २५९, २८२, ३१४, ३८०
-के अंदर भगवान्‌को पाना होगा, जीवनसे बाहर नहीं, ४८ (दे० ऊपर पलायनको भी)
-का सुख-दुःख बहुत-सी चीजोंपर निर्भर, ६१
'निर्विघ्न' की चाह, ६१
(आदर्श), अधिकतर मनुष्योंके लिये, ६१-२
-को देखनेकी एक पद्धति : सब भागवत संकल्पकी अभिव्यक्ति है, ७२-४ (दे० 'विश्व'-जीवन भी)
(पार्थिव), का औचित्य, १२६-२७
-को उसका मूल्य प्रदान करनेवाली चीज, १४३
ऐसे ही बिता देना, १८४
(दैनिक), की समस्याओंके निर्णयमें भी असमर्थता, १९१-९२
जैसा अभी है, १९२, २००
-की व्यवस्था करना मनका सच्चा कार्य, १९९
(भावी), का चुनाव, २११
(दे० 'जन्म' भी)
-से पलायन एक विकृति एवं अपूर्णता है, २५९-६०
-के साथ साधकको कैसे बरतना चाहिये, २५९ टि०
-को उच्चतम अभीप्साकी अभिव्यक्ति बनाना, २६०
(दे० 'सत्ता' भी)
(भौतिक), को दो भागोंमें बांट देना, २६०
क्षुद्रताओंसे बंधा, ३०१
प्राण-प्रकृतिसे परिचालित, ३०२
आदर्शसे आकृष्ट, ३०२
-को उस रूपमें देखना जैसा श्रीअरविन्दने यहां वर्णन किया है, ३०३-४
-की ओर ताको" : व्याख्या, ३१४
-के वर्तमान रूपोंका परिचालन किनके द्वारा, ३३७
-में प्रारंभमें अनिवार्य चीजें, ३८२
(दे० 'आध्यात्मिक जीवन', 'गीता' और 'सापेक्षता' भी)
जीवनेच्छा,
-के तीन रूप और उसका बल एवं चंगुल, ३०१-३
ज्ञान, २, ४६, १०२, १४७, ३०८, ३९४, ४११, ४१३
-प्राप्तिकी हमारी क्षमताएं, ६०
(जिस), के सतत स्मरणकी अपेक्षा है योगमें, ९३-४
साधारण और सक्रिय, १०७
'दृष्टिकोण सभी आवश्यक हैं यदि प्रत्येक अपने स्थानपर रहे, १११

-की क्रियाओंको केंद्रीय चेतना जब हाथमें ले लेती है, १७७
-का स्रोत, १९९
सच्चा, ३६६
और जानकारी, ३७२, ३७४
(सच्चा; आध्यात्मिक), पानेके लिये तर्कबुद्धिके परे जाना होगा, ३७३, ३७७
-प्राप्तिका पहला पग, ३७५-७७
-की सापेक्षताका बोध, ३७५-७७
(दे० 'अज्ञान', 'जानकारी', 'प्रकाश', 'समझना', 'समझ-शक्ति' भी)
ज्ञान-मार्ग [ज्ञान-पथ], ३१३, ३३८
-की विधि, ४७
(केवल), का अनुसरण, ४९

ट

टालस्टायके लड़के,
-के मानव-एकतासंबंधी विचार, ११२

त

तपस्, १०७
तपस्या, दे० 'सिद्धि'
तमस् [तामसिकता], १६९, २९८, ३४३
तर्क,
'यही करना होगा क्योंकि यही चीज सर्वत्र की जाती है,' १८७, २४९, २५२
मनके, ३८८-८९
-को . . सुसंबद्ध संबोधिमें" : व्याख्या, ३८९, ३९५-९६
तर्क-बुद्धि [तर्कशील मन], १८५
-का प्रयोग जरूरी, १९२
मनुष्यकी सर्वोपरि क्षमता नहीं, १९२
मानसिक क्रियाके शिखरपर, ३७२
सहायक थी . . बाधक है" : व्याख्या, ३७२-७३, ३७७, ३८१
-हीन होनेकी बात नहीं, ३७३
-का त्याग कबतक ठीक नहीं, ३८६-८८
सच्ची और झूठी, ३८८
और तर्क, ३८८-८९
(दे० 'बुद्धि' और 'मन' भी)
ताओ, २९४
तादात्म्य, १००
पूर्ण और सर्वांगपूर्णका अंतर, ४९-५२
सर्वांगपूर्ण नहीं, इसका पता चलना, ५०-१
और संपर्कमें भेद, ५१-२
-के कारण व्यक्ति अभिव्यक्तिसे बाहर चला जाता है, ५२
(पूर्ण), प्राप्त होनेपर सब विलीन हो जाता है, २३५-३६
और एकत्वमें अंतर, २३५-३७
त्याग [अस्वीकार], २४, ८३
बुरी चीजका, दर्द भी पहुंचा सकता है, हर्ष भी, ८९-९०
(दे० 'जीवन'-से पलायन भी)

द

दर्शन-दिवस,
-ोंपर अलग वातावरण, २७४-७६

-ोंपर दिये जानेवाले संदेशका अर्थ, २७६-७७
दान, दे० 'अर्पण'
दिखावा, ७०, ७७-८
दिव्य,
और अदिव्यका विचार, २-३, ६-७
हम किसे कहते हैं, ३६
बन जानेका उपाय, ८४
(दे० 'शुभ' भी)
दिव्य कर्म,
-में सर्वोत्तम संभव सहयोग, २६३-६४, २६९-७१, ३३९
-में कम-से-कम बाधा उपस्थित करना, ३३०
दिव्य चैतन्य,
-की अभिव्यक्तिके लिये आवश्यक अवस्था, २९८
दिव्य जीवन-प्रणाली,
कब स्थापित होगी, ३५
-से तात्पर्य, ३५-६
दुर्बलता, ३४३
प्रयास और पराजित विजयको ही हमने पाया है" : व्याख्या, ४१४-१५
दुःख-कष्ट [दर्द, पीड़ा, वेदना], ४२, १९२
-का आरंभ चीजोंको अच्छा बनानेकी इच्छाके साथ, ७३-४
-का कारण, ८२-३
-नहीं मानना चाहिये, 'कृपा'का स्मरण कर, २६४
-के पीछे आनन्द, २६५
(दे० 'अभीप्सा', 'कठिनाई', 'त्याग', 'रोग' भी)
दुर्गा,
और कालीकी पूजा, २५५-५६
दूसरे,
-ोंको अपने जैसा सोचने या करनेको बाध्य करनेकी आदत, ११२
-को अपने सत्यका विश्वास दिलाना, ११३
-ोंकी नकल करनेका अभ्यास, १८७
-ोंकी आंखोंमें भला बननेकी कामनापर विजय, ३६१-६३
-ोंकी इच्छाका हमपर और हमारी इच्छाओंका उनपर प्रभाव, ४०५
(दे० 'मूल' और 'समझना' भी)
देवता, १८३, २४४
यूनान और भारतके, १४९
देवत्व,
जिसे अभी हमें प्राप्त करना है, ४१३
देश,
(सबसे सुंदर), ६२
देश-काल, ३९७, ३९८
-की भावनाका आरंभ, ११५
दोष,
-को चैत्य-अग्निमें होम देना, २६४
-ोंको सुधारना एक-एक करके, ४१४
(दे० 'मूल' भी)
द्वैत, २३६
ब्रह्म-मायाका, १०५, ११५
द्वयात्मक सत्ताके रूपमें जब दीखता है, १०६

साक्षी चेतना और कर्त्री 'शक्ति'-
का, १०८
ईश्वर-शक्तिका, ११४-१७
सत्ताके स्वामी और जगज्जननी-
का, ११९
वैयक्तिक और निर्वैयक्तिकका,
१२०

ध

धन,
भगवान्‌को देना चाहें और भगवान्
सामने न हों तो ?, १७
धनी,
भक्त, पर, पैसेके प्रश्नपर मोल-
तोल, १८-९
धर्म, ३२०
-की पद्धतिसे क्या मनुष्य भगवान्-
को पा सकता है ?, १५४-५५
-का पालन सामाजिक अभ्यासवश
१५५-५६
(किसी), के चुनावका प्रश्न,
२०८, २५९-६०
(दे० 'योग' भी)
धार्मिक मनुष्य,
-का भगवान्‌के पथमें प्रवेश कठिन,
१५०
धैर्य, ३९९, ४०७
ध्यान,
सक्रिय, और उसे करनेका तरीका,
९४-५
करनेके विभिन्न हेतु, ९५
और प्रार्थनाके, कुछ समय बाद,
यंत्रवत् हो जानेके बारेमें,
२३८-४०
करनेका दिखावा, २३८, २४०
(फलदायक), ३८५

न

नक्षत्र विद्या, ९८
नरक, २२८
नयी अभिव्यक्ति,
-को देखने-समझनेमें समर्थ लोग, १२
-का परिणाम, ३२८
नयी जाति,
कहां है ?, १३४
नयी शक्ति,
-के प्रति जो ज्ञानपूर्वक उद्‌घाटित
नहीं क्या वे भी प्रभावित
होंगे ?, १४३-४४
नवीन जगत्,
-की अभिव्यक्तिकी घोषणा ढोल
बजाकर नहीं, १०, १४
"नवीन तत्त्व", ३२८ टि०
"निःसीम सांत", १०३
निद्रा, ४०५, ३९४-९५
(दे० 'स्वप्न' भी)
नियंत्रण, दे० 'प्रभुत्व', 'संयम'
नियम,
(पथ-प्रदर्शक), की खोज, १४६-
४७, १५०
(दे० 'प्रकृति' -के नियमों भी)
निराशा, ७, २६५
निर्णय,
देना, २ (दे० 'समझना' दूसरों भी)
तुम समझते हो तुम्हीं करते हो,
५५

(दे० 'आदर्श' भी)
निर्वाण, ५२, १२०, ३४०, ३८०,
निर्वैयक्तिक, दे० 'द्वैत' और 'वैयक्तिक'
निश्चलता, दे० 'अचलता'
निश्चेतना, ८३, ३५२
क्या सचेतन होनेकी अभीप्सा करती है ?, ८४
नीरवता, ११०, २९५
-में उपहार, १०१
-में सुनना, २४७-४८
-की आवश्यकता : सुनने व समझने-के लिये, २४७-४८, ३५६; स्वत: चालित होनेके लिये, २९५
नूतन जन्म, ३५७
नैतिकता,
-ने क्या हमें अपनी चेतना बढ़ाने-में सहायता नहीं पहुंचायी ?, १४९-५०

प

पथ,
(किसी एक), से अपने-आपको सीमित न करना, ४९-५०
सर्वांगीण रूपांतरका, ५३
कोई दो, एक जैसे नहीं, १७८
'यात्रा तेज भी हो सकती है, १७८-७९
-पर चलनेके लिये अनिवार्य चीज, २७३-७४, ३४२
चेतना-परिवर्तनका, ४१५-१८
(दे० 'भक्ति' भी)
पार्थिव प्रकृतिमें, ६८
परिवर्तन, १७९
लाना बड़ोंमें कठिन, २४९
-के विरुद्ध प्रकृतिका तर्क, २५३
कामना-पुरुषका, ३१९-२०
(दे० 'विश्व' भी)
परिवार,
-की परंपराकी अधीनता, २०८
-के जनोंकी आशा-अपेक्षा, ४०५
परिस्थिति, १६५
-का प्रभाव विभिन्न व्यक्तियोंपर, २२२-२३
-के स्वामी बनो" : व्याख्या, ३१४
(दे० 'प्रभुत्व' भी)
परोपकार [सेवा], १९८, ३१७
पशु,
-ओंमें काम कर रही बुद्धि, ६४-५
बलिका, ८५
सहायक था . . बाधक है" : व्याख्या, ३८१-८२
-को . . पशुपतिमें" : व्याख्या, ३९०, ३९२-९३
(दे० 'मनुष्य' भी)
पाप-कर्म,
-में लिप्त, हानि जानते हुए भी, ५-६
पार्थक्य,
स्थिति मोक्षदायक १०३-४, १०९-१०
पीछे हट आना,
अंतरात्मामें, १०९, ११०, २०२
पुरुष,
-भावमें स्थित हूं ऐसी कल्पना कर लेना, ६७, ६९-७०
-यज्ञ, ७९, ८०
और स्त्री विषयक विभेद, २४९-५४

और स्त्रीके संबंध नवीन जीवनमें, २५४
पुस्तक,
-को सहसा खोलकर उत्तर पाना, १७०-७६
(दिव्य ज्ञानकी), एक शक्तिपुंज, १७१
-में स्वयं लेखक, १७१
-ोंमेंसे सच्ची शिक्षा खोज निकालनेमें समर्थ होना, ३२४
पूजा,
-के कर्ममें तीन अवयव" : व्याख्या, २४५-४६
-का आध्यात्मिक परिणाम, २५५-५७
-के किसी आकारसे अपने-आपको सीमित न करो, २५५-५६
अभीप्साके बिना वृथा, २५८ टि०
-पद्धति तथा रूपके बारेमें, २५८ टि०
(दे० 'हवि' भी)
पूर्णता,
वर्द्धनशील, ३७, २४४, ३२९
आंतरिक, पांच, ३९-४६
पूर्णयोग,
और शक्तिशाली योगमें भेद, ८
-में जीवनका त्याग नहीं, ४८, ३१३
(दे० 'जीवन'-से पलायन भी)
-में बढ़नेकी गति वर्तुलाकार, ४९
-में प्रगति कठिन और धीमी क्यों, ४९, ५०, २५७
'योगकी सर्वांगपूर्णताके लिये महत्त्वपूर्ण बात, २५५-५७
-को अन्य आध्यात्मिक उपलब्धियोंके साथ उलझाना नहीं चाहिये, २५७
-में हम जो कुछ चाहते हैं, ३१३, ३८०
पृथकत्व,
-का भ्रम, ५६-९, ८१, ८४
(भगवान् से), संसारके दुःख-कष्टका कारण, ८२
-की शक्तियोंद्वारा जड़तत्त्वकी सृष्टि, ३५२
पौधों,
-में अभीप्सा, २६
-में प्रतियोगिता, २६
-का जीवन : वृद्धि, प्रेम, व्यक्तित्व, पुनर्जन्म, २८
प्रकंपन,
-का एकत्व, ५६, ५७-८, ६०, ८२, ४०३
(बुरे), के सामने सच्चेको रखना, ३६५
-ोंकी क्रिया, ४०३
प्रकाश,
भीतरका, १४७
बुद्धि, जीवन-शक्ति और भौतिक आवश्यकताओंका, १४७
जो अर्ध-प्रकाश या मिथ्या-प्रकाश होते हैं, १४७-४८
(आंतरिक), पानेसे पहले सहायक चीजें, १५०
(आंतरिक), को पाना क्या अतिमानसके अवतरणसे अधिक आसान हो गया है?, १५१
"शेषांशमें तो ये बाधा पहुंचाते हैं" : व्याख्या, १५२
-को देखनेके लिये आंखें खोलनी

होंगी, १५३
प्रकृति,
-द्वारा हमारी इच्छाओंका निर्धारण, ५४-५
-के गुणोंकी अधीनता, ६१
क्या अन्य लोकोंमें भी है ?, ६३
(पार्थिव), का मतलब, ६३
-पुरुषका गीताका सिद्धांत, ६३-४, ६६
सचेतन रूपमें बुद्धिशाली नहीं है ?, ६४-५
यदि आत्म-सचेतन पुरुषसे परि-चालित है तो ये सब विकृतियां क्यों ?, ६६
-गत तादात्म्य वापस लेनेका फल, १०८
-के नियमोंके विषयमें, ३२९
(दे० 'मानव प्रकृति' भी)
प्रगति, ९५, १०६, १७९, २०४, ३४५, ३६२
'अपने अंदर घिनौनी वस्तुका दीखना प्रगतिका सूचक, ७-८
करनेका हर्ष, २१-२, ९०, २६५
-के लिये आवश्यक चीजें, २७, २१५, ३९९
तुम नहीं, भगवान् करते हैं, ८५
नहीं करते, तो पीछे गिरते हो, २०५
जैसे ही तुम करना चाहते हो, विरोधी वस्तुएं आ उपस्थित होती हैं, २१९
-के सिद्धांतको, विश्वमें रहते, स्वीकार करना होगा, २४५
करने और अपने-आपको शुद्ध करनेका संकल्प ही चैत्य-अग्नि-को प्रज्वलित करता है, २६४
आत्मदान द्वारा, ३८४, ३८५
-की तुम्हारी क्षमता, किस चीजमें सीमित है, ४००
-के लिये पूर्व संभावनाओंको धक्का दो'' : व्याख्या, ४०८, ४०९
(दे० 'विकास' भी)
प्रचार,
-भावना, ११२
हमारे विरोधमें जब किया जाता है, ११३
प्रतिक्रिया,
-ओं (तुम्हारी), का स्रोत, ५५, १८२
प्रतीक,
शक्तिशाली रचना कब होता है, ९७-८
-की अपेक्षा, मानव प्रकृतिको, २५७-५८
(दे० 'राधा', 'श्रीकृष्ण' भी)
प्रभाव,
-ों (बाहरसे आनेवाले), का स्वरूप और क्रिया-पद्धति, ४०२-७
-ोंसे मुक्तिका उपाय, ४०७
(दे० 'प्रकंपन' भी)
प्रभुत्व,
परिस्थितिपर, ३१४, ३६४-६५
और प्रभावमें अंतर, ३६५-६६
-का अर्थ, ३६५-६६
प्रयत्न [प्रयास],
जो कामना-त्यागके लिये अपेक्षित है, २१
-का पुरस्कार चाहनेका कारण, २१

(बिना), के कलीके खिलने जैसी अवस्था, २६
जो भगवान्‌को पानेके लिये अपेक्षित है, १०१
क्रमवर्धमान, २०५-६
और ग्रहणशीलतामें अनुपात चाहिये, २०५-६
जो अतिमानसको ग्रहण करनेके लिये आवश्यक है, २१५
'अभ्यास लोग क्यों नहीं करते ?, ३०८-९
सहायक था . . बाधक है" : व्याख्या, ३७३-७५
मनमाना और सहज-स्वाभाविक, ३८४-८५
-को . . आत्मशक्तिके प्रवाहमें", ३८९
'मैं जो कुछ अभी नहीं कर सकता वह . . . ३९६
(प्रगति करनेका), चेतनाको परिवर्तित किये बिना करना, ४१५
(दे० 'अध्यवसाय', 'साधना' भी)
प्रयोजन,
एवं उस प्रयोजनकी मूल भावना" : व्याख्या, ९१-२
प्रलय, ३७, २३६, २९३
प्रवणहन (राजा), ३४६
प्रशंसा,
पानेकी कामनाके तीन कारण, ३६१-६२
प्रश्न, २६०, ३२४
पूछनेके लिये जाग्रत मस्तिष्क चाहिये, १९५
पूछनेका अधिकार क्या अभ्यास न करनेवालेको भी है ?, ३०८
प्रसन्नचित्तता, २४; ३१८
प्रह्लाद, २३४
प्राण,
और अध्यात्ममें कुसंबंध, १४८-४९
-के सहजात गुण, ३१०
-का भगवत्प्राप्तिका ढंग, ३१०
-भागकी समस्या, ३११-१२
अन्य भागोंकी अधीनता क्यों स्वीकार नहीं करता, ३११
यदि समर्पित हो . . , ३११
-की शक्ति किसकी सेवामें, ३११
-की, साधारण तौरपर, क्रिया, ३१२
अपनी पूरी शक्ति और महत्त्व कब प्राप्त करता है, ३१२
-सत्ता अमर कब बनती है, ३५१
प्राण-जगत्,
(भौतिक), अपने कुछ रूपोंमें अधिक कुरूप वस्तुओं और अशुभ-इच्छासे भरा है, २२८, ४०६
-का मानवीय जगत्पर प्रभाव, ४०६
प्राणिक आवेग, १९९, २०२-३
प्राणिक प्रकृति, ३०२-३
प्राणिक सत्ताएं, २८, ८७
मानवीय प्राण-प्रकंपनोंकी प्यासी, ४०६
प्राणिक स्थिरता, ३४३
प्रार्थना,
सच्ची और शाब्दिक, २३८-४०
करना किसी विशेष परिणामकी आशाके साथ, २६७-६९
स्वीकृत न होनेपर सम्यक् वृत्ति, २६८

(दे० 'अभीप्सा', 'कामना' भी)
प्रेम, २६७, ४१३
-द्वारा प्राप्त ज्ञान, १९७
(एकमात्र), द्वारा क्या भगवान्-को पाया जा सकता है?, १९९-२००
(वैयक्तिक), के पीछे एक रहस्य छुपा है, २३२
-का आरंभ और परिसमाप्ति, २३६
व्यक्तिगत वस्तु नहीं है..., ३१६
(विश्वव्यापी), की स्थिति, ३४०
-को शुद्ध रूपमें मानव-प्राणी सहनेमें असमर्थ, ३५३
-का कृपा-शक्तिके रूपमें कार्य, ३५३-५४
(दे० 'भागवत प्रेम' भी)

फ

फरौंन (राजा), १५९
फल,
-के अंदरका नन्हा-सा कीड़ा, २१
(दे० 'कर्मफल' भी)
फूल, २८ (दे० 'चंपा-पुष्प' भी)
फोटोग्राफ [तस्वीर], १७१

ब

बलि,
-का पशु, ८५
शब्दके कठोरतर अर्थमें बलि" : व्याख्या, ८९-९०
(दे० 'हवि' भी)
बहुत्व, दे० 'जगत्' -की जटिलता
बाइबिल,
-में दिये नामोंमें सुधार, १६०
बाधा, ३३, ४१-२
निम्नतर प्राणिक-शक्तियोंकी, २७२, ३०३
(दे० 'श्रद्धा' भी)
बालक [बच्चे],
-में लंबे बढ़नेकी अभीप्सा, २७
स्वप्न जारी रखनेवाले, १२३
-के स्वप्नोंमें हस्तक्षेप, १२५
'बचपनके स्वप्न प्रौढ़ावस्थाके यथार्थ सत्य, १२६
-की सातसे चौदह वर्षकी उम्र, १८८
-ोंको, यहां, स्वतंत्रता, १९३
-की बेरोक खर्चकी शक्ति, २०५
'यदि उत्तम पैदा करना हो, २१०
मृत उत्पन्न, २१२
जो छोटी उम्रमें मर जाते हैं, २१२
(छोटे), की चेतनाको मोड़ना, २४९
(अपूर्व प्रतिमासंपन्न), जन्म ले रहे हैं, ३२८
उत्पन्न करना अभीप्साके साथ और आकस्मिक रूपमें, ३४८
-ोंसे, यहां, जो कुछ करनेको कहा जाता है, ३८०
(दे० 'अध्ययन', 'विद्यार्थी' भी)
बिथोवेन, ३३३
बुद्ध, ५६, २४४, २९९
-की शिक्षाके अंतके संबंधमें परंपरा, १५७-५८
बुद्धि,
अचेतन और सचेतन, ६४-५

-का कार्य क्या है ?, १९८-९९
(दे० 'तर्क-बुद्धि', 'मन' भी)
बेबीलोन (प्राचीन), १६३

भ

भक्ति,
-की आड़में मोल-तोल, १९
और अहंकार, ४२-३
या कृतज्ञता, ४३
कर्मोंके कठोरतर पथमें हर्षका तत्त्व ले आती है, २६५
भक्ति-मार्ग [भक्ति-पथ],४७, ३१३, ३३८
भगवान्, ८३, १३१
संबंधी पूर्ण विचारसे तात्पर्य, १
सभी वस्तुओंको अपनी ओर खींच रहा है, ४
-की ओर आकर्षण — सीधे और चक्करदार मार्ग, ४-५
-के साथ मोल-तोल, १८-९
व्यक्तिको चुनते हैं या व्यक्ति चुनाव करता है ?, २५
-द्वारा चुने जानेको व्यक्ति क्या जन्मसे जान सकता है ?, २९
एक व्यक्तिको ही अपनी अभिव्यक्ति के लिये चुनते हैं या कइयोंको ?, २९-३०
-के साथ सीधा, पूर्ण और निराला संबंध प्रत्येक व्यक्तिका, ३२, २९३
अभिव्यक्तिके अंदर क्रमवर्द्धमान हैं, ३६, ३३९
हैं, इसकी कृतज्ञता, ४३
और ईश्वर शब्द, ४७
-को पारलौकिक, जीवनमें वे भले ही पा लें, पर इह जीवनमें अभिव्यक्त न कर सकेंगे" : व्याख्या, ४७-८
उस व्यक्तिको जिसने तादात्म्य प्राप्त कर लिया है क्या निम्न-तर भागोंकी ओर ध्यान देनेकी सलाह नहीं देते ?, ४८-५२
वही रूप ले लेते हैं, जिसकी तुम आशा करते हो, ४८
(समग्र), का साक्षात्कार कैसे, ४८
-के साथ संपर्क करनेकी क्षमता, ४९
-के साथ आंशिक, पर पूर्ण तादात्म्य, ५०
-के साथ तादात्म्य एक बिंदुपर या कई बिंदुओंपर, ५०
ही जब तुम्हारे द्वारा कार्य करते हैं, ७६-७
-के यज्ञका मतलब, ८० (दे० 'जड़तत्त्व', 'भागवत प्रेम' भी)
एक हैं, ८१ (दे० 'एकत्व' भी)
-से पृथक्ताका परिणाम, ८२-३ (दे० 'पृथकत्व' भी)
(सब कुछ), है, केवल तुम्हारी चेतना पृथक् है, ८४
ही हममें अभीप्सा, प्रगति . . करते हैं, ८५
-को अर्पित हवि, ८५-८
-को कर्मोंका अर्पण, ९६, १६७, १६८
-को बारह व्यक्ति यदि संयुक्त हो कर पुकारें, ९९

-को मनुष्य कैसे जान सकता है ?, १००
-को हम कैसे पा सकते हैं ?, १००-१ (दे० 'आंतरिक सिद्धि' भी)
-की बात लोग कब सोचते हैं, १०२
' 'कालातीत' सत्ता 'कालगत' क्रीड़ा के लिये दबाव डालती है, १०४
'सच्चिदानन्द अभिव्यक्तिके मूलमें है, . . चित् तपस् है, १०७
अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त, ११५-१७
वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक, ११८, १२०
'ईश्वरविषयक सीमित धारणाको पार करना होगा, १२६
व्यक्तिके लिये ये सब चीजें एक साथ हो सकते हैं : प्रकाशदाता, मार्गदर्शक, सखा . ., १२८-२९
-से आवश्यकताकी चीजें मांगना, १२९-३२
-पर अपनी इच्छा लादना, १३०
ही दोषी, दोनों अवस्थाओंमें, १३१
-को मनुष्य कब पुकारता है : 'मैं' यह रहा, मुझे ग्रहण करो . ., १३२
-से मिलन तीन प्रकारका, १३२-३३
-को कलामें अभिव्यक्त करना, १६६
-को क्या एकमात्र प्रेमद्वारा पाया जा सकता है ?, १९९-२००
-को, मानसिक विकासके बिना, तब व्यक्ति अभिव्यक्त करनेमें समर्थ होगा ?, २००
-के साथ एकत्व पानेमें ३५ वर्ष, २२१
-को यदि तुम शत्रुमें देख सको तो वह परिवर्तित हो जायगा . ., २३४
-के फिर इतने शत्रु क्यों हैं ?, २४०
-का शत्रु किस चीजका शत्रु होता है ?, २४२-४३
-का शत्रु भगवान्का भक्त, २४२
'अनभिव्यक्त', के अंदर प्रवेश, २४५ (दे० 'विश्व' 'वैश्व अभिव्यक्ति भी)
-के किस रूपकी पूजा तुम करते हो इससे कुछ नहीं आता-जाता, २५५-५७
-में व्यक्तित्वका लगभग तिरोधान'', 'लगभग' की व्याख्या, २५६ टि०
-की चाहकी तीव्रता : वेदना या हर्ष-से भरी, २६२
तुम्हारी प्रार्थनाका विरोध करते हैं ऐसा मत समझो, २६९
-के प्रति एक भागमें समर्पण, दूसरे में व्यक्तित्व बनाये रखनेकी चाह, २९७-९८
-का एक पहलू 'शक्ति' भी है, ३११
'परात्पर चेतना स्वतंत्र है, ३३०
-की संभूतिके सभी तरीके जरूरी हैं, ३३९
सब कुछको धारण करते हैं, अतः कुछ भी असंभव नहीं, ३९७ (दे० 'तादात्म्य', 'द्वैत'में तथा 'दिव्य . .' और, 'भागवत . .' के अंतर्गत भी)

भय,

एक अपवित्रता है . ., २७३-७४

भागवत उपस्थिति [दिव्य उपस्थिति], ३८, ८१
-को सर्वत्र देखनेका फल, २३३-३५, २४१, २४३, २७९-८०
'इस स्थितिको पानेका प्रयास किसी मतलबसे नहीं करना चाहिये, २३४
(दे० 'जड़तत्त्व', चैत्यपुरुष' भी)
भागवत कृपा [भगवत्कृपा], २७९, २९१
-के विषयमें, २६३-६४, २६९-७१
-को अपनी मानसिक रचना अर्पित करना, २६७
है, पर साथ-साथ क्रमविकास भी है, २८०
सर्वशक्तिमान् है, क्या यह सच है ?, २८०-८१
-को कार्य न करने देनेवाली चीज, ३०८, ३२९-३०
-के संपर्कमें होनेका फल, ३१८, ३१९
-का कार्य, ३३९, ३५३-५४
भागवत प्रेम,
-का यदि ऐसा मिथ्याकरण होने दिया गया . . , २७२-७३
और मानव प्रकृति, २७२-७३, ३५३
-के लिये अन्य प्रेमोंका त्याग करनेके बारेमें, ३१४-१६
-के पृथ्वीपर फैलनेसे पहले क्या मनुष्यको दिव्य बनना ही होगा ?, ३५२
-के अवतरणसे ही आरोहण संभव हुआ, ३५२-५३
(दे० 'प्रेम' भी)
भागवत लोक,
और चैत्य पुरुषका लोक, ३१२
भागवती शक्ति [भागवत शक्ति],
-का सचेतन यंत्र बननेके लिये आवश्यक वस्तु, १८२
-की क्रिया साधकमें, ३५७, ३६४ टि० (दे० 'ज्ञान'-की क्रियाओं भी)
(दे० 'शक्ति' (उच्चतर) भी)
भारत,
-की स्वतंत्रताका निर्णय ऊपर पहलेसे . . , ३२-५
-का विभाजन, ३४
-की स्वाधीनता, २७८
स्वाधीन हो गया है, पर उसने एकता नहीं पायी है . . , २८४-८५
भावना, १७८
प्रयोजनके पीछेकी, ९१
और कर्म, ९२
धार्मिक-नैतिक, १९८
भाषा,
यूनानी, मिस्री, फोनिसियन, आर्य, काल्डियन और संस्कृतके बारेमें, १५९-६१
भूल, १५, १५०
फिरसे न करनेकी याचना, २६९
-को दोहराना, समझ जानेके बाद, ३०६-८
(अपनी), के लिये दूसरोंको दोषी ठहराना, ३८९
(दे० 'दोष' भी)
भोग,
-ोंके परे . . आनन्द", ३८१

: व्याख्या, ३८३
-को . . निर्विषय हर्षातिरेकमें",
३८९,: व्याख्या, ३९०-९१
(दे० 'कामना' भी)
भोजन [आहार], ३९५
-की आवश्यकता, १४८
-की आसक्तिके संबंधमें जैसे ही तुम प्रगति करना चाहते हो . ., २१९
'खाद्य पदार्थोंके गुण और प्रभाव . .,
३७७-७८
भौतिक,
रूपमें तुम कुछ नहीं हो, आध्यात्मिक रूपमें तुम सब कुछ हो" :
व्याख्या, १४३
आवश्यकता, दे० 'प्रकाश'बुद्धि
तथ्यसे भिन्न वस्तु कार्य करती है,
२२३
ही एकमात्र सद्वस्तु है . ., २२८-२९
(दे० 'विश्वास' निरीक्षणों भी)
भौतिक चेतना,
(जड़), का 'अधिकार', ३०३
-से बाहर कैसे निकलें ?, ३१३
-का हम रूपांतर चाहते हैं, न कि त्याग, ३१३, ३८०

म

मंत्र (वेदोंके), १९७
मध्यम मार्ग [मज्झम मार्ग], २९९
मन, ३२, २३८, ३५१, ३५९
-की प्रमुख चीज आत्मसज्ञानता, ६५
-का धरतीपर अवतरण और पहले मनुष्यका प्राकटच, १३४, १३८,
३३५
-की सामान्य अवस्था, १९०-९१,
३३७
-का सच्चा कार्य : व्यवस्था और नियंत्रण, १९८-९९
ज्ञानका उपकरण नहीं, १९९
' "मुक्त मनका स्वर्ग" : व्याख्या,
२८७
अमर कब बनता है, ३५१
(दे० 'बुद्धि', 'तर्क-बुद्धि'में तथा 'मानसिक . .' के अंतर्गत भी)
मन (जड़, स्थूल), ३०२
मनुष्य [व्यक्ति, लोग],
जितना कम जानते हैं, उतना ही अधिक फतवा देते हैं, २
अभी संघर्षकी अवस्थासे ऊपर नहीं, ३
(बहुतसे), गुप्त रूपसे भगवान्‌की ओर आकर्षित होते हैं, ४
जो कहते हैं, "मैं अन्यथा कर ही नहीं सकता", ५-६
-की दृष्टि सीमित, १३
(दे० 'अज्ञान' व्यक्तियों भी)
-से वही मांगा जाता है जो उसके पास है, १६
-से कब मांगा जाता है, १८
जब कहता है, "मैं यह नहीं कर सकता," २१, ३०८
(प्रत्येक), के लिये स्थान है, ३०
(प्रत्येक), भगवान्‌की पूर्ण अभिव्यक्ति हो सकता है, ३०
(दे० 'भगवान्' भी)
समग्र भगवान् नहीं बन सकता, ३२
मनोमय प्राणी है, ३७
सदा पड़ोसीसे अधिक दुःखी, ४२

और पशुके बीच अंतर, ६५
जो एक पशु ही होता है, ६५
सचेतन मानव बनना कब शुरू करता है, ६५
(दे० 'सचेतन' भी)
(प्रत्येक), टुकड़ेको समग्र वस्तु बना देता है, ६७
अनगढ़, ९८
अपने गुह्य रूपमें भगवान् ही है, १००
भगवान् बन सकता है, १००
-की भौतिक भवितव्यताके निर्माण का समय, १२५
अचेतन, १२७
नयी जातिके आविर्भावमें सहयोग दे सकता है, १३८
(दे० 'दिव्य कर्म' भी)
-की भौतिक क्षमताएं चाहे जो हों, पर उसका मूल्य . . , १४३
सात्त्विक, राजसिक, तामसिक : परिभाषा, १५० टि०
आध्यात्मिक भवितव्यतावाले, किसी भी धर्मसे वहां पहुंच जायंगे, १५४-५५
-का जटिल व्यक्तित्व, १७६
प्रत्येकका पथ, १७८, ३३८
-में ही चैत्य पुरुष . . ; १८३
-की सामान्य स्थिति, २०१, २०२
बहुत छोटा है . . अतिमानसके लिये स्थान नहीं, २१५
-ोंके बीच रहनेकी अपेक्षा पेड़-पौधों और पशुओंके बीच दिव्य उपस्थितिको पाना आसान, २३३
(प्रत्येक), अपने विचारमें बंद है, २४७
कोई दो, समान नहीं, २९३, ४०१
'कोई चीज दूसरेको देनेके लिये तुमसे नहीं छीनी जा सकती, २९३
जो जीवन और प्रकृतिके साथ समस्वर होते हैं, ३१८
ऐसी वस्तु नहीं जो बाकी सबसे स्वतंत्र हो, ३५८
'अपने बारेमें हमारी धारणा, ३६३
अपने लिये कुछ विचार बना लेता और उम्र बढ़नेके साथ उसकी धारणाएं भी बढ़ती जाती हैं, ३७५-७६
-का अपनी आंखोंमें अपनेको उचित सिद्ध करना, ३८८-८९
-के लिये असंभव कोई चीज नहीं, ४००
'क्यों कुछ लोग बुद्धिमान् होते हैं और दूसरे नहीं ?, ४०१
'जिसे करनेमें तुम आज सफल नहीं हुए . . . , ४०७
अपनी धुरीपर चक्कर . . ", ४०८
जो कुछ सोचता है वही बन सकता है, ४०८, ४०९
जो पहले कर चुका है उसे दुहराते जाना हमारा काम नहीं . . ", ४१३
-ों (आध्यात्मिक भवितव्यता वाले), के लिये जीवनमें कम-से-कम एक क्षण ऐसा आता है . . . , ४१६-१७
(प्रत्येक), के साथ एक ही ढंगसे बर्ताव करनेके बारेमें, ४२०-२१

(दे० 'मानव' चेतना', 'व्यक्ति', 'सत्ता' भी)
मस्तिष्क, २१८
-के निर्मित होनेकी उम्र, १८७-८८
-को गठित करनेकी आवश्यकता, १९१-९३
-की जड़ता, १९५-९६
-में नये व्यावर्त, ३९९
महत्त्वाकांक्षा, २९२, २९६
माताजी, दे० श्रीमाताजी
माता-पिता, २०९-१३, ३४८, ४०५
मानव चेतना,
-के लिये संपूर्णताकी भावना . . , १
-के लिये हजारों वर्ष, लंबा समय, ३०५
मानव प्रकृति, २३८
(बिना शुद्ध हुई), का स्वरूप, २२८
कुत्तेकी दुमके समान, ३०३
अपनी क्रियाओंमें अनन्य, ३१५
(दे० 'भागवत प्रेम' भी)
मानसिक कार्य,
मानव जीवनका आधार, ३७३
मानसिक रचना, ३७५, ४००, ४०९
-का अपना निजी जीवन और प्रभाव, २६६-६७
-को बल प्रदान करनेवाली चीज, २६७
-ओंका खिलौना, २९५-९६
(लेखक की), मृत्युके बाद . ., ३३२
मानसिक वातावरण,
(हमारे), की सामान्य स्थिति, २१८
(दे० 'विचार' भी)
मानसिक स्वतः चालन, २९५
मिनू झुए (लेखिका बच्ची), ३३१-३४
मुक्ति [मोक्ष], १०१, १०३, १०९-१०
(व्यक्तिगत), पानेके लिये प्रस्तावित मनोभाव, २८०
-के दरवाजेपर होना, ३०४
मुहम्मद, ९७
मूर्तिकार, १६६
मृत्यु, ५७-८
-के बाद क्या होता है और व्यक्ति नया शरीर कैसे धारण करता है ?, ३४५-५१
(दे० 'जन्म' भी)
मेघानन्द, १९०
मेरी, कुमारी, २८३
मैटरलिंक, ३३२

य

यंत्र,
-को तैयार करनेकी आवश्यकता, ३८०
(दे० 'भागवती शक्ति' भी)
यज्ञ,
-के विधानका अभिप्राय, ७९-८०
अचेतन और सचेतन रूपसे करनेका फल, ८०, ८७
'सॉक्रिफिस' शब्द, ८०
कोई कैसे कर सकता है यदि वह अचेतन है, ८१
-में सुधारके प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं ?, ८२
अपने-आप यंत्रवत् होता है, ८४
पशु-बलिवाला, ८५
-के विषयमें असंस्कृत विचार, ८८
-के अधीश्वर, १२०

(दे० 'भगवान्' के यज्ञ भी)
योग,
(शक्तिशाली), का अर्थ, ८
-का लक्ष्य, ३५
-के तीन प्रमुख पथ, ४६-७
-को लोग क्या समझते रहे हैं, १२०, ३१३ (दे० 'आध्यात्मिक उपलब्धि' पुराने भी)
और धर्ममें अंतर, १५३-५४
-मार्गमें प्रवेशसे नये तत्त्वका हस्तक्षेप, २१९
-की शिखर रूप दो स्थितियां, ३४०
(दे० 'ज्ञान', पूर्णयोग' भी)
योगी, २३७, ३०३
यौवन, २२

र

रचना,
-एं क्या होती हैं, ९७
रमण, महर्षि, २३
राधा,
और कृष्णका प्रतीक, २३२-३३
-चेतनाके विषयमें, २३३-३४
-के विरह वर्णनोंके विषयमें, २३५-३८
राष्ट्रीयता, २८६
रूप, दे० 'आकार'
रूपांतर,
(भौतिक), की बात, ८९, २१६, ३१३-१४, ३८०
(दे० 'अतिमानसिक', 'चेतना', 'पथ', और 'परिवर्तन' भी)
रोग [बीमारी], ७४
'बीमार पड़ना व्यक्ति स्वीकार कर लेता है, ६
'स्थानिक बीमारीमें नीरोगकारी 'शक्ति'को ग्रहण करनेका उपाय, २२२-२४
'दर्द दूर करनेके लिये तीन बातें, २२३-२४

ल

लक्ष्य, ३८९-९०
-पर पहले या सब चीजोंके साथ प्रगति, ५३
-से सज्ञान होना, ३८३
(दे० 'देवत्व' भी)
"लाभ उठाने",
-की भावना, १३६, १३७, १४०
लाओत्से, २७९ टि०, २९४ टि०

व

वाणी,
'किसी बातके होनेसे पहले उसके विषयमें कुछ न बोलना, १०, १४
'जीभ चलाना, १७०
वार्धक्य, २२
विकास,
कब रुक जाता है, २१
वर्तमान स्थितिमें — सीढ़ीके ऊपर पहुंचकर फिर नीचे, २१
आगे और आगे बढ़ता हुआ, २१-३
चेतनाका, ३७

जैसे-जैसे चेतनाकी क्रमपरंपरामें ऊपर उठता है, उसकी गति अधिकाधिक तेज होती जाती है, ३३५-३६
-की महत्त्वपूर्ण चाबी, ४०९
(दे० 'क्रमविकास', 'प्रगति' भी)
विचार,
बाहरसे आता है, ५५
'चिंतनका अधिकांश मनुष्योंका ढंग, ६०
जो किसी कामके नहीं होते, १५२
-ों (मनुष्यके), की सामान्य अवस्था, १९१
(बुरे), क्यों आते हैं और उनसे बचनेका उपाय, २१७-२०
चरित्रके सूचक, २१८-१९
क्या कर सकता है ?, २६६-६७
'पहलेसे कुछ न सोचना-विचारना, २९५
(हमारे), वैश्व-मनकी शक्तियों-द्वारा कैसे पैदा होते हैं ?, ३५८-५९
हमारा 'अपना', ३५८-५९, ४०३
-ोंका मूल स्रोत, ३५९
पहले, फिर संकल्प और सिद्धि, ३७३
-ोंका प्रकंपन, ४०३
चोटें खाकर जगता है" : व्याख्या, ४०८-९
जीवंत, ४०८, ४०९
संभूतिका एक यंत्र है", ४०८
: व्याख्या, ४०९-१०
(बुरे), को अंदर क्यों नहीं आने देना चाहिये, ४०९-१०
दे० 'भागवान्'संबंधी भी)
विजय [जीत],
-ों (सबसे महान्), में सबसे कम शोर, १०
किसकी होती है, ४६
(पराजित)", : व्याख्या, ४१४-१५
को पूर्ण बनानेका उपाय, ४१४
विज्ञान,
और अंध-विश्वास, ९९
(आधुनिक), का विश्व-विषयक ज्ञान, ३२७-२८
विद्यार्थी [छात्र],
-ोंपर नियंत्रण, ३६७
-को पूरी स्वतंत्रता : व्याख्या, ३७०-७१
विद्वत्ता, १९३
विनम्रता [विनयशीलता], १५०, २९२
विकुंचित, ४२
विभाजन, दे० 'पार्थक्य' व 'भारत'
विराट् शक्ति,
-का सुन्दर पुष्प" : व्याख्या, १२१
विरोध, दे० 'द्वैत'
विरोधाभास,
-ोंका गुण, ३९७
विरोधी शक्ति, २४०, २७३, ३८७
-यां भी क्या भगवान् द्वारा आकर्षित होती हैं ?, ४
-की पूजा, बलि चढ़ाकर, ८६
-के प्रभावसे सचेतन होना, ४०७
विवेक [विवेकशक्ति, विवेचन], २२०, ३८७
-का अचूक साधन, ४
करनेमें भूल कब, १५

विवेकानन्द, ३६४, ३६६
विश्राम, २३९
सचेतन, २०६
विश्व,
-की प्रत्येक वस्तुको अव्यवस्थित किये बिना किसी वस्तुको निकाल लेना असंभव, ३
पुनस्संगठन सतत, ३
'वैश्व अभिव्यक्ति (गति)के बाहर चले जाना, ५२-३, २४४-४५, २८२, ३८०
-का परिवर्तन भी अकस्मात् होगा, १८१
(स्थिर), की कल्पना, २४३-४४
क्रमवर्द्धनशील है और हमारा देखना भी, २४४
-जीवनकी समस्याका मानव-चेतनामें उठनेवाला एक द्वन्द्व और समाधान, २७९-८३ : व्यावहारिक दृष्टिकोण, २७९; समर्पणका मनोभाव, २७९-८०; श्रीअरविंदका विचार, २८० (दे० ऊपर 'वैश्व अभिव्यक्ति' भी)
और जीवनकी स्थितिमें अंतर अतिमानसकी उपस्थितिसे, ३२५-२९
-का निर्माण आनंदकी नींवपर.., ३४०
सनातन 'सृष्टि' के मध्य केवल एक व्यक्ति है, ३६०
एक विरोधाभास था . . . ", ३९६ : व्याख्या, ३९७-९८
-में दो एक जैसी चीजें नहीं, ४०१
(दे० 'जगत्' भी)
विश्व चेतना,
-की प्राप्ति, ३५७
विश्व-व्यक्ति [वैश्व व्यक्ति],
-के लक्षण और क्रिया-कलाप, ३९३-९५
भी, भौतिक रूपमें साधारण भी, ३९४
विश्वसंघ,
-का श्रीअरविन्दका स्वप्न, २८५-८६
विश्वास, ४०७
भगवान्में, ४१-२
व्याधि-निवारणके अनुष्ठानमें, ८६-७
निरीक्षणोंकी सत्यतामें, ३७६
किसी वस्तुपर हम तबतक करते हैं जबतक वह फैशनमें है, ३७८
कैसा होना चाहिये, ४०८
(दे० 'श्रद्धा' भी)
विस्तार, दे० 'कठिनाई' -में जब, और 'चेतना' -का विस्तार
'बू बी' पुस्तक, २७९, २९४ टि०
वेद, १९७
वैयक्तिक,
और निर्वैयक्तिकका अर्थ, ११७-१८
(दे० 'द्वैत' भी)
वैष्णव धर्म, २३८
व्यक्ति,
-गत और समष्टिगत दो गतियां, २७७
-करणके परे . . यथार्थ व्यक्ति," ३८१
(पृथक् सचेतन), बननेके लिये

अहंभाव अनिवार्य, ३८१
-का विश्व-व्यक्तिमें रूपांतर, ३९२
व्यक्तित्व, २५६, ३३८
(पृथक्), का भ्रम, ५६
मनुष्यका, १७६
(सुनिर्मित), को परिवर्तित करना अधिक कठिन, ३१९-२०
(विभक्त), को . . विश्व-पुरुषमें", ३९०
व्यवहार,
और सिद्धांत, ७०
व्यवस्था,
और नियंत्रण करना, मनका सच्चा कार्य, १९९
व्याख्या,
देना किसी चीजकी, १०४-५, १०६
किस हदतक मूल्यवान् होती है, १०५
(दे० 'अनुभव' -का अस्तित्व, और 'अहं' -से रंजित भी)

श

शंकर [शंकराचार्य], २४४
शक्ति, १२८, ४१३
(उच्चतर), को यदि तुम अपने भीतरसे कार्य करने दो . ., ७६
-यां, जो दिखावा करनेवाले लोगोंमें होती हैं, ७८
सच्चे ज्ञानके साथ मिलनेवाली, १०८
-को खर्च और ग्रहण करना, २०५-६
इच्छाओंके परे जानेपर, ३७३-७५
और ज्ञान, ३७४
(दे० 'अचलता' और 'चेतना' -के पार्थक्य भी)
शत्रु,
-के सम्मुख यदि दिव्य चेतनामें बने रह सको . . ., २३४, २३५, २४०
(दे० 'भगवान्' -को यदि भी)
शरीर, ३५७
-में आनेका कारण, ३७, १८३-८४
-में दिव्य उपस्थितिकी खोज आसान, ३८
-की पृथक्ताका भ्रम, ५८-९
-से बाहर जाना, १२२, २९०
-के संबंधमें मानसिक वृत्तिका महत्त्व, १४८
-की संभावनाएं, २०६
सदा असंतोषजनक ढंगसे निर्मित होता है, २०९-१३
(पशूचित ढंगसे निर्मित), के कारण उत्पन्न कठिनाइयां, २१३
-को समझाना, २२२
गभीरतर सत्यकी अभिव्यक्ति, २२२, २२४
-से बंधा जीवन, ३०१
खो देनेकी बात नहीं, विश्व-व्यक्ति बननेके लिये, ३९२
-की दुर्बलताओं व आदतोंपर पराजित विजय, ४१४
(दे० 'चेतना' -के शरीर भी)
शांति, २२४
-की प्राप्तिका एक मनोभाव, २८०
"शांत-स्थिर रहो' से मेरा अभिप्राय, ३४२-४३

(दे० 'अचलता' भी)
शारीरिक शिक्षण, २७
-पर, यहां, जोर देना क्या अध्ययनमें कमियोंका कारण है ?, १९३
-का सारा सिद्धांत, २०६
-का लड़कों और लड़कियोंके लिये एक ही कार्यक्रम क्यों ?, २५१-५२
-का उद्देश्य, २५४
(दे० 'स्त्री' भी)
शिक्षा,
और व्यवहार, ६९-७०
-की पद्धतिको बदलना चाहिये, १८६-८७
-में सिखानेकी प्रधान चीज, १९०
(सच्ची), ३२४
(दे० 'अध्ययन' भी)
शिथिलीकरण, ३८४
शुद्धि,
अपरिहार्य, गुह्यजगत्में प्रवेशके लिये, २२८
अनिवार्य, संरक्षण पानेके लिये, २७३-७४
(दे० 'प्रगति' करने और भी)
शुभ, २४४
और अशुभ, १२८
(दे० 'दिव्य' भी)
शैतान,
-की दलील और जाल, २८१-८२
श्रद्धा, २७४
यदि पूर्ण विश्वाससे निर्मित न हो तो रास्तेकी तीन बाधाएं, ४१-२
कर्मी साधककी, ९३-४
-की ही तुमसे मांग की जाती है, २५३
(दे० 'विश्वास' भी)
श्रीअरविन्द
और क्रिप्स प्रस्ताव, ३४
-के और फ्रांसमें श्री माताजीके सामने मार्ग विषयक समस्या, ५३
-का योग और गीता, ६९-७, ६९-७०
-की कहानी 'स्वप्न', ८७
और बुद्धकी शिक्षा, १५८
-की पुस्तकें पढ़ना, १७२, २१४
-के पत्र, तीसरा भाग, १७३
जब दर्शन दिया करते थे, २७५-७६
-का, १५ अगस्त १९४७ का संदेश : पांच स्वप्न, २८४-८६
-का 'आर्य'-लेखन, २९४-९५
-ने जिस बातकी प्रतिज्ञा की थी, ३३६
-में अतिमानसिक 'शक्ति' का अवतरण, ३३६
(दे० 'विश्व'-जीवन, और 'श्रीमाताजी' -की श्रीअरविन्द भी)
श्रीकृष्ण [कृष्ण], ६९, ३९०
-के 'पशु-पति' प्रतीकका अर्थ, ३९१-९२
(दे० 'राधा' भी)
श्रीमाताजी
-की बिल्ली, ८
'मुझसे जब नववर्षका संदेश मांगा जाता है, १४
'मैं कवि नहीं हूं . . मैं कथनीसे करनीको पसंद करती हूं, १५
'जब मैं किसीको चंपा-पुष्प देती हूं, ३९

जब बच्ची थीं . . बाहरसे आया मृत्यु-शोक, ५८
'गीताके साथ मेरा पहला संपर्क, ११०
-की टाल्स्टायके लड़केसे जापानमें मुलाकात, ११२
'मैं जब बच्ची थी, इसे "अपने-आपसे कहानी कहना" कहा करती थी, १२५
'जो मुझसे 'इंटरव्यू' मांगते हैं . ., १३७
'मैं अब लोगोंके साथ वही संबंध नहीं रख सकती जैसा कि सौके साथ रखती थी, १३७
-से जहाजपर पादरीकी बात, रविवारीय अनुष्ठानमें भाग न लेनेके बारेमें, १५६-५७
-को अंतर्दर्शन प्राचीन मिस्रका : 'मैंने शब्द सुने, पर उच्चारणों-की स्मृति नहीं, १६२-६४
'भूतकालको अपनी चेतनामें ले आनेकी शक्ति मेरे पास सदा रही है, १६४
'जब कभी मैं संगीत बजाती थी, १६४
'मैं एक छोटा-सा जगत् बनाऊंगी जहां लोग भोजन, वस्त्र, निवास . . ., १६९
-से पूछनेके लिये कोई प्रश्न न होना, १९६
-का प्रयोग उल्कापातके क्षणकी अभीप्साका, २२१
'मैंने कहा था, लोग यहां अति-मानसके अवतरणके विषयमें जानेंगे . . ., २३०-३१
-की क्लास—लोगोंको ठीक न सुनने और उत्तरोंसे लाभ उठानेके सुअवसरको खो देनेकी चेतावनी, २४७
-की श्रीअरविन्दसे समाधिके विषयमें जिज्ञासा, २८७-८८
'जब मैं किसीके सामने परिस्थिति-का सच्चा चित्र रखती हूं . ., ३०७
-के पास 'वितरण'के समय जाने पर कभी मुक्त-प्रसन्न और कभी खाली-खाली अनुभव होना, ३१७-१८
-के साथ व्यक्तिगत संपर्ककी उप-योगिता किन चीजोंपर निर्भर, ३२०-२२
-के पास जानेपर बुरे विचार आना, ३२२-२३
-का प्रश्न : 'क्यों तुम मेरे सामने अच्छे विचार रखना चाहते हो ?', ३२३
'वार्तालापका तरीका मेरा सदा एक जैसा नहीं होता, ३२४
-की अनुवादकी कक्षा, ३३५ टि०
-का प्रश्न, योगसमन्वयके पाठकी समाप्तिपर : 'इससे योग करने-की इच्छा हुई कि नहीं ?, ३६०-६१
'यदि मैं तुम्हें तुम्हारे प्रयासके बिना समझाऊं तो वह . ., ३७२
-से परिचित डाक्टरका परामर्श औषधके बारेमें, ३७८
'मुझे यदि तुमसे दार्शनिक चर्चा

करनी पड़ती है . . , ३७९
'मैं तुम्हारी चेतनामें हूं, मेरे शब्द तुम्हारी चेतनामें हैं . . , ३९८
'यह कहते हुए मेरे पास मत आओ : 'मैं इस विषयमें अच्छा नहीं हूं, मैं कभी दर्शन नहीं समझ सकूंगा . . .', ३९९
(दे० 'श्रीअरविंद', 'स्मरण' भी)
श्री रामकृष्ण, परमहंस, ४७
श्रेणी-परंपरा [क्रम-परंपरा, स्तर-परंपरा],
-का सत्य, ३०-१, ४९-५०, ५२

स

संकल्प, २७, २६४
(संपूर्ण), के एक बिंदुपर एकाग्र होनेका परिणाम, २२१
और इच्छाएं, ३७३-७५
संकेंद्रीकरण, दे० 'एकीकरण'
संख्या, दे० 'आश्रम' -के लिये
संगीत,
कैसे सुनना चाहिये, २४७-४८
संगीतज्ञ, १६६
जिन्होंने अपने हाथोंको व्यष्टि-भावापन्न बनाया, ३३३
संघर्ष, ३
संदेश,
नववर्ष, १९५६ का : व्याख्या, १०-१, १४-५
अतिमानसिक अभिव्यक्तिके, १३३ टि०
१५ अगस्त १९४७ का, २८३-८६
संन्यासी, ७८
संपर्क, दे० 'तादात्म्य' और 'भगवान् -के साथ संपर्क', 'श्रीमाताजी -के साथ संपर्क'
संबंध,
-ों (मानवीय), में समय और शक्तिकी बहुत हानि, १२८-२९
भगवान्के साथ, दे० 'भगवान्'
संबोधि,
सुसंबद्ध" : व्याख्या, ३९५-९६
संभावना,
-एं, अब, असंख्य हैं, १८५-८६, ३३०
संयम [आत्मसंयम, नियंत्रण], २२३, ३६३, ३७१, ३८२, ३८३, ३८७, ३८८
'एक क्षण ऐसा होता है जब संयम प्रत्येक व्यक्तिमें होता है, ५-६
प्राणिक आवेगोंपर, १९९
संरक्षण [सुरक्षा],
-के लिये आवश्यक चीज, २७३-७४, २९१-९२, ३४२
सचेतन, ६५, २०२, ४१६, ४१८
(एकत्वसे), होनेका हर्ष, ८१
होने या न होनेके तथ्यपर प्रत्येक वस्तु निर्भर, ८२
तुम नहीं होते, भगवान् होते हैं, ८५
सत्ता मनुष्य कब बनता है ?, ३८२-८३ (दे० 'मनुष्य' भी)
"सबसे पहले . . . अपने-आपको जानो, फिर विचार करो और कार्य करो . . ", ४०८ : व्याख्या, ४०९
सच्चाई [सत्यनिष्ठा], ८८

'करनेकी चीज है : सच्चे बनो, २१
-का बल, २१
प्रथम वस्तु, ४०
या पारदर्शिता, ४१
एक दुर्लभ गुण, ७८
-का अर्थ, ७९
-पर आध्यात्मिक लक्ष्यकी प्राप्ति निर्भर, २५५-५६; 'सच्चाई-पर' का मतलब, २५७,
मौलिक गुण, आध्यात्मिक जीवनकी तैयारीका, २६१
सामूहिक, २६१
'सच्चे होनेका तात्पर्य, २९७-९८
-का कार्य, २९८
'क्या मनुष्यके लिये पूर्ण रूपमें सच्चा होना संभव है ?, ४१०-१३
प्रगतिशील है, ४११
'पूर्णतः सच्चा होनेके लिये आवश्यक चीज, ४११, ४१२
-की महिमा, ४१२-१३

सत्ता,
-के अन्य अंग पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकते, २७१-७२
-के सत्यको जीवनमें लाना, २९२-९३ (दे० 'जीवन' भी)
-में विभाजन और विरोध, १०४, २९७-९८
(दे० 'एकीकरण' भी)

सत्ताएं,
जिन्होंने चक्करदार रास्तोंको चुना है, ५
उच्चतर और ऐश्वर्यशाली, २२६, २२८

सत्य, १०२
-के नजदीक मनुष्य कब पहुंचता है, ६०
-को शब्दोंमें प्रकट करनेकी असमर्थताका कारण, ६०
तुम्हारा और तुम्हारे पड़ोसीका, ११२, ४००
शरीरकी आवश्यकताओंका, १४७-४८
सत्ताका, १४८ (दे० 'सत्ता' भी)

समझना,
दूसरोंको, ५९-६०, ६७, ६८, ११३
केवल अनुभवसे ही होता है, ७१
'वस्तुओंको समझनेमें कठिनाईका कारण, ९२
'चीजोंको अक्षरशः नहीं लेना चाहिये, ९८
अनुभवको, ३५५
(पाठको), असंभव, इसका मतलब, ३९८-४००
(दे० 'ज्ञान' भी)

समझ-शक्ति,
-को कैसे बढ़ायें ?, १०७

समता, दे० 'आत्मा'

समय, १२८, ४०१

समर्पण, ४, ९१, २२४, २६८, २७४, २७९, ३१३, ३३७, ३८७, ३८८
गुण नहीं, योगकी पहली स्थिति है, ४४
' 'सरेण्डर' शब्द, ४४
ही गीताका केंद्रीय सत्य, ६८
-के पथपर आनेवाला एक आम अनुभव, २९७
(दे० 'अर्पण', 'आत्मदान',

'विश्व'-जीवन भी)
समस्या, ४५, १९१-९२
व समाधान, जीवनकी उपलब्धि-के बारेमें, ५२-४, २४३-४५, २७९-८३, ३०३-४
समाधि,
-की अवस्था क्या प्रगतिका चिह्न है ?, २८७-८९
-की बातें याद न रहनेका कारण, २८८
सचेतन, २८९-९०
सरल होना, २९७
सहज-स्फूर्त होना, २९६, २९८
सहायता,
(दूसरे), करनेकी प्रक्रिया, २६६-६७
(दे० 'दिव्यकर्म', 'नैतिकता', 'भगवान्' भी)
सहिष्णुता,
या अध्यवसाय, ४४-५
"सांसारिक शीतलीकरण", १९८
साक्षी आत्मा [साक्षी चेतना],
-में प्रवेशका फल, १०८
क्या है, १०९
और प्रकृति-परिवर्तन, १०९
ल साज् (फ्रेंच नाटक), ११
साधक [जिज्ञासु],
-के भगवत्स्मरणका स्वरूप, ९३-४
(पूर्णयोगके), का लक्ष्य, १०२
'शिष्यकी समुचित और बुरी चार स्थितियां, ११०, १११
-की एकांगी प्रवृत्ति, ११९, १२०
-में जब गुह्य दृष्टि खुलती है, १२१
-का पहला कर्तव्य, १२४, २७४, ३३९
-का संघर्ष एवं कठिनाई, ३०१-३
जो सबसे तेज चलते हैं वे सदा सबसे समझदार नहीं होते, ३३८
(दे० 'आश्रमवासी', 'भागवती शक्ति' भी)
साधन, ४१३, ३४२
साधना,
-का कार्य : भावात्मक और अभावात्मक, २३-४
-के लिये सबसे आवश्यक गुण, २४
-की अंतिम अवस्थामें प्रयास नहीं होता, २५-६
-का प्रथम पग, १०९
-में प्रबल अनुभवोंके दुष्परिणामोंसे बचनेके लिये, २९१-९२
-में बरतने लायक सावधानी, २९५-९६, २९८, ३४२
'आरंभ बाहरसे नहीं, भीतरसे करना चाहिये, ३२२
'पहले मनुष्यको आवश्यकता महसूस करनी चाहिये, फिर अभीप्सा, फिर कोशिश, ३४२-४३, ४१७-१८
-द्वारा जानकारियोंकी दासताका ज्ञान, ३७६
(दे० 'प्रयास', 'सिद्धि' भी)
साधर्म्य (भगवान्के साथ), १३२
सापेक्षिकता [सापेक्षता], ९८
-की भावना, २९१, ३७५-७८
सामाजिक अनुशासन, १९४
सामाजिक नियम, १५०

सामूहिक [सामुदायिक],
सुझावका प्रभाव, ५७-८, ४०४-५ ;
इनसे मुक्त होनेका उपाय, ४०४, ४०७
रूपमें किसी गुणको पाना, २६१
(दे० 'व्यक्ति'-गत भी)
साम्यावस्था, ३४२
अनिवार्य, २९८
साहस, दे० 'अभीप्सा
सिद्धि,
और तपस्याके बीच अंतर, १८१
सुख,
'सुखी रहनेका एक दृष्टिकोण, ७४, २८०
(दिव्य) : मतलब, १२७
-से जीवनमें दुःख अधिक, २००
देरतक ठहर सके इसके लिये क्या करना चाहिये ?, २००
अस्थायी क्यों होता है, २००-१
और आनंदमें अंतर, २००-१
(दे० ''आनन्द' भी)
सुनने,
-का अच्छा तरीका, २४७-४८
सृष्टि,
-का यदि भगवान्के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाय . . , २३६
-चक्रका हेतु, २३६, २३७ टि०
-रचनाके बारेमें, ३२७
-की प्रक्रिया, ४०८, ४०९
सौंदर्य,
'सबसे सुंदर हमें कौन-सी चीजें लगती हैं, ६२
-रसिक ऐंद्रिय प्रकृति पूजा" : व्याख्या, १४९
जो 'सनातन'का निरूपण करनेके अपने पुरोहित-पदपर प्रतिष्ठित हैं" : व्याख्या, २२५-२६
भौतिक जगत्में भगवान्की अभिव्यक्ति, २२६
(दे० 'स्त्री' भी)
स्कूल,
-में विद्यार्थीको श्रेणीमें आने या न आनेकी छूटके बारेमें, ३७०-७१
स्त्री [लड़की],
सबसे सुंदर कौन-सी, ६२
(गर्भवती), के लिये उत्तम अवस्थाएं, २१०
और लड़कोंके बीच विभेद करनेके बारेमें, २४९-५५
-योंके प्रति, २५०-५४
-का शारीरिक शिक्षणकी दृष्टिसे क्या आदर्श है ?, २५४
-के लिये शारीरिक सौंदर्यका आदर्श क्या है ?, २५४-५५
(दे० 'शारीरिक शिक्षण' भी)
स्मरण, ४१६
(सतत), भगवान्का, ९३-४, ९६
(श्रीमाताजी का), करनेके लिये क्या करना चाहिये ?, २०६
स्वतंत्रता,
(हमारी), तुच्छ और सापेक्ष, ५४-५
करने और जाननेकी, १९०, १९२
-का उपयोग जानना कठिन, १९३-९४
और अनुशासनहीनता, ३७०-७१
(दे० 'भारत' भी)

स्वतः चालित होना, २९४-९५
स्वप्न, २२९
-के प्रतीक, ९७
'रातका एक मजेदार कार्य, १२४
(झूठे), की तरह विलीन . . " : व्याख्या, २३१-३२
(दे० 'बालक' भी)
स्वप्नाचरण, २८९
स्वर्ग, २२८
स्वास्थ्य, २५५, ३७५
-के नियमोंके विषयमें, ३२९

ह

हवि,
'अपनी भेंटके बदले प्राप्ति परिपार्श्व से या भगवान् से ?, ८३-४
जो ग्रहण करता है . . वह 'सनातन देव' ही होता है" : व्याख्या, ८५-८
-की भेंटके परस्पर-विरोधी वाक्य, ९५-६
हर्ष, दे० 'सुख', 'आनन्द'
हिरण्यकशिपु, २३४
हृदय,
'आंतरिक कमरेमें प्रवेश कैसे करें ?, १५२-५३
-में गुह्य ज्योति क्या चीज है ?, १९६-९७
-में द्विविध क्रिया, २०२

सूची

४ जनवरी,	१९५६ ...	१
११ जनवरी,	१९५६ ...	१५
१८ जनवरी,	१९५६ ...	२३
२५ जनवरी,	१९५६ ...	३५
१ फरवरी,	१९५६ ...	४६
८ फरवरी,	१९५६ ...	५४
१५ फरवरी,	१९५६ ...	६३
२२ फरवरी,	१९५६ ...	७०
२९ फरवरी,	१९५६ ...	७९
७ मार्च,	१९५६ ...	८५
१४ मार्च,	१९५६ ...	९३
२१ मार्च,	१९५६ ...	१००
२८ मार्च,	१९५६ ...	१०१
४ अप्रैल,	१९५६ ...	१०८
११ अप्रैल,	१९५६ ...	११५
१८ अप्रैल,	१९५६ ...	११८
२५ अप्रैल,	१९५६ ...	१२६
२ मई,	१९५६ ...	१३२
९ मई,	१९५६ ...	१४२
१६ मई,	१९५६ ...	१४६
२३ मई,	१९५६ ...	१५३
३० मई,	१९५६ ...	१६५
६ जून,	१९५६ ...	१७०
१३ जून,	१९५६ ...	१८४
२० जून,	१९५६ ...	१९६
२७ जून,	१९५६ ...	२०९
४ जुलाई,	१९५६ ...	२२०
११ जुलाई,	१९५६ ...	२२५
१८ जुलाई,	१९५६ ...	२३१
२५ जुलाई,	१९५६ ...	२४५
१ अगस्त,	१९५६ ...	२५५
८ अमस्त,	१९५६ ...	२६४
१५ अगस्त,	१९५६ ...	२७१
२२ अगस्त,	१९५६ ...	२८७
२९ अगस्त,	१९५६ ...	२९४
५ सितंबर,	१९५६ ...	३०१
१२ सितंबर,	१९५६ ...	३०८
१९ सितंबर,	१९५६ ...	३१०
२६ सितंबर,	१९५६ ...	३१६
३ अक्तूबर,	१९५६ ...	३२४
१० अक्तूबर,	१९५६ ...	३३५
१७ अक्तूबर,	१९५६ ...	३४०
२४ अक्तूबर,	१९५६ ...	३४५
७ नवंबर,	१९५६ ...	३५७
१४ नवंबर,	१९५६ ...	३६०
२१ नवंबर,	१९५६ ...	३७१
२८ नवंबर,	१९५६ ...	३८१
५ दिसंबर,	१९५६ ...	३८९
१२ दिसंबर,	१९५६ ...	३९६
१९ दिसंबर,	१९५६ ...	४०८
२६ दिसंबर,	१९५६ ...	४१३
अनुक्रमणिका	...	४२३

सूची (उद्धरण)

योगसमन्वय	१–३५८
गीता	११० टि०
श्रीअरविन्दके पत्र, भाग १	१७४
वेदरहस्य	२०४ टि०
प्रार्थना और ध्यान	२३१
नारी जीवन	२५४
दिव्य जीवन	३३५
विचार और झांकियां	३७१–४१३